भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प नं० ६६

आचार्य कल्प

विद्वत् शिरोमणि पंडित श्री टोडरमलजी विरचित

श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक

भाषा परिवर्तनकार:—

श्री मगनलाल जैन (ललितपुर-उ० प्र०)
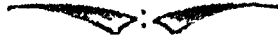
प्रकाशक:—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रथमावृत्ति ७७००

वीर निर्वाण सं० २४९२

विक्रम संवत् २०२२

मूल्य २) रुपया

इस पुस्तक की ७७०० प्रति में साइज ३०×४०=६३ पौंड
ऑफसेट कागज के २०५ रीम लगे हैं।

यह पुस्तक
जिन शहरों में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल
स्थापित हुए हैं वहाँ पर भी
मिल सकती है।

मुद्रक:—
नेमीचन्द बाकलीवाल
कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज-किशनगढ़

※ श्री मोक्षमार्गप्रकाशकेभ्यो नमः ※

प्रकाशकीय निवेदन

प्रशस्त ख्याति प्राप्त यह ग्रन्थ और ग्रन्थकार धर्म जिज्ञासुओंको कैसे परमोपकारी हैं ? कि अनादिकालसे संसारमें परिभ्रमण करते हुए इस प्राणीको सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकरोंने—भगवान् महावीरने दिव्यध्वनि द्वारा संसार और संसारका कारण, मोक्ष और उसका कारण व स्वरूप दर्शाया। उसमें संसारका मूल कारण मिथ्यात्व भावको छोड़नेके लिये तथा मोक्षके उपायको ग्रहण करनेके लिये तत्त्वनिर्णयरूप अभ्यास और अपने ज्ञायकस्वभावी आत्माको पहचानकर उसकी यथार्थ श्रद्धानके बलद्वारा भूतार्थ ज्ञायकस्वभावका परिग्रहण, मिथ्यात्वभावका त्याग, सम्यग्ज्ञान और स्वतत्त्वमें रमणतारूपी चारित्रसे संसारका अभाव करना बतलाया है। सभी अर्हन्त-भगवंतोंने इसी मार्ग द्वारा सिद्ध परमात्मपदको प्राप्त किया। इसी मार्गको परम्परारूपसे अनेक दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित किया जाता रहा, जो अक्षुण्णरूपसे अभी तक चला आरहा है।

जिसप्रकार सिद्धांतग्रंथोंकी रचनामें श्री धरसेनाचार्य, पुष्पदंत-भूतबलि एवं टीकाकार श्री वीरसेन स्वामीका स्थान है तथा आध्यात्मिक साहित्यमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य का स्थान है उसी प्रकार हिन्दी साहित्यमें जैनत्वके संरक्षकके रूपमें श्री पं० टोडरमलजीका स्थान है। इसी कारण आप आचार्यकल्पके नामसे प्रसिद्ध हैं। विशेष प्रकाश प्रस्तावनामें डाला गया है।

आपकी एक रचना यह मोक्षमार्ग प्रकाशक है, मूल भाषा ढूंढारी है जो उस समयकी परिमार्जित भाषा मानी जाती थी, लेकिन वर्तमान युगमें यह भाषा समझनेमें कठिन मानी जाती है और इस ग्रंथकी उपयोगिताके कारण जैन समाजमें इसका बहुत प्रचार है। राजस्थान, मध्यप्रदेश, उ० प्र०, बिहारादि प्रांतोंके प्रायः हरेक मन्दिरोंमें इसकी हस्तलिखित प्रतियां हैं जो हजारोंकी संख्यामें हैं, उनके द्वारा भी प्रचार हुआ है।

इस ग्रन्थका अनेक भाषाओंमें अनुवाद होकर बड़ी संख्यामें प्रकाशन हो चुका है। गत ६७ वर्षों में इस ग्रन्थकी २३२०० प्रतियाँ छप चुकी हैं और ११००० की संख्याका यह प्रकाशन आपके हाथमें है। इस प्रकार अभी तक ३४२०० की संख्या पुस्तकरूपमें प्रकाशित हो चुकी है।

१०००, लाहोर बाबू ज्ञानचन्द्रजी जैन, ढूंढारी भाषा, विक्रम सं० १९५४

१०००, बम्बई जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, ,, ई० सन् १९११

१०००, वाराणसी बाबू पन्नालाल चौधरी, ,, वीर सं० २४५१

१०००, बम्बई अनंतकीर्ति ग्रंथमाला, „ वीर सं० २४६३
६५००, दिल्ली सस्ती ग्रन्थमाला, „ (चार आवृत्तियों में) वीर.सं० २४८० से २४९२
१०००, मथुरा भारतीय दि० जैन संघ, आधुनिक हिन्दी भाषा, वि० सं० २००५
२०००, कारंजा महावीर ब्र० आश्रम, मराठी भाषा, वि० सं० २०१३
६७००, सोनगढ़ दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, गुजराती भाषा (पांच आवृत्तियोंमें)
२३२००,

जयपुरमें पू० पं० टोडरमलजीकी स्मृतिमें श्री पूरणचन्दजी गोदीका एवं गोदीका परिवार द्वारा पं० श्री टोडरमल स्मारक भवन–निर्माणके शिलान्यास समारोहके समय सन् १९६५ में आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमल ग्रन्थमालाकी जयपुरमें स्थापना हुई, और उसके व्यवस्थापकोंके द्वारा प्रस्ताव आया कि—इस ग्रंथकी भाषाको आधुनिक हिन्दीमें परिवर्तित कराकर बड़ी संख्यामें टोडरमल ग्रन्थमालासे प्रथम पुष्पके रूपमें प्रकाशित किया जाय। अतः यह निर्णय किया गया कि पं० जी की स्व हस्तलिखित प्रति जिसकी फोटोप्रिन्ट कोपी दि. जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा कराई गई थी उसीके आधारसे, साहित्यकी दृष्टिको गौण तथा ग्रंथके भावोंको अक्षुण्ण बनाये रखनेकी दृष्टिको मुख्य रखते हुए, आधुनिक हिन्दी भाषामें परिवर्तन कराया जावे।

पूज्य श्री कानजी स्वामीको मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ और उसके रचयिता पर अत्यन्त भक्ति है। इस ग्रन्थके भावोंमें कोई परिवर्तन न हो जावे ऐसा उनका विशेष अनुरोध था अतः यह अनुवाद तैयार हो जाने पर उसकी जांच पांच छह विद्वानों तथा पूज्य श्री स्वामीजीके समक्ष बड़ी सूक्ष्मता से की गई। जांचके कार्यमें श्री पं० हिम्मतलाल शाह B. Sc. ने बहुत श्रम किया तथा श्री भाई श्रीरामजी भाई, खेमचन्द भाई, ब्र० श्री चन्दुलालजी, श्री राजमलजी, नेमीचन्द पाटनी आदि ने भी बहुत श्रम किया, भावोंमें किंचित् दोष न रह जाय इसलिए कई जगह प्राचीन भाषाके शब्द रहने दिये हैं, अब यह कहा जा सकता है कि पू० पंडितजीके भावोंको अक्षुण्ण रखते हुए यह एक प्रामाणिक अनुवाद है।

तत्त्वनिर्णयमें सबसे बड़ी भूल कर्त्ता–कर्म सम्बन्धको अन्यथा समझनेसे होती है, निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्धका नाम लेकर भी जीव अपनी पर द्रव्यकी एकताबुद्धिका पोषण करता रहता है, अतः इस विषय पर स्पष्ट प्रकाश डालनेके लिए इस ग्रंथके अन्तमें पूज्य श्री टोडरमलजीकी रहस्यपूर्ण चिट्ठी तथा श्री पंडित बनारसीदासजीकी निमित्त–उपादानकी चिट्ठी एवं उनकी कृति परमार्थ वचनिका भी लगा दी गई है जो जिज्ञासुओंको गहराईसे समझने योग्य है।

सोनगढ़में जिस समय इसका संशोधन कार्य चल रहा था उस समय आनेवाले मुमुक्षुजनोंको इतना प्रामाणिक एवं सुन्दर अनुवाद तैयार होता देखकर यह भाव होते थे कि इस ग्रन्थका खूब प्रचार हो, अतः तैयार होनेके पहले ही इस ग्रन्थकी कीमत घटानेके लिये रकमें आनेका तांता लग गया, तथा

पूज्य स्वामीजीके भी भाव थे कि कमसे कम मूल्य रखना चाहिये, अतः इस ग्रंथकी कीमत दो रुपया रखनेका निर्णय हुआ। और मूल्य कम करनेके लिये अमुक रकम श्री रामजीभाई सम्मान फंडमेंसे देनेका निर्णय किया गया। मूल्य कम करनेके लिये दानमें जो रकम आयी है उन दाताओंकी सूची पीछे दी गई है और वे सभी धन्यवादके पात्र हैं।

इस ग्रंथका लागत मूल्य ४-५० करीब होनेपर भी आत्मिक सुखके उपायको अत्यन्त स्पष्ट करनेवाले इस ग्रन्थका ज्यादासे ज्यादा प्रचार हो ऐसी भावनासे विक्रय मूल्य दो रुपया रखा गया है।

इस ग्रन्थका आधुनिक भाषामें अनुवाद—आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमल ग्रंथमालाके व्यवस्थापकों व श्री गोदीकाजी आदिकी भावनानुसार [बड़ी संख्यामें प्रकाशित करानेके लिये] तैयार किया गया था, परन्तु बादमें श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्टके पास मूल्य कम करनेके लिये उपरोक्त वचन आजानेसे तथा ७००० उपरान्त संख्यामें ग्राहक, प्रकाशनके पहले ही, बन जानेसे इस ग्रन्थका प्रकाशन श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमालामें श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़के द्वारा करानेका निर्णय किया गया। इसमेंसे ३३०० प्रतियां श्री टोडरमल ग्रन्थमालाने अपने लिये प्रकाशित कराई। इस प्रकार यह ग्रंथ दोनों ग्रंथमालाका सम्मिलित प्रकाशन है। जिसकी प्रथमावृत्ति ११०००, प्रतियोंकी है।

पूज्य श्री कानजी स्वामीने इस ग्रन्थके सरल एवं प्रामाणिकरूपमें भाषा परिवर्तन तथा सुन्दर प्रकाशनके लिये विशेष प्रेरणा दी है, ग्रन्थकर्त्ताके भाव पाठकोंको ज्योंका त्यों मिल सके और वे सरलतासे उन्हें समझ सकें ऐसा उनका अनुरोध था। वर्तमानमें इस मोक्षार्थी जगत पर आपका अनेकविध महान् उपकार है, जो वचनोंके द्वारा व्यक्त करना असंभव है।

श्री पूरणचन्दजी गोदीका एवं टोडरमल ग्रंथमालाके व्यवस्थापक भी धन्यवादके पात्र हैं कि जिनके प्रयाससे यह प्रकाशन सुन्दर ढंगसे अल्प समयमें पाठकोंको सुलभ हुआ।

इस ग्रन्थकी पंडितजी द्वारा हस्त लिखित मूल प्रति प्राप्त करनेके लिए दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्टने जयपुरमें श्री पं० चैनसुखदासजी, श्री कस्तुरचन्दजी कासलीवाल, श्री महेन्द्रकुमारजी सेठी तथा श्री पूरणचन्दजी गोदीकाको प्रार्थनाकी, तदनुसार उन्होंने बधीचन्द्रजी दीवानजी-मंदिरके ग्रन्थ भंडारमेंसे वह प्रति प्राप्तकर सोनगढ़ भेजी। उस प्रतिके सब पत्रोंकी दो फोटो प्रिन्ट कॉपी कराकर, एक प्रति तथा मूल अखंडित हस्तलिखित प्रति जयपुर वापिस भेजी गई है। दूसरी फोटो प्रिन्ट कॉपीके अनुसार यह ग्रन्थ अच्छी तरह संशोधित होकर तैयार हुआ है। हस्तलिखित प्रति भेजकर दीवानजी मंदिर, जयपुरके व्यवस्थापक श्री सरदारमलजी आदिने हमें सहायता दी है अतः हम उन सबका आभार मानते हैं। तदुपरांत पंडितजी द्वारा हस्तलिखित रहस्यपूर्ण चिट्ठीकी नकल मुलतान (हाल जयपुर) निवासी साधर्मी बन्धुओंने सोनगढ़ भेजी, उस प्रति द्वारा हमको खास आवश्यक शुद्धि मिल गई है। अतः उन साधर्मियोंका भी हम हृदयसे आभार मानते हैं।

अनुवादक श्री मगनलालजी जैन—जो नियमसार, पंचास्तिकाय आदि शास्त्रोंके तथा अनेक पुस्तकोंके अनुवादक हैं—धन्यवादके पात्र हैं जिन्होंने बहुत दिन तक सोनगढ़में रहकर अनुवाद कर दिया है।

संशोधन-कार्य श्री पं० हिम्मतलाल जेठालाल शाह, श्री रामजी भाई, ब्र० चन्दुलालजी आदिने अपना अमूल्य समय देकर पूज्य श्री कानजी स्वामीके समक्ष बैठकर किया है जिसके लिये हम उन सबके आभारी हैं।

इस ग्रन्थ का सम्पादन-कार्य तथा आदिसे अंत तककी छपाई सम्बन्धी सब व्यवस्था कार्य श्री ब्र० गुलाबचन्दजी जैनने निःस्वार्थ भावसे बहुत २ श्रमपूर्वक किया है इसके लिये हम आपके हृदयसे आभारी हैं।

कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़) के प्रबन्धक श्री नेमीचंदजी बाकलीवाल तथा श्री पांचूलालजी विशेष धन्यवादके पात्र हैं जिन्होंने ग्रन्थको नये टाइपमें सुन्दर एवं त्रुटि रहित छपाई यथाशीघ्र कर दी है।

इस प्रकार यह अपूर्व प्रकाशन पाठकों तक पहुंचाते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है। आशा है कि मुमुक्षुगण इसके अध्ययनसे अपने अंतरमें मोक्षमार्गका प्रकाश प्रगट करके निज कल्याणके लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहेंगे।

निवेदकः—

खेमचंद जेठालाल शेठ

साहित्य प्रकाशन समिति, दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नेमीचंद पाटनी

व्यवस्थापक—आचार्यकल्प पंडित श्री टोडरमल ग्रन्थमाला
बापूनगर, जयपुर (राजस्थान)

वीर संवत् २४९२
भाद्र० सुदी १४
ई० सन् १९६६

प्रस्तावना

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

जैन समाजमें मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थका अच्छी तरह विशेष प्रचार हो रहा है, कारण कि वह सातिशय प्रज्ञाके धनी, आचार्यकल्प, महापंडित टोडरमलजीकी महत्त्वपूर्ण रचना है। जिसमें जिनागमोंके साररूप और प्रयोजनभूत विषयोंका शंका-समाधान पूर्वक अनोखा विवेचन है।

यह ग्रन्थ विक्रमकी १९वीं शताब्दिके प्रथमपादकी रचना है। उसका अध्ययन स्वाध्याय प्रेमियोंके लिये ही आवश्यक नहीं किन्तु विद्वानोंके लिये भी अत्यावश्यक है।

यह ग्रंथ प्राचीन दिगम्बर जैनाचार्योंके द्वारा सर्वज्ञ वीतराग कथित जिनवाणी का रहस्य खोलनेकी अनुपम कुंजी है। धर्म जिज्ञासुओंके लिये यह अमृत है, जिसे पीते जाने पर भी तृप्ति नहीं होती।

हिन्दी छन्दोबद्ध और गद्य साहित्यमें आज तक ऐसा कोई स्वतन्त्र महत्वपूर्ण ग्रंथ नहीं है जिसे हम मोक्षमार्ग प्रकाशककी तुलनामें रख सकें। मोक्षमार्ग प्रकाशक तो स्वयं एक जैनधर्मके अनुभवी प्रखर विद्वान द्वारा हजारों ग्रंथोंके अध्ययनका परिपाकरूप निचोड़ है, फिर भी अति सुगम है, स्वयं एक सागर है और अपने रूपमें उतना ही गंभीर है।

जो जीव अल्प प्रज्ञावान हैं उनके लिये भी यह सरल देशभाषामयग्रन्थ परमोप-कारी है। जिनकी रहस्यपूर्ण गंभीरता और उत्तम संकलनाबद्ध विषयरचनाको देखकर बड़े बड़े विद्वानोंकी बुद्धि भी आश्चर्य चकित हो जाती है। इस ग्रन्थको निष्पक्ष न्याय दृष्टिसे अवलोकन करने पर अनुभव होता है कि यह कोई साधारण ग्रन्थ नहीं है किन्तु एक उच्च कोटिका महत्वपूर्ण अनुपम ग्रन्थराज है।

विषय परिचय

इसमें कुल नौ अध्याय हैं, प्रथम अध्यायमें ग्रन्थकी भूमिका, मंगलाचरणका प्रयोजन, पंच परमेष्ठीका स्वरूप, अंगश्रुतकी परम्परा, ग्रन्थकी प्रामाणिकता आदिका वर्णन है।

दूसरे अध्यायमें सांसारिक अवस्थाका निरूपण है। तीसरे अध्यायमें दुःख के मूलकारण मिथ्यात्व, विषयाभिलाषाजनक दुःख, मोही जीवके दुःख निवृत्तिके उपायोंका झूठापना और दुःख निवृत्तिका सच्चा उपाय बतलाया है।

चौथे अध्यायमें दुःखके मूल कारण मिथ्यात्व, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रका वर्णन, प्रयोजनभूत-अप्रयोजनभूत पदार्थोंकी समझ और उनमें गलत समझसे होनेवाली रागद्वेषकी प्रवृत्तिका स्वरूप बतलाया गया है।

पांचवें अध्यायमें आगम और युक्तिके आधारसे विविध मतोंकी समीक्षा करते हुए गृहीतमिथ्यात्वका बड़ा ही मार्मिक विवेचन किया गया है। साथ ही अन्य मत के प्राचीन ग्रन्थोंके उदाहरण द्वारा जैन धर्मकी प्राचीनता और महत्ताको पुष्ट किया गया है और श्वेताम्बर मतकी समीक्षा की गई है।

छट्ठे अध्यायमें गृहीत मिथ्यात्वके निमित्त कारण कुगुरु, कुदेव और कुधर्मका स्वरूप और उनकी सेवाका फल बतलाया है।

सातवें अध्यायमें जैन मिथ्यादृष्टिका विस्तृत वर्णन है, एकान्त निश्चयावलम्बी, एकान्त व्यवहारावलम्बी और उभयाभास नयावलम्बीका भ्रम बतलाकर सच्चा उपाय समझनेके लिये जैनाभासोंका युक्तिपूर्ण खण्डन किया गया है, जिसे पढ़ते ही जैन दृष्टिका सत्यस्वरूप सामने आ जाता है और उसकी विपरीत मान्यता—जो व्यवहार-निश्चयनयोंका ठीक अर्थ न समझनेके कारण हुई थी वह दूर हो जाती है। उभयाभासपना और देव-शास्त्र-गुरु भक्तिकी अन्यथा प्रवृत्तिका, सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टिका, पांच लब्धियोंका स्वरूप स्पष्ट समझमें आ जाय इस ढंगसे बतलाया है।

आठवें अध्यायमें चारों अनुयोग-शास्त्रकी कथन शैलि, उनका स्वरूप-प्रयोजन और शास्त्रोंमें दोष कल्पनाओंका समाधान दिया गया है। एक प्रश्न तो ऐसा है कि द्रव्यानुयोगके शास्त्र व उपदेश सुनकर लोग स्वच्छंदी होकर पाप करेंगे अतः उनका वांचना, सुनना ठीक नहीं है, उत्तरमें कहा है कि—गधा मिश्री खानेसे मरे तो क्या मनुष्य मिश्री खाना छोड़े? अध्यात्म ग्रन्थोंमें भी स्वच्छंदी होनेका निषेध ही है..... मेघ वर्षासे बहुतोंको लाभ, किसीको टोटा हो तो किसी एकको मुख्य कर मेघका निषेध करना उचित नहीं है वैसे ही सभामें अध्यात्मोपदेशके सम्बन्धमें समझना चाहिये.....जिनमतमें तो यह परिपाटी है कि प्रथम सम्यक्त्व हो, पीछे व्रत होता है।

मुख्यपनेसे तो नीचली दशामें ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है इत्यादि अनेक समाधा

नववें अध्यायमें मोक्षमार्गके स्वरूपका निर्देश, सम्यक् पुरुषार्थसे ही प्राप्तिका नियम, सम्यग्दर्शनके लक्षणोंमें विपरीत अभिप्रायरहित तत्त्वार्थश्र को सर्वोत्तम सिद्ध कर उस श्रद्धानमें चारों लक्षणोंकी व्याप्ति बताई है। किन्तु है कि मोक्षके कारणरूप रत्नत्रयमेंसे सम्यग्दर्शनका स्वरूप भी पूरा नहीं ि जा सका।

हमारे दुर्भाग्यसे यह मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ अपूर्ण ही रह गया, ग्रन्थक जितनाअंश आज प्राप्त है उसे सम्पूर्ण ग्रन्थका प्रारम्भिक भाग कहना योग्य है। इस ग्रंथमें जो भी कथन है वह बहुत ही सरल और सुगम है। तत्त्वचर्चा और उनके विषय, ग्रन्थकर्त्ताके विशाल अध्ययन, अति निर्मल, अनुपम प्रतिभा, महान विद्वत्ता और आत्मिक अनुभवका सफल परिणाम है।

जिन पंडितजीके पास टोडरमलजी अभ्यास करते थे, वे पाठ पढ़ाते समय कहते थे, "भाई! तुम्हें क्या पढ़ाऊं! जो बतलाता हूँ, वह तुम्हारे हृदयमें पहलेसे ही उपस्थित देखता हूँ।" (कविवर वृन्दावन विलास पृ० १७) पंडितेन्द्र श्री जयचन्द्रजीके पास कविवर वृन्दावनजीने कई प्रश्न काव्यरूपमें भेजे थे उनमें एक प्रश्नका उत्तर पं० जी ने लिखा है, "प्रश्न—टोडरमलजी कृत मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ पूरन भया नाहीं, ताकों पूरन करना योग्य है। उत्तर—सो कोई एक मूल ग्रन्थकी भाषा होय, तो हम पूरण करें। उनकी बुद्धि बड़ी थी यातें बिना मूलग्रन्थके आश्रय उनने किया, हमारी एती बुद्धि नाहीं, कैसे पूरन करें?" (वृन्दावन विलास पृ० १२२)

पं० जी अबाधित न्यायवेत्ता एवं सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वोंको ही सत्य माननेवाले दृढ़जीवी थे। आजकल तो सब जगह धार्मिक दृष्टिकोणसे भी सर्वधर्म समभावकी चर्चा सुननेमें आती है, यहाँ तक कि सभाएँ भी इसी ढंगसे प्रस्ताव करती हुई देखी जाती हैं। इस संबंधमें प्रस्तुत ग्रन्थमें जो चर्चा की गई है वह निम्न प्रकार है:—

प्रश्न—आपके राग-द्वेष है अतः आप अन्यमतका निषेध और अपने मतका समर्थन करते हैं!

उत्तर—यथार्थ वस्तुके प्रतिपादनमें रागद्वेष कुछ भी नहीं है।

प्रश्न—रागद्वेष नहीं है तो अन्यमत बुरे हैं और [illegible]नमत अच्छा है [illegible]

हते हैं ? साम्यभावमें तो सबको समान समझना चाहिये, आप मतका पक्ष क्यों करते हैं ?

उत्तर—बुरेको बुरा और अच्छेको अच्छा कहनेमें रागद्वेष क्या है ? बुरेको और भलेको समान समझना तो अज्ञानभाव है, साम्यभाव नहीं है। (पृ० १३६)

पाठक देखेंगे कि—कितना दृढ़तापूर्ण और स्पष्ट उत्तर है। सबका भला बनने के लिये, या लोगोंको राजी करनेके लिये धार्मिक दृष्टिकोणसे भी उदारता और समभावका झूठा आवरण ओढ़कर सर्वधर्म समभावका राग अलापनेवाले यह भूल जाते हैं कि जब सब धर्म समान नहीं हैं तब उनमें साम्यभाव भी कैसे हो सकता है ? एक मांस, मदिरा, मैथुन, हिंसादिकको धर्म कहता है, दूसरा उसको पाप कहता है; जब इन दोनोंमें इतनी विषमता है तब उनमें समानता कहना अशक्य है; सब मतों में मोक्ष सुखका सच्चा उपाय बतलाया है ऐसा मानना वह तो आत्मवंचना और घोर अज्ञानता है।

सातवें अध्यायमें एकान्त निश्चयाभासी और एकान्त व्यवहाराभासी जैनों को मिथ्यादृष्टि बतलाया है वहाँ एक तीसरे प्रकारके जैन मिथ्यादृष्टि निश्चय-व्यवहारावलंबी (उभयाभासी) का भी वर्णन किया है। शास्त्र स्वाध्याय और पारस्परिक चर्चाओंमें एकान्त निश्चयी और एकान्त व्यवहारीको ही मिथ्यादृष्टि कहते सुनते आये हैं; परन्तु उभयनयावलंबी भी उभयाभासी मिथ्यादृष्टि है ऐसा कहना यह एक आपकी विशिष्टता है और शास्त्रोंके मर्मको खोलनेवाला है। आपने ऐसे मिथ्यादृष्टियोंके सूक्ष्म भावोंका विश्लेषण करते हुए कई मार्मिक बातें लिखी हैं। उदाहरणके लिये आपने इस बातका खंडन किया है कि—"मोक्षमार्ग निश्चय-व्यवहाररूप दो प्रकारका है।" वे लिखते हैं कि यह मान्यता निश्चय-व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टिओंकी है। वास्तवमें मोक्षमार्ग दो नहीं हैं किन्तु मोक्षमार्गका निरूपण दो प्रकार है। (देखो इसमें पृ० २४८ तथा समयसार गा० ४१४ सं० टीका सहित)

समयसार गा० ४१४ की सूचनिकामें कहा है कि—व्यवहारनय ही मुनिलिंग को और श्रावकलिंगको दोनोंको मोक्षमार्ग कहता है, निश्चयनय किसी लिंग मोक्षमार्ग नहीं कहता,—इस प्रकार अब गाथामें कहते हैं:—

व्यावहारिकः पुनर्नयो द्वे अपि भणति मोक्षपथे।
निश्चयनयो नेच्छति मोक्षपथे सर्वलिंगानि ॥ ४१४ ॥

अन्वयार्थ—व्यवहारनय दोनों लिगोंको मोक्षमार्ग कहता है (अर्थात् व्यवहारनय मुनिलिंग और गृहीलिंगको मोक्षमार्ग कहता है); निश्चयनय सर्व लिंगोंको (अर्थात् किसी भी लिंगको) मोक्षमार्गमें नहीं मानता।

संस्कृत टीकाका हिन्दी—"श्रमण और श्रमणोपासकके भेदसे दो प्रकारके द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग है—ऐसा जो प्ररूपण–प्रकार (अर्थात् इस प्रकारकी जो प्ररूपणा) वह केवल व्यवहार ही है, परमार्थ नहीं, क्योंकि वह (प्ररूपणा) स्वयं अशुद्ध द्रव्यकी अनुभवनस्वरूप है इसलिये उसको परमार्थताका अभाव है × ×" विशेष देखो पंचास्तिकाय गाथा १५९ की अमृतचन्द्राचार्यकी सं० टीकामें तथा वृ० द्रव्यसंग्रह गाथा ३९ की उत्थानिकामें वहाँ 'निरूपयति'का अर्थ 'निरूपण-प्रकार' स्पष्ट लिखा है। प्रथम ही सूत्रके पूर्वार्धमें व्यवहारमोक्षमार्गका और उत्तरार्धमें निश्चय मोक्षमार्गका निरूपण करते हैं ऐसा कहा है।

पूर्वाचार्योंने जो बात कही है उसीको स्पष्टतासे पं० टोडरमलजीने कही है। अतः वास्तवमें मोक्षमार्ग दो नहीं हैं किन्तु मोक्षमार्गका निरूपण दो प्रकार है। पाठक देखेंगे कि जो लोग निश्चय सम्यग्दर्शन व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयरत्नत्रय व्यवहाररत्नत्रय, निश्चयमोक्षमार्ग व्यवहारमोक्षमार्ग इत्यादि दो भेदोंकी रातदिन चर्चा करते रहते हैं और दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं ऐसी घोषणा कर रहे हैं–उनके मन्तव्यसे पं० जीका मन्तव्य कितना भिन्न है ? अतः पंडितजीने उनको मिथ्यादृष्टि, भ्रममें पड़ा हुआ कहा है। पं०जीका यह कथन भी भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसार गाथा ४१४, प्रवचनसार गाथा ८२–१९१, पंचास्तिकाय गाथा १५९, वृ० द्रव्यसंग्रह गाथा ३९ की भूमिका और टीकाके अनुसार ही है।

आगे चलकर पं० जीने लिखा है कि–दोनों नयोंका स्वरूप परस्पर विरुद्ध है इसलिये दोनों नयोंका उपादेयपना नहीं बन सकता। अज्ञानियोंकी ऐसी धारणा है कि–न केवल निश्चय उपादेय है और न केवल व्यवहार किन्तु दोनों ही उपादेय हैं–समकक्ष हैं, किन्तु पंडितजीने ऐसे श्रद्धानको मिथ्यादृष्टियोंकी प्रवृत्ति बतलाई है।

यदि दोनों नयोंका कथन उपादेय ही हो तो जैनशासन 'हेय'के कथनसे रहित ठहरेगा, किन्तु ऐसा मानना घोर अज्ञान है।

मोक्षका कारण शुद्ध परिणाम है लेकिन शुभाशुभ परिणति बन्धका ही कारण है ऐसी श्रद्धा करनेके लिये पंडितजी ने पृ० नं० २५५ में कहा है कि (१) शुभोपयोग-

को बंधका ही कारण जानना, मोक्षका कारण नहीं जानना, क्योंकि बंध और मोक्षके तो प्रतिपक्षीपना है, इसलिये एक ही भाव पुण्यबंधका भी कारण हो और मोक्षका भी कारण हो ऐसा मानना भ्रम है।"

"वस्तु विचार करने पर (२) शुभोपयोग मोक्षका घातक ही है क्योंकि बंधका कारण वह ही मोक्षका घातक है ऐसा श्रद्धान करना"

नोंध—उपरोक्त कथन पूर्णतया आगम सम्मत है जो कि निम्नप्रकार है:—

(१) दान, पूजा, व्रत, शीलादिरूप, चित्तप्रसादरूप परिणाम वह भाव पुण्य होनेसे और शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव शुद्धात्मासे भिन्न होनेसे 'हेय' स्वरूप है।
(श्री महावीरजीसे प्रकाशित पंचास्तिकाय गा० १३१-१३२ की जयसेनआचार्यकी टीका)

(२) अरिहंत सिद्धकी भक्ति; व्यवहारचारित्रके अनुष्ठानमें भावना प्रधान चेष्टा×× वह प्रशस्त राग है अतः यह सिद्धान्त सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि दोनोंको समानरूपसे लागू पड़ता है ऐसा जानना (पंचास्तिकाय गा० १३५, १३८, १७१ तथा गा० १६८ की टीकामें यही बात है)।

(३) पद्मनंदीपंचविंशतिका—धर्मोपदेश अधिकार श्लोक नं० ८१ में भी कहा है कि शुद्धात्माश्रित रत्नत्रय बंधका विनाश करते हैं; बाह्यरत्नत्रय केवल बाह्य पदार्थों (जीवाजीवादि)को ही विषय करता है और उससे शुभाशुभ कर्मोंका बंध होता है।

'सच्चे मुनिका व्यवहार मोक्षमार्गरूप आर्जवधर्मका फल स्वर्ग गति है'
(सोलापुरसे प्रकाशित पद्मनंदी, धर्मोपदेश अधिकार गा० ८९ पृ० ३७)
"निश्चय है वह अमृत है और उससे द्वितीय अर्थात् व्यवहार संसार है।"
(एकत्वसप्तति श्लोक ३२ पृ० ११७)

इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य, श्री पद्मनंदीपंचविंशतिके कर्त्ता पद्मनंदी आचार्य तथा श्रुत निपुण बुद्धिके धारक सब साधुगण प्रतिपादन करते हैं; आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी भी उसी प्रकार कथन करते हैं।

इस ग्रन्थमें एक बड़ी प्रयोजनभूत बात—'जैन शास्त्रोंके अर्थ करनेकी पद्धति' बतलाई गई है, जो इस प्रकार है:—

"व्यवहारनय स्व-द्रव्य, पर-द्रव्य व उनके भावोंको व कारण-कार्यादिकको किसीका किसीमें मिलाकर निरूपण करता है। सो ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है, इसलिये उसका (-ऐसी मान्यताका) त्याग करना। तथा निश्चयनय उसीको यथावत् निरूपण करता है, किसीको किसीमें नहीं मिलाता है। सो ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, इसलिये उसका श्रद्धान करना।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो 'जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा है-सो कैसे ?

उत्तरः—जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यतासहित व्याख्यान है उसे तो "सत्यार्थ ऐसे ही है" ऐसा जानना तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे "ऐसा है नहीं, निमित्तादिकी अपेक्षा उपचार किया है" ऐसा जानना। इसप्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। तथा दोनों नयोंके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर 'ऐसे भी है' 'ऐसे भी है'—इसप्रकार भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा नहीं है।"

(पृ० २५१)

पं० जी का यह कथन जैनागमसे सिद्ध है। उनमें कुछ आगमाधारः—

१ श्री समयसार गा० ४७, ४८, ५७-५८ टीका सहित अजीव अधिकार
२ „ गा० १०५, १०६, १०७-८ टीका सहित कर्त्ताकर्म अधिकार
३ „ गा० २७२-७६-७७ „ बंध अधिकार
४ „ गा० ३२१से२७, ३५६से६५, ४१४ „ सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार
५ प्रवचनसार गा० १८९ से १९२ टीका सहित

इन दो सौ वर्षोमें स्वाध्यायी और तत्त्वचर्चाके प्रेमी समाजमें इस ग्रन्थने ऐसा स्थान बना लिया है कि—इसका नाम सामने आते ही उनके लिये श्रद्धा उमड़ पड़ती है, और सब कथन तथा प्रयोजन जिनागमसे सुसंगत होनेसे उसे स्वाध्याय प्रेमीजन जिनागमसे कुछ कम नहीं समझते। अतः यह ग्रन्थ स्वतंत्र आगम ग्रन्थ है, जिनवाणी-रहस्यका कोष ही है।

वर्णन–शैली

सातिशय प्रज्ञाके धनी पंडितजीकी विशेषताओंका वर्णन करना अशक्य है किन्तु ग्रन्थमें विषयोंकी वर्णनशैली बड़ी ही सरल, रोचक और बोधगम्य है। कठिनतर तत्त्वचर्चाओंको भी बड़ा सरल बनानेका प्रयत्न किया गया है। जिस विषयको उठाया

गया है उस पर खूब ऊहापोह किया गया है और जबतक उसके हरेक पहलू पर विचार नहीं कर लिया गया तबतक आगे नहीं बढ़ा गया। जहाँ बढ़ा गया है वहाँ यह कहकर बढ़ा गया है कि इस विषयका आगे खुलासा करेंगे। विषयको सरल करनेमें वही शैली अपनाई गयी है अर्थात् प्रत्येक विषय पर यथासम्भव प्रश्न उठाकर उनका समाधान किया है, इतना ही नहीं बल्कि विषयको समझनेमें दृष्टान्त दिये हैं, उनका इतना सुंदर प्रयोग हुआ है कि प्रतिपाद्य विषयको गले उतारनेमें कठिनाई नहीं होती।

ग्रन्थकी भाषा

मूलतः यह ग्रन्थ ढूंढारी भाषामें है, जो जयपुर और उसके आसपासके प्रदेशोंमें बोली जाती थी। पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि हिन्दी साहित्यका बहुतसा भाग ढूंढारी भाषामें ही लिखा गया है, कारण यह है कि जैन दर्शनके अनेक मर्मज्ञ और आत्मज्ञ विद्वान उससमय जयपुर और उसके आसपास ही हुए हैं। स्वयं जयपुर-में जैनोंकी आबादी ही इतनी अधिक थी कि उससमय लोग उसे 'जैनपुरी' कहते थे। जयपुर ही ऐसा केन्द्र-स्थान था कि जहाँ सैंकड़ों शास्त्रोंकी इसी भाषामें नकल कराकर मांगके अनुसार देशके विभिन्न मंदिरोंमें पहुँचाये जाते थे।

ग्रन्थान्तरोंकी साक्षी

ग्रन्थकारके वचन ही ग्रन्थकी प्रमाणताके लिये पर्याप्त हैं, क्योंकि श्री टोडर-मलजीकी आत्मज्ञताके साथ-साथ असाधारण विद्वत्ता, विचारकता और सदाचारता न केवल सर्वोपरि थी, परन्तु अन्य विद्वान भी उनको तथा उनके विचारको पवित्र मानते थे, फिर भी अपने कथनके समर्थनमें उन्होंने आवश्यकतानुसार सर्वत्र ही ग्रन्था-न्तरोंके प्रमाण दिए हैं। इसतरह एक ग्रन्थमें अनेकों अवतरणोंका संग्रह ग्रन्थकी महत्ता और गंभीरताको बहुत ऊँचा उठा देता है।

ग्रन्थके किसी भी प्रमेयको पढ़ने के बाद उसके समर्थनमें फिर अन्य ग्रन्थोंके टटोलनेकी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि ग्रन्थकार स्वयं ही अन्य ग्रन्थोंके इतने प्रमाण दे देते हैं कि जिज्ञासु मन उन्हें देखकर ही शान्त हो जाता है।

आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी

जैन विद्वानोंमें महान प्रतिभाशाली आत्मज्ञ श्री पं० टोडरमलजी हैं, शास्त्र-स्वाध्यायके प्रेमीजनोंमें आपका नाम सुप्रसिद्ध ही है। आप हिन्दीके गद्य-लेखक विद्वानोंमें प्रथमकोटिके विद्वान हैं, जीवनके थोड़ेसे समयमें जैन समाजका जो महान उपकार किया है वह किसीसे भुलाया नहीं जा सकता। आज आपकी प्रत्येक रचना

ज्ञानपिपासुओंकी तृप्तिका कारण बनी हुई है और आपके वचन प्राचीन आचार्योंकी तरह ही प्रमाण माने जाते हैं। स्वाभाविक कोमलता, सदाचारिता, जन्म-जात विद्वत्ताके कारण गृहस्थ होकर भी 'आचार्यकल्प' कहलानेका सौभाग्य आपको ही प्राप्त है। धर्म-जिज्ञासुसे लेकर प्रौढ़ विद्वान सभीके लिये यह 'मोक्षमार्गप्रकाशक' ग्रन्थ अति उपयोगी सिद्ध हुआ है। आज तक ३४२०० पुस्तकें हिन्दी, गुजराती, मराठीमें छप चुकी हैं, वही इसकी उपयोगिता सिद्ध करती हैं।

पण्डितजीका जन्म संवत् १७९७के लगभग जयपुरके खंडेलवाल जैन परिवार तथा 'गोदीका' गोत्रमें हुआ। जोगीदास आपके पिता थे और माताका नाम रम्भाबाई था। बचपनमें ही इनकी व्युत्पन्नमतिको देखकर इन्हें खूब पढ़ाकर योग्यतम पुत्र बनानेका निश्चय कर, ४-५ वर्षकी अवस्थामें इन्हें पढ़ाने बैठा दिया गया। वाराणसीसे एक विशेषविद्वान इनको पढ़ानेके लिये बुलाया गया। पं० टोडरमलजीको १०-१२ वर्षमें ही व्याकरण, न्याय एवं गणित-जैसे कठिन विषयोंमें गम्भीर ज्ञान प्राप्त हो गया।

[एक जनश्रुति श्री टोडरमलजीके जीवनके बारेमें सुनी जाती है कि— एक जैन विद्वानने निमित्तज्ञान द्वारा जाना कि यह बालक अवश्य अपने जीवनमें धर्म-धुरंधर वीरपुरुष होगा..., पश्चात् उन्होंने जयपुरके दीवान रतनचन्दजीसे निवेदन किया कि यदि इस बालकको पढ़ानेके लिये मुझे समर्पित कर दें तो अल्प समयमें ही सर्वोत्तम विद्वान बन जायगा। तब दीवान सा० ने बड़े हर्षके साथ, गाजे बाजेके साथ बालकके माता पिताके पास जाकर उसे पढ़ानेका सुझाव दिया, जिसे माता-पिताने सहर्ष स्वीकृत कर लिया। बालक थोड़ेसे समयमें ही पढ़कर आशातीत विलक्षण बुद्धिमान बन गया।]

इनकी स्मरणशक्ति विलक्षण थी, गुरु जितना उन्हें पढ़ाते थे उससे अधिक याद करके उन्हें सुना देते थे। इनके शिक्षक उनकी प्रतिभा एवं सातिशय व्युत्पन्नमति-को देखकर दङ्ग रह जाते और इनकी सूक्ष्मबुद्धिकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे।

'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ग्रन्थकी भूमिकामें स्वयंका परिचय दिया है कि "मैंने इस कालमें मनुष्यपर्याय पायी, वहाँ मेरा पूर्व संस्कारसे वा भला होनहार था इसलिये मेरा जैनधर्ममें अभ्यास करनेका उद्यम हुआ।" यह कथन आपकी पूर्वभवकी साधना और वर्तमान असाधारण योग्यताको सूचित करता है। आप जन्मजवाहर तो थे ही, अपूर्व पुरुषार्थके बल द्वारा आप महत्त्वपूर्ण आत्मप्रज्ञाके धनी बन गये। अतएव थोड़े ही

समयमें सर्वज्ञ वीतराग कथित चारों अनुयोगोंका अध्ययन करके आपने आगमोक्त उपयोगी सर्व रहस्यका अनुगम किया। जिसके फलस्वरूप आपने महान्-महान् सिद्धान्त ग्रन्थोंकी टीका की और जिनवाणीका संपूर्ण सार लेकर अतिसुगमशैली द्वारा अपने एक मौलिक ग्रंथ मोक्षमार्गप्रकाशककी रचना कर, कल्याणार्थी जीवोंको अपूर्व-अमूल्य आत्मनिधिका भान कराया। यदि आज यह मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ न होता तो जिनागमका गूढ़ रहस्य तथा प्रयोजनभूततत्त्व स्पष्टतासे समझमें नहीं आते। पं०जी स्वयं इस ग्रन्थकी भूमिकामें लिखते हैं कि "टीका सहित समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि शास्त्र अर क्षपणासार, पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय, अष्टपाहुड़, आत्मानुशासन आदि शास्त्र अर श्रावक-मुनिके आचारके प्ररूपक अनेक शास्त्र अर सुष्ठु कथा सहित पुराणादि शास्त्र इत्यादि अनेक शास्त्र हैं तिन विषैं हमारे बुद्धि-अनुसार अभ्यास वर्ते है।"

पं०जीका अपना और उनके माता-पिता एवं कुटुम्बीजनोंका परिचय श्री लब्धिसार ग्रन्थकी टीका-प्रशस्ति आदि सामग्री परसे कुछ पता चल जाता है। प्रशस्तिके वे पद्य इसप्रकार हैं:—

"मैं हूँ जीव-द्रव्य नित्य चेतना स्वरूप, मेर्यो लग्यो है अनादितैं कलंक कर्म मलको।
ताहिको निमित्त पाय रागादिक भाव भये, भयो है शरीरको मिलाप जैसैं खलको।
रागादिक भावनिको पायकैं निमित्त पुनि होत, कर्मबन्ध, ऐसो है बनाव जैसे कलको।
ऐसैं ही भ्रमत भयो मानुष शरीर जोग, बनैं तो बनैं यहाँ उपाव निज थलको ॥३६॥

दोहा

रम्भापति सुत गुण जनक जाको जोगीदास, सोई मेरो प्रान है, धारैं प्रगट प्रकाश ॥३७॥

मैं आतम अरु पुद्गल खंध, मिलकैं भयो परस्पर बंध।
सो असमान जाति पर्याय, उपज्यो मानुष नाम कहाय ॥ ३८ ॥
मात गर्भमें सो पर्याय, करके पूरण अंग सुभाय।
बाहर निकसी प्रगट जब भयो, तब कुटुम्बको मेलो भयो ॥३९॥
नाम धरयो तिन हर्षित होय, 'टोडरमल्ल' कहै सब कोय।
ऐसो यहु मानुष पर्याय, बधत भयो निजकाल गमाय ॥४०॥
देश ढुंढारह मांहि महान, नगर 'सवाई जयपुर' थान।
तामें ताको रहनो घनो, थोरो रहनो ओढै बनो ॥४१॥

तिस पर्याय विषैं जो कोय, देखन–जाननहारो सोय ।
मैं हूं जीवद्रव्य, गुनभूप, एक अनादि अनन्त अरूप ॥४२॥
कर्म उदयको कारन पाय, रागादिक हो हैं दुःखदाय ।
ते मेरे औपाधिक भाव, इनिकों विनशै मैं शिवराय ॥४३॥
वचनादिक लिखनादिक क्रिया, वर्णादिक अरु इन्द्रिय हिया ।
ये सब हैं पुद्गल का खेल, इनिमें नाहिं हमारो मेल ॥४४॥

इन पद्यों परसे आपके आध्यात्मिक जीवनकी झांकीका दिग्दर्शन होता है। आपके गुरुका नाम पं० वंशीधर था, इन्हींसे पं०जीने प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की थी। आप अपनी क्षयोपशमकी विशेषताके कारण पदार्थ और उसके अर्थका शीघ्र ही अवधारण कर लेते थे। फलतः थोड़े ही समयमें जैन सिद्धान्तके उपरान्त व्याकरण, काव्य, छन्द, अलंकार, कोष आदि विविध विषयोंमें दक्षता प्राप्त कर ली थी।

पंडितजीने वस्तुस्वरूपका अवलोकन कर सर्वज्ञ वीतराग–कथित न्यायी पंथका अनुसरण किया, जैनियोंमें जो शिथिलता थी उसको दूर करनेका प्रयत्न किया, शुद्ध प्रवृत्तियोंको प्रोत्साहन दिया और जनतामें सच्ची धार्मिक भावना एवं स्वाध्यायके प्रचारको वढ़ाया जिससे जनता जैनधर्मके मर्मको समझनेमें समर्थ हुई और फलतः अनेक सज्जन और स्त्रियां आध्यात्मिक चर्चाके साथ गोम्मटसारादि ग्रन्थोंके जानकार वन गये। यह सब उनके प्रयत्नका ही फल था।

सहधर्मी भाई रायमल्लजीने आपका परिचय देते हुए लिखा है कि—"अर टोडरमलजी सूं मिले, नानाप्रकारके प्रश्न किए, टोडरमलजीके ज्ञानकी महिमा अद्भुत देखी।...अवार अनिष्ट काल विषैं टोडरमलजीके ज्ञानका क्षयोपशम (ज्ञानका विकास) विशेष भया।" पं. देवीलालजीने लिखा है कि– टोडरमलजी महाबुद्धिमानके पास शास्त्र सुननेका निमित्त मिला'।

प्रज्ञाकी–बुद्धिकी अलौकिक विशेषता और काव्यशक्ति

पंडितप्रवर टोडरमलजीकी बुद्धिकी निर्मलताके सम्बन्धमें ब्रह्मचारी राजमलजी ने सं० १८२१ को चिट्ठीमें लिखा है "साराही विषैं भाईजी टोडरमलजीके ज्ञान का क्षयोपशम अलौकिक है, जो गोम्मटसारादि ग्रन्थोंकी सम्पूर्ण कई लाख श्लोक टीका बनाई और ५–७ ग्रन्थोंकी टीका बनायवेका उपाय है। सो आयुकी अधिकता हुए बनेगी। अर धवल, जयधवलादि ग्रन्थोंके खोलवाका उपाय किया वा वहाँ दक्षिण देशसूं पांच सात और ग्रन्थ ताड़पत्र विषैं कर्णाटकी लिपिमें लिख्या इहाँ पधारे है। यासूं मल्लजी

वांचै हैं, वाका यथार्थ व्याख्यान करैं हैं वा कर्णाटकी लिपिमें लिखि ले है। इत्यादि न्याय, व्याकरण, गणित, छंद–अलंकारका याके ज्ञान पाइए हैं। ऐसे पुरुष महंतबुद्धिका धारक इसकाल विषैं होना दुर्लभ है तातै वासुं मिलें सर्व संदेह दूरि होइ हैं।"

इससे पं०जीकी प्रतिभा और आत्मज्ञानरूप विद्वत्ताका अनुभव सहज ही किया जा सकता है।

आप केवल हिन्दी गद्यभाषाके ही लेखक नहीं थे, किन्तु आपमें पद्य-रचना करनेकी क्षमता थी और हिन्दी भाषाके साथ संस्कृत भाषामें भी पद्य रचना अच्छी तरहसे कर सकते थे। गोम्मटसार ग्रन्थकी पूजा उन्होंने संस्कृतके पद्योंमें ही लिखी है जो मुद्रित हो चुकी है और देहलीके धर्मपुराके नये मन्दिरके शास्त्रभंडारमें मौजूद है। इसके सिवाय संदृष्टि अधिकारका आदि-अन्त मंगल भी संस्कृत श्लोकोंमें दिया हुआ है और वह इस प्रकार है—

संदृष्टेर्लब्धिसारस्य क्षपणासारमीयुषः
प्रकाशिनः पदं स्तौमि नेमिन्दोर्माधवप्रभोः॥

यह पद्य द्व्यर्थक है। प्रथम अर्थमें क्षपणासारके साथ लब्धिसारकी संदृष्टिको प्रकाश करनेवाले माधवचन्द्रके गुरु आचार्य नेमिचन्द्र सैद्धान्तिकके चरणोंकी स्तुति की गई है और दूसरे अर्थमें करण-लब्धिके परिणामरूप कर्मोंकी क्षपणाको प्राप्त और समीचीन दृष्टिके प्रकाशक नारायणके गुरु नेमिनाथ भगवानके चरणोंकी स्तुतिका उपक्रम किया गया है।

इसी तरह अन्तिम पद्य भी तीन अर्थोंको लिये हुये है और उसमें शुद्धात्मा (अरहन्त), अनेकान्त वाणी और उत्तम साधुओंको संदृष्टिकी निर्विघ्न रचनाके लिये नमस्कार किया गया है। वह पद्य इस प्रकार है:—

शुद्धात्मानमनेकान्तं सानुमुत्तममंगलम्।
वंदे संदृष्टिसिद्ध्यर्थं संदृष्ट्यर्थप्रकाशकम्॥

हिन्दी भाषाके पद्योंमें भी आपकी कवित्वशक्तिका अच्छा परिचय मिलता है। पाठकोंकी जानकारीके लिये गोम्मटसारके मंगलाचरणका एक पद्य नीचे दिया जाता है जो चित्रालंकारके रहस्यको अच्छी तरहसे व्यक्त करता है। उस पद्यके प्रत्येक पदपर विशेष ध्यान देनेसे चित्रालंकारके साथ यमक, अनुप्रास और रूपक आदि अलंकारोंके निर्देश भी निहित प्रतीत होते हैं। वह पद्य इस प्रकार है:—

मैं नमों नगन जैन जन ज्ञान ध्यान धन लीन।
मैनमान बिन दानघन, एनहीन तन छीन॥

इस पद्यमें बतलाया गया है कि मैं ज्ञान और ध्यानरूपी धनमें लीन रहनेवाले, काम और मान (घमंड) से रहित मेघके समान धर्मोपदेशकी वृष्टि करनेवाले, पापरहित और क्षीण शरीरवाले उन नग्न जैन साधुओंको नमस्कार करता हूँ। यह पद्य गोमूत्रिका बंधका उदाहरण है। इसमें ऊपरसे नीचेकी ओर क्रमशः एक-एक अक्षर छोड़नेसे पद्यकी ऊपरकी लाइन बन जाती है और इसी तरह नीचेसे ऊपरकी ओर एक-एक अक्षर छोड़नेसे नीचेकी लाइन भी बन जाती है। पर इस तरहसे चित्रबंध कविता दुरूह होनेके कारण पाठकोंकी उसमें शीघ्र गति नहीं होती किन्तु खूब सोचने विचारनेके बाद उन्हें कविताके रहस्यका पता चल पाता है।

पंडितजी गृहस्थ थे—घरमें रहते थे परन्तु वे सांसारिक विषयभोगोंमें आसक्त न होकर कमल-पत्रके समान अलिप्त थे और संवेग-निर्वेद आदि गुणोंसे अलंकृत थे। अध्यात्म-ग्रन्थोंसे आत्मानुभवरूप सुधारसका पान करते हुए तृप्त नहीं होते थे। उनकी मधुर वाणी श्रोताजनोंको आकृष्ट करती थी और वे उनकी सरल वाणीको सुन परम सन्तोषका अनुभव करते थे। पंडित टोडरमलजीके घर पर ज्ञानाभिलाषियोंका खासा जमघट सा लगा रहता था। ज्ञानाभ्यासके लिये घर पर जो भी व्यक्ति आता था उसे आप बड़े प्रेमके साथ ज्ञानाभ्यास कराते थे। इसके सिवाय तत्त्वचर्चाका तो वह केन्द्र ही बन रहा था वहाँ तत्त्वचर्चाके रसिक मुमुक्षुजन बराबर आते रहते थे और उन्हें आपके साथ विविध विषयों पर तत्त्वचर्चा करके तथा अपनी शंकाओंका समाधान सुनकर बड़ा ही सन्तोष होता था और इस तरह वे पंडितजीके प्रेममय विनम्र व्यवहारसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते थे। आपके शास्त्रप्रवचनमें जयपुरके सभी प्रतिष्ठित, चतुर और विशिष्ट श्रोताजन आते थे। उनमें दीवान रतनचन्दजी* अजबरायजी, त्रिलोकचन्दजी पाटणी, महारामजी, त्रिलोकचन्दजी सोगानी, श्रीचन्दजी सोगानी और नेमचन्दजी पाटणीके नाम खास तौरसे उल्लेखनीय हैं। बसवा निवासी श्री पं० देवीदासजी गोधाको भी आपके पास कुछ समय तक तत्वचर्चा सुननेका अवसर प्राप्त हुआ था। उनका

---

* दीवान रतनचन्दजी और बालचन्दजी उस समय जयपुरके साधर्मियोंमें प्रमुख थे। ये बड़े ही धर्मात्मा और उदार सज्जन थे। रतनचन्दजीके लघुभ्राता बधीचन्दजी दीवान थे। दीवान रतनचन्दजी वि० सं० १८२१ से पहले ही राजा माधवसिंहजीके समयमें दीवान पद पर आसीन हुए थे और वि० सं० १८२६ में जयपुर के राजा पृथ्वीसिंहके समयमें थे और उसके बाद भी कुछ समय रहे हैं। पं० दौलतरामजीने दीवान रतनचन्दजीकी प्रेरणासे वि० सं० १८२७ में पं० टोडरमलजीकी पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी अधूरी टीकाको पूर्ण किया था।

प्रवचन बड़ा ही मार्मिक और सरल होता था और उसमें श्रोताओंकी अच्छी उपस्थिति रहती थी।

तत्कालीन धार्मिक स्थिति

जयपुरमें जैनोंकी संख्या और जिन मंदिरोंकी संख्या तो अब भी वहांके अतीत जैन वैभवको बतला रही है, साधर्मी भाई ब्र० रायमल्लके सं० १८२१ के एक पत्रमें लिखा है कि:—"और इहाँ दस बारा लेखक सदैव, सासते जिनवाणी लिखें हैं वा सोधते हैं। और एक ब्राह्मण शिक्षक रखा है सो २०-३० बालकोंको न्याय, व्याकरण, गणित, शास्त्र पढ़ावे है। और १००-५० भाई व बाई चर्चा व्याकरणका अध्ययन करे है। नित्य १००-५० स्थान पर जिन पूजन होई है—इत्यादि इहाँ जिनधर्मकी विशेष महिमा जाननी, नगरमें सात व्यसनका अभाव है। भावार्थ—ई नग्र विषैं कलाल, कसाई, वेश्या न पाइए। अर जीव हिंसाकी मनाई है। दीवान पदमें श्री रतनचन्दजी, बालचन्दजी उनमें प्रमुख है, राजाका नाम माधवसिंह है। ताके राजमें एते कुव्यसन न पाइए है। और जैनी लोगका समूह वसे है। दरबारके मुत्सदी सब जैनी है, और शाहूकार लोग सब जैनी है। यद्यपि और भी है पर गौणतारूप है, मुख्यतारूप नाहीं।.. ७-८ हजार जैनी महाजनांका घर पाइये है ऐसा जैन लोगोंका समूह और नग्रमें नाहीं, और इहाँका देशविषैं सर्वत्र मुख्यपणे श्रावगी लोग वसे हैं। तातैं यह नग्र व देश बहुत निर्मल व पवित्र है। तातैं धर्मात्मा पुरुष वसनेका स्थान है, अवार तो ए साक्षात् धर्मपुरी है।"

उस समय जिनपूजन, शास्त्रस्वाध्याय, तत्त्वचर्चा, शास्त्र प्रवचनादिमें श्रद्धा-भक्ति और विनयका अपूर्व दृश्य देखनेमें आता था, आज भी कुछ अंशमें है। पं० टोडरमलजीके शास्त्र प्रवचनमें श्रोताओंकी संख्या ८०० से अधिक हो जाया करती थी।

जयपुर का वैभव

उन दिनोंमें जयपुरका धार्मिक वैभव अपनी चरम सीमापर था। करीब ५००००, जैनियोंकी संख्या थी, राज दरबारमें और राज्यके अन्य विभागोंमें जैनोंकी ही मुख्यता थी। दीवान रतनचन्दजी उस समय प्रधानमंत्री थे, खंडेलवाल जैन थे और पं० जी की शास्त्र सभाओं तथा धार्मिक चर्चाओंमें खूब भाग लिया करते थे। स्वयं जयपुरके शासक महाराजा माधवसिंहजी जैनोंसे अत्यधिक प्रभावित थे। वि० संवत १८२१ में श्री टोडरमलजीके उपदेशसे जयपुरके जैनों द्वारा इन्द्रध्वज पूजाका जो बड़ा

भारी विशाल और ऐतिहासिक समारोह हुआ था उसमें दरवारकी तरफसे घोषणा थी कि–जैनोंको दरवारसे जिस चीजको आवश्यकता हो वह दी जाय।

कहते हैं कि यह महामहोत्सव स्वयं महाराजाकी प्रेरणासे ही हुआ था। और उनके दीवान रतनचन्द्रजी इस काममें अग्रेसर रहे थे। वाल ब्रह्मचारी साधर्मी रायमल जीके शब्दोंमें–पहलेकी अपेक्षा जैनोंका धार्मिक प्रभाव चौगुना वढ़ने लगा, जिनमंदिरों के जीर्णोद्धार के साथ साथ ही वीस, तीस मंदिर नये वनवाए गये, नित्य हजारों स्त्री-पुरुष पूजा पाठ करते ही थे। स्त्रियाँ भी गंभीर शास्त्र चर्चाएँ करती थी, १०-२० विद्वान शास्त्र सभामें ऐसे रहते थे जो संस्कृत शास्त्रोंका प्रवचन करते थे। दुरूह चर्चाओंमें भाग लेनेवाले भी सैंकड़ों ही थे। विभिन्न देशोंके प्रश्न समाधानके लिये जयपुर ही आते थे। इस तरह उस समय धर्म और विद्वत्ताका केन्द्र जयपुर ही था।

रचनाएँ और रचनाकाल

पं० टोडरमलजीकी कुल दश रचनाएं हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—१ रहस्यपूर्ण चिट्ठी, २ गोम्मटसार जीवकांड टीका, ३ गोम्मटसार कर्मकाण्ड टीका, ४ लब्धिसार क्षपणासार टीका, ५ त्रिलोकसार टीका, ६ आत्मानुशासन टीका, ७ पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय टीका, ८ अर्थसंदृष्टि अधिकार, ९ मोक्षमार्गप्रकाशक और १० गोम्मट-सार पूजा।

इनमें आपकी सवसे पुरानी रचना रहस्यपूर्ण चिट्ठी है जो कि विक्रम संवत् १८११ की फाल्गुण वदि पंचमीको मुलतानके अध्यात्मरसके रोचक खानचन्दजी, गंगाधरजी, श्रीपालजी, सिद्धारथजी आदि अन्य साधर्मी भाइयोंको उनके प्रश्नोंके उत्तररूपमें लिखी गई थी। यह चिट्ठी अध्यात्मरसके अनुभवसे ओत-प्रोत है। इसमें आध्यात्मिक प्रश्नोंका उत्तर कितने सरल एवं स्पष्ट शब्दोंमें विनयके साथ दिया गया है। चिट्ठीगत शिष्टाचार-सूचक निम्न वाक्य तो पंडितजीकी आन्तरिक भद्रता तथा वात्सल्यताका खास तौरसे द्योतक है—

"तुम्हारे चिदानन्दघनके अनुभवसे सहजानन्दकी वृद्धि होउ।"

निर्विकल्प समाधिका थोड़ेमें ही वड़ा सुन्दर चित्र खींचा गया है। तत्त्वरसिकों को यह पत्र अवश्य पढ़ने योग्य है।

गोम्मटसारादिकी सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका

गोम्मटसार जीवकांड, कर्मकांड, लब्धिसार, क्षपणासार और त्रिलोकसार इन मूल ग्रन्थोंके रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती हैं। जो वीरनन्दि इन्द्रनन्दिके वत्स तथा अभयनन्दिके शिष्य थे। और जिनका समय विक्रमकी ११ वीं शताब्दी है।

गोम्मटसार ग्रन्थपर अनेक टीकाएं रची गई हैं किन्तु वर्तमानमें उपलब्ध टीकाओंमें मंदप्रबोधिका सबसे प्राचीन टीका है जिसके कर्ता अभयचन्द्र सैद्धान्तिक* हैं। इस टीकाके आधारसे ही केशव वर्णीने, जो अभयसूरिके शिष्य थे, कर्नाटक भाषामें 'जीवतत्त्वप्रबोधिका' नामकी टीका भट्टारक धर्मभूषणके आदेशसे शक सं० १२८१ (वि० सं० १४१६) में बनाई है। यह टीका कोल्हापुरके शास्त्रभंडारमें सुरक्षित है और अभी तक अप्रकाशित है। मन्दप्रबोधिका और केशववर्णीकी उक्त कनड़ी टीकाका आश्रय लेकर भट्टारक नेमिचन्द्रने अपनी संस्कृत टीका बनाई और उसका नाम भी कनड़ी टीकाकी तरह 'जीवतत्त्वप्रबोधिका' रक्खा गया है। यह टीकाकार नेमिचन्द्र मूल-संघ शारदागच्छ बलात्कारगणके विद्वान थे। भट्टारक ज्ञानभूषणका समय विक्रमकी १६वीं शताब्दी है; क्योंकि इन्होंने वि० सं० १५६० में 'तत्वज्ञानतरङ्गिणी' नामक ग्रन्थकी रचना की है। अतः टीकाकार नेमिचन्द्रका भी समय वि० की १६ वीं शताब्दी है। इनकी 'जीवतत्वप्रबोधिका' टीका मल्लिभूपाल अथवा सालुवमल्लिराय नामक राजाके समयमें लिखी गई है और जिनका समय डा० ए० एन० उपाध्येने ईसाकी १६ वीं शताब्दीका प्रथम चरण निश्चित किया है×। इससे भी इस टीका और टीकाकारका उक्त समय अर्थात् ईसाकी १६ वीं शताब्दीका प्रथम चरण व विक्रमकी १६ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध सिद्ध है।

आचार्य नेमिचन्द्रको इस संस्कृत टीकाके आधारसे ही पं० टोडरमलजीने सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका बनाई है। उन्होंने इस संस्कृत टीकाको केशववर्णीकी टीका समझ लिया है जैसा कि जीवकाण्ड टीका प्रशस्ति के निम्न पद्यसे प्रगट है—

> केशववर्णी भव्य विचार, कर्णाटक टीका अनुसार।
> संस्कृतटीका कीनी एहु, जो अशुद्ध सो शुद्ध करेहु ॥

---

* अभयचन्द्रकी यह टीका अपूर्ण है और जीवकाण्डकी ३८३ गाथा तक ही पाई जाती है। इसमें ८३ नं० की गाथाकी टीका करते हुए एक 'गोम्मटसार पंजिका' टीकाका उल्लेख निम्न शब्दोंमें किया गया है। "अथवा सम्मूर्छनगर्भोपपातान्नाश्रित्य जन्म भवतीति गोम्मटसारपंजिकाकारादीनामभिप्रायः।"

× देखो, अनेकान्त वर्ष ४ किरण १।

पंडितजीकी इस भाषाटीकाका नाम 'सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका' है जो उक्त संस्कृत टीकाका अनुवाद होते हुए भी उसके प्रमेयका विशद विवेचन करती है। पंडित टोडरमलजीने गोम्मटसार—जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड, लब्धिसार—क्षपणासार, त्रिलोकसार इन चारों ग्रन्थोंकी टीकाएं यद्यपि भिन्न-भिन्न रूपसे की हैं किन्तु उनमें परस्पर सम्बन्ध देखकर उक्त चारों ग्रन्थोंकी टीकाओंको एक करके उसका नाम 'सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका' रक्खा है जैसा कि पंडितजीकी लब्धिसार भाषा टीका प्रशस्तिके निम्न पद्यसे स्पष्ट है:—

"या विधि गोम्मटसार लब्धिसार ग्रन्थनि की, भिन्न भिन्न भाषाटीका कीनी अर्थ गायकैं।
इनिकै परस्पर सहायकपनौ देख्यौ, तातैं एक करि दई हम तिनिको मिलायकैं॥
सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका धर्‍यो है याका नाम, सो ही होत है सफल ज्ञानानन्द उपजायकैं।
कलिकाल रजनीमें अर्थको प्रकाश करै, यातैं निज काज कीनें इष्ट भाव भायकैं॥३०॥

इस टीकामें उन्होंने आगमानुसार ही अर्थ प्रतिपादन किया है और अपनी ओरसे कषायवश कुछ भी नहीं लिखा, यथा:—

आज्ञा अनुसारी भये अर्थ लिखे या मांहि।
धरि कषायकरि कल्पना हम कछु कीनों नांहि॥३३॥

टीकाप्रेरक श्री रायमलजी और उनकी पत्रिका—

इस टीकाकी रचना अपने समकालीन रायमल नामके एक साधर्मी श्रावकोत्तमकी प्रेरणासे की गई है—"रायमल्ल साधर्मी एक, धर्मसधैया सहित विवेक। सो नानाविध प्रेरक भयौ, तब यह उत्तम कारज थयो।" वे अध्यात्म शास्त्रोंके विशेष प्रेमी थे। और विद्वानोंसे तत्त्वचर्चा करनेमें बड़ा रस लेते थे। पं० टोडरमलजीकी तत्त्व-चर्चासे बहुत ही प्रभावित थे। इनकी इस समय दो कृतियां उपलब्ध हैं—एक कृति ज्ञानानन्द निर्भर निजरस श्रावकाचार, दूसरी कृति चर्चासंग्रह है जो महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक चर्चाओंको लिए हुए है। इनके सिवाय दो पत्रिकायें भी प्राप्त हुई हैं जो 'वीर वाणी' में प्रकाशित हो चुकी हैं*। उनमेंसे प्रथम पत्रिकामें अपने जीवनकी प्रारम्भिक घटनाओंका समुल्लेख करते हुए पंडित टोडरमलजीसे गोम्मटसारकी टीका बनानेकी प्रेरणा की गई है और वह सिंघाणा नगरमें कब और कैसे बनी इसका पूरा विवरण दिया गया है। पत्रिकाका वह अंश इस प्रकार है:—

"पीछै सेखावटी विषैं सिंघाणा नग्र तहाँ टोडरमलजी एक दिलो (दिल्ली) का बड़ा साहूकार साधर्मी ताके समीप कर्म (कार्य) के अर्थि वहाँ रहै, तहाँ हम गए और

---

* देखो वीरवाणी वर्ष १ अङ्क २, ३।

टोडरमलजी मिले, नाना प्रकारके प्रश्न किये। ताका उत्तर एक गोम्मटसार नामैं ग्रन्थकी साखिसूं देते गए। सो ग्रन्थकी महिमा हम पूर्वे सुनी थी तासूं विशेष देखी अर टोडरमलजीका (के) ज्ञानकी महिमा अद्भुत देखी, पीछैं उनसूं हम कही—तुम्हारे या ग्रन्थका परचै (परिचय) निर्मल भया है, तुमकरि याकी भाषा टीका होय तो घणां जीवोंका कल्याण होय अर जिनधर्मका उद्योत होइ। अब हों (इस) कालके दोषकरि जीवोंकी बुद्धि तुच्छ रही है तो आगे यातैं भी अल्प रहेगी। तातैं ऐसा महान् ग्रन्थ प्राकृत ताकी मूलगाथा पन्द्रहसै १५००* ताकी संस्कृत टीका अठारह हजार १८००० ताविषैं अलौकिक चरचाका समूह संदृष्टि वा गणित शास्त्रोंकी आम्नाय संयुक्त लिख्या है ताका भाव भासना महा कठिन है। अर याके ज्ञानकी प्रवर्ति पूर्वे दीर्घकाल पर्यन्त लगाय अब ताईं नाहीं तौ आगैं भी याकी प्रवर्ती कैसैं रहेगी ? तातैं तुम या ग्रन्थकी टीका करनेका उपाय शीघ्र करो, आयुका भरोसा है नाहीं। पीछैं ऐसैं हमारे प्रेरकपणाको निमित्त करि इनके टीका करनेका अनुराग भया। पूर्वै भी याकी टीका करनेका इनका मनोरथ था ही, पीछैं हमारे कहनेकरि विशेष मनोरथ भया, तब शुभ दिन मुहूर्तविषैं टोका करनेका प्रारंभ सिंघाणा नग्रविषैं भया। सो वे तो टीका बनावते गए हम बांचते गये। बरस तीनमें गोम्मटसारग्रंथकी अड़तीस हजार ३८०००, लब्धिसार—क्षपणासार ग्रन्थकी तेरह हजार १३०००, त्रिलोकसार ग्रन्थकी चौदहहजार १४०००, सब मिलि च्यारि ग्रन्थोंकी पैंसठ हजार टीका भई। पीछैं सवाई जयपुर आये तहाँ गोम्मटसारादि च्यारों ग्रन्थोंकूं सोधि याकी बहुत प्रति उतरवाईं। जहाँ शैली थी तहाँ सुधाइ-सुधाइ पधराई। ऐसे इन ग्रन्थोंका अवतार भया।"

इस पत्रिकागत विवरण परसे यह स्पष्ट है कि उक्त सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका तीन वर्षमें बनकर समाप्त हुई थी जिसकी श्लोक संख्या पैंसठ हजारके करीब है। इस टीकाके पूर्ण होनेपर पंडितजीने अन्तिम मंगलके रूपमें पंचपरमेष्ठीकी स्तुति की और उन जैसी अपनी दशाके होनेकी अभिलाषा भी व्यक्त की। यथा—

आरम्भो पूरण भयो शास्त्र सुखद प्रासाद।
अब भये हम कृतकृत्य उर पायो अति आह्लाद॥

---

* रायमलजीने गोम्मटसार की मूल गाथा संख्या पन्द्रहसौ १५०० बतलाई है जब कि उसकी संख्या सत्तरहसौ पांच १७०५ है, गोम्मटसार कर्मकाण्डकी ९७२ और जीवकाण्ड की ७३३ गाथासंख्या मुद्रित प्रतियोंमें पाई जाती हैं।

अरहन्त सिद्ध सूर उपाध्याय साधु सर्व,
अर्थके प्रकाशी माङ्गलीक उपकारी हैं ।
तिनको स्वरूप जानि रागतैं भई जो भक्ति,
कायकों नमाय स्तुतिकों उचारी है ॥
धन्य धन्य तुमही से काज सब आज भयो,
कर जोरि बारम्बार वन्दना हमारी है ।
मङ्गल कल्याण सुख ऐसो हम चाहत हैं,
होहु मेरी ऐसी दशा जैसी तुम धारी है ॥

यही भाव लब्धिसारटीका प्रशस्तिमें गद्यरूपमें प्रगट किया है* ।

लब्धिसारकी यह टीका वि० सं० १८१८ माघशुक्ला पंचमीके दिन पूर्ण हुई है, जैसा कि उसके प्रशस्ति पद्यसे स्पष्ट है—

संवत्सर अष्टादशयुक्त, अष्टादशशत लौकिकयुक्त ।
माघशुक्लपंचमिदिन होत, भयो ग्रन्थ पूरन उद्योत ॥

लब्धिसार-क्षपणासारकी इस टीकाके अन्तमें अर्थसंदृष्टि नामका एक अधिकार भी साथमें दिया हुआ है, जिसमें उक्त ग्रन्थमें आनेवाली अंकसंदृष्टियों और उनकी संज्ञाओं तथा अलौकिक गणितके करणसूत्रोंका विवेचन किया गया है । यह संदृष्टि अधिकारसे भिन्न है । जिसमें गोम्मटसार-जीवकाण्ड, कर्मकाण्डकी संस्कृतटीकागत अलौकिक गणितके उदाहरणों, करणसूत्रों, संख्यात, असंख्यात और अनन्तकी संज्ञाओं और अंकसंदृष्टियोंका विवेचन स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें किया गया है और जो 'अर्थसंदृष्टि' के सार्थक नामसे प्रसिद्ध है । यद्यपि टीका ग्रन्थोंके आदिमें पाई जानेवाली पीठिकामें ग्रंथगत संज्ञाओं एवं विशेषताका दिग्दर्शन करा दिया है जिससे पाठक जन उस ग्रन्थके विषयसे परिचित हो सकें । फिर भी उनका स्पष्टीकरण करनेके लिये उक्त अधिकारोंकी रचना की गई है । इसका पर्यालोचन करनेसे संदृष्टि-विषयक सभी बातोंका बोध हो जाता है । इस सबका श्रेय पं० टोडरमलजीको ही प्राप्त है ।

* "प्रारब्ध कार्यकी सिद्धि होने करि हम आपकों कृतकृत्य मानि इस कार्य करनेकी आकुलता रहित होइ सुखी भये । याके प्रसादतैं सर्व आकुलता दूरि होइ हमारै शीघ्र ही स्वात्मज सिद्धि-जनित परमानन्दकी प्राप्ति होउ ।"
—लब्धिसारटीका प्रशस्ति

त्रिलोकसार टीका—

त्रिलोकसार टीका यद्यपि सं० १८२१ से पूव बन चुकी थी परन्तु उसका संशोधनादि कार्य बादको हुआ है और पीठबंध वगैरह बादको लिखे गये हैं। मल्लजीने इस टीकाका दूसरा कोई नाम नहीं दिया। इससे यह मालूम होता है कि उसे भी सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका टीकाके अन्तर्गत समझा जाय।

मोक्षमार्ग प्रकाशक—

इस ग्रन्थका परिचय पहले दिया जा चुका है और इसकी रचनाका प्रारम्भ भी सं० १८२१ के पूर्वका है।

आत्मानुशासन टीका—

आदिपुराणके कर्त्ता श्री जिनसेनाचार्यके शिष्य भगवान श्री गुणभद्राचार्यके द्वारा रचा गया यह ग्रन्थ २७२ श्लोकोंका है। अपने नामके अनुसार आत्माको अनुशासित करनेवाला अपने ढंगका जैन वाङ्मयमें यह एक ही ग्रन्थ है, और पढ़ते समय सुभाषित जैसा ही आनन्द आता है, वारंवार पढनेयोग्य, प्रासादगुणयुक्त प्रौढ़ ग्रन्थ है। इसपर आचार्य श्री प्रभाचन्द्रकी एक छोटी संस्कृत टीका है जो प्रत्येक श्लोकके अर्थको विशद करती है। इसी ग्रन्थपर पं० श्री टोडरमलजीकी भाषा वचनिका है जो शायद उक्त सं० टीका के अनुसार ही बनाई गई है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय टीका—

यह उनकी अन्तिम कृति जान पड़ती है। यही कारण है कि यह अपूर्ण रहगई। यदि आयुवश वे जीवित रहते तो वे उसे अवश्य पूरी करते। बादको यह टीका श्री रतनचन्दजी दीवानकी प्रेरणासे पंडित दौलतरामजीने सं० १८२७ में पूरो की है परन्तु उनसे उसका वैसा निर्वाह नहीं हो सका है। फिर भी उसका अधूरापन तो दूर हो ही गया है।

उक्त कृतियोंका रचनाकाल सं० १८११ से १८१८ तक तो निश्चित ही है। फिर इसके बाद और कितने समय तक चला, यद्यपि यह अनिश्चित है, परन्तु फिर भी सं० १८२४ के पूर्व तक उसकी सीमा जरूर है। पं० टोडरमलजीकी ये सब रचनायें जयपुर नरेश माधवसिंहजी प्रथमके राज्यकालमें रची गई हैं। जयपुर नरेश माधवसिंहजी प्रथमका राज्य वि० सं० १८११ से १८२४ तक निश्चित माना जाता है*। पं० दौलतरामजीने

---

* देखो 'भारतके प्राचीन राजवंश' भाग ३ पृ० २३६, २४०।

जब सं० १८२७ में पुरुषार्थसिद्धच्युपायकी अधूरी टीकाको पूर्ण किया तब जयपुरमें राजा पृथ्वीसिंहका राज्य था। अतएव सम्वत् १८२७ से पहले ही माधवसिंहका राज्य करना सुनिश्चित है।

गोम्मटसार पूजा—

यह संस्कृत भाषामें पद्यबद्ध रची हुई छोटीसी पूजाकी पुस्तक है। जिसमें गोम्मटसारके गुणोंकी महत्ता व्यक्त करते हुए उसके प्रति अपनी भक्ति एवं श्रद्धा व्यक्त की गई है।

मृत्युकी दुखद घटना—

पंडितजीकी मृत्यु कब और कैसे हुई? यह विषय अर्सेसे एक पहेली सा बना हुआ है। जैन समाजमें इस सम्बन्धमें कई प्रकारकी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं; परन्तु उनमें हाथीके पैर तले दबवाकर मरवानेकी घटनाका बहुत प्रचार है। यह घटना कोरी कल्पना ही नहीं है, किन्तु उसमें उनकी मृत्युका रहस्य निहित है।

सुना जाता है कि जब पंडितजीको हाथीके पगतले डाला गया और हाथीको अंकुश ताड़नाके साथ उनके शरीरपर चढ़नेके लिये प्रेरित किया गया तब हाथी एकदम चिंघाड़के साथ उन्हें देखकर सहम गया और अंकुशके दो वार भी सह चुका पर अपने प्रहारको करनेमें अक्षम रहा और तीसरा अंकुश पड़ना ही चाहता था कि पंडितजीने हाथीकी दशा देखकर कहा कि हे गजेन्द्र! तेरा कोई अपराध नहीं; जब प्रजाके रक्षकने ही अपराधी निरपराधीकी जाँच नहीं की और मरवानेका हुकम दे दिया तब तू क्यों व्यर्थ अंकुशका वार सह रहा है, संकोच छोड़ और अपना कार्य कर। इन वाक्योंको सुनकर हाथीने अपना कार्य किया।

चुनांचे किसी ऐसे असह्य घटनाके आरोपका संकेत केशरीसिंह पाटणी सांगाकोंके एक पुराने गुटकेमें भी पाया जाता है—

"मिती कातिक सुदी ५ ने (को) महादेवकी पिंडि सहैरमांहीं कछु अमारगी उपाड़ि नाखि तीह परि राजा दोष करि सुरावग घरम्या परि दण्ड नाख्यौ।"

—वीर वाणी वर्ष १ पृष्ठ २८५।

राजा माधवसिंहजी प्रथमको जब इस षडयंत्रके रहस्यका ठीक पता चला तब वे बहुत दुःखी हुए और अपने कृत्यपर बहुत पछताये। पर 'अब पछताये होत क्या, जब

चिड़िया चुग गई खेत' इसी रीतिके अनुसार अकल्पित कार्य होनेपर फिर केवल पछतावा ही रह जाता है। बादमें जैनियोंके साथ वही पूर्ववत् व्यवहार हो गया।

अब प्रश्न केवल समयका रह जाता है कि उक्त घटना कब घटी ? यद्यपि इस सम्बन्धमें इतना ही कहा जा सकता है कि सं० १८२१ और १८२४ के मध्यमें माधवसिंहजी प्रथमके राज्य कालमें किसी समय घटी है परन्तु उसकी अधिकांश सम्भावना सं० १८२४ में जान पड़ती है। चूंकि पं० देवीदासजी जयपुरसे बसवा गए और उससे वापिस लौटने पर पुनः पं० टोडरमलजी नहीं मिले, तब उन्होंने उनके लघुपुत्र पंडित गुमानीरामजीके पास ही तत्त्वचर्चा सुनकर कुछ ज्ञान प्राप्त किया। यह उल्लेख सं० १८२४ के बादका है और उसके अनन्तर देवीदासजी जयपुरमें सं० १८३८ तक रहे हैं।

इसप्रकार आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी साहबके जीवन परिचय, उनकी प्रज्ञाकी प्रखरता एवं उनकी कृतियोंके सम्बन्धमें जो भी परिचय मिल सका उनमेंसे उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन करानेकी इस प्रस्तावनामें चेष्टा की गई है। विद्वानोंसे निवेदन है कि विशेष तथ्य प्राप्त होनेपर मुझे सूचित करने की कृपा करें।

इस प्रस्तावना लिखनेमें पं० परमानन्दजी शास्त्री द्वारा लिखित विस्तृत प्रस्तावना का आधार लिया है तथा कुछ अंश डा० लालबहादुरजी शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना, सन्मति संदेश तथा वीरवाणी पत्रके टोडरमलजी विशेषांककी सहायता ली गई है इसके लिये मैं अनुमतिदाता उपरोक्त विद्वानोंका तथा पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्री (वाराणसी) का आभारी हूँ।

इस प्रस्तावना लिखनेमें भाई श्री रामजीभाई, श्री खेमचन्दभाई, श्री नेमीचन्दजी पाटनीने मुझे सहायता दी है उन सबका भी मैं आभार मानता हूँ।

अन्तमें धर्मजिज्ञासु पाठकोंसे निवेदन है कि—आचार्यकल्प पंडितजीके प्रति हम कृतज्ञ बनकर मोक्षमार्ग प्रकाशकके अध्ययनद्वारा सर्वज्ञ वीतराग कथित यथार्थ तत्त्व स्वरूपको समझकर, तत्त्वनिर्णयरूप अभ्यासके द्वारा अपनी आत्मामें मोक्षमार्गका प्रकाश कर, अनादिकालीन मिथ्यात्वका नाश करें और यथार्थता, स्वतन्त्रता और वीतरागतारूप सम्यक्‌रत्नत्रयका ग्रहण करें।

वीर संवत २४९३
मंगसिर वदी १०
भगवान महावीर
तपकल्याणक दिन

निवेदक—
ब्र० गुलाबचन्द जैन
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सिद्धान्त सूचनिका

विषय-सूची

प्रथम अधिकार

दूसरा अधिकार

तीसरा अधिकार

चौथा अधिकार

पांचवाँ अधिकार

नवमाँ अधिकार

ग्रन्थ के अंतिम भाग की विषय सूची

आचार्यकल्प पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी

३ मोक्ष

ॐ नमः सिद्धं ॥ अथ मोक्षमार्गप्रकाशक नाम शास्त्र लिख्यते ॥ दोहा ॥ मंगलमय मंगलकरण वीतराग
विज्ञान ॥ नमौं ताहि जातैं भए अरहंतादि महान ॥१॥ करि मंगल करिहौं महा ग्रंथकरन को काज
जातैं मिलै समाज सब पावै निजपद राज ॥२॥ अथ मोक्षमार्गप्रकाशक नाम शास्त्र का उदय हो है ॥ तहां मंग
ल करिए है ॥ णमो अरहंताणं ॥ णमो सिद्धाणं ॥ णमो आयरियाणं ॥ णमो उवज्झायाणं ॥ णमो लोए
सव्वसाहूणं ॥ यहु प्राकृत भाषामय नमस्कार मंत्र है सो महामंगलस्वरूप है ॥ बहुरि याका संस्कृत ऐसा
हो है ॥ नमोऽर्हद्भ्यः । नमः सिद्धेभ्यः । नमः आचार्येभ्यः । नमः उपाध्यायेभ्यः । नमो लोके सर्वसाधुभ्यः ॥ बहु
रि याका अर्थ ऐसा है । नमस्कार अरहंतनि कै अर्थि ॥ नमस्कार सिद्धनि कै अर्थि ॥ नमस्कार आचार्यनि
कै अर्थि ॥ नमस्कार उपाध्यायनि कै अर्थि ॥ नमस्कार लोक विषै समस्त साधुनि कै अर्थि ऐसैं या विषै नमस्का
र कीया तातैं या का नाम नमस्कार मंत्र है ॥ अब इहां जिनकौं नमस्कार कीया तिनिका स्वरूप चित
वन कीजिए है ॥ तहां प्रथम अरहंतनिका स्वरूप विचारिए है ॥ जे ग्रहस्थपनौ त्यागि मुनिधर्म अंगीकार
करि निजस्वभावसाधनतैं च्यारि घातिकर्मनिकौं खिपाय अनंतचतुष्टयविराजमान भए ॥ तहां अ
नंतज्ञानकरि तौ अपनैं अनंत गुणपर्याय सहित समस्त जीवादि द्रव्यनिकौं युगपत विशेषपनैं करि
प्रत्यक्ष जानैं है ॥ अनंतदर्शनकरि तिनिकौं सामान्यपनैं अवलोकैं है ॥ अनंतवीर्यकरि ऐसी सामर्थ्यकौं
धारैं है ॥ अनंतसुखकरि निराकुल परमानंदकौं अनुभवैं है ॥ बहुरि सर्वथा सर्व रागद्वेषादि विकारभाव
निकरि रहित होय शांतरसरूप परिणए है ॥ बहुरि क्षुधा तृषादि समस्त दोषनितैं मुक्त होय देवाधिदेव

आचार्यकल्प पंडित श्री टोडरमलजी के स्वहस्त लिखित मोक्षमार्ग-प्रकाशक का प्रथम पृष्ठ

[नोट—ऊपर '३ मोक्ष' लिखा हुआ है वह तीसरी लाइन में अथ मार्ग प्रकाशक में लगा देने के लिये है]

※ नमः सिद्धेभ्यः ※

आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी कृत

मोक्षमार्गप्रकाशक

पहला अधिकार

अथ. मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्र लिखा जाता है।

[मंगलाचरण]

• दोहा •

मंगलमय मंगलकरण. वीतराग विज्ञान।
नमौं ताहि जातैं भये. अरहंतादि महान ॥१॥
करि मंगल करिहौं महा. ग्रंथकरनको काज।
जातैं मिलै समाज सब, पावैं निजपद राज ॥२॥

अथ, मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्रका उदय होता है, वहाँ मंगल करते हैं।

णमो अरहंताणं। णमो सिद्धाणं। णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्वसाहूणं॥

यह प्राकृतभाषामय नमस्कारमंत्र है सो महामंगलस्वरूप है। तथा इसका संस्कृत ऐसा होता है:—

नमोऽर्हद्भ्य:, नम: सिद्धेभ्य:, नम: आचार्येभ्य:, नम: उपाध्यायेभ्य:, नमो लोके सर्वसाधुभ्य: । तथा इसका अर्थ ऐसा है:—नमस्कार अरहंतोंको, नमस्कार सिद्धोंको, नमस्कार आचार्योंको, नमस्कार उपाध्यायोंको, नमस्कार लोकमें समस्त साधुओंको ।—इसप्रकार इसमें नमस्कार किया इसलिये इसका नाम नमस्कारमंत्र है ।

अब, यहाँ जिनको नमस्कार किया उनके स्वरूपका चिन्तवन करते हैं;

[अरहंतोंका स्वरूप]

वहां प्रथम अरहंतोंके स्वरूपका विचार करते हैं:—जो गृहस्थपना त्यागकर, मुनिधर्म अंगीकार करके, निजस्वभावसाधन द्वारा चार घाति कर्मोंका क्षय करके अनंतचतुष्टयरूप विराजमान हुए; वहाँ अनंतज्ञान द्वारा तो अपने अनंतगुण-पर्याय सहित समस्त जीवादि द्रव्योंको युगपत् विशेषपनेसे प्रत्यक्ष जानते हैं, अनंतदर्शन द्वारा उनका सामान्य अवलोकन करते हैं, अनंतवीर्य द्वारा ऐसी सामर्थ्यको धारण करते हैं, अनंत सुख द्वारा निराकुल परमानन्दका अनुभव करते हैं । पुनश्च, जो सर्वथा सर्व रागद्वेषादि विकारभावोंसे रहित होकर शांतरसरूप परिणमित हुए हैं, तथा क्षुधा-तृषादि समस्त दोषोंसे मुक्त होकर देवाधिदेवपनेको प्राप्त हुए हैं, तथा आयुध-अंबरादिक व अंगविकारादिक जो काम-क्रोधादि निंद्यभावोंके चिह्न उनसे रहित जिनका परम-औदारिक शरीर हुआ है, तथा जिनके वचनोंसे लोकमें धर्मतीर्थ प्रवर्तता है, जिसके द्वारा जीवोंका कल्याण होता है, तथा जिनके लौकिक जीवोंको प्रभुत्व माननेके कारणरूप अनेक अतिशय और नानाप्रकारके वैभवका संयुक्तपना पाया जाता है, तथा जिनका अपने हितके अर्थ गणधर-इन्द्रादिक उत्तम जीव सेवन करते हैं ।—ऐसे सर्वप्रकारसे पूजने योग्य श्री अरहंतदेव हैं उन्हें हमारा नमस्कार हो ।

[सिद्धोंका स्वरूप]

अब सिद्धोंका स्वरूप ध्याते हैं:—जो गृहस्थ-अवस्थाको त्यागकर, मुनिधर्मसाधन द्वारा चार घाति कर्मोंका नाश होनेपर अनंतचतुष्टय स्वभाव प्रगट करके, कुछ काल पीछे चार अघाति कर्मोंके भी भस्म होनेपर परम औदारिक शरीरको भी छोड़कर ऊर्ध्वगमन स्वभावसे लोकके अग्रभागमें जाकर विराजमान हुए, वहाँ जिनको समस्त परद्रव्योंका सम्बन्ध छूटनेसे मुक्त अवस्थाकी सिद्धि हुई, तथा जिनके चरम शरीरसे किंचित् न्यून पुरुषाकारवत् आत्मप्रदेशोंका आकार अवस्थित हुआ, तथा जिनके

प्रतिपक्षी कर्मोंका नाश हुआ इसलिये समस्त सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शनादिक आत्मिक गुण सम्पूर्णतया अपने स्वभावको प्राप्त हुए हैं, तथा जिनके नोकर्मका सम्बन्ध दूर हुआ इसलिये समस्त अमूर्त्तत्वादिक आत्मिक धर्म प्रगट हुए हैं, तथा जिनके भावकर्मका अभाव हुआ इसलिये निराकुल आनन्दमय शुद्धस्वभावरूप परिणमन हो रहा है, तथा जिनके ध्यान द्वारा भव्य जीवोंको स्वद्रव्य-परद्रव्यका और औपाधिकभाव—स्वभावभावोंका विज्ञान होता है, जिसके द्वारा उन सिद्धोंके समान स्वयं होनेका साधन होता है। इसलिये साधने योग्य जो अपना शुद्धस्वरूप उसे दर्शानेको प्रतिबिम्ब समान हैं तथा जो कृतकृत्य हुए हैं इसलिये ऐसे ही अनंतकाल पर्यंत रहते हैं।—ऐसे निष्पन्न हुए सिद्धभगवानको हमारा नमस्कार हो।

अब आचार्य-उपाध्याय-साधुके स्वरूपका अवलोकन करते हैं :—

[आचार्य-उपाध्याय-साधुका सामान्य स्वरूप]

जो विरागी होकर, समस्त परिग्रहका त्याग करके, **शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म** अंगीकार करके अंतरंगमें तो उस शुद्धोपयोग द्वारा अपनेको आपरूप अनुभव करते हैं, परद्रव्यमें अहंबुद्धि धारण नहीं करते तथा अपने ज्ञानादिक स्वभावको ही अपना मानते हैं, परभावोंमें ममत्व नहीं करते, तथा जो परद्रव्य व उनके स्वभाव ज्ञानमें प्रतिभासित होते हैं उन्हें जानते तो हैं परन्तु इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें रागद्वेष नहीं करते, शरीरकी अनेक अवस्थाएँ होती हैं, बाह्य नाना निमित्त बनते हैं, परन्तु वहाँ कुछ भी सुख-दुःख नहीं मानते, तथा अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसे बनती हैं वैसे बनती हैं, खींचकर उनको नहीं करते, तथा अपने उपयोगको बहुत नहीं भ्रमाते हैं, उदासीन होकर निश्चलवृत्तिको धारण करते हैं, तथा कदाचित् मंदरागके उदयसे शुभोपयोग भी होता है उससे जो शुद्धोपयोगके बाह्य साधन हैं उनमें अनुराग करते हैं, परन्तु उस रागभावको हेय जानकर दूर करना चाहते हैं, तथा तीव्र कषायके उदयका अभाव होनेसे हिंसादिरूप अशुभोपयोग परिणतिका तो अस्तित्व ही नहीं रहा है; तथा ऐसी अंतरंग (अवस्था) होने पर बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं, शरीरका संवारना आदि विक्रियाओंसे रहित हुए हैं, वनखण्डादिमें वास करते हैं, अट्ठाईस मूलगुणोंका अखण्डित पालन करते हैं, बाईस परीषहोंको सहन करते हैं, बारह प्रकारके तपोंको आदरते हैं, कदाचित् ध्यानमुद्रा धारण करके प्रतिमावत् निश्चल होते हैं, कदाचित् अध्ययनादिक बाह्य धर्मक्रियाओंमें प्रवर्तते हैं, कदाचित् मुनिधर्मके सहकारी शरीरकी स्थितिके

हेतु योग्य आहार-विहारादि क्रियाओंमें सावधान होते हैं।—ऐसे जैन मुनि हैं उन सबकी ऐसी ही अवस्था होती है।

[आचार्यका स्वरूप]

उनमें जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रकी अधिकतासे प्रधानपद प्राप्त करके संघमें नायक हुए हैं, तथा जो मुख्यरूपसे तो निर्विकल्प स्वरूपाचरणमें ही मग्न हैं और जो कदाचित् धर्मके लोभी अन्य जीव—याचक—उनको देखकर राग अंशके उदयसे करुणाबुद्धि हो तो उनको धर्मोपदेश देते हैं, जो दीक्षाग्राहक हैं उनको दीक्षा देते हैं, जो अपने दोषोंको प्रगट करते हैं उनको प्रायश्चित विधिसे शुद्ध करते हैं।—ऐसे आचरण अचरानेवाले आचार्य उनको हमारा नमस्कार हो।

[उपाध्यायका स्वरूप]

तथा जो बहुत जैन शास्त्रोंके ज्ञाता होकर संघमें पठन-पाठनके अधिकारी हुए हैं, तथा जो समस्त शास्त्रोंका प्रयोजनभूत जान एकाग्र हो अपने स्वरूपको ध्याते हैं, और यदि कदाचित् कषाय अंशके उदयसे वहाँ उपयोग स्थिर न रहे तो उन शास्त्रों-को स्वयं पढ़ते हैं तथा अन्य धर्मबुद्धियोंको पढ़ाते हैं।—ऐसे समीपवर्ती भव्योंको अध्ययन करानेवाले उपाध्याय उनको हमारा नमस्कार हो।

[साधुका स्वरूप]

पुनश्च, इन दो पदवी धारकों के विना अन्य समस्त जो मुनिपदके धारक हैं तथा जो आत्मस्वभावको साधते हैं, जैसे अपना उपयोग परद्रव्योंमें इष्ट-अनिष्टपना मानकर फँसे नहीं व भागे नहीं वैसे उपयोगको सधाते हैं और वाह्यमें उसके साधनभूत तपश्चरणादि क्रियाओंमें प्रवर्तते हैं तथा कदाचित् भक्ति-वंदनादि कार्योंमें प्रवर्तते हैं। —ऐसे आत्मस्वभावके साधक साधु हैं उनको हमारा नमस्कार हो।

[पूज्यत्वका कारण]

इस प्रकार इन अरहंतादि का स्वरूप है सो वीतराग-विज्ञानमय है, उस ही के द्वारा अरहंतादिक स्तुतियोग्य महान हुए हैं; क्योंकि जीवतत्त्वकी अपेक्षा तो सर्व ही जीव समान हैं, परन्तु रागादि विकारोंसे व ज्ञानकी हीनतासे तो जीव निन्दा-योग्य होते हैं और रागादिककी हीनतासे व ज्ञानकी विशेषतासे स्तुतियोग्य होते हैं। सो अरहंत-सिद्धोंके तो सम्पूर्ण रागादिककी हीनता और ज्ञानकी विशेषता

होनेसे सम्पूर्ण वीतरागविज्ञान भाव संभव है और आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंको एकदेश रागादिककी हीनता और ज्ञानकी विशेषता होनेसे एकदेश वीतरागविज्ञान संभव है। इसलिये उन अरहंतादिकको स्तुतियोग्य महान जानना।

पुनश्च, यह जो अरहंतादिक पद हैं उनमें ऐसा जानना कि—मुख्यरूपसे तो तीर्थंकरका और गौणरूपसे सर्व केवलीका प्राकृत भाषा में अरहंत तथा संस्कृत में अर्हत् ऐसा नाम जानना। तथा चौदहवें गुणस्थानके अनंतर समयसे लेकर सिद्ध नाम जानना। पुनश्च, जिनको आचार्यपद हुआ हो वे संघमें रहें अथवा एकाकी आत्मध्यान करें; एकाविहारी हों अथवा आचार्योंमें भी प्रधानताको प्राप्त करके गणधरपदवीके धारक हों—उन सबका नाम आचार्य कहते हैं। पुनश्च, पठन-पाठन तो अन्य मुनि भी करते हैं, परन्तु जिनको आचार्यो द्वारा दिया गया उपाध्यायपद प्राप्त हुआ हो वे आत्मध्यानादि कार्य करते हुए भी उपाध्याय ही नाम पाते हैं। तथा जो पदवीधारक नहीं हैं वे सर्व मुनि साधुसंज्ञाके धारक जानना। यहाँ ऐसा नियम नहीं है कि—पंचाचारोंसे आचार्यपद होता है, पठन-पाठनसे उपाध्यायपद होता है, मूलगुणोंके साधनसे साधुपद होता है; क्योंकि ये क्रियाएँ तो सर्व मुनियोंके साधारण हैं, परन्तु शब्दनयसे उनका अक्षरार्थ वैसे किया जाता है। समभिरूढ़नयसे पदवीकी अपेक्षा ही आचार्यादिक नाम जानना। जिसप्रकार शब्दनयसे जो गमन करे उसे गाय कहते हैं, सो गमन तो मनुष्यादिक भी करते हैं; परन्तु समभिरूढ़नयसे पर्याय-अपेक्षा नाम है। उस ही प्रकार यहाँ समझना।

यहाँ सिद्धोंसे पहले अरहंतोंको नमस्कार किया सो क्या कारण?—ऐसा सन्देह उत्पन्न होता है उसका समाधान यह है:—

नमस्कार करते हैं सो अपना प्रयोजन सधनेकी अपेक्षासे करते हैं; सो अरहंतोंसे उपदेशादिकका प्रयोजन विशेष सिद्ध होता है, इसलिये पहले नमस्कार किया है।

इसप्रकार अरहंतादिकका स्वरूप चिंतवन किया; क्योंकि स्वरूप चिंतवन करनेसे विशेष कार्यसिद्धि होती है। पुनश्च, उन अरहंतादिकको पंचपरमेष्ठी कहते हैं; क्योंकि जो सर्वोत्कृष्ट इष्ट हो उसका नाम परमेष्ट है। पंच जो परमेष्ट उनका समाहार—समुदाय उसका नाम पंचपरमेष्ठी जानना।

पुनश्च, ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनंत, धर्म, शांति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व, वर्द्धमान नामके धारक चौवीस तीर्थंकर इस भरतक्षेत्रमें वर्तमान धर्मतीर्थके नायक हुए हैं; गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण कल्याणकोंमें इन्द्रादिकों द्वारा विशेष पूज्य होकर अब सिद्धालयमें विराजमान हैं उन्हें हमारा नमस्कार हो। पुनश्च, सीमंधर, युगमंधर, वाहु, सुवाहु, संजातक, स्वयंप्रभ, वृषभानन, अनंतवीर्य, सूरप्रभ, विशालकीर्ति, वज्रधर, चन्द्रानन, चन्द्रबाहु, भुजंगम, ईश्वर, नेमिप्रभ, वीरसेन, महाभद्र, देवयश, अजितवीर्य नामके धारक बीस तीर्थंकर पंचमेरु सम्बन्धी विदेहक्षेत्रोंमें वर्तमानमें केवलज्ञान सहित विराजमान हैं उनको हमारा नमस्कार हो। यद्यपि परमेष्ठीपदमें इनका गर्भितपना है तथापि विद्यमानकालमें इनकी विशेषता जानकर अलग नमस्कार किया है।

पुनश्च, त्रिलोकमें जो अकृत्रिम जिनबिम्ब विराजमान हैं, मध्यलोकमें विधिपूर्वक कृत्रिम जिनविम्ब विराजमान हैं; जिनके दर्शनादिकसे एक धर्मोपदेशके विना अन्य अपने हितकी सिद्धि जैसे तीर्थंकर-केवलीके दर्शनादिकसे होती है वैसे ही होती है; उन जिनबिम्बोंको हमारा नमस्कार हो। पुनश्च, केवलीकी दिव्यध्वनि द्वारा दिये गये उपदेशके अनुसार गणधर द्वारा रचे गये अंग-प्रकीर्णक, उनके अनुसार अन्य आचार्यादिकों द्वारा रचे गये ग्रंथादिक—ऐसे ये सब जिनवचन हैं; स्याद्वाद चिह्न द्वारा पहिचानने योग्य हैं; न्यायमार्गसे अविरुद्ध हैं इसलिये प्रामाणिक हैं; जीवको तत्त्वज्ञानका कारण हैं इसलिये उपकारी हैं; उन्हें हमारा नमस्कार हो।

पुनश्च, चैत्यालय, आर्यिका, उत्कृष्ट श्रावक आदि द्रव्य, तीर्थक्षेत्रादि क्षेत्र, कल्याणककाल आदि काल तथा रत्नत्रय आदि भाव, जो मेरे द्वारा नमस्कार करने योग्य हैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। तथा जो किञ्चित् विनय करने योग्य हैं उनकी यथायोग्य विनय करता हूँ।—इसप्रकार अपने इष्टोंका सन्मान करके मंगल किया है।

अब, वे अरहंतादिक इष्ट कैसे हैं सो विचार करते हैं:—

जिसके द्वारा सुख उत्पन्न हो तथा दुःखका विनाश हो उस कार्यका नाम प्रयोजन है; और जिसके द्वारा उस प्रयोजनकी सिद्धि हो वही अपना इष्ट है। सो हमारे इस अवसरमें वीतरागविशेष ज्ञानका होना वही प्रयोजन है, क्योंकि उसके द्वारा निराकुल सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है और सर्व आकुलतारूप दुःखका नाश होता है। पुनश्च, इस प्रयोजनकी सिद्धि अरहंतादिक द्वारा होती है। किस प्रकार? सो विचारते हैं:—

[अरहंतादिकसे प्रयोजनसिद्धि]

आत्माके परिणाम तीन प्रकारके हैं — संक्लेश, विशुद्ध और शुद्ध । वहाँ तीव्र कषायरूप संक्लेश हैं, मंद कषायरूप विशुद्ध हैं तथा कषायरहित शुद्ध हैं । वहाँ वीतराग-विशेष ज्ञानरूप अपने स्वभावके घातक जो ज्ञानावरणादि घातिया कर्म हैं, उनका संक्लेश परिणामों द्वारा तो तीव्र बंध होता है और विशुद्ध परिणामों द्वारा मंद बंध होता है तथा विशुद्ध परिणाम प्रबल हो तो पूर्व कालमें जो तीव्र बंध हुआ था उसको भी मंद करता है । शुद्ध परिणामों द्वारा बंध नहीं होता, केवल उनकी निर्जरा ही होती है । अरहंतादिके प्रति स्तवनादिरूप जो भाव होते हैं, वे कषायोंकी मंदता सहित ही होते हैं, इसलिये वे विशुद्ध परिणाम हैं । पुनश्च, समस्त कषाय मिटानेका साधन हैं इसलिये शुद्ध परिणामका कारण हैं; सो ऐसे परिणामोंसे अपने घातक घातिकर्मकी हीनता होनेसे सहज ही वीतरागविशेष ज्ञान प्रगट होता है । जितने अंशोंमें वह हीन हो उतने अंशोंमें यह प्रगट होता है ।—इस प्रकार अरहंतादिक द्वारा अपना प्रयोजन सिद्ध होता है । अथवा अरहंतादिकके आकारका अवलोकन करना, या स्वरूप विचार करना या वचन सुनना या निकटवर्ती होना या उनके अनुसार प्रवर्तन करना — इत्यादि कार्य तत्काल ही निमित्तभूत होकर रागादिकको हीन करते हैं, जीव-अजीवादिके विशेष ज्ञानको उत्पन्न करते हैं, इसलिये ऐसे भी अरहंतादिक द्वारा वीतरागविशेष ज्ञानरूप प्रयोजनकी सिद्धि होती है ।

यहाँ कोई कहे कि इनके द्वारा ऐसे प्रयोजनकी तो सिद्धि इस प्रकार होती है, परन्तु जिससे इन्द्रियजनित सुख उत्पन्न हो तथा दुःखका विनाश हो — ऐसे भी प्रयोजनकी सिद्धि इनके द्वारा होती है या नहीं ? उसका समाधानः —

जो अरहंतादिके प्रति स्तवनादिरूप विशुद्ध परिणाम होते हैं उनसे अघातिया कर्मोंकी साता आदि पुण्यप्रकृतियोंका बंध होता है, और यदि वे परिणाम तीव्र हों तो पूर्वकालमें जो असाता आदि पापप्रकृतियोंका बंध हुआ था उन्हें भी मंद करता है अथवा नष्ट करके पुण्यप्रकृतिरूप परिणमित करता है । और उस पुण्यका उदय होनेपर स्वयमेव इन्द्रियसुखकी कारणभूत सामग्री प्राप्त होती है तथा पापका उदय दूर होनेपर स्वयमेव दुःखकी कारणभूत सामग्री दूर हो जाती है । — इस प्रकार इस प्रयोजनकी भी सिद्धि उनके द्वारा होती है । अथवा जिन शासनके भक्त देवादिक हैं वे उस भक्त पुरुषको अनेक इन्द्रियसुखकी कारणभूत सामग्रियोंका संयोग कराते हैं और दुःखकी कारणभूत सामग्रियोंको दूर करते हैं । — इस प्रकार भी इस

प्रयोजनकी सिद्धि उन अरहंतादिक द्वारा होती है। परन्तु इस प्रयोजनसे कुछ भी अपना हित नहीं होता; क्योंकि यह आत्मा कषायभावोंसे बाह्य सामग्रियोंमें इष्ट-अनिष्टपना मानकर स्वयं ही सुख-दुःखकी कल्पना करता है। कषायके बिना बाह्य सामग्री कुछ सुख-दुःखकी दाता नहीं है। तथा कषाय है सो सर्व आकुलतामय है, इसलिये इन्द्रिय-जनित सुखकी इच्छा करना और दुःखसे डरना यह भ्रम है। पुनश्च, इस प्रयोजनके हेतु अरहंतादिककी भक्ति करनेसे भी तीव्र कषाय होनेके कारण पापबंध ही होता है, इसलिये अपनेको इस प्रयोजनका अर्थी होना योग्य नहीं है। अरहंतादिककी भक्ति करनेसे ऐसे प्रयोजन तो स्वयमेव ही सिद्ध होते हैं।—इस प्रकार अरहंतादिक परम इष्ट मानने योग्य हैं।

तथा वे अरहंतादिक ही परम मंगल हैं; उनमें भक्तिभाव होनेसे परम मंगल होता है। 'मंग' अर्थात् सुख, उसे 'लाति' अर्थात् देता है; अथवा 'मं' अर्थात् पाप, उसे 'गालयति' अर्थात् गाले, दूर करे उसका नाम मंगल है।—इस प्रकार उनके द्वारा पूर्वोक्त प्रकारसे दोनों कार्योंकी सिद्धि होती है; इसलिये उनके परम मंगलपना संभव है।

[मंगलाचरण करनेका कारण]

यहाँ कोई पूछे कि—प्रथम ग्रंथके आदिमें मंगल ही किया सो क्या कारण है ? उसका उत्तर:—

सुखसे ग्रंथकी समाप्ति हो, पापके कारण कोई विघ्न न हो, इसलिये यहाँ प्रथम मंगल किया है।

यहाँ तर्क—जो अन्यमती इस प्रकार मंगल नहीं करते हैं उनके भी ग्रंथकी समाप्ति तथा विघ्नका न होना देखते हैं वहाँ क्या हेतु है ? उसका समाधान:—

अन्यमती जो ग्रंथ करते हैं उसमें मोहके तीव्र उदयसे मिथ्यात्व-कषायभावोंका पोषण करनेवाले विपरीत अर्थोंको धरते (-रखते) हैं, इसलिये उसकी निर्विघ्न समाप्ति तो ऐसे मंगल किये बिना ही हो। यदि ऐसे मंगलोंसे मोह मंद हो जाये तो वैसा विपरीत कार्य कैसे बने ? तथा हम भी ग्रंथ करते हैं उसमें मोहकी मंदताके कारण वीतराग तत्त्वज्ञानका पोषण करनेवाले अर्थोंको धरेंगे (-रखेंगे); उसकी निर्विघ्न समाप्ति ऐसे मंगल करनेसे ही हो। यदि ऐसे मंगल न करें तो मोहकी तीव्रता रहे, तब ऐसा उत्तम कार्य कैसे बने ? पुनश्च, वह कहता है कि—ऐसे तो मानेंगे, परन्तु कोई ऐसा मंगल नहीं करता उसके भी सुख दिखायी देता है, पापका उदय नहीं दिखायी

देता और कोई ऐसा मंगल करता है उसके भी सुख नहीं दिखाई देता—पापका उदय दिखायी देता है, इसलिये पूर्वोक्त मंगलपना कैसे बने? उससे कहते हैं:—

जीवोंके संक्लेश-विशुद्ध परिणाम अनेक जातिके हैं, उनके द्वारा अनेक कालोंमें पहले बँधे हुए कर्म एक कालमें उदय आते हैं; इसलिये जिस प्रकार जिसके पूर्वमें बहुत धनका संचय हो उसके बिना कमाए भी धन दिखायी देता है और ऋण दिखायी नहीं देता। तथा जिसके पूर्वमें ऋण बहुत हो उसके धन कमाने पर भी ऋण दिखायी देता है धन दिखायी नहीं देता; परन्तु विचार करनेसे कमाना तो धनहीका कारण है, ऋण-का कारण नहीं है। उसी प्रकार जिसके पूर्वमें बहुत पुण्यका बंध हुआ हो उसके यहाँ ऐसा मंगल किये बिना भी सुख दिखायी देता है, पापका उदय दिखायी नहीं देता। और जिसके पूर्वमें बहुत पाप बंध हुआ हो उसके यहाँ ऐसा मंगल करनेपर भी सुख दिखायी नहीं देता, पापका उदय दिखायी देता है; परन्तु विचार करनेसे ऐसा मंगल तो सुखहीका कारण है, पापउदयका कारण नहीं है। —इस प्रकार पूर्वोक्त मंगलका मंगलपना बनता है।

पुनश्च, वह कहता है कि—यह भी माना; परन्तु जिनशासनके भक्त देवादिक हैं उन्होंने उस मंगल करनेवालेकी सहायता नहीं की और मंगल न करनेवालेको दण्ड नहीं दिया सो क्या कारण? उसका समाधान:—

जीवोंको सुख-दुःख होनेका प्रबल कारण अपना कर्मका उदय है, उसहीके अनुसार बाह्य निमित्त बनते हैं, इसलिये जिसके पापका उदय हो उसको सहायका निमित्त नहीं बनता और जिसके पुण्यका उदय हो उसको दण्डका निमित्त नहीं बनता। यह निमित्त कैसे नहीं बनता सो कहते हैं:—

जो देवादिक हैं वे क्षयोपशमज्ञानसे सबको युगपत् नहीं जान सकते, इसलिये मंगल करनेवाले और नहीं करनेवालेका जानपना किसी देवादिकको किसी कालमें होता है; इसलिये यदि उनका जानपना न हो तो कैसे सहाय करें अथवा दण्ड दें? और जानपना हो, तब स्वयंको जो अतिमंदकषाय हो तो सहाय करनेके या दण्ड देनेके परिणाम ही नहीं होते, तथा तीव्रकषाय हो तो धर्मानुराग नहीं हो सकता। तथा मध्यम-कषायरूप वह कार्य करनेके परिणाम हुए और अपनी शक्ति न हो तो क्या करें?— इस प्रकार सहाय करनेका या दण्ड देनेका निमित्त नहीं बनता। यदि अपनी शक्ति हो

और अपनेको धर्मानुरागरूप मध्यमकषायका उदय होनेसे वैसे ही परिणाम हों, तथा उस समय अन्य जीवका धर्म-अधर्मरूप कर्तव्य जानें, तब कोई देवादिक किसी धर्मात्माकी सहाय करते हैं अथवा किसी अधर्मीको दण्ड देते हैं।—इस प्रकार कार्य होनेका कुछ नियम तो है नहीं—ऐसे समाधान किया। यहाँ इतना जानना कि सुख होनेकी, दुःख न होनेकी, सहाय करानेकी, दुःख दिलानेकी जो इच्छा है सो कषायमय है, तत्काल तथा आगामी कालमें दुःखदायक है; इसलिये ऐसी इच्छाको छोड़कर हमने तो एक वीतराग-विशेषज्ञान होनेके अर्थी होकर अरहंतादिकको नमस्कारादिरूप मंगल किया है। इस प्रकार मंगलाचरण करके अब सार्थक "मोक्षमार्गप्रकाशक" नामके ग्रंथका उद्योत करते हैं। वहाँ, 'यह ग्रन्थ प्रमाण है'—ऐसी प्रतीति करानेके हेतु पूर्व अनुसारका स्वरूप निरूपण करते हैं:—

[ग्रन्थकी प्रामाणिकता और आगम-परम्परा]

अकारादि अक्षर हैं वे अनादि-निधन हैं, किसीके किये हुए नहीं हैं। इनका आकार लिखना तो अपनी इच्छाके अनुसार अनेक प्रकार है, परन्तु जो अक्षर बोलनेमें आते हैं वे तो सर्वत्र सर्वदा ऐसे ही प्रवर्तते हैं। इसीलिये कहा है कि—"सिद्धो वर्णसमाम्नायः।" इसका अर्थ यह कि—जो अक्षरोंका सम्प्रदाय है सो स्वयंसिद्ध है, तथा उन अक्षरोंसे उत्पन्न सत्यार्थके प्रकाशक पद उनके समूहका नाम श्रुत है, सो भी अनादि-निधन है। जैसे—"जीव" ऐसा अनादि-निधन पद है सो जीवको बतलानेवाला है। इस प्रकार अपने-अपने सत्य अर्थके प्रकाशक अनेक पद उनका जो समुदाय सो श्रुत जानना। पुनश्च, जिस प्रकार मोती तो स्वयंसिद्ध हैं, उनमेंसे कोई थोड़े मोतियोंको, कोई बहुत मोतियोंको, कोई किसी प्रकार, कोई किसी प्रकार गूँथकर गहना बनाते हैं; उसी प्रकार पद तो स्वयंसिद्ध हैं, उनमेंसे कोई थोड़े पदोंको, कोई बहुत पदोंको, कोई किसी प्रकार, कोई किसी प्रकार गूँथकर ग्रंथ बनाते हैं। यहाँ मैं भी उन सत्यार्थपदोंको मेरी बुद्धि अनुसार गूँथकर ग्रन्थ बनाता हूँ; मेरी मतिसे कल्पित झूठे अर्थके सूचक पद इसमें नहीं गूँथता हूँ। इस लिये यह ग्रंथ प्रमाण जानना।

प्रश्नः—उन पदोंकी परम्परा इस ग्रन्थपर्यंत किस प्रकार प्रवर्तमान है?

समाधानः—अनादिसे तीर्थंकर केवली होते आये हैं, उनको सर्वका ज्ञान होता है, इस लिये उन पदोंका तथा उनके अर्थोंका भी ज्ञान होता है। पुनश्च, उन तीर्थंकर

केवलियोंका दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा उपदेश होता है जिससे अन्य जीवोंको पदोंका एवं अर्थोंका ज्ञान होता है; उसके अनुसार गणधरदेव अंगप्रकीर्णरूप ग्रन्थ गूंथते हैं तथा उनके अनुसार अन्य-अन्य आचार्यादिक नानाप्रकार ग्रंथादिककी रचना करते हैं। उनका कोई अभ्यास करते हैं, कोई उनको कहते हैं, कोई सुनते हैं।—इस प्रकार परम्परामार्ग चला आता है।

अब इस भरतक्षेत्रमें वर्तमान अवसर्पिणी काल है; उसमें चौबीस तीर्थंकर हुए; जिनमें श्री वर्द्धमान नामक अन्तिम तीर्थंकरदेव हुए। उन्होंने केवलज्ञान विराजमान होकर जीवोंको दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश दिया। उसको सुननेका निमित्त पाकर गौतम नामक गणधरने अगम्य अर्थोंको भी जानकर धर्मानुरागवश अंगप्रकीर्णकोंकी रचना की। फिर वर्द्धमानस्वामी तो मुक्त हुए। वहां पीछे इस पंचमकालमें तीन केवली हुए — (१) गौतम, (२) सुधर्माचार्य और (३) जम्बू स्वामी। तत्पश्चात् कालदोषसे केवलज्ञानी होनेका तो अभाव हुआ, परन्तु कुछ कालतक द्वादशांगके पाठी श्रुतकेवली रहे और फिर उनका भी अभाव हुआ। फिर कुछ कालतक थोड़े अंगोंके पाठी रहे; पीछे उनका भी अभाव हुआ। तब आचार्यादिकों द्वारा उनके अनुसार बनाए गए ग्रन्थ तथा अनुसारी ग्रन्थोंके अनुसार बनाए गये ग्रन्थ ही उनकी प्रवृत्ति रही। उनमें भी कालदोषसे दुष्टों द्वारा कितने ही ग्रन्थोंकी व्युच्छित्ति हुई तथा महान ग्रन्थोंका अभ्यासादि न होनेसे व्युच्छित्ति हुई। तथा कितने ही महान ग्रन्थ पाये जाते हैं उनका बुद्धिकी मंदताके कारण अभ्यास होता नहीं। जैसे कि—दक्षिणमें गोमट्टस्वामीके निकट मूड़बिद्री नगरमें धवल, महाधवल, जयधवल पाये जाते हैं, परन्तु दर्शनमात्र ही हैं। तथा कितने ही ग्रन्थ अपनी बुद्धि द्वारा अभ्यास करने योग्य पाये जाते हैं; उनमें भी कुछ ग्रन्थोंका ही अभ्यास बनता है। ऐसे इस निकृष्ट कालमें उत्कृष्ट जैनमतका घटना तो हुआ परन्तु इस परम्परा द्वारा अब भी जैन शास्त्रोंमें सत्य अर्थका प्रकाशन करनेवाले पदोंका सद्भाव प्रवर्तमान है।

[ग्रन्थकारका आगमाभ्यास और ग्रन्थ-रचना]

हमने इस कालमें यहाँ अब मनुष्यपर्याय प्राप्त की; इसमें हमारे पूर्वसंस्कारसे व भले होनहारसे जैनशास्त्रोंके अभ्यास करनेका उद्यम हुआ। जिससे व्याकरण, न्याय, गणित आदि उपयोगी ग्रन्थोंका किंचित् अभ्यास करके टीकासहित समयसार, पंचास्ति-

काय, प्रवचनसार, नियमसार, गोमट्टसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र, इत्यादि शास्त्र और क्षपणासार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अष्टपाहुड़, आत्मानुशासन आदि शास्त्र और श्रावक-मुनिके आचारके प्ररूपक अनेक शास्त्र और सुष्ठुकथासहित पुराणादि शास्त्र—इत्यादि अनेक शास्त्र हैं उनमें हमारे बुद्धि अनुसार अभ्यास वर्तता है, उससे हमें भी किंचित् सत्यार्थपदोंका ज्ञान हुआ है। पुनश्च, इस निकृष्ट समयमें हम जैसें मंदबुद्धियोंसे भी हीन बुद्धिके धनी बहुत जन दिखायी देते हैं; उन्हें उन पदोंका अर्थज्ञान हो, इस हेतु धर्मानुरागवश देशभाषामय ग्रंथ रचनेकी हमें इच्छा हुई है, इस लिये हम यह ग्रन्थ बना रहे हैं। इसमें भी अर्थसहित उन्हीं पदोंका प्रकाशन होता है। इतना तो विशेष है कि—जिस प्रकार प्राकृत-संस्कृत शास्त्रोंमें प्राकृत-संस्कृत पद लिखे जाते हैं उसी प्रकार यहाँ अपभ्रंशसहित अथवा यथार्थतासहित देशभाषारूप पद लिखते हैं; परन्तु अर्थमें व्यभिचार कुछ नहीं है।—इस प्रकार इस ग्रन्थपर्यंत उन सत्यार्थपदोंकी परम्परा प्रवर्तती है।

यहाँ कोई पूछता है कि—परम्परा तो हमने इस प्रकार जानी; परन्तु इस परम्परामें सत्यार्थपदोंकी ही रचना होती आयी, असत्यार्थपद नहीं मिले।—ऐसी प्रतीति हमें कैसे हो? उसका समाधानः—

[असत्यपद रचनाका प्रतिषेध]

असत्यार्थपदोंकी रचना अति तीव्रकषाय हुए बिना नहीं बनती; क्योंकि जिस असत्यरचनासे परम्परा अनेक जीवोंका महा बुरा हो और स्वयंको ऐसी महाहिंसा-के फलरूप नरक-निगोदमें गमन करना पड़े—ऐसा महाविपरीत कार्य तो क्रोध, मान, माया, लोभ अत्यन्त तीव्र होनेपर ही होता है; किंतु जैनधर्ममें तो ऐसा कषायवान होता नहीं है। प्रथम मूलउपदेशदाता तो तीर्थंकर केवली, सो तो सर्वथा मोहके नाशसे सर्वकषायोंसे रहित ही हैं, फिर ग्रंथकर्त्ता गणधर तथा आचार्य, वे मोहके मंद उदयसे सर्व बाह्याभ्यंतर परिग्रहको त्यागकर महामंदकषायी हुए हैं; उनके उस मंदकषायके कारण किंचित् शुभोपयोग ही की प्रवृत्ति पायी जाती है, और कुछ प्रयोजन ही नहीं है। तथा श्रद्धानी गृहस्थ भी कोई ग्रन्थ बनाते हैं वे भी तीव्रकषायी नहीं होते; यदि उनके तीव्रकषाय हो तो सर्व कषायोंका जिस-तिस प्रकारसे नाश करनेवाला जो जिनधर्म, उसमें रुचि कैसे होती? अथवा जो कोई मोहके उदयसे अन्य कार्यों द्वारा कषायका पोषण करता है तो करो, परन्तु जिन आज्ञा भंग करके अपनी कषायका पोषण करे तो

जैनीपना नहीं रहता। इस प्रकार जिनधर्ममें ऐसा तीव्र कषायी कोई नहीं होता जो असत्य पदोंकी रचना करके परका और अपना पर्याय-पर्यायमें बुरा करे।

प्रश्नः—यदि कोई जैनाभास तीव्रकषायी होकर असत्यार्थ पदोंको जैन शास्त्रोंमें मिलाये और फिर उसकी परम्परा चलती रहे तो क्या किया जाय ?

समाधानः—जैसे कोई सच्चे मोतियोंके गहनेमें झूठे मोती मिला दे, परन्तु झलक नहीं मिलती, इसलिये परीक्षा करके पारखी ठगाता भी नहीं है, कोई भोला हो वही मोतीके नामसे ठगा जाता है; तथा उसकी परम्परा भी नहीं चलती, शीघ्र ही कोई झूठे मोतियोंका निषेध करता है। उसी प्रकार कोई सत्यार्थ पदोंके समूहरूप जैनशास्त्रोंमें असत्यार्थ पद मिलाये, परन्तु जैनशास्त्रोंके पदोंमें तो कषाय मिटानेका तथा लौकिक कार्य घटानेका प्रयोजन है, और उस पापीने जो असत्यार्थ पद मिलाये हैं उनमें कषायका पोषण करनेका तथा लौकिक कार्य साधनेका प्रयोजन है; इस प्रकार प्रयोजन नहीं मिलता, इसलिये परीक्षा करके ज्ञानी ठगाता भी नहीं; कोई मूर्ख हो वही जैनशास्त्रके नामसे ठगा जाता है; तथा उसकी परम्परा भी नहीं चलती, शीघ्र ही कोई उन असत्यार्थ पदोंका निषेध करता है। पुनश्च, ऐसे तीव्रकषायी जैनाभास यहाँ इस निकृष्ट कालमें ही होते हैं, उत्कृष्ट क्षेत्र–काल बहुत हैं, उनमें तो ऐसे होते नहीं। इसलिये जैनशास्त्रोंमें असत्यार्थ पदोंकी परम्परा नहीं चलती–ऐसा निश्चय करना।

पुनश्च, वह कहे कि—कषायोंसे तो असत्यार्थ पद न मिलाये, परन्तु ग्रन्थ करनेवालोंको क्षयोपशम ज्ञान है, इसलिये कोई अन्यथा अर्थ भासित हो उससे असत्यार्थ पद मिलाये, उसकी तो परम्परा चले ?

समाधानः—मूल ग्रन्थकर्त्ता तो गणधरदेव हैं, वे स्वयं चार ज्ञानके धारक हैं और साक्षात् केवलीका दिव्यध्वनि–उपदेश सुनते हैं, उसके अतिशयसे सत्यार्थ ही भासित होता है और उसहीके अनुसार ग्रन्थ बनाते हैं, इसलिये उन ग्रन्थोंमें तो असत्यार्थ पद कैसे गूँथे जायें ? तथा जो अन्य आचार्यादिक ग्रन्थ बनाते हैं वे भी यथायोग्य सम्यग्ज्ञानके धारक हैं और वे उन मूल ग्रन्थोंकी परम्परासे ग्रन्थ बनाते हैं। पुनश्च, जिन पदोंका स्वयंको ज्ञान न हो उनकी तो वे रचना करते नहीं, और जिन पदोंका ज्ञान हो उन्हें सम्यग्ज्ञान प्रमाणसे ठीक करके गूँथते हैं। इसलिये प्रथम तो ऐसी सावधानीमें असत्यार्थ पद गूँथे जाते नहीं; और कदाचित् स्वयंको पूर्व ग्रन्थोंके पदोंका अर्थ अन्यथा ही भासित हो, तथा अपनी प्रमाणतामें भी उसी प्रकार आजाये तो उसका कुछ सारा (-वश) नहीं

है। परन्तु ऐसा किसीको ही भासित होता है सब ही को तो नहीं; इसलिये जिन्हें सत्यार्थ भासित हुआ हो वे उसका निषेध करके परम्परा नहीं चलने देते। पुनश्च, इतना जानना कि—जिनको अन्यथा जाननेसे जीवका बुरा हो ऐसे देव-गुरु-धर्मादिक तथा जीव-अजीवादिक तत्त्वोंको तो श्रद्धानी जैनी अन्यथा जानते ही नहीं; इनका तो जैनशास्त्रोंमें प्रसिद्ध कथन है। और जिनको भ्रमसे अन्यथा जानने पर भी जिन-आज्ञा माननेसे जीवका बुरा न हो, ऐसे कोई सूक्ष्म अर्थ हैं, उनमेंसे किसीको कोई अन्यथा प्रमाणतामें लाये तो भी उसका विशेष दोष नहीं है। वही गोमट्टसारमें कहा है कि:—

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा॥

(गाथा २७ जीवकाण्ड)

अर्थ:—सम्यग्दृष्टि जीव उपदेशित सत्य वचनका श्रद्धान करता है और अजानमान गुरुके नियोगसे असत्यका भी श्रद्धान करता है—ऐसा कहा है। पुनश्च, हमें भी विशेष ज्ञान नहीं है और जिन आज्ञा भंग करनेका बहुत भय है, परन्तु इसी विचारके बलसे ग्रन्थ करनेका साहस करते हैं। इसलिये इस ग्रन्थमें जैसा पूर्व ग्रन्थोंमें वर्णन है वैसा ही वर्णन करेंगे। अथवा कहीं पूर्व ग्रन्थोंमें सामान्य गूढ वर्णन था, उसका विशेष प्रगट करके वर्णन यहाँ करेंगे। सो इस प्रकार वर्णन करनेमें मैं तो बहुत सावधानी रखूँगा। सावधानी करने पर भी कहीं सूक्ष्म अर्थका अन्यथा वर्णन हो जाय, तो विशेष बुद्धिमान हों वे उसे सँवारकर शुद्ध करें—ऐसी मेरी प्रार्थना है। इस प्रकार शास्त्र करनेका निश्चय किया है। अब यहाँ, कैसे शास्त्र वांचने–सुनने योग्य हैं तथा उन शास्त्रोंके वक्ता–श्रोता कैसे होना चाहिये उसका वर्णन करते हैं।

[वांचने–सुनने योग्य शास्त्र]

जो शास्त्र मोक्षमार्गका प्रकाश करें वही शास्त्र वांचने सुनने योग्य हैं; क्योंकि जीव संसारमें नाना दुःखोंसे पीड़ित हैं। यदि शास्त्ररूपी दीपक द्वारा मोक्षमार्गको प्राप्त कर लें तो उस मार्गमें स्वयं गमन कर उन दुखोंसे मुक्त हों। सो मोक्षमार्ग एक वीतरागभाव है; इसलिये जिन शास्त्रोंमें किसी प्रकार राग-द्वेष-मोहभावोंका निषेध करके वीतरागभावका प्रयोजन प्रगट किया हो उन्हीं शास्त्रोंका वांचना–सुनना उचित है। तथा जिन शास्त्रोंमें श्रृंगार-भोग-कुतूहलादिकका पोषण करके रागभावका, हिंसा–युद्धादिकका पोषण करके द्वेषभावका और अतत्त्वश्रद्धानका पोषण करके मोहभाव-

का प्रयोजन प्रगट किया हो वे शास्त्र नहीं, शस्त्र हैं; क्योंकि जिन राग-द्वेष-मोह भावोंसे जीव अनादिसे दुःखी हुआ उनकी वासना जीवको विना सिखलाये ही थी और इन शास्त्रों द्वारा उन्हींका पोषण किया, भला होनेकी क्या शिक्षा दी ? जीवका स्वभाव-घात ही किया । इसलिये ऐसे शास्त्रोंका वांचना–सुनना उचित नहीं है । यहाँ वांचना–सुनना जिस प्रकार कहा, उसी प्रकार जोड़ना, सीखना, सिखाना, विचारना, लिखाना आदि कार्य भी उपलक्षणसे जान लेना । इस प्रकार जो साक्षात् अथवा परम्परासे वीत-रागभावका पोषण करें ऐसे शास्त्र ही का अभ्यास करने योग्य है ।

[वक्ताका स्वरूप]

अब इनके वक्ताका स्वरूप कहते हैं । प्रथम तो वक्ता कैसा होना चाहिये कि जो जैनश्रद्धानमें दृढ़ हो; क्योंकि यदि स्वयं अश्रद्धानी हो तो औरोंको श्रद्धानी कैसे करे ? श्रोता तो स्वयं ही से हीनबुद्धिके धारक हैं, उन्हें किसी युक्ति द्वारा श्रद्धानी कैसे करे ? और *श्रद्धान ही सर्व धर्मका मूल है । पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिये कि जिसे विद्याभ्यास करनेसे शास्त्र वांचनेयोग्य बुद्धि प्रगट हुई हो; क्योंकि ऐसी शक्तिके बिना वक्तापनेका अधिकारी कैसे हो ? पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिये कि जो सम्यग्ज्ञान द्वारा सर्व प्रकारके व्यवहार-निश्चयादिरूप व्याख्यानका अभिप्राय पहिचानता हो; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो कहीं अन्य प्रयोजनसहित व्याख्यान हो उसका अन्य प्रयोजन प्रगट करके विपरीत प्रवृत्ति कराये । पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिये कि जिसे जिन-आज्ञा भंग करनेका भय बहुत हो, क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो तो कोई अभिप्राय विचार कर सूत्रविरुद्ध उपदेश देकर जीवोंका बुरा करे । सो ही कहा है :—

बहु गुणविज्जाणिलयो असुत्तभासी तहावि मुत्तव्वो ।
जह वरमणिजुत्तो वि हु विग्घयरो विसहरो लोए ॥

अर्थः—जो अनेक क्षमादिक गुण तथा व्याकरणादि विद्याका स्थान है, तथापि उत्सूत्रभाषी है तो छोड़नेयोग्य ही है । जैसे कि—उत्कृष्ट मणिसंयुक्त होने पर भी सर्प है सो लोकमें विघ्न ही का करनेवाला है । पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिये कि जिसको शास्त्र वांचकर आजीविका आदि लौकिक कार्य साधनेकी इच्छा न हो; क्योंकि यदि आशावान हो तो यथार्थ उपदेश नहीं दे सकता; उसे तो कुछ श्रोताओंके अभिप्रायके अनु-

---

* दंसणमूलो धम्मो (दर्शन प्राभृत गाथा २)

सार व्याख्यान करके अपना प्रयोजन साधनेका ही साधन रहे। तथा श्रोताओंसे वक्ताका पद उच्च है; परन्तु यदि वक्ता लोभी हो तो वक्ता स्वयं हीन होजाय और श्रोता उच्च हो। पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिये कि जिसके तीव्र क्रोध-मान नहीं हो; क्योंकि तीव्र क्रोधी-मानीकी निन्दा होगी, श्रोता उससे डरते रहेंगे, तब उससे अपना हित कैसे करेंगे? पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिये कि जो स्वयं ही नाना प्रश्न उठाकर स्वयं ही उत्तर दे; अथवा अन्य जीव अनेक प्रकारसे बहुत बार प्रश्न करें तो मिष्ट वचन द्वारा जिस प्रकार उनका सन्देह दूर हो उसी प्रकार समाधान करे। यदि स्वयंमें उत्तर देनेकी सामर्थ्य न हो तो ऐसा कहे कि इसका मुझे ज्ञान नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो श्रोताओंका सन्देह दूर नहीं होगा। तब कल्याण कैसे होगा? और जिनमतकी प्रभावना भी नहीं हो सकेगी। पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिये कि जिसके अनीतिरूप लोकनिंद्य कार्योंकी प्रवृत्ति न हो; क्योंकि लोकनिंद्य कार्योंसे वह हास्यका स्थान होजाये, तब उसका वचन कौन प्रमाण करे? वह जिन धर्मको लजाये। पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिये कि जिसका कुल हीन न हो, अंग हीन न हो, स्वर भंग न हो, मिष्ट वचन हों तथा प्रभुत्व हो, जिससे लोकमें मान्य हो; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो उसे वक्तापनेकी महंतता शोभे नहीं।—ऐसा वक्ता हो; वक्तामें ये गुण तो अवश्य चाहिये। ऐसा ही आत्मानुशासनमें कहा है :—

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः,
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया,
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः ॥ ५ ॥

अर्थः—जो बुद्धिमान हो, जिसने समस्त शास्त्रोंका रहस्य प्राप्त किया हो, लोक-मर्यादा जिसके प्रगट हुई हो, आशा जिसके अस्त होगई हो, कांतिमान हो, उपशमी हो, प्रश्न करनेसे पहले ही जिसने उत्तर देखा हो, बाहुल्यतासे प्रश्नोंको सहनेवाला हो, प्रभु हो, परकी तथा परके द्वारा अपनी निन्दारहितपनेसे परके मनको हरनेवाला हो, गुणनिधान हो, स्पष्ट मिष्ट जिसके वचन हों—ऐसा सभाका नायक धर्मकथा कहे।—पुनश्च, वक्ताका विशेष लक्षण ऐसा है कि यदि उसके व्याकरण-न्यायादिक तथा बड़े-बड़े जैन शास्त्रोंका विशेष ज्ञान हो तो विशेषरूपसे उसको वक्तापना शोभित हो। पुनश्च, ऐसा भी हो, परन्तु अध्यात्मरस द्वारा यथार्थ अपने स्वरूपका अनुभव जिसको न हुआ हो वह जिनधर्मका मर्म नहीं जानता, पद्धतिहीसे

वक्ता होता है। अध्यात्मरसमय सच्चे जिनधर्मका स्वरूप उसके द्वारा कैसे प्रगट किया जाये ? इसलिये आत्मज्ञानी हो तो सच्चा वक्तापना होता है; क्योंकि प्रवचनसारमें ऐसा कहा है कि—आगमज्ञान, तत्त्वार्थ-श्रद्धान, संयमभाव यह तीनों आत्मज्ञानसे शून्य कार्यकारी नहीं हैं। पुनश्च, दोहापाहुडमें ऐसा कहा है—

पंडिय पंडिय पंडिय कण छोडि वितुस कंडिया।
पय अत्थं तुट्ठोसि परमत्थ ण जाणइ मूढोसि॥

अर्थः—हे पांडे हे पांडे हे पांडे ! तू कणको छोड़कर तुस (भूसी) ही कूट रहा है; तू अर्थ और शब्दमें संतुष्ट है, परमार्थ नहीं जानता, इसलिये तू मूर्ख ही है—ऐसा कहा है। तथा चौदह विद्याओंमें भी पहले अध्यात्म विद्या प्रधान कही है, इसलिये जो अध्यात्मरसका रसिया वक्ता है उसे जिनधर्मके रहस्यका वक्ता जानना। पुनश्च, जो बुद्धि ऋद्धिके धारक हैं तथा अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञानके धनी वक्ता हैं उन्हें महान वक्ता जानना। ऐसे वक्ताओंके विशेष गुण जानना। सो इन विशेष गुणोंके धारी वक्ताका संयोग मिले तो बहुत भला है ही, और न मिले तो श्रद्धानादिक गुणोंके धारी वक्ताओंके मुखसे ही शास्त्र सुनना। इस प्रकारके गुणोंके धारक मुनि अथवा श्रावक उनके मुखसे तो शास्त्र सुनना योग्य है, और पद्धतिबुद्धिसे अथवा शास्त्र सुननेके लोभसे श्रद्धानादिगुण-रहित पापी पुरुषोंके मुखसे शास्त्र सुनना उचित नहीं है। कहा है कि:—

तं जिणआणपरेण य धम्मो सोयव्व सुगुरुपासम्मि।
अह उचिओ सद्धाओ तस्सुवएसस्स कहगाओ॥

अर्थः—जो जिनआज्ञा माननेमें सावधान है उसे निर्ग्रन्थ सुगुरु ही के निकट धर्म सुनना योग्य है, अथवा उन सुगुरु ही के उपदेशको कहनेवाला उचित श्रद्धानी श्रावक उससे धर्म सुनना योग्य है। ऐसा जो वक्ता धर्मबुद्धिसे उपदेशदाता हो वही अपना तथा अन्य जीवोंका भला करे। और जो कषायबुद्धिसे उपदेश देता है वह अपना तथा अन्य जीवोंका बुरा करता है ऐसा जानना।—इस प्रकार वक्ताका स्वरूप कहा। अब श्रोताका स्वरूप कहते हैं :—

[श्रोताका स्वरूप]

भली होनहार है इसलिये जिस जीवको ऐसा विचार आता है कि मैं कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरूप है ? यह चरित्र कैसे बन रहा है ? ये मेरे भाव होते हैं उनका

क्या फल लगेगा ? जीव दुःखी हो रहा है सो दुःख दूर होनेका क्या उपाय है ?—मुझको इतनी बातोंका निर्णय करके कुछ मेरा हित हो सो करना—ऐसे विचारसे उद्यमवन्त हुआ है। पुनश्च, इस कार्यकी सिद्धि शास्त्र सुननेसे होती है ऐसा जानकर अति प्रीतिपूर्वक शास्त्र सुनता है; कुछ पूछना हो सो पूछता है; तथा गुरुओंके कहे अर्थको अपने अन्तरङ्गमें वारम्बार विचारता है और अपने विचारसे सत्य अर्थोंका निश्चय करके जो कर्तव्य हो उसका उद्यमी होता है—ऐसा तो नवीन श्रोताका स्वरूप जानना। पुनश्च, जो जैनधर्मके गाढ़ श्रद्धानी हैं तथा नाना शास्त्र सुननेसे जिनकी बुद्धि निर्मल हुई है तथा व्यवहार-निश्चयादिका स्वरूप भलीभाँति जानकर जिस अर्थको सुनते हैं, उसे यथावत् निश्चय जानकर अवधारण करते हैं; तथा जब प्रश्न उठता है तब अति विनयवान होकर प्रश्न करते हैं अथवा परस्पर अनेक प्रश्नोत्तर कर वस्तुका निर्णय करते हैं, शास्त्राभ्यासमें अति आसक्त हैं; धर्मबुद्धिसे निंद्य कार्योंके त्यागी हुए हैं—ऐसे उन शास्त्रोंके श्रोता होना चाहिये। पुनश्च, श्रोताओंके विशेष लक्षण ऐसे हैं—यदि उसे कुछ व्याकरण–न्यायादिकका अथवा बड़े जैनशास्त्रोंका ज्ञान हो तो श्रोतापना विशेष शोभा देता है। तथा ऐसा भी श्रोता हो, किन्तु उसे आत्मज्ञान न हुआ हो तो उपदेशका मर्म नहीं समझ सके; इसलिये जो आत्मज्ञान द्वारा स्वरूपका आस्वादी हुआ है वह जिनधर्मके रहस्यका श्रोता है। तथा जो अतिशयवन्त बुद्धिसे अथवा अवधि-मनःपर्ययसे संयुक्त हो तो उसे महान श्रोता जानना। ऐसे श्रोताओंके विशेष गुण हैं। ऐसे जिनशास्त्रोंके श्रोता होना चाहिये। पुनश्च, शास्त्र सुननेसे हमारा भला होगा—ऐसी बुद्धिसे जो शास्त्र सुनते हैं, परन्तु ज्ञानकी मंदतासे विशेष समझ नहीं पाते उनको पुण्य बन्ध होता है, विशेष कार्य सिद्ध नहीं होता। तथा जो कुल प्रवृत्तिसे अथवा पद्धति बुद्धिसे अथवा सहज योग बननेसे शास्त्र सुनते हैं, अथवा सुनते तो हैं परन्तु कुछ अवधारण नहीं करते, उनके परिणाम अनुसार कदाचित् पुण्यबन्ध होता है, कदाचित् पाप बन्ध होता है। तथा जो मद-मत्सर भावसे शास्त्र सुनते हैं अथवा तर्क करनेका ही जिनका अभिप्राय है, तथा जो महंतताके हेतु अथवा किसी लोभादिक प्रयोजनके हेतुसे शास्त्र सुनते हैं, तथा जो शास्त्र तो सुनते हैं परन्तु सुहाता नहीं है ऐसे श्रोताओंको केवल पापबन्ध ही होता है। ऐसा श्रोताओंका स्वरूप जानना। इसी प्रकार यथासम्भव सीखना, सिखाना आदि जिनके पाया जाये उनका भी स्वरूप जानना। इस प्रकार शास्त्रका तथा वक्ता-श्रोताका स्वरूप कहा। सो उचित शास्त्रको उचित वक्ता होकर वांचना, उचित श्रोता होकर सुनना योग्य है। अब, यह मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्र रचते हैं उसकी सार्थकता दिखाते हैं:—

[मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थकी सार्थकता]

इस संसार अटवीमें समस्त जीव हैं वे कर्मनिमित्तसे उत्पन्न जो नाना प्रकारके दुःख उनसे पीड़ित हो रहे हैं; तथा वहाँ मिथ्या-अंधकार व्याप्त हो रहा है, उस कारण वहाँसे मुक्त होनेका मार्ग नहीं पाते, तड़प-तड़पकर वहाँ ही दुःखको सहते हैं। ऐसे जीवोंका भला होनेके कारणभूत तीर्थंकर केवली भगवानरूपी सूर्यका उदय हुआ; उनकी दिव्यध्वनिरूपी किरणों द्वारा वहाँसे मुक्त होनेका मार्ग प्रकाशित किया। जिस प्रकार सूर्यको ऐसी इच्छा नहीं है कि मैं मार्ग प्रकाशित करूँ, परन्तु सहज ही उसकी किरणें फैलती हैं, उनके द्वारा मार्गका प्रकाशन होता है; उसी प्रकार केवली वीतराग हैं, इसलिये उनके ऐसी इच्छा नहीं है कि हम मोक्षमार्ग प्रगट करें, परन्तु सहज ही वैसे ही अघाति कर्मोंके उदयसे उनका शरीररूप पुद्गल दिव्यध्वनिरूप परिणमित होता है, उसके द्वारा मोक्षमार्गका प्रकाशन होता है। पुनश्च, गणधर देवोंको यह विचार आया कि जब केवली सूर्यका अस्तपना होगा तब जीव मोक्षमार्गको कैसे प्राप्त करेंगे? और मोक्षमार्ग प्राप्त किये बिना जीव दुःख सहेंगे; ऐसी करुणाबुद्धिसे अंगप्रकीर्णकादिरूप ग्रन्थ वे ही हुए महान दीपक उनका उद्योत किया। पुनश्च, जिस प्रकार दीपकसे दीपक जलानेसे दीपकोंकी परम्परा प्रवर्तती है उसी प्रकार किन्हीं आचार्यादिकोंने उन ग्रन्थोंसे अन्य ग्रन्थ बनाये और फिर उन परसे किन्हींने अन्य ग्रन्थ बनाये। इस प्रकार ग्रन्थ होनेसे ग्रन्थोंकी परम्परा प्रवर्तती है। मैं भी पूर्व ग्रन्थोंसे यह ग्रन्थ बनाता हूँ। पुनश्च, जिस प्रकार सूर्य तथा सर्व दीपक हैं वे मार्गको एकरूप ही प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार दिव्यध्वनि तथा सर्व ग्रन्थ हैं वे मोक्षमार्गको एकरूप ही प्रकाशित करते हैं; सो यह भी ग्रन्थ मोक्षमार्गको प्रकाशित करता है। तथा जिस प्रकार प्रकाशित करने पर भी जो नेत्र रहित अथवा नेत्र विकार सहित पुरुष हैं उनको मार्ग नहीं सूझता, तो दीपकके तो मार्गप्रकाशकपनेका अभाव हुआ नहीं है। उसी प्रकार प्रगट करने पर भी जो नेत्रज्ञान रहित हैं अथवा मिथ्यात्वादि विकार सहित हैं उन्हें मोक्षमार्ग नहीं सूझता, तो ग्रन्थके तो मोक्षमार्गप्रकाशकपनेका अभाव हुआ नहीं है।—इस प्रकार इस ग्रन्थका मोक्षमार्गप्रकाशक ऐसा नाम सार्थक जानना।

प्रश्नः—मोक्षमार्गके प्रकाशक ग्रन्थ पहले तो थे ही, तुम नवीन ग्रन्थ किसलिये बनाते हो?

समाधानः—जिस प्रकार बड़े दीपकोंका तो उद्योत बहुत तैलादिकके साधनसे रहता है, जिनके बहुत तैलादिककी शक्ति न हो उनको छोटा दीपक जला दें तो वे

उसका साधन रखकर उसके उद्योतसे अपना कार्य करें; उसी प्रकार बड़े ग्रन्थोंका तो प्रकाश बहुत ज्ञानादिकके साधनसे रहता है, जिनके बहुत ज्ञानादिककी शक्ति नहीं है उनको छोटा ग्रन्थ बना दें तो वे उसका साधन रखकर उसके प्रकाशसे अपना कार्य करें; इसलिये यह छोटा सुगम ग्रन्थ बनाते हैं। पुनश्च, यहाँ जो मैं यह ग्रन्थ बनाता हूँ सो कषायोंसे अपना मान बढ़ानेके लिये अथवा लोभ साधनेके लिये अथवा यश प्राप्त करनेके लिये अथवा अपनी पद्धति रखनेके लिये नहीं बनाता हूँ। जिनको व्याकरण–न्यायादिका, नय–प्रमाणादिकका तथा विशेष अर्थोंका ज्ञान नहीं है उनके इस कारण बड़े ग्रन्थोंका अभ्यास तो बन नहीं सकता; तथा किन्हीं छोटे ग्रन्थोंका अभ्यास बने तो भी यथार्थ अर्थ भासित नहीं होता। इस प्रकार इस समयमें मंदज्ञानवान् जीव बहुत दिखायी देते हैं, उनका भला होनेके हेतु धर्मबुद्धिसे यह भाषामय ग्रन्थ बनाता हूँ। पुनश्च, जिस प्रकार बड़े दरिद्रीको अवलोकनमात्र चिन्तामणिकी प्राप्ति हो और वह अवलोकन न करे, तथा जैसे कोढ़ीको अमृत-पान कराये और वह न करे; उसी प्रकार संसार पीड़ित जीवको सुगम मोक्षमार्गके उपदेशका निमित्त बने और वह अभ्यास न करे तो उसके अभाग्यकी महिमा हमसे तो नहीं हो सकती। उसकी होनहार ही का विचार करने पर अपनेको समता आती है। कहा है कि :—

साहीणे गुरुजोगे जे ण सुणंतीह धम्मवयणाइ।
ते धिट्ठदुट्ठचित्ता अह सुहडा भवभयविहुणा ॥

स्वाधीन उपदेशदाता गुरुका योग मिलने पर भी जो जीव धर्मवचनोंको नहीं सुनते वे धीठ हैं और उनका दुष्ट चित्त है। अथवा जिस संसारभयसे तीर्थंकरादि डरे उस संसारभयसे रहित हैं, वे बड़े सुभट हैं। पुनश्च, प्रवचनसारमें भी मोक्षमार्गका अधिकार किया है, वहाँ प्रथम आगमज्ञान ही उपादेय कहा है, सो इस जीवका तो मुख्य कर्त्तव्य आगमज्ञान है; उसके होनेसे तत्त्वोंका श्रद्धान होता है; तत्त्वोंका श्रद्धान होनेसे संयमभाव होता है और उस आगमसे आत्मज्ञानकी भी प्राप्ति होती है, तब सहज ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। पुनश्च, धर्मके अनेक अङ्ग हैं उनमें एक ध्यान विना उससे ऊँचा और धर्मका अंग नहीं है; इसलिये जिस-तिस प्रकार आगम-अभ्यास करना योग्य है। पुनश्च, इस ग्रन्थका तो वांचना, सुनना, विचारना बहुत सुगम है; कोई व्याकरणादिकका भी साधन नहीं चाहिये; इसलिये अवश्य इसके अभ्यासमें प्रवर्तो। तुम्हारा कल्याण होगा।

—इति श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्रमें पीठबन्ध प्ररूपक
प्रथम अधिकार समाप्त हुआ ॥ १ ॥

दूसरा अधिकार

संसार अवस्थाका स्वरूप

* दोहा *

मिथ्याभाव अभावतैं, जो प्रगटै निजभाव ।
सो जयवंत रहौ सदा, यह ही मोक्ष उपाव ।।

अब इस शास्त्रमें मोक्षमार्गका प्रकाश करते हैं। वहाँ बन्धनसे छूटनेका नाम मोक्ष है। इस आत्माको कर्मका बन्धन है और उस बन्धनसे आत्मा दुःखी होरहा है। तथा इसके दुःख दूर करने ही का निरन्तर उपाय भी रहता है परन्तु सच्चा उपाय प्राप्त किये विना दुःख दूर नहीं होता और दुःख सहा भी नहीं जाता; इसलिये यह जीव व्याकुल होरहा है। इस प्रकार जीवको समस्त दुःखका मूलकारण कर्मबन्धन है, उसके अभावरूप मोक्ष है वही परमहित है। तथा उसका सच्चा उपाय करना वही कर्तव्य है इसलिये इस ही का इसे उपदेश देते हैं। वहाँ, जैसे वैद्य है सो रोग सहित मनुष्यको प्रथम तो रोगका निदान बतलाता है कि इस प्रकार यह रोग हुआ है, तथा उस रोगके निमित्तसे उसके जो-जो अवस्था होती हो वह बतलाता है, उससे उसको निश्चय होता है कि मुझे ऐसा ही रोग है। फिर उस रोगको दूर करनेका उपाय अनेक प्रकारसे बतलाता है और उस उपायकी उसे प्रतीति कराता है। इतना तो वैद्यका बतलाना है, तथा यदि वह रोगी उसका साधन करे तो रोगसे मुक्त होकर अपने स्वभावरूप प्रवर्ते, यह रोगीका कर्तव्य है। उसी प्रकार यहाँ कर्मबन्धनयुक्त जीवको प्रथम तो कर्मबन्धनका निदान बतलाते हैं कि ऐसे यह कर्मबन्धन हुआ है; तथा उन कर्मबन्धनके निमित्तसे इसके जो-जो अवस्था होती है वह बतलाते हैं। इससे जीवको निश्चय होता है कि मुझे ऐसा ही कर्मबन्धन है। तथा उन कर्मबन्धनके दूर होनेका उपाय अनेक प्रकारसे बतलाते हैं और

उस उपायकी इसे प्रतीति कराते हैं—इतना तो शास्त्रका उपदेश है। यदि यह जीव उसका साधन करे तो कर्मबन्धनसे मुक्त होकर अपने स्वभावरूप प्रवर्ते, यह जीवका कर्तव्य है। सो यहाँ प्रथम ही कर्मबन्धनका निदान बतलाते हैं।

[कर्मबन्धनका निदान]

कर्मबन्धन होनेसे नाना औपाधिक भावोंमें परिभ्रमणपना पाया जाता है; एकरूप रहना नहीं होता, इसलिये कर्मबन्धन सहित अवस्थाका नाम संसार अवस्था है। इस संसार अवस्थामें अनन्तानन्त जीवद्रव्य हैं वे अनादि ही से कर्मबन्धन सहित हैं। ऐसा नहीं है कि पहले जीव न्यारा था और कर्म न्यारा था, बादमें इनका संयोग हुआ। तो कैसे हैं ?—जैसे मेरुगिरि आदि अकृत्रिम स्कन्धोंमें अनन्त पुद्गल परमाणु अनादिसे एकबन्धनरूप हैं, फिर उनमेंसे कितने ही परमाणु भिन्न होते हैं, कितने ही नये मिलते हैं; इस प्रकार मिलना–बिछुड़ना होता रहता है। उसी प्रकार इस संसारमें एक जीवद्रव्य और अनन्त कर्मरूप पुद्गल-परमाणु उनका अनादिसे एकबन्धनरूप है, फिर उनमें कितने ही कर्म परमाणु भिन्न होते हैं, कितने ही नये मिलते हैं,—इस प्रकार मिलना–बिछुड़ना होता रहता है।

यहाँ प्रश्न है कि—पुद्गलपरमाणु तो रागादिकके निमित्तसे कर्मरूप होते हैं, अनादि कर्मरूप कैसे हैं ?

[कर्मोंके अनादिपनेकी सिद्धि]

समाधानः—निमित्त तो नवीन कार्य हो उसमें ही सम्भव है; अनादि अवस्थामें निमित्तका कुछ प्रयोजन नहीं है। जैसे—नवीन पुद्गलपरमाणुओंका बंधान तो स्निग्ध-रूक्ष गुणके अंशों ही से होता है और मेरुगिरि आदि स्कन्धोंमें अनादि पुद्गलपरमाणुओंका बंधान है, वहाँ निमित्तका क्या प्रयोजन है ? उसी प्रकार नवीन परमाणुओंका कर्मरूप होना तो रागादिक ही से होता है और अनादि पुद्गल परमाणुओंकी कर्मरूप ही अवस्था है, वहाँ निमित्तका क्या प्रयोजन है ? तथा यदि अनादिमें भी निमित्त मानें तो अनादिपना रहता नहीं; इसलिये कर्मका बन्ध अनादि मानना। सो तत्त्वप्रदीपिका–प्रवचनसार शास्त्रकी व्याख्यामें जो सामान्यज्ञेयाधिकार है वहाँ कहा है:—रागादिकका कारण तो द्रव्यकर्म है और द्रव्यकर्मका कारण रागादिक हैं। तब वहाँ तर्क किया है

कि—ऐसे तो इतरेतराश्रयदोष लगता है,—वह उसके आश्रित, वह उसके आश्रित, कहीं रुकाव नहीं है। तब उत्तर ऐसा दिया है—

नैवं अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्म्मसम्बन्धस्य तत्र हेतुत्वेनो पादानात्। *

अर्थः—इस प्रकार इतरेतराश्रयदोष नहीं है; क्योंकि अनादिका स्वयं सिद्ध द्रव्यकर्मका सम्बन्ध है उसका वहाँ कारणपनेसे ग्रहण किया है। ऐसा आगममें कहा है। तथा युक्तिसे भी ऐसा ही सम्भव है कि—कर्म निमित्त बिना पहले जीवको रागादिक कहे जायें तो रागादिक जीवका एक स्वभाव हो जाये, क्योंकि परनिमित्तके बिना हो उसीका नाम स्वभाव है। इसलिये कर्मका सम्बन्ध अनादि ही मानना।

यहाँ फिर प्रश्न है कि—न्यारे-न्यारे द्रव्य और अनादिसे उनका सम्बन्ध—ऐसा कैसे सम्भव है?

समाधानः—जैसे मूल ही से जल—दूधका, सोना—किट्टिकका, तुष—कणका तथा तेल—तिलका सम्बन्ध देखा जाता है, नवीन इनका मिलाप हुआ नहीं है, वैसे ही अनादि से जीव-कर्मका सम्बन्ध जानना, नवीन इनका मिलाप हुआ नहीं है। फिर तुमने कहा —'कैसे सम्भव है?' अनादिसे जिस प्रकार कई भिन्न द्रव्य हैं, वैसे ही कई मिले द्रव्य हैं; इस प्रकार सम्भव होनेमें कुछ विरोध तो भासित नहीं होता।

फिर प्रश्न है कि—सम्बन्ध अथवा संयोग कहना तो तब सम्भव है जब पहले भिन्न हों और फिर मिलें, यहाँ अनादिसे मिले जीव—कर्मों का सम्बन्ध कैसे कहा है?

समाधानः—अनादिसे तो मिले थे, परन्तु बादमें भिन्न हुए तब जाना कि भिन्न थे तो भिन्न हुए, इसलिये पहले भी भिन्न ही थे—इस प्रकार अनुमानसे, तथा केवलज्ञानसे प्रत्यक्ष भिन्न भासित होते हैं इससे, उनका बन्धन होने पर भी भिन्नपना पाया जाता है। तथा उस भिन्नताकी अपेक्षा उनका सम्बन्ध अथवा संयोग कहा है, क्योंकि नये मिले या मिले ही हों, भिन्न द्रव्योंके मिलापमें ऐसे ही कहना संभव है।—इसप्रकार इन जीव-कर्मका अनादि सम्बन्ध है।

---

* न हि अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्माभिसम्बद्धस्यात्मनः प्राक्तनद्रव्यकर्मणस्तत्र हेतुत्वेनोपादानात्।

प्रवचनसार टीका—गाथा-१२१।

[जीव और कर्मोंकी भिन्नता]

वहाँ जीव द्रव्य तो देखने–जाननेरूप चेतनागुणका धारक है तथा इन्द्रियगम्य न होने योग्य अमूर्तिक है, संकोच–विस्तार शक्ति सहित असंख्यातप्रदेशी एक द्रव्य है। तथा कर्म है वह चेतनागुणरहित जड़ है, और मूर्तिक है, अनन्त पुद्गलपरमाणुओंका पिण्ड है, इसलिये एक द्रव्य नहीं है। इस प्रकार ये जीव और कर्म हैं; इनका अनादि सम्बन्ध है, तो भी जीवका कोई प्रदेश कर्मरूप नहीं होता और कर्मका कोई परमाणु जीवरूप नहीं होता; अपने-अपने लक्षणको धारण किये भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। जैसे सोने-चाँदीका एक स्कंध हो, तथापि पीतादि गुणोंको धारण किये सोना भिन्न रहता है और श्वेतादि गुणोंको धारण किये चाँदी भिन्न रहती है,—वैसे भिन्न जानना।

यहाँ प्रश्न है कि—मूर्तिक-मूर्तिकका तो बंधान होना बने, अमूर्तिक-मूर्तिकका बंधान कैसे बने?

[अमूर्तिक आत्मासे मूर्तिक कर्मोंका बन्ध किसप्रकार होता है?]

समाधानः—जिस प्रकार व्यक्त इन्द्रियगम्य नहीं हैं ऐसे सूक्ष्म पुद्गल, तथा व्यक्त इन्द्रियगम्य हैं ऐसे स्थूल पुद्गल–उनका बंधान होना मानते हैं, उसी प्रकार जो इन्द्रियगम्य होने योग्य नहीं है ऐसा अमूर्तिक आत्मा और इन्द्रियगम्य होने योग्य मूर्तिक कर्म–इनका भी बंधान होना मानना। तथा इस बंधानमें कोई किसीको करता तो है नहीं। जब तक बंधान रहे तब तक साथ रहे, बिछुड़े नहीं, और कारण कार्यपना उनके बना रहे, इतना ही यहाँ बंधान जानना। सो मूर्तिक–अमूर्तिकके इस प्रकार बंधान होनेमें कुछ विरोध है नहीं। इस प्रकार जैसे एक जीवको अनादि कर्म सम्बन्ध कहा उसी प्रकार भिन्न-भिन्न अनन्त जीवोंके जानना।

[घाति–अघातिकर्म और उनका कार्य]

तथा वे कर्म ज्ञानावरणादि भेदोंसे आठ प्रकारके हैं। वहाँ चार घातिया कर्मोंके निमित्तसे तो जीवके स्वभावका घात होता है। ज्ञानावरण-दर्शनावरणसे तो जीवके स्वभाव जो ज्ञान-दर्शन उनकी व्यक्तता नहीं होती; उन कर्मोंके क्षयोपशमके अनुसार किंचित् ज्ञान-दर्शनकी व्यक्तता रहती है। तथा मोहनीयसे जो जीवके स्वभाव नहीं हैं ऐसे मिथ्याश्रद्धान व क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषाय उनकी व्यक्तता होती है। तथा अन्तरायसे जीवका स्वभाव, दीक्षा लेनेकी सामर्थ्यरूप वीर्य उसकी व्यक्तता नहीं

होती; उनके क्षयोपशमके अनुसार किंचित् शक्ति होती है। इसप्रकार घातिया कर्मोंके निमित्तसे जीवके स्वभावका घात अनादि ही से हुआ है। ऐसा नहीं है कि पहले तो स्वभावरूप शुद्ध आत्मा था, पश्चात् कर्म-निमित्तसे स्वभावघात होनेसे अशुद्ध हुआ।

यहाँ तर्क है कि—घात नाम तो अभावका है; सो जिसका पहले सद्भाव हो उसका अभाव कहना बनता है। यहाँ स्वभावका तो सद्भाव है ही नहीं, घात किसका किया ?

समाधान:—जीवमें अनादि ही से ऐसी शक्ति पायी जाती है कि कर्मका निमित्त न हो तो केवलज्ञानादि अपने स्वभावरूप प्रवर्ते; परंतु अनादि ही से कर्मका सम्बन्ध पाया जाता है, इसलिये उस शक्तिकी व्यक्तता नहीं हुई। अतः शक्ति-अपेक्षा स्वभाव है, उसका व्यक्त न होने देनेकी अपेक्षा घात किया कहते हैं।

तथा चार अघातिया कर्म हैं, उनके निमित्तसे इस आत्माको बाह्य-सामग्रीका सम्बन्ध बनता है। वहाँ वेदनीयसे तो शरीरमें अथवा शरीरसे बाह्य नानाप्रकार सुख-दुःखके कारण परद्रव्योंका संयोग जुड़ता है; आयुसे अपनी स्थिति पर्यन्त प्राप्त शरीरका सम्बन्ध नहीं छूट सकता; नामसे गति, जाति, शरीरादिक उत्पन्न होते हैं और गोत्रसे उच्च-नीच कुलकी प्राप्ति होती है।—इस प्रकार अघातिकर्मोंसे बाह्य सामग्री एकत्रित होती है, उसके द्वारा मोह-उदयका सहकार होनेपर जीव सुखी-दुःखी होता है। और शरीरादिकके सम्बन्धसे जीवके अमूर्तत्वादिस्वभाव अपने स्व-अर्थको नहीं करते—जैसे कोई शरीरको पकड़े तो आत्मा भी पकड़ा जाये। तथा जबतक कर्मका उदय रहता है तबतक बाह्यसामग्री वैसी ही बनी रहे, अन्यथा नहीं हो सके—ऐसा इन अघाति-कर्मोंका निमित्त जानना।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि—कर्म तो जड़ हैं, कुछ बलवान नहीं हैं; उनसे जीवके स्वभावका घात होना व बाह्यसामग्रीका मिलना कैसे संभव है ?

[निर्बल जड़कर्मों द्वारा जीवके स्वभावका घात तथा बाह्यसामग्रीका मिलना]

समाधान:—यदि कर्म स्वयं कर्ता होकर उद्यमसे जीवके स्वभावका घात करे, बाह्यसामग्रीको मिलावे तब तो कर्मके चेतनपना भी चाहिये और बलवानपना भी चाहिये; सो तो है नहीं, सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब उन कर्मोंका उदय-काल हो, उस कालमें स्वयं ही आत्मा स्वभावरूप परिणमन नहीं करता, विभावरूप

परिणमन करता है, तथा जो अन्य द्रव्य हैं वे वैसे ही सम्बन्धरूप होकर परिणमित होते हैं। जैसे—किसी पुरुषके सिर पर मोहनधूल पड़ी है उससे वह पुरुष पागल हुआ, वहाँ उस मोहनधूलको ज्ञान भी नहीं था और बलवानपना भी नहीं था, परन्तु पागलपन उस मोहनधूल ही से हुआ देखते हैं। वहाँ मोहनधूलका तो निमित्त है और पुरुष स्वयं ही पागल हुआ परिणमित होता है—ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रहा है। तथा जिस प्रकार सूर्यके उदयके कालमें चकवा-चकवियोंका संयोग होता है, वहाँ रात्रिमें किसीने द्वेषबुद्धिसे बलजबरी करके अलग नहीं किये हैं, दिनमें किसीने करुणाबुद्धिसे लाकर मिलाये नहीं हैं; सूर्योदयका निमित्त पाकर स्वयं ही मिलते हैं। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रहा है। उस ही प्रकार कर्मका भी निमित्त-नैमित्तिक भाव जानना।—इस प्रकार कर्मके उदयसे अवस्था है।

वहाँ नवीन बंध कैसे होता है सो कहते हैं—

[नवीन बंध विचार]

जैसे सूर्यका प्रकाश है सो मेघपटलसे जितना व्यक्त नहीं है उतनेका तो उस कालमें अभाव है, तथा उस मेघपटलके मन्दपनेसे जितना प्रकाश प्रगट है वह उस सूर्यके स्वभावका अंश है—मेघपटलजनित नहीं है। उसी प्रकार जीवका ज्ञान-दर्शन-वीर्य स्वभाव है, वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तरायके निमित्तसे जितना व्यक्त नहीं है उतनेका तो उस कालमें अभाव है। तथा उन कर्मोंके क्षयोपशमसे जितने ज्ञान, दर्शन, वीर्य प्रगट हैं वह उस जीवके स्वभावका अंश ही है, कर्मजनित औपाधिकभाव नहीं है। सो ऐसे स्वभावके अंशका अनादिसे लेकर कभी अभाव नहीं होता। इस ही के द्वारा जीवके जीवत्वपनेका निश्चय किया जाता है कि यह देखनेवाली जाननेवाली शक्तिको धरती हुई वस्तु है वही आत्मा है। तथा इस स्वभावसे नवीन कर्मका बन्ध नहीं होता, क्योंकि निजस्वभाव ही बन्धका कारण हो तो बन्धका छूटना कैसे हो? तथा उन कर्मोंके उदयसे जितने ज्ञान, दर्शन, वीर्य अभावरूप हैं उनसे भी बन्ध नहीं है, क्योंकि स्वयं ही का अभाव होनेपर अन्यको कारण कैसे हो? इसलिये ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तरायके निमित्तसे उत्पन्न भाव नवीन कर्मबन्धके कारण नहीं हैं।

तथा मोहनीय कर्मके द्वारा जीवको अयथार्थ-श्रद्धानरूप तो मिथ्यात्वभाव होता है तथा क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषाय होते हैं। वे यद्यपि जीवके अस्तित्वमय हैं

जीवसे भिन्न नहीं हैं, जीव ही उनका कर्ता है, जीवके परिणमनरूप ही वे कार्य हैं तथापि उनका होना मोहकर्मके निमित्तसे ही है, कर्मनिमित्त दूर होनेपर उनका अभाव ही होता है, इसलिये वे जीवके निजस्वभाव नहीं, औपाधिक भाव हैं। तथा उन भावोंद्वारा नवीन बन्ध होता है; इसलिये मोहके उदयसे उत्पन्न भाव बन्धके कारण हैं।

तथा अघातिकर्मोंके उदयसे बाह्य सामग्री मिलती है, उसमें शरीरादिक तो जीवके प्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाही होकर एक बंधानरूप होते हैं और धन, कुटुम्बादिक आत्मासे भिन्नरूप हैं इसलिये वे सब बन्धके कारण नहीं हैं, क्योंकि परद्रव्य बन्धका कारण नहीं होता। उनमें आत्माको ममत्वादिरूप मिथ्यात्वादिभाव होते हैं वही बंधका कारण जानना।

[योग और उससे होनेवाले प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध]

तथा इतना जानना कि नामकर्मके उदयसे शरीर, वचन और मन उत्पन्न होते हैं, उनकी चेष्टाके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंका चंचलपना होता है, उससे आत्माको पुद्गलवर्गणासे एक बन्धान होनेकी शक्ति होती है, उसका नाम योग है। उसके निमित्तसे प्रति समय कर्मरूप होनेयोग्य अनन्त परमाणुओंका ग्रहण होता है। वहाँ अल्पयोग हो तो थोड़े परमाणुओंका ग्रहण होता है और बहुत योग हो तो बहुत परमाणुओंका ग्रहण होता है। तथा एकसमयमें जो पुद्गल-परमाणु ग्रहण करे उनमें ज्ञानावरणादि मूल-प्रकृतियोंका और उनकी उत्तर प्रकृतियोंका जैसे सिद्धान्तमें कहा वैसे बटवारा होता है। उस बटवारेके अनुसार परमाणु उन प्रकृतियोंरूप स्वयं ही परिणमित होते हैं। विशेष इतना कि योग दो प्रकारका है—शुभयोग, अशुभयोग। वहाँ धर्मके अंगोंमें मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति होनेपर तो शुभयोग होता है और अधर्मके अंगोंमें उनकी प्रवृत्ति होनेपर अशुभयोग होता है। वहाँ शुभयोग हो या अशुभयोग हो, सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना घातियाकर्मोंकी तो सर्व प्रकृतियोंका निरन्तर बन्ध होता ही रहता है। किसी समय किसी भी प्रकृतिका बन्ध हुए बिना नहीं रहता। इतना विशेष है कि मोहनीयके हास्य-शोक युगलमें, रति-अरति युगलमें, तीनों वेदोंमें एक कालमें एक एक ही प्रकृतिका बंध होता है।

तथा अघातिया कर्मोंकी प्रकृतियोंमें शुभयोग होनेपर सातावेदनीय आदि पुण्यप्रकृतियोंका बंध होता है, अशुभयोग होनेपर असातावेदनीय आदि पापप्रकृतियों-का बंध होता है, मिश्रयोग होनेपर कितनी ही पुण्यप्रकृतियोंका तथा कितनी ही पाप-

प्रकृतियोंका बंध होता है। इस प्रकार योगके निमित्तसे कर्मोंका आगमन होता है। इसलिये योग है वह आस्रव है। तथा उसके द्वारा ग्रहण हुए कर्म परमाणुओंका नाम प्रदेश है, उनका बंध हुआ और उनमें मूल–उत्तर प्रकृतियोंका विभाग हुआ, इसलिये योगों द्वारा प्रदेशबंध तथा प्रकृतिबंधका होना जानना।

[कषायसे स्थिति और अनुभाग बंध]

तथा मोहके उदयसे मिथ्यात्व क्रोधादिक भाव होते हैं, उन सबका नाम सामान्यतः कषाय है। उससे उन कर्म प्रकृतियोंकी स्थिति बँधती है। वहाँ जितनी स्थिति बँधे उसमें आबाधाकालको छोड़कर पश्चात् जब तक बंधी स्थिति पूर्ण हो तब तक प्रति समय उस प्रकृतिका उदय आता ही रहता है। वहाँ देव-मनुष्य-तिर्यंचायुके बिना अन्य सर्व घातिया-अघातिया प्रकृतियोंका अल्प कषाय होनेपर थोड़ा स्थितिबंध होता है, बहुत कषाय होनेपर बहुत स्थितिबंध होता है। इन तीन आयुका अल्पकषायसे बहुत और बहुत कषायसे अल्प स्थितिबंध जानना। तथा उस कषाय द्वारा ही उन कर्म प्रकृतियोंमें अनुभाग शक्तिका विशेष होता है। वहाँ जैसा अनुभागबंध हो वैसा ही उदयकालमें उन प्रकृतियोंका बहुत या थोड़ा फल उत्पन्न होता है। वहाँ घातिकर्मोंकी सर्वप्रकृतियोंमें तथा अघाति कर्मोंकी पाप प्रकृतियोंमें तो अल्प कषाय होनेपर अल्प अनुभाग बंधता है, बहुत कषाय होनेपर बहुत अनुभाग बंधता है। **तथा पुण्य प्रकृतियोंमें अल्पकषाय होनेपर बहुत अनुभाग बंधता है, बहुत कषाय होनेपर थोड़ा अनुभाग बंधता है।** इस प्रकार कषायों द्वारा कर्म प्रकृतियोंके स्थिति-अनुभागका विशेष हुआ इसलिये कषायों द्वारा स्थितिबंध अनुभागबंधका होना जानना। यहाँ जिस प्रकार बहुत मदिरा भी है और उसमें थोड़े कालपर्यंत थोड़ी उन्मत्तता उत्पन्न करनेकी शक्ति है तो वह मदिरा हीनपनेको प्राप्त है, तथा यदि थोड़ी भी मदिरा है और उसमें बहुत कालपर्यंत बहुत उन्मत्तता उत्पन्न करनेकी शक्ति है तो वह मदिरा अधिकपनेको प्राप्त है; उसी प्रकार बहुत भी कर्मप्रकृतियोंके परमाणु हैं और उनमें थोड़े कालपर्यंत थोड़ा फल देनेकी शक्ति है तो वे कर्मप्रकृतियाँ हीनताको प्राप्त हैं। तथा थोड़े भी कर्मप्रकृतियोंके परमाणु हैं और उनमें बहुत काल पर्यंत बहुत फल देनेकी शक्ति है तो वे कर्मप्रकृतियाँ अधिकपनेको प्राप्त हैं, इसलिये योगों द्वारा हुए प्रकृतिबंध प्रदेशबंध बलवान् नहीं हैं। कषायों द्वारा किया गया स्थितिबंध अनुभागबंध ही बलवान है, इसलिये मुख्यरूपसे कषायको ही बंधका कारण जानना। जिन्हें बंध नहीं करना हो वे कषाय नहीं करें।

[ज्ञानहीन जड़-पुद्गल परमाणुओंका यथायोग्य प्रकृतिरूप परिणमन]

अब यहाँ कोई प्रश्न करे कि—पुद्गल परमाणु तो जड़ हैं, उन्हें कुछ ज्ञान नहीं है, तो वे कैसे यथायोग्य प्रकृतिरूप होकर परिणमन करते हैं ?

समाधानः—जैसे भूख होनेपर मुख द्वारा ग्रहण किया हुआ भोजनरूप पुद्गलपिण्ड मांस, शुक्र, शोणित आदि धातुरूप परिणमित होता है; तथा उस भोजनके परमाणुओंमें यथायोग्य किसी धातुरूप थोड़े और किसी धातुरूप बहुत परमाणु होते हैं। तथा उनमें कई परमाणुओंका सम्बन्ध बहुत काल रहता है कइयोंका थोड़े काल रहता है; तथा उन परमाणुओंमें कई तो अपने कार्यको उत्पन्न करनेकी बहुत शक्ति रखते हैं, कई थोड़ी शक्ति रखते हैं। वहाँ ऐसा होनेमें कोई भोजनरूप पुद्गलपिण्डको ज्ञान तो नहीं है कि मैं इस प्रकार परिणमन करूँ तथा और भी कोई परिणमन करानेवाला नहीं है; ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिकभाव हो रहा है उससे वैसे ही परिणमन पाया जाता है। उसी प्रकार कषाय होनेपर योग द्वारसे ग्रहण किया हुआ कर्मवर्गणारूप पुद्गलपिण्ड ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप परिणमित होता है, तथा उन कर्मपरमाणुओंमें यथायोग्य किसी प्रकृतिरूप थोड़े और किसी प्रकृतिरूप बहुत परमाणु होते हैं, तथा उनमें कई परमाणुओंका सम्बन्ध बहुत काल और कइयोंका थोड़े काल रहता है, तथा उन परमाणुओंमें कई तो अपने कार्यको उत्पन्न करनेकी बहुत शक्ति रखते हैं और कई थोड़ी शक्ति रखते हैं। वहाँ ऐसा होनेमें किसी कर्मवर्गणारूप पुद्गलपिण्डको ज्ञान तो है नहीं कि मैं इस प्रकार परिणमन करूँ तथा और भी कोई परिणमन करानेवाला नहीं है; ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक भाव बन रहा है उससे वैसे ही परिणमन पाया जाता है। ऐसे तो लोकमें निमित्त-नैमित्तिक बहुत ही बन रहे हैं। जैसे मंत्रनिमित्तसे जलादिकमें रोगादि दूर करनेकी शक्ति होती है तथा कंकरी आदिमें सर्पादि रोकनेकी शक्ति होती है, उसी प्रकार जीवभावके निमित्तसे पुद्गलपरमाणुओंमें ज्ञानावरणादिरूप शक्ति होती है। यहाँ विचार कर अपने उद्यमसे कार्य करे तो ज्ञान चाहिये, परन्तु वैसा निमित्त बननेपर स्वयमेव वैसे परिणमन हो तो वहाँ ज्ञानका कुछ प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार नवीन बन्ध होनेका विधान जानना।

[जीवभावोंके निमित्तसे कर्मोंकी पूर्वबद्ध अवस्थाका पलटना]

अब, जो परमाणु कर्मरूप परिणमित हुए हैं उनका जबतक उदयकाल न आवे तबतक जीवके प्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाहरूप बंधान रहता है। वहाँ जीवभावके निमित्तसे

कई प्रकृतियोंकी अवस्थाका पलटना भी हो जाता है। वहाँ कई अन्य प्रकृतियोंके परमाणु थे वे संक्रमणरूप होकर अन्य प्रकृतियोंके परमाणु हो जाये। तथा कई प्रकृतियोंकी स्थिति और अनुभाग वहुत थे सो अपकर्षण होकर थोड़े हो जाये, तथा कई प्रकृतियोंकी स्थिति एवं अनुभाग थोड़े थे सो उत्कर्षण होकर वहुत हो जाये। इस प्रकार पूर्वमें वँधे हुए परमाणुओंकी भी जीवभावोंका निमित्त पाकर अवस्था पलटती है, और निमित्त न वने तो नहीं पलटे, ज्योंकी त्यों रहे। इस प्रकार सत्तारूप कर्म रहते हैं।

[कर्मोंके फलदानमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध]

तथा जब कर्मप्रकृतियोंका उदयकाल आवे तब स्वयमेव उन प्रकृतियोंके अनुभागके अनुसार कार्य बने, कर्म उन कार्योंको उत्पन्न नहीं करते। उसका उदयकाल आने पर वह कार्य बनता है—इतना ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जानना। तथा जिस समय फल उत्पन्न हुआ उसके अनन्तर समयमें उन कर्मरूप पुद्गलोंको अनुभाग शक्तिका अभाव होनेसे कर्मत्वपनेका अभाव होता है, वे पुद्गल अन्य पर्यायरूप परिणमित होते हैं,—इसका नाम सविपाक निर्जरा है। इस प्रकार प्रति समय उदय होकर कर्म खिरते हैं। कर्मत्वपनेकी नास्ति होनेके पीछे वे परमाणु उसी स्कंधमें रहें या अलग हो जायें—कुछ प्रयोजन नहीं रहता।

यहाँ इतना जानना कि—इस जीवको प्रति समय अनन्त परमाणु वँधते हैं; वहाँ एकसमयमें वँधे हुए परमाणु आबाधाकालको छोड़कर अपनी स्थितिके जितने समय हों उनमें क्रमसे उदयमें आते हैं। तथा वहुत समयोंमें वँधे परमाणु जो कि एक समयमें उदय आने योग्य हैं वे इकट्ठे होकर उदयमें आते हैं। उन सब परमाणुओंका अनुभाग मिलकर जितना अनुभाग हो उतना फल उस कालमें उत्पन्न होता है। तथा अनेक समयोंमें वँधे परमाणु वंधसमयसे लेकर उदयसमय पर्यंत कर्मरूप अस्तित्वको धारण कर जीवसे सम्वन्धरूप रहते हैं। इस प्रकार कर्मोंकी वंध-उदय-सत्तारूप अवस्था जानना। वहाँ प्रति समय एक समयप्रवद्धमात्र परमाणु वँधते हैं तथा एक समयप्रवद्धमात्रकी निर्जरा होती है। डेढ़-गुण हानिसे गुणित समयप्रवद्धमात्र सदाकाल सत्तामें रहते हैं। सो इन सवका विशेष आगे कर्म अधिकारमें लिखेंगे वहाँसे जानना।

[द्रव्यकर्म और भावकर्मका स्वरूप]

तथा इस प्रकार यह कर्म है सो परमाणुरूप अनन्त पुद्गल द्रव्योंसे उत्पन्न किया हुआ कार्य है इसलिये उसका नाम द्रव्यकर्म है। तथा मोहके निमित्तसे मिथ्यात्व-

क्रोधादिरूप जीवके परिणाम हैं वह अशुद्धभावसे उत्पन्न किया हुआ कार्य है इसलिये इसका नाम भावकर्म है। द्रव्यकर्मके निमित्तसे भावकर्म होता है और भावकर्मके निमित्तसे द्रव्यकर्मका बन्ध होता है। तथा द्रव्यकर्मसे भावकर्म और भावकर्मसे द्रव्यकर्म—इसी प्रकार परस्पर कारणकार्यभावसे संसारचक्रमें परिभ्रमण होता है। इतना विशेष जानना कि—तीव्र-मन्द बन्ध होनेसे या संक्रमणादि होनेसे या एककालमें बँधे अनेक कालमें या अनेककालमें बँधे एककालमें उदय आनेसे किसी कालमें तीव्र उदय आये तब तीव्रकषाय हो, तब तीव्र ही नवीन बंध हो, तथा किसी कालमें मंद उदय आये तब मंद कषाय हो, तब मंद ही बन्ध हो। तथा उन तीव्र-मंदकषायों ही के अनुसार पूर्व बँधे कर्मोंका भी संक्रमणादिक हो तो हो। इस प्रकार अनादिसे लगाकर धारा प्रवाहरूप द्रव्यकर्म और भावकर्मकी प्रवृत्ति जानना।

[नोकर्मका स्वरूप और उसकी प्रवृत्ति]

तथा नामकर्मके उदयसे शरीर होता है वह द्रव्यकर्मवत् किंचित् सुख-दुःखका कारण है, इसलिये शरीरको नोकर्म कहते हैं। यहाँ नो शब्द ईषत् (अल्प) वाचक जानना। सो शरीर पुद्गल परमाणुओंका पिण्ड है और द्रव्यइन्द्रिय, द्रव्यमन, श्वासोच्छ्वास तथा वचन—ये भी शरीर ही के अङ्ग हैं, इसलिये उन्हें भी पुद्गल-परमाणुओंके पिण्ड जानना। इस प्रकार शरीरके और द्रव्यकर्म सम्बन्ध सहित जीवके एकक्षेत्रावगाहरूप बंधान होता है सो शरीरके जन्म समयसे लेकर जितनी आयुकी स्थिति हो उतने काल तक शरीरका सम्बन्ध रहता है। तथा आयु पूर्ण होने पर मरण होता है तब उस शरीरका सम्बन्ध छूटता है, शरीर-आत्मा अलग-अलग हो जाते हैं। तथा उसके अनन्तर समयमें अथवा दूसरे, तीसरे, चौथे समय जीव कर्मोदयके निमित्तसे नवीन शरीर धारण करता है, वहाँ भी अपनी आयुपर्यंत उसी प्रकार सम्बन्ध रहता है, फिर मरण होता है तब उससे सम्बन्ध छूटता है। इसी प्रकार पूर्व शरीरका छोड़ना और नवीन शरीरका ग्रहण करना अनुक्रमसे हुआ करता है। तथा यह आत्मा यद्यपि असंख्यातप्रदेशी है तथापि संकोच-विस्तार शक्तिसे शरीर प्रमाण ही रहता है; विशेष इतना कि समुद्घात होने पर शरीरसे बाहर भी आत्माके प्रदेश फैलते हैं और अन्तराल समयमें पूर्व शरीर छोड़ा था उस प्रमाण रहते हैं। तथा इस शरीरके अंगभूत द्रव्य-इन्द्रिय और मन उनकी सहायतासे जीवके जानपनेकी प्रवृत्ति होती है। तथा शरीरकी अवस्थाके अनुसार मोहके उदयसे जीव सुखी-दुःखी होता है। तथा कभी तो जीवकी

इच्छाके अनुसार शरीर प्रवर्तता है, कभी शरीरकी अवस्थाके अनुसार जीव प्रवर्तता है। कभी जीव अन्यथा इच्छारूप प्रवर्तता है, पुद्गल अन्यथा अवस्थारूप प्रवर्तता है;—इस प्रकार इस नोकर्मकी प्रवृत्ति जानना।

[नित्य निगोद और इतर निगोद]

वहाँ अनादिसे लेकर प्रथम तो इस जीवके नित्यनिगोदरूप शरीरका सम्बन्ध पाया जाता है, वहाँ नित्यनिगोद शरीरको धारण करके आयु पूर्ण होने पर मरकर फिर नित्यनिगोद शरीरको धारण करता है, फिर आयु पूर्ण कर मरकर नित्यनिगोद शरीर ही को धारण करता है। इसीप्रकार अनन्तानन्त प्रमाण सहित जीव राशि है सो अनादि-से वहाँ ही जन्म-मरण किया करती है। तथा वहाँसे छह महीना आठ समयमें छहसौ आठ जीव निकलते हैं वे निकलकर अन्य पर्यायोंको धारण करते हैं, वे पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, प्रत्येक वनस्पतिरूप एकेन्द्रिय पर्यायोंमें तथा दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रियरूप पर्यायोंमें अथवा नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देवरूप पंचेन्द्रिय पर्यायोंमें भ्रमण करते हैं। वहाँ कितने ही काल भ्रमण कर फिर निगोद पर्यायको प्राप्त करे सो उसका नाम इतर निगोद है तथा वहाँ कितने ही काल रहकर वहाँसे निकलकर अन्य पर्यायोंमें भ्रमण करते हैं; वहाँ परिभ्रमण करनेका उत्कृष्ट काल पृथ्वी आदि स्थावरोंमें असंख्यात कल्पमात्र है और द्वीन्द्रियादि पंचेन्द्रिय पर्यंत त्रसोंमें साधिक दो हजार सागर है, इतर निगोदमें ढाई पुद्गलपरावर्तनमात्र है जो कि अनन्तकाल है। इतर निगोदसे निकलकर कोई स्थावर पर्याय प्राप्त करके फिर निगोद जाते हैं, इस प्रकार एकेन्द्रिय पर्यायोंमें उत्कृष्ट परिभ्रमणकाल असंख्यात पुद्गलपरावर्तनमात्र है। तथा जघन्य तो सर्वत्र एक अंतर्मुहूर्त काल है। इस प्रकार अधिकांश तो एकेन्द्रिय पर्यायोंका ही धारण करना है, अन्य पर्यायोंकी प्राप्ति तो काकतालीयन्यायवत् जानना। इस प्रकार इस जीवको अनादिसे ही कर्मबन्धनरूप रोग हुआ है। इति कर्मबन्धननिदान वर्णनम्।

[कर्मबन्धनरूप रोगके निमित्तसे होनेवाली जीवकी अवस्था]

अब, इस कर्मबन्धनरूप रोगके निमित्तसे जीवकी कैसी अवस्था हो रही है सो कहते हैं। प्रथम तो इस जीवका स्वभाव चैतन्य है, वह सबके सामान्य–विशेष स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला है। जो उनका स्वरूप हो वैसा अपनेको प्रतिभासित हो उसीका नाम चैतन्य है। वहाँ सामान्यस्वरूप प्रतिभासित होनेका नाम दर्शन है, विशेष स्वरूप प्रतिभासित होनेका नाम ज्ञान है। ऐसे स्वभाव द्वारा त्रिकालवर्ती सर्वगुणपर्यायसहित

सर्व पदार्थोंको प्रत्यक्ष युगपत् विना किसी सहायताके देखें—जानें ऐसी शक्ति आत्मामें सदा काल है; परन्तु अनादि ही से ज्ञानावरण, दर्शनावरणका सम्वन्ध है; उसके निमित्तसे इस शक्तिका व्यक्तपना नहीं होता। उन कर्मोंके क्षयोपशमसे किंचित् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान पाया जाता है और कदाचित् अवधिज्ञान भी पाया जाता है। अचक्षुदर्शन पाया जाता है और कदाचित् चक्षुदर्शन व अवधिदर्शन भी पाया जाता है। इनकी भी प्रवृत्ति कैसी है सो दिखाते हैं।

[मतिज्ञानकी पराधीन प्रवृत्ति]

वहाँ प्रथम तो मतिज्ञान है, वह शरीरके अंगभूत जो जीभ, नासिका, नयन, कान, स्पर्शन ये द्रव्यइन्द्रियाँ और हृदयस्थानमें आठ पँखुरियोंके फूले कमलके आकारका द्रव्यमन—इनकी सहायतासे ही जानता है। जैसे—जिसकी दृष्टि मंद हो वह अपने नेत्र द्वारा ही देखता है परन्तु चश्मा लगानेपर ही देखता है, विना चश्मेके नहीं देख सकता। उसी प्रकार आत्माका ज्ञान मंद है, वह अपने ज्ञानसे ही जानता है परन्तु द्रव्यइन्द्रिय तथा मनका सम्वन्ध होनेपर ही जानता है, उनके विना नहीं जान सकता। तथा जिस प्रकार नेत्र तो जैसेके तैसे हैं, परन्तु चश्मेमें कुछ दोष हुआ हो तो नहीं देख सकता अथवा थोड़ा दीखता है या औरका और दीखता है; उसी प्रकार अपना क्षयोपशम तो जैसाका तैसा है परन्तु द्रव्यइन्द्रिय तथा मनके परमाणु अन्यथा परिणमित हुए हों तो जान नहीं सकता अथवा थोड़ा जानता है अथवा औरका और जानता है। क्योंकि द्रव्यइन्द्रिय तथा मनरूप परमाणुओंके परिणमन को और मतिज्ञानको निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध है इसलिये उनके परिणमनके अनुसार ज्ञानका परिणमन होता है। उसका उदाहरण—जैसे मनुष्यादिकको बाल, वृद्ध-अवस्थामें द्रव्यइन्द्रिय तथा मन शिथिल हो तब जानपना भी शिथिल होता है; तथा जैसे शीत वायु आदिके निमित्तसे स्पर्शनादि इन्द्रियोंके और मनके परमाणु अन्यथा हों तब जानना नहीं होता अथवा थोड़ा जानना होता है। तथा इस ज्ञानको और बाह्य द्रव्योंको भी निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध पाया जाता है। उसका उदाहरण—जैसे नेत्रइन्द्रियको अंधकारके परमाणु अथवा फूला आदिके परमाणु या पाषाणादिके परमाणु आड़े आजायें तो देख नहीं सकती। तथा लाल कांच आड़ा आजाये तो सब लाल दीखता है; हरित आड़ा आये तो हरित दीखता है—इस प्रकार अन्यथा जानना होता है। तथा दूरबीन, चश्मा इत्यादि आड़े आजायें तो बहुत दीखने लग जाता है। प्रकाश, जल, हिलब्बी कांच इत्यादिके परमाणु आड़े आयें तो भी जैसे का तैसा दीखता है। इस प्रकार अन्य इन्द्रियों तथा मनके भी यथासम्भव

जानना। मंत्रादिकके प्रयोगसे अथवा मदिरापानादिकसे अथवा भूतादिकके निमित्तसे नहीं जानना, थोड़ा जानना या अन्यथा जानना होता है। इस प्रकार यह ज्ञान बाह्य-द्रव्यके भी आधीन जानना। तथा इस ज्ञानद्वारा जो जानना होता है वह अस्पष्ट जानना होता है, दूरसे कैसा ही जानता है, समीपसे कैसा ही जानता है, तत्काल कैसा ही जानता है, जाननेमें बहुत देर होजाये तब कैसा ही जानता है, किसीको संशय सहित जानता है, किसीको अन्यथा जानता है, किसीको किंचित् जानता है,—इत्यादिरूपसे निर्मल जानना नहीं होसकता। इस प्रकार यह मतिज्ञान पराधीनता सहित इन्द्रिय-मन द्वारसे प्रवर्तता है। उन इन्द्रियों द्वारा तो जितने क्षेत्रका विषय हो उतने क्षेत्रमें जो वर्तमान स्थूल अपने जानने योग्य पुद्गल स्कंध हों उन्हींको जानता है। उनमें भी अलग-अलग इन्द्रियों द्वारा अलग-अलग कालमें किसी स्कंधके स्पर्शादिकका जानना होता है। तथा मन द्वारा अपने जानने योग्य किंचित्मात्र त्रिकाल सम्बन्धी दूर क्षेत्रवर्ती अथवा समीप क्षेत्रवर्ती रूपी-अरूपी द्रव्यों और पर्यायोंको अत्यन्त स्पष्टरूपसे जानता है। सो भी इन्द्रियों द्वारा जिसका ज्ञान हुआ हो अथवा जिसका अनुमानादिक किया हो उस ही को जान सकता है। तथा कदाचित् अपनी कल्पना ही से असत्को जानता है। जैसे—स्वप्नमें अथवा जागते हुए भी जो कदाचित् कहीं नहीं पाये जाते ऐसे आकारादिकका चितवन करता है और जैसे नहीं हैं वैसे मानता है। इस प्रकार मन द्वारा जानना होता है। सो यह इन्द्रियों व मन द्वारा जो ज्ञान होता है उसका नाम मतिज्ञान है। वहाँ पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, वनस्पतिरूप एकेन्द्रियोंके स्पर्श ही का ज्ञान है; लट, शंख आदि दो इन्द्रिय जीवोंको स्पर्श, रसका ज्ञान है; कोड़ी, मकोड़ा आदि तीन इन्द्रिय जीवोंको स्पर्श, रस, गंधका ज्ञान है; भ्रमर, मक्षिका, पतंगादिक चौइन्द्रिय जीवोंको स्पर्श, रस, गंध, वर्णका ज्ञान है; मच्छ, गाय, कबूतर इत्यादिक तिर्यंच और मनुष्य, देव, नारकी यह पंचेन्द्रिय हैं, इन्हें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्दोंका ज्ञान है। तिर्यंचोंमें कई संज्ञी हैं, कई असंज्ञी हैं। वहाँ संज्ञियोंके मनजनित ज्ञान है, असंज्ञियोंके नहीं है। तथा मनुष्य, देव, नारकी संज्ञी ही हैं, उन सबके मनजनित ज्ञान पाया जाता है। इस प्रकार मतिज्ञानकी प्रवृत्ति जानना।

[श्रुतज्ञानकी पराधीन प्रवृत्ति]

अब, मतिज्ञान द्वारा जिस अर्थको जाना हो उसके सम्बन्धसे अन्य अर्थको जिसके द्वारा जाना जाये सो श्रुतज्ञान है। वह दो प्रकारका है—१–अक्षरात्मक, २–अनक्ष-

रात्मक । जैसे 'घट' यह दो अक्षर सुने या देखे वह तो मतिज्ञान हुआ, उनके सम्बन्धसे घट-पदार्थका जानना हुआ सो श्रुतज्ञान है ।—इस प्रकार अन्य भी जानना । यह तो अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है । तथा जैसे स्पर्श द्वारा शीतका जानना हुआ वह तो मतिज्ञान है; उसके सम्बन्धसे 'यह हितकारी नहीं है इसलिये भाग जाना' इत्यादिरूप ज्ञान हुआ सो श्रुतज्ञान है । इस प्रकार अन्य भी जानना । यह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है । वहाँ एकेन्द्रियादिक असंज्ञी जीवोंको तो अनक्षरात्मक ही श्रुतज्ञान है और संज्ञी पंचेन्द्रियोंके दोनों हैं । यह श्रुतज्ञान है सो अनेक प्रकारसे पराधीन ऐसे मतिज्ञानके भी आधीन है तथा अन्य अनेक कारणोंके आधीन है, इसलिये महा पराधीन जानना ।

[अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति]

अब, अपनी मर्यादाके अनुसार क्षेत्र-कालका प्रमाण लेकर रूपी पदार्थोंको स्पष्टरूपसे जिसके द्वारा जाना जाय वह अवधिज्ञान है । वह देव, नारकियोंमें तो सबको पाया जाता है और संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्योंके भी किसीको पाया जाता है । असंज्ञीपर्यंत जीवोंके यह होता ही नहीं है । सो यह भी शरीरादिक पुद्गलोंके आधीन है । अवधिके तीन भेद हैं—१—देशावधि, २—परमावधि, ३—सर्वावधि । इनमें थोड़े क्षेत्र-कालकी मर्यादा लेकर किंचित्‌मात्र रूपीपदार्थोंको जाननेवाला देशावधि है, सो ही किसी जीवके होता है । तथा परमावधि, सर्वावधि और मनःपर्यय ये ज्ञान मोक्षमार्गमें प्रगट होते हैं । केवलज्ञान मोक्षस्वरूप है; इसलिये इस अनादि संसार-अवस्थामें इनका सद्भाव ही नहीं है । इस प्रकार तो ज्ञानकी प्रवृत्ति पायी जाती है ।

[चक्षु-अचक्षुदर्शनकी प्रवृत्ति]

अब, इन्द्रिय तथा मनको स्पर्शादिक विषयोंका सम्बन्ध होनेसे प्रथम कालमें मतिज्ञानसे पूर्व जो सत्तामात्र अवलोकनरूप प्रतिभास होता है उसका नाम चक्षुदर्शन तथा अचक्षुदर्शन है । वहाँ नेत्र इन्द्रिय द्वारा दर्शन होनेका नाम तो चक्षुदर्शन है, वह तो चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवोंको ही होता है । तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र—इन चार इन्द्रियों और मन द्वारा जो दर्शन होता है उसका नाम अचक्षुदर्शन है, वह यथायोग्य एकेन्द्रियादि जीवोंको होता है ।

अब, अवधिके विषयोंका सम्बन्ध होने पर अवधिज्ञानके पूर्व जो सत्तामात्र अवलोकनरूप प्रतिभास होता है उसका नाम अवधिदर्शन है । यह जिनके अवधिज्ञान

सम्भव है उन्हींको होता है। यह चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शन है सो मतिज्ञान व अवधिज्ञानवत् पराधीन जानना। तथा केवलदर्शन मोक्षस्वरूप है उसका यहाँ सद्भाव ही नहीं है। इस प्रकार दर्शनका सद्भाव पाया जाता है।

[ज्ञान-दर्शनोपयोगादिकी प्रवृत्ति]

इस प्रकार ज्ञान-दर्शनका सद्भाव ज्ञानावरण, दर्शनावरणके क्षयोपशमके अनुसार होता है। जब क्षयोपशम थोड़ा होता है तब ज्ञान-दर्शनकी शक्ति थोड़ी होती है; जब बहुत होता है तब बहुत होती है। तथा क्षयोपशमसे शक्ति तो ऐसी बनी रहती है, परन्तु परिणमन द्वारा एक जीवको एक कालमें एक विषयका ही देखना और जानना होता है। इस परिणमन ही का नाम उपयोग है। वहाँ एक जीवको एक कालमें या तो ज्ञानोपयोग होता है या दर्शनोपयोग होता है। तथा एक उपयोगके भी एक भेदकी प्रवृत्ति होती है। जैसे—मतिज्ञान हो तब अन्य ज्ञान नहीं होता। तथा एक भेदमें भी एक विषयमें ही प्रवृत्ति होती है। जैसे—स्पर्शको जानता है तब रसादिकको नहीं जानता। तथा एक विषयमें भी उसे किसी एक अङ्गमें ही प्रवृत्ति होती है। जैसे—उष्ण स्पर्शको जानता है तब रूक्षादिकको नहीं जानता। इस प्रकार एक जीवको एक कालमें एक ज्ञेय अथवा दृश्यमें ज्ञान अथवा दर्शनका परिणमन जानना। ऐसा ही दिखायी देता है—जब सुननेमें उपयोग लगा हो तब नेत्रके समीप स्थित भी पदार्थ नहीं दीखता। इस ही प्रकार अन्य प्रवृत्ति देखी जाती है। तथा परिणमनमें शीघ्रता बहुत है उससे किसी कालमें ऐसा मान लेते हैं कि युगपत् भी अनेक विषयोंका जानना तथा देखना होता है, किन्तु युगपत् होता नहीं है, क्रमसे ही होता है, संस्कारबलसे उनका साधन रहता है। जैसे—कौएके नेत्रके दो गोलक हैं, पुतली एक है, वह फिरती शीघ्र है उससे दोनों गोलकोंका साधन करती है; उसी प्रकार इस जीवके द्वार तो अनेक हैं और उपयोग एक है, वह फिरता शीघ्र है, उससे सर्व द्वारोंका साधन रहता है।

यहाँ प्रश्न है कि—एक कालमें एक विषयका जानना अथवा देखना होता है तो इतना ही क्षयोपशम हुआ कहो, बहुत क्यों कहते हो? और तुम कहते हो कि क्षयोपशमसे शक्ति होती है तो शक्ति तो आत्मामें केवलज्ञान-दर्शनकी भी पायी जाती है।

समाधानः—जैसे किसी पुरुषके बहुत ग्रामोंमें गमन करनेकी शक्ति है, तथा उसे किसीने रोका और यह कहा कि पाँच ग्रामोंमें जाओ परन्तु एक दिनमें एक ग्रामको

जाओ। वहाँ उस पुरुषके बहुत ग्राम जानेकी शक्ति तो द्रव्य अपेक्षा पायी जाती है; अन्य कालमें सामर्थ्य हो, परन्तु वर्तमान सामर्थ्यरूप नहीं है, क्योंकि वर्तमानमें पाँच ग्रामोंसे अधिक ग्रामोंमें गमन नहीं कर सकता। तथा पाँच ग्रामोंमें जानेकी पर्याय अपेक्षा वर्तमान सामर्थ्यरूप शक्ति है, क्योंकि उनमें गमन कर सकता है; तथा व्यक्तता एक दिनमें एक ग्रामको गमन करनेकी ही पायी जाती है। उसी प्रकार इस जीवके सर्वको देखने-जाननेकी शक्ति है, तथा उसे कर्मने रोका और इतना क्षयोपशम हुआ कि स्पर्शादिक विषयोंको जानो या देखो, परन्तु एक कालमें एक ही को जानो या देखो। वहाँ इस जीवके सर्वको देखने–जाननेकी शक्ति तो द्रव्य अपेक्षा पायी जाती है; अन्य कालमें सामर्थ्य हो, परन्तु वर्तमान सामर्थ्यरूप नहीं है, क्योंकि अपने योग्य विषयोंसे अधिक विषयोंको देख–जान नहीं सकता। तथा अपने योग्य विषयोंको देखने-जाननेकी पर्याय अपेक्षा वर्तमान सामर्थ्यरूप शक्ति है, क्योंकि उन्हें देख–जान सकता है; तथा व्यक्तता एक कालमें एक ही को देखने या जाननेकी पायी जाती है।

यहाँ फिर प्रश्न है कि—ऐसा तो जाना; परन्तु क्षयोपशम तो पाया जाता है और बाह्य इन्द्रियादिकका अन्यथा निमित्त होने पर देखना-जानना नहीं होता या थोड़ा होता है या अन्यथा होता है, सो ऐसा होने पर कर्म ही का निमित्त तो नहीं रहा ?

समाधानः—जैसे रोकनेवालेने यह कहा कि पाँच ग्रामोंमेंसे एक ग्रामको एक दिनमें जाओ, परन्तु इन किंकरोंको साथ लेकर जाओ। वहाँ वे किंकर अन्यथा परिणमित हों तो जाना न हो या थोड़ा जाना हो या अन्यथा जाना हो; उसी प्रकार कर्मका ऐसा ही क्षयोपशम हुआ है कि इतने विषयोंमें एक विषयको एक कालमें देखो या जानो; परन्तु इतने बाह्य द्रव्योंका निमित्त होने पर देखो-जानो। वहाँ वे बाह्यद्रव्य अन्यथा परिणमित हों तो देखना-जानना न हो, या थोड़ा हो या अन्यथा हो। ऐसा यह कर्मके क्षयोपशम ही का विशेष है, इसलिये कर्म ही का निमित्त जानना। जैसे किसीको अंधकारके परमाणु आड़े आने पर देखना नहीं हो; उल्लू, बिल्ली आदिको उनके आड़े आने पर भी देखना होता है—सो ऐसा यह क्षयोपशम ही का विशेष है। जैसा-जैसा क्षयोपशम होता है वैसा-वैसा ही देखना-जानना होता है। इस प्रकार इस जीवके क्षयोपशमज्ञानकी प्रवृत्ति पायी जाती है। तथा मोक्षमार्गमें अवधि-मनःपर्यय होते हैं वे भी क्षयोपशमज्ञान ही हैं, उनको भी इसी प्रकार एक कालमें एकको प्रतिभासित करना तथा परद्रव्यका आधीनपना जानना। तथा जो विशेष है सो विशेष जानना। इस प्रकार

ज्ञानावरण-दर्शनावरणके उदयके निमित्तसे बहुत ज्ञान-दर्शनके अंशोंका तो अभाव है और उनके क्षयोपशमसे थोड़े अंशोंका सद्भाव पाया जाता है।

[मिथ्यात्वरूप जीवकी अवस्था]

इस जीवको मोहके उदयसे मिथ्यात्व और कषायभाव होते हैं। वहाँ दर्शनमोहके उदयसे तो मिथ्यात्वभाव होता है उससे यह जीव अन्यथा प्रतीतिरूप अतत्त्वश्रद्धान करता है। जैसा है वैसा तो नहीं मानता और जैसा नहीं है वैसा मानता है। अमूर्तिक प्रदेशोंका पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादिगुणोंका धारी अनादिनिधन वस्तु आप है और मूर्तिक पुद्गलद्रव्योंका पिण्ड प्रसिद्ध ज्ञानादिकोंसे रहित जिनका नवीन संयोग हुआ ऐसे शरीरादिक पुद्गल पर हैं; इनके संयोगरूप नानाप्रकारकी मनुष्य तिर्यंचादिक पर्यायें होती हैं; उन पर्यायोंमें अहंबुद्धि धारण करता है, स्व-परका भेद नहीं कर सकता; जो पर्याय प्राप्त करे उस ही को आपरूप मानता है। तथा उस पर्यायमें ज्ञानादिक हैं वे तो अपने गुण हैं और रागादिक हैं वे अपनेको कर्मनिमित्तसे औपाधिकभाव हुए हैं तथा वर्णादिक हैं वे शरीरादिक पुद्गलके गुण हैं और शरीरादिकमें वर्णादिकोंका तथा परमाणुओंका नाना प्रकार पलटना होता है वह पुद्गलकी अवस्था है; सो इन सब ही को अपना स्वरूप जानता है; स्वभाव-परभावका विवेक नहीं हो सकता। तथा मनुष्यादिक पर्यायोंमें कुटुम्ब-धनादिकका सम्बन्ध होता है वे प्रत्यक्ष अपनेसे भिन्न हैं तथा वे अपने आधीन नहीं परिणमित होते तथापि उनमें ममकार करता है कि यह मेरे हैं। वे किसी प्रकार भी अपने होते नहीं, यह ही अपनी मान्यतासे ही अपने मानता है। तथा मनुष्यादि पर्यायोंमें कदाचित् देवादिकका या तत्त्वोंका अन्यथा स्वरूप जो कल्पित किया उसकी तो प्रतीति करता है परन्तु यथार्थ स्वरूप जैसा है वैसी प्रतीति नहीं करता। इस प्रकार दर्शनमोहके उदयसे जीवको अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव होता है। जहाँ तीव्र उदय होता है वहाँ सत्यश्रद्धानसे बहुत विपरीत श्रद्धान होता है। जब मंद उदय होता है तब सत्यश्रद्धानसे थोड़ा विपरीत श्रद्धान होता है।

[चारित्रमोहरूप जीवकी अवस्था]

जब चारित्रमोहके उदयसे इस जीवको कषायभाव होता है तब यह देखते-जानते हुए भी पर पदार्थोंमें इष्ट-अनिष्टपना मानकर क्रोधादिक करता है। वहाँ क्रोधका उदय होनेपर पदार्थोंमें अनिष्टपना मानकर उनका बुरा चाहता है। कोई मन्दिरादि

अचेतन पदार्थ बुरे लगें तब तोड़ने-फोड़ने इत्यादि रूपसे उनका बुरा चाहता है तथा शत्रु आदि सचेतन पदार्थ बुरे लगें तब उन्हें वध-बन्धनादिसे या मारनेसे दुःख उत्पन्न करके उनका बुरा चाहता है। तथा आप स्वयं अथवा अन्य सचेतन-अचेतन पदार्थ किसी प्रकार परिणमित हुए, अपनेको वह परिणमन बुरा लगा तब अन्यथा परिणमित कराके उस परिणमनका बुरा चाहता है। इस प्रकार क्रोधसे बुरा चाहनेकी इच्छा तो हो, बुरा होना भवितव्य आधीन है।

तथा मानका उदय होनेपर पदार्थमें अनिष्टपना मानकर उसे नीचा करना चाहता है, स्वयं ऊँचा होना चाहता है; मल, धूल आदि अचेतन पदार्थोंमें घृणा तथा निरादर आदिसे उनकी हीनता, अपनी उच्चता चाहता है। तथा पुरुषादिक सचेतन पदार्थोंको झुकाना, अपने आधीन करना इत्यादिरूपसे उनकी हीनता, अपनी उच्चता चाहता है। तथा स्वयं लोकमें जैसे उच्च दिखे वैसे श्रृंगारादि करना तथा धन खर्च करना इत्यादिरूपसे औरोंको हीन दिखाकर स्वयं उच्च होना चाहता है। तथा अन्य कोई अपनेसे उच्च कार्य करे उसे किसी उपायसे नीचा दिखाता है और स्वयं नीचा कार्य करे उसे उच्च दिखाता है। इस प्रकार मानसे अपनी महंतताकी इच्छा तो हो, महंतता होना भवितव्य आधीन है।

तथा मायाका उदय होनेपर किसी पदार्थको इष्ट मानकर नाना प्रकारके छलों द्वारा उसकी सिद्धि करना चाहता है। रत्न सुवर्णादिक अचेतन पदार्थोंकी तथा स्त्री, दासी, दासादि सचेतन पदार्थोंकी सिद्धिके अर्थ अनेक छल करता है। ठगनेके अर्थ अपनी अनेक अवस्थाएँ करता है तथा अन्य अचेतन-सचेतन पदार्थोंकी अवस्था बदलता है इत्यादि रूप छलसे अपना अभिप्राय सिद्ध करना चाहता है। इस प्रकार मायासे इष्टसिद्धिके अर्थ छल तो करे, परन्तु इष्टसिद्धि होना भवितव्य आधीन है।

तथा लोभका उदय होने पर पदार्थोंको इष्ट मानकर उनकी प्राप्ति चाहता है। वस्त्राभरण, धन-धान्यादि अचेतन पदार्थोंकी तृष्णा होती है तथा स्त्री-पुत्रादिक चेतन पदार्थोंकी तृष्णा होती है। तथा अपनेको या अन्य सचेतन-अचेतन पदार्थोंको कोई परिणमन होना इष्ट मानकर उन्हें उस परिणमनरूप परिणमित करना चाहता है। इस प्रकार लोभसे इष्ट प्राप्तिकी इच्छा तो हो, परन्तु इष्टप्राप्ति होना भवितव्यके आधीन है। इस प्रकार क्रोधादिके उदयसे आत्मा परिणमित होता है।

वहाँ ये कषाय चार प्रकारके हैं। १—अनन्तानुबन्धी, २—अप्रत्याख्यानावरण, ३—प्रत्या-

ख्यानावरण, ४–संज्वलन। वहाँ (जिनका उदय होनेपर आत्माको सम्यक्त्व न हो, स्वरूपाचरणचारित्र न होसके वे अनन्तानुबंधी कषाय हैं।※) जिनका उदय होनेपर देशचारित्र नहीं होता, इसलिये किंचित् त्याग भी नहीं होसकता, वे अप्रत्याख्यानावरण कषाय हैं। तथा जिनका उदय होने पर सकल चारित्र नहीं होता, इसलिये सर्वका त्याग नहीं होसकता वे प्रत्याख्यानावरण कषाय हैं। तथा जिनका उदय होनेपर सकल चारित्रमें दोष उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये यथाख्यातचारित्र नहीं होसकता वे संज्वलन कषाय हैं। अनादि संसार अवस्थामें इन चारों ही का निरन्तर उदय पाया जाता है। परम कृष्णलेश्यारूप तीव्र कषाय हो वहाँ भी और शुक्ल लेश्यारूप मंदकषाय हो वहाँ भी निरंतर चारों ही का उदय रहता है। क्योंकि तीव्र-मंदकी अपेक्षा अनंतानुबन्धी आदि भेद नहीं हैं, सम्यक्त्वादिका घात करनेकी अपेक्षा यह भेद हैं। इन्हीं प्रकृतियोंका तीव्र अनुभाग उदय होनेपर तीव्र क्रोधादिक होते हैं, मंद अनुभाग उदय होनेपर मन्द होते हैं। तथा मोक्षमार्ग होने पर इन चारोंमेंसे तीन, दो, एकका उदय होता है, फिर चारोंका अभाव होजाता है। तथा क्रोधादिक चारों कषायोंमेंसे एक कालमें एक ही का उदय होता है। इन कषायोंके परस्पर कारणकार्यपना है। क्रोधसे मानादिक होजाते हैं, मानसे क्रोधादिक हो जाते हैं, इसलिये किसी कालमें भिन्नता भासित होती है, किसी कालमें भासित नहीं होती। इस प्रकार कषायरूप परिणमन जानना। तथा चारित्रमोहके ही उदयसे नोकषाय होती हैं; वहाँ हास्यके उदयसे कहीं इष्टपना मानकर प्रफुल्लित होता है, हर्ष मानता है। तथा रतिके उदयसे किसीको इष्ट मानकर प्रीति करता है, वहाँ आसक्त होता है। तथा अरतिके उदयसे किसीको अनिष्ट मानकर अप्रीति करता है वहाँ उद्वेगरूप होता है। तथा शोकके उदयसे कहीं अनिष्टपना मानकर दिलगीर होता है, विषाद मानता है। तथा भयके उदयसे किसीको अनिष्ट मानकर उससे डरता है, उसका संयोग नहीं चाहता। तथा जुगुप्साके उदयसे किसी पदार्थको अनिष्ट मानकर उससे घृणा करता है, उसका वियोग चाहता है। इस प्रकार ये हास्यादिक छह जानने। तथा वेदोंके उदयसे इसके काम परिणाम होते हैं। वहाँ स्त्रीवेदके उदयसे पुरुषके साथ रमण करनेकी इच्छा होती है और पुरुषवेदके उदयसे स्त्रीके साथ रमण करनेकी इच्छा होती है तथा नपुंसकवेदके उदयसे युगपत्–दोनोंसे रमण करनेकी इच्छा होती है। इसप्रकार ये नौ तो नोकषाय हैं। यह क्रोधादि सरीखे बलवान नहीं

※ यह पंक्ति खरड़ा प्रति में नहीं है।

हैं इसलिये इन्हें ईषत् कषाय कहते हैं। यहाँ नो शब्द ईषत्वाचक जानना। इनका उदय उन क्रोधादिकोंके साथ यथासम्भव होता है। इस प्रकार मोहके उदयसे मिथ्यात्व और कषायभाव होते हैं, सो ये ही संसारके मूल कारण हैं। इन्हींसे वर्तमान कालमें जीव दुःखी हैं और आगामी कर्मबन्धके भी कारण ये ही हैं। तथा इन्हींका नाम राग-द्वेष-मोह है। वहाँ मिथ्यात्वका नाम मोह है, क्योंकि जहाँ सावधानीका अभाव है। तथा माया, लोभ कषाय एवं हास्य, रति और तीन वेदोंका नाम राग है, क्योंकि वहाँ इष्ट-बुद्धिसे अनुराग पाया जाता है। तथा क्रोध, मान कषाय और अरति, शोक, भय, जुगुप्सा-ओंका नाम द्वेष है, क्योंकि वहाँ अनिष्टबुद्धिसे द्वेष पाया जाता है। तथा सामान्यतः सभीका नाम मोह है, क्योंकि इनमें सर्वत्र असावधानी पायी जाती है।

[अंतरायकर्मोदयजन्य अवस्था]

तथा अंतरायके उदयसे जीव चाहे सो नहीं होता। दान देना चाहे सो नहीं दे सकता, वस्तुकी प्राप्ति चाहे सो नहीं होती, भोग करना चाहे सो नहीं होता, उपभोग करना चाहे सो नहीं होता। अपनी ज्ञानादि शक्तिको प्रगट करना चाहे सो प्रगट नहीं हो सकती। इस प्रकार अंतरायके उदयसे जो चाहता है सो नहीं होता, तथा उसीके क्षयोप-शमसे किंचित्मात्र चाहा हुआ भी होता है। चाह तो बहुत है परन्तु किंचित् मात्र दान दे सकता है, लाभ होता है, ज्ञानादिक शक्ति प्रगट होती है; वहाँ भी अनेक बाह्य कारण चाहिये। इस प्रकार घातिकर्मोंके उदयसे जीवकी अवस्था होती है।

[वेदनीयकर्मोदयजन्य अवस्था]

तथा अघाति कर्मोंमें वेदनीयके उदयसे शरीरमें बाह्य सुख-दुःखके कारण उत्पन्न होते हैं। शरीरमें आरोग्यपना, शक्तिवानपना इत्यादि तथा क्षुधा, तृषा, रोग, खेद, पीड़ा इत्यादि सुख-दुःखोंके कारण होते हैं। बाह्यमें सुहावने ऋतु-पवनादिक, इष्ट स्त्री-पुत्रा-दिक तथा मित्र-धनादिक; असुहावने ऋतु-पवनादिक, अनिष्ट स्त्री-पुत्रादिक तथा शत्रु, दारिद्रय, वध-बन्धनादिक सुख-दुःखको कारण होते हैं। यह जो बाह्य कारण कहे हैं उनमें कितने कारण तो ऐसे हैं जिनके निमित्तसे शरीरकी अवस्था सुख-दुःखको कारण होती है, और वे ही सुख-दुःखको कारण होते हैं। तथा कितने कारण ऐसे हैं जो स्वयं ही सुख-दुःखको कारण होते हैं। ऐसे कारणोंका मिलना वेदनीयके उदयसे होता है। वहाँ सातावेदनीयसे सुखके कारण मिलते हैं और असातावेदनीयसे दुःखके कारण मिलते हैं। यहाँ ऐसा जानना कि वे कारण ही सुख-दुःखको उत्पन्न नहीं करते, आत्मा मोह-

कर्मके उदयसे स्वयं सुख-दुःख मानता है। वहाँ वेदनीयकर्मके उदयका और मोहकर्मके उदयका ऐसा ही सम्बन्ध है। जब सातावेदनीयका उत्पन्न किया बाह्य कारण मिलता है तब तो सुख माननेरूप मोहकर्मका उदय होता है, और जब असातावेदनीयका उत्पन्न किया बाह्य कारण मिलता है तब दुःख माननेरूप मोहकर्मका उदय होता है। तथा यही कारण किसीको सुखका, किसीको दुःखका कारण होता है। जैसे किसीको सातावेदनीयका उदय होनेपर मिला हुआ जैसा वस्त्र सुखका कारण होता है; वैसा ही वस्त्र किसीको असातावेदनीयका उदय होनेपर मिला सो दुःखका कारण होता है। इसलिये बाह्य वस्तु सुख-दुःखका निमित्तमात्र होती है। सुख-दुःख होता है वह मोहके निमित्तसे होता है। निर्मोही मुनियोंको अनेक ऋद्धि आदि तथा परीषहादि कारण मिलते हैं तथापि सुख-दुःख उत्पन्न नहीं होता। मोही जीवको कारण मिलनेपर अथवा बिना कारण मिले भी अपने संकल्प ही से सुख-दुःख हुआ ही करता है। वहाँ भी तीव्र मोहीको जिस कारणके मिलनेपर तीव्र सुख-दुःख होते हैं वही कारण मिलनेपर मंद मोहीको मंद सुख-दुःख होते हैं। इसलिये सुख-दुःखका मूल बलवान कारण मोहका उदय है। अन्य वस्तुएँ हैं वह बलवान कारण नहीं हैं; परन्तु अन्य वस्तुओंके और मोही जीवके परिणामोंके निमित्त-नैमित्तिक-की मुख्यता पायी जाती है; उससे मोही जीव अन्य वस्तु ही को सुख-दुःखका कारण मानता है। इस प्रकार वेदनीयसे सुख-दुःखका कारण उत्पन्न होता है।

[आयुकर्मोदयजन्य अवस्था]

तथा आयुकर्मके उदयसे मनुष्यादि पर्यायोंकी स्थिति रहती है। जब तक आयुका उदय रहता है तब तक अनेक रोगादिक कारण मिलनेपर भी शरीरसे सम्बन्ध नहीं छूटता। तथा जब आयुका उदय न हो तब अनेक उपाय करने पर भी शरीरसे सम्बन्ध नहीं रहता, उस ही काल आत्मा और शरीर पृथक् होजाते हैं। इस संसारमें जन्म, जीवन, मरणका कारण आयुकर्म ही है। जब नवीन आयुका उदय होता है तब नवीन पर्यायमें जन्म होता है। तथा जब तक आयुका उदय रहे तब तक उस पर्यायरूप प्राणोंके धारणसे जीना होता है। तथा आयुका क्षय हो तब उस पर्यायरूप प्राण छूटनेसे मरण होता है। सहज ही ऐसा आयुकर्मका निमित्त है; दूसरा कोई उत्पन्न करनेवाला, क्षय करनेवाला या रक्षा करनेवाला है नहीं—ऐसा निश्चय जानना। तथा जैसे कोई नवीन वस्त्र पहिनता है, कुछ काल तक पहिने रहता है, फिर उसको छोड़कर अन्य वस्त्र पहिनता है; इसी प्रकार जीव नवीन शरीर धारण करता है, कुछ कालतक धारण किये रहता है,

फिर उसको छोड़कर अन्य शरीर धारण करता है। इसलिये शरीर सम्बन्धकी अपेक्षा जन्मादिक हैं। जीव जन्मादि रहित नित्य ही है तथापि मोही जीवको अतीत-अनागतका विचार नहीं है। इसलिये प्राप्त पर्यायमात्र ही अपनी स्थिति मानकर पर्याय सम्बन्धी कार्योंमें ही तत्पर होरहा है। इस प्रकार आयुसे पर्यायकी स्थिति जानना।

[नामकर्मोदयजन्य अवस्था]

तथा नामकर्मसे यह जीव मनुष्यादि गतियोंको प्राप्त होता है; उस पर्यायरूप अपनी अवस्था होती है। वहाँ त्रस-स्थावरादि विशेष उत्पन्न होते हैं। तथा वहाँ एकेन्द्रियादि जातिको धारण करता है। इस जातिकर्मके उदयको और मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमको निमित्त-नैमित्तिकपना जानना। जैसा क्षयोपशम हो वैसी जाति प्राप्त करता है। तथा शरीरोंका सम्बन्ध होता है वहाँ शरीरके परमाणु और आत्माके प्रदेशोंका एक बंधान होता है तथा संकोच-विस्ताररूप होकर शरीरप्रमाण आत्मा रहता है। तथा नोकर्मरूप शरीरमें अंगोपांगादिकके योग्य स्थान प्रमाणसहित होते हैं। इसीसे स्पर्शन, रसना आदि द्रव्य-इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं तथा हृदयस्थानमें आठ पंखुरियोंके फूले हुए कमलके आकार द्रव्यमन होता है। तथा उस शरीरमें ही आकारादिकका विशेप होना, वर्णादिकका विशेष होना और स्थूल-सूक्ष्मत्वादिका होना इत्यादि कार्य उत्पन्न होते हैं, सो वे शरीररूप परिणमित परमाणु इस प्रकार परिणमित होते हैं। तथा श्वासोच्छ्वास और स्वर उत्पन्न होते हैं वह भी पुद्गलके पिण्ड हैं और शरीरसे एक बंधानरूप हैं। इनमें भी आत्माके प्रदेश व्याप्त हैं। वहाँ श्वासोच्छ्वास तो पवन है। जैसे आहारका ग्रहण करे और निहारको निकाले तभी जीना होता है, उसी प्रकार बाह्य पवनको ग्रहण करे और अभ्यंतर पवनको निकाले तभी जीवितव्य रहता है। इसलिये श्वासोच्छ्वास जीवितव्यका कारण है। इस शरीरमें जिस प्रकार हाड़-मांसादिक है उसी प्रकार पवन जानना। तथा जैसे हस्तादिकसे कार्य करते हैं वैसे ही पवनसे कार्य करते हैं। मुँहमें जो ग्रास रखा उसे पवनसे निगलते हैं, मलादिक पवनसे ही बाहर निकालते हैं, वैसे ही अन्य जानना। तथा नाड़ी, वायुरोग, वायगोला इत्यादिको पवनरूप शरीरके अंग जानना। स्वर है वह शब्द है। सो जैसे वीणाकी ताँतको हिलानेपर भाषारूप होनेयोग्य जो पुद्गलस्कंध हैं वे साक्षर या अनक्षर शब्दरूप परिणमित होते हैं, उसी प्रकार तालु, होंठ इत्यादि अंगोंको हिलानेपर भाषापर्याप्तिमें ग्रहण किये गये जो पुद्गलस्कंध हैं वे साक्षर या अनक्षर शब्दरूप परिणमित होते हैं। तथा शुभ-अशुभ गमनादिक होते हैं। यहाँ ऐसा जानना कि—

जैसे दो पुरुषोंको इकदंडी बेड़ी है। वहाँ एक पुरुष गमनादिक करना चाहे और दूसरा भी गमनादिक करे तो गमनादिक होसकते हैं, दोनोंमेंसे एक बैठा रहे तो गमनादिक नहीं होसकते, तथा दोनोंमें एक बलवान हो तो दूसरेको भी घसीट लेजाये। उसी प्रकार आत्माके और शरीरादिकरूप एक पुद्‌गलके एकक्षेत्रावगाहरूप बंधान है; वहाँ आत्मा हलन-चलनादि करना चाहे और पुद्‌गल उस शक्तिसे रहित हुआ हलनचलन न करे अथवा पुद्‌गलमें तो शक्ति पायी जाती है, परन्तु आत्माकी इच्छा न हो तो हलनचलनादि नहीं होसकते। तथा इनमें पुद्‌गल बलवान होकर हलनचलन करे तो उसके साथ बिना इच्छाके भी आत्मा हलन-चलन करता है। इसप्रकार हलन-चलनादि क्रिया होती है। तथा इसके अपयश आदि बाह्य निमित्त बनते हैं।—इस प्रकार ये कार्य उत्पन्न होते हैं, उनसे मोहके अनुसार आत्मा सुखी-दुःखी भी होता है। ऐसे नामकर्मके उदयसे स्वयमेव नानाप्रकार रचना होती है, अन्य कोई करनेवाला नहीं है। तथा तीर्थंकरादि प्रकृति यहाँ है ही नहीं।

[गोत्रकर्मोदयजन्य अवस्था]

गोत्रकर्मसे उच्च-नीच कुलमें उत्पन्न होना होता है वहाँ अपनी अधिकता-हीनता प्राप्त होती है। मोहके उदयसे आत्मा सुखी-दुःखी भी होता है। इस प्रकार अघाति कर्मोंके निमित्तसे अवस्था होती है।

इस प्रकार इस अनादि संसारमें घाति-अघाति कर्मोंके उदयके अनुसार आत्माके अवस्था होती है। सो हे भव्य! अपने अन्तरंगमें विचारकर देख कि ऐसे ही हैं कि नहीं। विचार करनेपर ऐसा ही प्रतिभासित होता है। यदि ऐसा है तो तू यह मान कि "मेरे अनादि संसार रोग पाया जाता है, उसके नाशका मुझे उपाय करना"—इस विचारसे तेरा कल्याण होगा।

—इति श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक नामक शास्त्रमें संसार-अवस्थाका निरूपक द्वितीय अधिकार संपूर्ण हुआ।

तीसरा अधिकार

संसारदुःख तथा मोक्षसुखका निरूपण

* दोहा *

सो जिनभाव सदा सुखद, अपनौं करो प्रकाश ।
जो बहुविधि भवदुखनिकौ, करि है सचा नाश ।। १ ।।

अथ, इस संसार-अवस्थामें नानाप्रकारके दुःख हैं उनका वर्णन करते हैं— क्योंकि यदि संसारमें भी सुख हो तो संसारसे मुक्त होनेका उपाय किसलिये करें। इस संसारमें अनेक दुःख हैं, इसीलिये संसारसे मुक्त होनेका उपाय करते हैं। जैसे वैद्य रोगका निदान और उसकी अवस्थाका वर्णन करके, रोगीको रोगका निश्चय कराकर, फिर उसका इलाज करनेकी रुचि कराता है। उसी प्रकार यहाँ संसारका निदान तथा उसकी अवस्थाका वर्णन करके संसारीको संसार-रोगका निश्चय कराके अब उसका उपाय करनेकी रुचि कराते हैं।

जैसे—रोगी रोगसे दुःखी हो रहा है परन्तु उसका मूल कारण नहीं जानता, सच्चा उपाय नहीं जानता और दुःख सहा नहीं जाता; तब जो उसे भासित हो वही उपाय करता है इसलिये दुःख दूर नहीं होता, तब तड़फ-तड़फकर परवश हुआ उन दुःखोंको सहता है; उसे वैद्य दुःखका मूल कारण बतलाये, दुःखका स्वरूप बतलाये, उन उपायोंको झूठा बतलाये, तब सच्चे उपाय करनेकी रुचि होती है। उसी प्रकार संसारी संसारसे दुःखी होरहा है, परन्तु उसका मूलकारण नहीं जानता तथा सच्चे उपाय नहीं जानता और दुःख सहा भी नहीं जाता। तब अपनेको भासित हो वही उपाय करता है इसलिये दुःख दूर नहीं होता, तब तड़फ-तड़फकर परवश हुआ उन दुःखोंको सहता है। उसे यहाँ दुःखका मूलकारण बतलाते हैं, दुःखका स्वरूप बतलाते हैं और उन उपायोंको झूठे बतलायें तो सच्चे उपाय करनेकी रुचि हो, इसलिये यह वर्णन यहाँ करते हैं।

[दुःखोंका मूलकारण]

वहाँ सब दुःखोंका मूलकारण मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम है। जो दर्शन-मोहके उदयसे हुआ अतत्त्वश्रद्धान मिथ्यादर्शन है, उससे वस्तुस्वरूपकी यथार्थ प्रतीति नहीं होसकती, अन्यथा प्रतीति होती है। तथा उस मिथ्यादर्शन ही के निमित्तसे क्षयोपशमरूप ज्ञान है वह अज्ञान होरहा है। उससे यथार्थ वस्तुस्वरूपका जानना नहीं होता, अन्यथा जानना होता है। तथा चारित्रमोहके उदयसे हुआ कषायभाव उसका नाम असंयम है, उससे जैसे वस्तुस्वरूप है वैसा नहीं प्रवर्तता, अन्यथा प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार ये मिथ्यादर्शनादिक हैं वे ही सर्व दुःखोंका मूल कारण हैं। किस प्रकार? सो बतलाते हैं:—

[मिथ्यात्वका प्रभाव]

मिथ्यादर्शनादिकसे जीवको स्व-पर विवेक नहीं होसकता। स्वयं एक आत्मा और अनंत पुद्गलपरमाणुमय शरीर, इनके संयोगरूप मनुष्यादि पर्याय उत्पन्न होती है, उसी पर्यायको स्व मानता है। तथा आत्माका ज्ञान-दर्शनादि स्वभाव है उसके द्वारा किंचित् जानना-देखना होता है, और कर्मोपाधिसे हुए क्रोधादिकभाव उनरूप परिणाम पाये जाते हैं, तथा शरीरका स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण स्वभाव है वह प्रगट है और स्थूल-कृषादिक होना तथा स्पर्शादिकका पलटना इत्यादि अनेक अवस्थाएँ होती हैं;—इन सबको अपना स्वरूप जानता है। वहाँ ज्ञान-दर्शनकी प्रवृत्ति इन्द्रिय-मनके द्वारा होती है, इसलिये यह मानता है कि ये त्वचा, जीभ, नासिका, नेत्र, कान, मन मेरे अंग हैं। इनके द्वारा मैं देखता-जानता हूँ; ऐसी मान्यतासे इन्द्रियोंमें प्रीति पायी जाती है।

[मोहजनित विषय अभिलाषा]

तथा मोहके आवेशसे उन इन्द्रियोंके द्वारा विषय ग्रहण करनेकी इच्छा होती है। और उन विषयोंका ग्रहण होनेपर उस इच्छाके मिटनेसे निराकुल होता है तब आनन्द मानता है। जैसे—कुत्ता हड्डी चबाता है उससे अपना लोहू निकले उसका स्वाद लेकर ऐसा मानता है कि यह हड्डियोंका स्वाद है। उसी प्रकार यह जीव विषयोंको जानता है उससे अपना ज्ञान प्रवर्तता है, उसका स्वाद लेकर ऐसा मानता है कि यह विषयका स्वाद है। सो विषयमें तो स्वाद है नहीं। स्वयं ही इच्छा की थी, उसे स्वयं ही जानकर स्वयं ही आनन्द मान लिया; परन्तु मैं अनादि-अनन्तज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ— ऐसा निःकेवलज्ञानका तो अनुभवन है नहीं। तथा मैंने नृत्य देखा, राग सुना, फूल सूंघे,

(पदार्थका स्वाद लिया, पदार्थका स्पर्श किया,) शास्त्र जाना, मुझे यह जानना;—इस प्रकार ज्ञेयमिश्रित ज्ञानका अनुभवन है उससे विषयोंकी ही प्रधानता भासित होती है। इस प्रकार इस जीवको मोहके निमित्तसे विषयोंकी इच्छा पायी जाती है।

वहाँ इच्छा तो त्रिकालवर्ती सर्वविषयोंको ग्रहण करनेकी है। मैं सर्वका स्पर्श करूँ, सर्वका स्वाद लूँ, सर्वको सूँघूँ, सर्वको देखूँ, सर्वको सुनूँ, सर्वको जानूँ; इच्छा तो इतनी है परन्तु शक्ति इतनी ही है कि इन्द्रियोंके सम्मुख आनेवाले वर्तमान स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द—उनमेंसे किसीको किंचित् मात्र ग्रहण करे तथा स्मरणादिकसे मन द्वारा किंचित् जाने; सो भी बाह्य अनेक कारण मिलने पर सिद्ध हो। इसलिये इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती। ऐसी इच्छा तो केवलज्ञान होने पर संपूर्ण हो। क्षयोपशमरूप इन्द्रियोंसे तो इच्छा पूर्ण होती नहीं है इसलिये मोहके निमित्तसे इन्द्रियोंको अपने-अपने विषय ग्रहणकी निरंतर इच्छा होती ही रहती है उससे आकुलित होकर दुःखी होरहा है। ऐसा दुःखी होरहा है कि किसी एक विषयके ग्रहणके अर्थ अपने मरणको भी नहीं गिनता है। जैसे हाथी को कपटकी हथिनीका शरीर स्पर्श करनेकी, मच्छको बंसीमें लगा हुआ मांसका स्वाद लेनेकी, भ्रमरको कमल सुगंध सूंघनेकी, पतंगेको दीपकका वर्ण देखनेकी और हरिणको राग सुननेकी इच्छा ऐसी होती है कि तत्काल मरना भासित हो तथापि मरण-को नहीं गिनते। विषयोंका ग्रहण करनेपर उसके मरण होता था, विषयसेवन नहीं करने पर इन्द्रियोंकी पीड़ा अधिक भासित होती है। इन इन्द्रियोंकी पीड़ासे पीड़ितरूप सर्व जीव निर्विचार होकर जैसे कोई दुःखी पर्वतसे गिर पड़े वैसे ही विषयोंमें छलाँग लगाते हैं। नाना कष्टसे धन उत्पन्न करते हैं, उसे विषयके अर्थ खोते हैं। तथा विषयोंके अर्थ जहाँ मरण होना जानते हैं वहाँ भी जाते हैं। नरकादिके कारण जो हिंसादिक कार्य उन्हें करते हैं तथा क्रोधादि कषायोंको उत्पन्न करते हैं। वे करें क्या, इन्द्रियोंकी पीड़ा सही नहीं जाती, इसलिये अन्य विचार कुछ आता नहीं। इसी पीड़ासे पीड़ित हुए इन्द्रादिक हैं; वे भी विषयोंमें अति आसक्त हो रहे हैं। जैसे खाज-रोगसे पीड़ित हुआ पुरुष आसक्त होकर खुजाता है, पीड़ा न हो तो किसलिये खुजाये; उसी प्रकार इन्द्रिय-रोगसे पीड़ित हुए इन्द्रादिक आसक्त होकर विषय सेवन करते हैं। पीड़ा न हो तो किस-लिये विषय सेवन करें? इस प्रकार ज्ञानावरण-दर्शनावरणके क्षयोपशमसे हुआ इन्द्रिय-जनित ज्ञान है वह मिथ्यादर्शनादिके निमित्तसे इच्छासहित होकर दुःखका कारण हुआ है।

अब, इस दुःखके दूर होनेका उपाय यह जीव क्या करता है सो कहते हैं—इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होनेपर मेरी इच्छा पूर्ण होगी ऐसा जानकर प्रथम तो नानाप्रकारके भोजनादिकोंसे इन्द्रियोंको प्रबल करता है और ऐसा ही जानता है कि इन्द्रियोंके प्रबल रहनेसे मेरे विषय-ग्रहणकी शक्ति विशेष होती है। तथा वहाँ अनेक बाह्यकारण चाहिए उनका निमित्त मिलाता है। तथा इन्द्रियाँ हैं वे विषय सन्मुख होने पर उनको ग्रहण करती हैं, इसलिये अनेक बाह्य उपायों द्वारा विषयोंका तथा इन्द्रियोंका संयोग मिलाता है। नानाप्रकारके वस्त्रादिकका, भोजनादिकका, पुष्पादिकका, मन्दिर-आभूषणादिकका तथा गान-वादित्रादिकका संयोग मिलानेके अर्थ बहुत ही खेदखिन्न होता है। तथा इन इन्द्रियोंके सन्मुख विषय रहता है तबतक उस विषयका किंचित् स्पष्ट जानपना रहता है, पश्चात् मन द्वारा स्मरणमात्र रह जाता है। काल व्यतीत होने पर स्मरण भी मंद होता जाता है इसलिये उन विषयोंको अपने आधीन रखनेका उपाय करता है और शीघ्र-शीघ्र उनका ग्रहण किया करता है। तथा इन्द्रियोंके तो एक कालमें एक विषयका ही ग्रहण होता है किन्तु यह बहुत ग्रहण करना चाहता है इसलिये आकुलित होकर शीघ्र-शीघ्र एक विषयको छोड़कर अन्यको ग्रहण करता है, तथा उसे छोड़कर अन्यको ग्रहण करता है,—ऐसे झपट्टे मारता है। इस प्रकार जो उपाय इसे भासित होते हैं सो करता है, परन्तु वे झूठे हैं। क्योंकि प्रथम तो इन सबका ऐसा ही होना अपने आधीन नहीं है, महान कठिन है; तथा कदाचित् उदय अनुसार ऐसी ही विधि मिल जाये तो इन्द्रियोंको प्रबल करनेसे कहीं विषयग्रहणकी शक्ति बढ़ती नहीं है; वह शक्ति तो ज्ञान-दर्शन बढ़ने पर बढ़ती है सो यह कर्मके क्षयोपशमके आधीन है। किसीका शरीर पुष्ट है उसके ऐसी शक्ति कम देखी जाती है, किसीका शरीर दुर्बल है उसके अधिक देखी जाती है। इसलिये भोजनादि द्वारा इन्द्रियाँ पुष्ट करनेसे कुछ सिद्धि है नहीं। कषायादि घटनेसे कर्मका क्षयोपशम होने पर ज्ञान-दर्शन बढ़े तब विषयग्रहणकी शक्ति बढ़ती है। तथा विषयोंका जो संयोग मिलाता है वह बहुत काल तक नहीं रहता अथवा सर्व विषयोंका संयोग मिलता ही नहीं है, इसलिये यह आकुलता बनी ही रहती है। तथा उन विषयोंको अपने आधीन रखकर शीघ्र-शीघ्र ग्रहण करता है, किन्तु वे आधीन रहते नहीं हैं। वे भिन्न द्रव्य तो अपने आधीन परिणमित होते हैं या कर्मोदयके आधीन हैं। ऐसे कर्मका बंध यथायोग्य शुभभाव होने पर होता है और पश्चात् उदय आता है वह प्रत्यक्ष देखते हैं। अनेक उपाय करने पर भी कर्मके निमित्त बिना सामग्री नहीं मिलती। तथा एक विषयको छोड़कर अन्यका ग्रहण करता है ऐसे झपट्टे मारता है उससे क्या

सिद्धि होती है ? जैसे मणको भूखवालेको कण मिले तो क्या भूख मिटती है ? उसी प्रकार जिसे सर्वके ग्रहणकी इच्छा है उसे एक विषयका ग्रहण होने पर क्या इच्छा मिटती है ? इच्छा मिटे विना सुख नहीं होता, इसलिये यह उपाय भूठा है।

कोई पूछता है कि इस उपायसे कई जीव सुखी होते देखे जाते हैं, सर्वथा भूठ कैसे कहते हो ?

समाधानः—सुखी तो नहीं होते हैं, भ्रमसे सुख मानते हैं। यदि सुखी हुए तो अन्य विषयोंकी इच्छा कैसे रहेगी ? जैसे—रोग मिटने पर अन्य औषधिको क्यों चाहे ? उसी प्रकार दुःख मिटने पर अन्य विषयोंको क्यों चाहे ? इसलिये विषयके ग्रहण द्वारा इच्छा रुक जाये तो हम सुख मानें। परन्तु जब तक जिस विषयका ग्रहण नहीं होता तब तक तो उसकी इच्छा रहती है और जिस समय उसका ग्रहण हुआ उसी समय अन्य विषय-ग्रहणकी इच्छा होती देखी जाती है, तो यह सुख मानना कैसे है ? जैसे कोई महा क्षुधावान रंक उसको एक अन्नका कण मिला उसका भक्षण करके चैन माने, उसी प्रकार यह महा तृष्णावान उसको एक विषयका निमित्त मिला उसका ग्रहण करके सुख मानता है; परमार्थसे सुख है नहीं।

कोई कहे कि जिस प्रकार कण-कण करके अपनी भूख मिटाये उसी प्रकार एक-एक विषयका ग्रहण करके अपनी इच्छा पूर्ण करे तो दोष क्या ?

उत्तरः—यदि वे कण एकत्रित हों तो ऐसा ही मानलें, परन्तु जब दूसरा कण मिलता है तब पहले कणका निर्गमन हो जाये तो कैसे भूख मिटेगी ? उसी प्रकार जाननेमें विषयोंका ग्रहण एकत्रित होता जाये तो इच्छा पूर्ण हो जाये, परन्तु जब दूसरा विषय ग्रहण करता है तब पूर्वमें जो विषय ग्रहण किया था उसका जानना नहीं रहता, तो कैसे इच्छा पूर्ण हो ? इच्छा पूर्ण हुए विना आकुलता मिटती नहीं है और आकुलता मिटे विना सुख कैसे कहा जाये ? तथा एक विषयका ग्रहण भी मिथ्यादर्शनादिकके सद्भावपूर्वक करता है इसलिये आगामी अनेक दुःखोंका कारण कर्म बंधते हैं। इसलिये यह वर्तमानमें सुख नहीं है, आगामी सुखका कारण नहीं है, इसलिये दुःख ही है। यही प्रवचनसारमें कहा है—

सपरं बाधासहिदं वुच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥ ७६ ॥

अर्थः—जो इन्द्रियोंसे प्राप्त किया सुख है वह पराधीन है, बाधासहित है, विनाशीक है, बंधका कारण है, विषम है सो ऐसा सुख इस प्रकार दुःख ही है। इस

प्रकार इस संसारी जीव द्वारा किये उपाय झूठे जानना। तो सच्चा उपाय क्या है?

जब इच्छा तो दूर होजाये और सर्व विषयोंका युगपत् ग्रहण बना रहे तब यह दुःख मिटे। सो इच्छा तो मोह जाने पर मिटे और सबका युगपत् ग्रहण केवलज्ञान होने पर हो। इनका उपाय सम्यग्दर्शनादिक है और वही सच्चा उपाय जानना।

इस प्रकार तो मोहके निमित्तसे ज्ञानावरण-दर्शनावरणका क्षयोपशम भी दुःखदायक है उसका वर्णन किया।

यहाँ कोई कहे कि—ज्ञानावरण, दर्शनावरणके उदयसे जानना नहीं हुआ, इसलिये उसे दुःखका कारण कहो, क्षयोपशमको क्यों कहते हो?

समाधानः—यदि जानना न होना दुःखका कारण हो तो पुद्गलके भी दुःख ठहरे; परन्तु दुःखका मूलकारण तो इच्छा है और इच्छा क्षयोपशमसे ही होती है, इसलिये क्षयोपशमको दुःखका कारण कहा है, परमार्थसे क्षयोपशम भी दुःखका कारण नहीं है। जो मोहसे विषयग्रहणकी इच्छा है वही दुःखका कारण जानना। मोहका उदय है सो दुःखरूप है ही; किस प्रकार सो कहते हैं—

[दर्शनमोहसे दुःख और उसकी निवृत्ति]

प्रथम तो दर्शनमोहके उदयसे मिथ्यादर्शन होता है; उसके द्वारा जैसा इसके श्रद्धान है वैसा तो पदार्थ होता नहीं है, जैसा पदार्थ है वैसा यह मानता नहीं है, इसलिये इसको आकुलता ही रहती है। जैसे—पागलको किसीने वस्त्र पहिना दिया। वह पागल उस वस्त्रको अपना अंग जानकर अपनेको और वस्त्रको एक मानता है। वह वस्त्र पहिनानेवालेके आधीन होनेसे कभी वह फाड़ता है, कभी जोड़ता है, कभी खोंसता है, कभी नया पहिनाता है इत्यादि चरित्र करता है। वह पागल उसे अपने आधीन मानता है, उसकी पराधीन क्रिया होती है उससे वह महाखेदखिन्न होता है। उसी प्रकार इस जीवको कर्मोदयने शरीर सम्बन्ध कराया। यह जीव उस शरीरको अपना अंग जानकर अपनेको और शरीरको एक मानता है; वह शरीर कर्मके आधीन कभी कृष होता है, कभी स्थूल होता है, कभी नष्ट होता है, कभी नवीन उत्पन्न होता है—इत्यादि चरित्र होते हैं। यह जीव उसे अपने आधीन मानता है, उसकी पराधीन क्रिया होती है उससे वह महाखेदखिन्न होता है। तथा जैसे—जहां वह पागल ठहरा था वहाँ मनुष्य, घोड़ा, धनादिक कहींसे आकर उतरे, वह पागल उन्हें अपना जानता है। वे तो उन्हींके आधीन कोई

आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं, वह पागल उन्हें अपने आधीन मानता है; उनकी पराधीन क्रिया हो तब खेदखिन्न होता है। उसी प्रकार यह जीव जहाँ पर्याय धारण करता है वहाँ स्वयमेव पुत्र, घोड़ा, धनादिक कहींसे आकर प्राप्त हुए, यह जीव उन्हें अपना जानता है। वे तो उन्हींके आधीन कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं; यह जीव उन्हें अपने आधीन मानता है, और उनकी पराधीन क्रिया हो तब खेदखिन्न होता है।

यहाँ कोई कहे कि—किसी कालमें शरीरकी तथा पुत्रादिककी क्रिया इस जीवके आधीन भी तो होती दिखायी देती है, तब तो यह सुखी होता है ?

समाधानः—शरीरादिकके भवितव्यकी और जीवकी इच्छाकी विधि मिलने पर किसी एक प्रकार जैसे वह चाहता है वैसे कोई परिणमित होता है इसलिये किसी कालमें उसीका विचार होनेपर सुखकासा आभास होता है, परन्तु सर्व ही तो सर्व प्रकारसे जैसे यह चाहता है वैसे परिणमित नहीं होते। इसलिये अभिप्रायमें तो अनेक आकुलता सदाकाल रहा ही करती है। तथा किसी कालमें किसी प्रकार इच्छानुसार परिणमित होते देखकर कहीं यह जीव शरीर, पुत्रादिकमें अहंकार-ममकार करता है, सो इस बुद्धिसे उनको उत्पन्न करनेकी, बढ़ानेकी तथा रक्षा करनेकी चिंतासे निरन्तर व्याकुल रहता है। नानाप्रकार कष्ट सहकर भी उनका भला चाहता है। तथा जो विषयोंकी इच्छा होती है, कषाय होती है, बाह्य सामग्रीमें इष्ट-अनिष्टपना मानता है, अन्यथा उपाय करता है, सच्चे उपायकी श्रद्धा नहीं करता, अन्यथा कल्पना करता है सो इन सबका मूल कारण एक मिथ्यादर्शन है। उसका नाश होनेपर सबका नाश होजाता है इसलिये सब दुःखोंका मूल यह मिथ्यादर्शन है। तथा उस मिथ्यादर्शनके नाशका उपाय भी नहीं करता। अन्यथा श्रद्धानको सत्यश्रद्धान माने तब उपाय किसलिये करे ?

तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय कदाचित् तत्त्वनिश्चय करनेका उपाय विचारे, वहाँ अभाग्यसे कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रका निमित्त बने तो अतत्त्वश्रद्धान पुष्ट होजाता है। वह तो जानता है कि इनसे मेरा भला होगा, परन्तु वे ऐसा उपाय करते हैं जिससे यह अचेत हो जाय। वस्तुस्वरूपका विचार करनेको उद्यमी हुआ था सो विपरीत विचारमें दृढ़ हो जाता है और तब विषय-कषायकी वासना बढ़नेसे अधिक दुःखी होता है। तथा कदाचित् सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्रका भी निमित्त बन जाये तो वहाँ उनके निश्चय उपदेशका तो श्रद्धान नहीं करता, व्यवहारश्रद्धानसे अतत्त्वश्रद्धानी ही रहता है। वहाँ मंदकषाय हो तथा विषयकी

इच्छा घटे तो थोड़ा दुःखी होता है परन्तु फिर जैसेका तैसा होजाता है; इसलिये यह संसारी जो उपाय करता है वे भी झूठे ही होते हैं।

तथा इस संसारीके एक यह उपाय है कि स्वयंको जैसा श्रद्धान है उसी प्रकार पदार्थोंको परिणमित करना चाहता है; यदि वे परिणमित हों तो इसका सच्चा श्रद्धान हो जाये। परन्तु **अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं, कोई किसीके आधीन नहीं है, कोई किसीके परिणमित करानेसे परिणमित नहीं होती।** उन्हें परिणमित कराना चाहे वह कोई उपाय नहीं है, वह तो मिथ्यादर्शन ही है। तो सच्चा उपाय क्या है?

जैसा पदार्थोंका स्वरूप है वैसा श्रद्धान हो जाये तो सर्व दुःख दूर हो जायें। जिस प्रकार कोई मोहित होकर मुर्देको जीवित माने या जिलाना चाहे तो आप ही दुःखी होता है। तथा उसे मुर्दा मानना और यह जिलानेसे जियेगा नहीं ऐसा मानना सो ही उस दुःखके दूर होनेका उपाय है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि होकर पदार्थोंको अन्यथा माने, अन्यथा परिणमित कराना चाहे तो आप ही दुःखी होता है। **तथा उन्हें यथार्थ मानना और यह परिणमित करानेसे अन्यथा परिणमित नहीं होंगे ऐसा मानना सो ही उस दुःखके दूर होनेका उपाय है। भ्रमजनित दुःखका उपाय भ्रम दूर करना ही है। सो भ्रम दूर होनेसे सम्यक्श्रद्धान होता है वही सत्य उपाय जानना।**

[चारित्रमोहसे दुःख और उसकी निवृत्ति]

चारित्रमोहके उदयसे क्रोधादिकषायरूप तथा हास्यादि नोकषायरूप जीवके भाव होते हैं तब यह जीव क्लेशवान होकर दुःखी होता हुआ विह्वल होकर नानाप्रकारके कुकार्योंमें प्रवर्तता है सो ही दिखाते हैं—

जब इसके क्रोधकषाय उत्पन्न होता है तब दूसरेका बुरा करनेकी इच्छा होती है और उसके अर्थ अनेक उपाय विचारता है मर्मच्छेदी गाली प्रदान आदिरूप वचन बोलता है। अपने अंगोंसे तथा शस्त्र-पाषाणादिकसे घात करता है। अनेक कष्ट सहनकर तथा धनादि खर्च करके व मरणादि द्वारा अपना भी बुरा करके अन्यका बुरा करनेका उद्यम करता है अथवा औरोंसे बुरा होना जाने तो औरोंसे बुरा कराता है। स्वयं ही उसका बुरा होता हो तो अनुमोदन करता है। उसका बुरा होनेसे अपना कुछ भी प्रयोजनसिद्ध न हो तथापि उसका बुरा करता है। तथा क्रोध होनेपर कोई पूज्य या

इष्टजन भी बीचमें आयें तो उन्हें भी बुरा कहता है; मारने लग जाता है, कुछ विचार नहीं रहता। तथा अन्यका बुरा न हो तो अपने अंतरङ्गमें आप ही बहुत संतापवान होता है और अपने ही अंगोंका घात करता है तथा विषादिसे मर जाता है। ऐसी अवस्था क्रोध होनेसे होती है।

तथा जब इसके मान कषाय उत्पन्न होती है तब औरोंको नीचा व अपनेको ऊँचा दिखानेकी इच्छा होती है और उसके अर्थ अनेक उपाय सोचता है। अन्यकी निंदा करता है, अपनी प्रशंसा करता है व अनेकप्रकारसे औरोंकी महिमा मिटाता है, अपनी महिमा करता है। महाकष्टसे जो धनादिकका संग्रह किया उसे विवाहादि कार्योंमें खर्च करता है तथा कर्ज लेकर भी खर्चता है। मरनेके बाद हमारा यश रहेगा ऐसा विचारकर अपना मरण करके भी अपनी महिमा बढ़ाता है। यदि कोई अपना सन्मानादिक न करे तो उसे भयादिक दिखाकर दुःख उत्पन्न करके अपना सन्मान कराता है। तथा मान होने पर कोई पूज्य—बड़े हों उनका भी सन्मान नहीं करता, कुछ विचार नहीं रहता। यदि अन्य नीचा और स्वयं ऊँचा दिखायी न दे, तो अपने अन्तरंगमें आप बहुत सन्तापवान होता है और अपने अंगोंका घात करता है तथा विष आदिसे मर जाता है।—ऐसी अवस्था मान होनेपर होती है।

तथा जब इसके माया कषाय उत्पन्न होती है तब छल द्वारा कार्य सिद्ध करनेकी इच्छा होती है। उसके अर्थ अनेक उपाय सोचता है, नानाप्रकार कपटके वचन कहता है, शरीरकी कपटरूप अवस्था करता है, बाह्यवस्तुओंको अन्यथा बतलाता है, तथा जिनमें अपना मरण जाने ऐसे भी छल करता है। कपट प्रगट होनेपर स्वयंका बहुत बुरा हो, मरणादिक हो उनको भी नहीं गिनता। तथा माया होनेपर किसी पूज्य व इष्टका भी सम्बन्ध बने तो उनसे भी छल करता है, कुछ विचार नहीं रहता। यदि छल द्वारा कार्य सिद्धि न हो तो स्वयं बहुत संतापवान होता है, अपने अंगोंका घात करता है तथा विष आदिसे मर जाता है।—ऐसी अवस्था माया होने पर होती है।

तथा जब इसके लोभ कषाय उत्पन्न हो तब इष्ट पदार्थके लाभकी इच्छा होनेसे उसके अर्थ अनेक उपाय सोचता है। उसके साधनरूप वचन बोलता है शरीरकी अनेक चेष्टा करता है बहुत कष्ट सहता है, सेवा करता है, विदेशगमन करता है, जिसमें मरण होना जाने वह कार्य भी करता है। जिनमें बहुत दुःख उत्पन्न हो ऐसे प्रारम्भ करता है। तथा लोभ होनेपर पूज्य व इष्टका भी कार्य हो वहाँ भी अपना प्रयोजन साधता है, कुछ

विचार नहीं रहता। तथा जिस इष्ट वस्तुकी प्राप्ति हुई है उसकी अनेक प्रकारसे रक्षा करता है। यदि इष्टवस्तुकी प्राप्ति न हो या इष्टका वियोग हो तो स्वयं बहुत संतापवान होता है, अपने अंगोंका घात करता है तथा विष आदिसे मर जाता है।—ऐसी अवस्था लोभ होने पर होती है।—इस प्रकार कषायोंसे पीड़ित हुआ इन अवस्थाओंमें प्रवर्तता है।

तथा इन कषायोंके साथ नोकषाय होती हैं। वहाँ जब हास्यकषाय होती है तब स्वयं विकसित प्रफुल्लित होता है; वह ऐसा जानना जैसे सन्निपातके रोगीका हँसना। नाना रोगोंसे स्वयं पीड़ित है तो भी कोई कल्पना करके हँसने लग जाता है। इसी प्रकार यह जीव अनेक पीड़ा सहित है, तथापि कोई झूठी कल्पना करके, अपनेको सुहाता कार्य मानकर हर्ष मानता है, परमार्थतः दुःखी होता है। सुखी तो कषाय-रोग मिटने पर होगा।

तथा जब रति उत्पन्न होती है तब इष्ट वस्तुमें अति आसक्त होता है। जैसे बिल्ली चूहेको पकड़कर आसक्त होती है, कोई मारे तो भी नहीं छोड़ती; सो यहाँ कठिन-तासे प्राप्त होनेके कारण तथा वियोग होनेके अभिप्रायसे आसक्तता होती है इसलिये दुःख ही है।

तथा जब अरति उत्पन्न होती है तब अनिष्ट वस्तुका संयोग पाकर महा व्याकुल होता है। अनिष्टका संयोग हुआ वह स्वयंको सुहाता नहीं है, वह पीड़ा सही नहीं जाती, इसलिये उसका वियोग करनेको तड़फता है, वह दुःख ही है।

तथा जब शोक उत्पन्न होता है तब इष्टका वियोग और अनिष्टका संयोग होनेसे अतिव्याकुल होकर सन्ताप पैदा करता है, रोता है, पुकार करता है, असावधान होजाता है, अपने अंगका घात करके मर जाता है; कुछ सिद्धि नहीं है तथापि स्वयं ही महा दुःखी होता है।

तथा जब भय उत्पन्न होता है तब किसीको इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोगका कारण जानकर डरता है; अतिविह्वल होता है, भागता है, छिपता है, शिथिल होजाता है, कष्ट होनेके स्थान पर पहुँच जाता है व मर जाता है; सो यह दुःखरूप ही है।

तथा जब जुगुप्सा उत्पन्न होती है तब अनिष्ट वस्तुसे घृणा करता है। उसका तो संयोग हुआ और यह घृणा करके भागना चाहता है या उसे दूर करना चाहता है और खेदखिन्न होकर महा दुःख पाता है।

तथा तीनों वेदोंसे जब काम उत्पन्न होता है तब पुरुषवेदसे स्त्रीके साथ रमण करनेकी, स्त्रीवेदसे पुरुषके साथ रमण करनेकी और नपुंसकवेदसे दोनोंके साथ रमण करनेकी इच्छा होती है। उससे अति व्याकुल होता है, आताप उत्पन्न होता है, निर्लज्ज होता है, धन खर्च करता है, अपयशको नहीं गिनता; परम्परा दुःख हो व दण्ड आदि हो उसे नहीं गिनता। कामपीड़ासे पागल हो जाता है, मर जाता है। रस ग्रन्थोंमें कामकी दस दशाएँ कही हैं। वहाँ पागल होना, मरण होना लिखा है। वैद्यकशास्त्रोंमें ज्वरके भेदोंमें कामज्वरको मरणका कारण लिखा है। प्रत्यक्ष ही कामसे मरण तक होते देखे जाते हैं। कामांधको कुछ विचार नहीं रहता। पिता-पुत्री तथा मनुष्य-तिर्यंचिनी इत्यादि रमण करने लग जाते हैं। ऐसी कामकी पीड़ा है सो महादुःखरूप है।

इस प्रकार कषायों और नोकषायोंसे अवस्थाएँ होती हैं। यहाँ ऐसा विचार आता है कि यदि इन अवस्थाओंमें न प्रवर्ते तो क्रोधादिक पीड़ा उत्पन्न करते हैं और इन अवस्थाओंमें प्रवर्ते तो मरणपर्यन्त कष्ट होते हैं। वहाँ मरणपर्यन्त कष्ट तो स्वीकार करते हैं परन्तु क्रोधादिककी पीड़ा सहना स्वीकार नहीं करते। इससे यह निश्चित हुआ कि मरणादिकसे भी कषायोंकी पीड़ा अधिक है। तथा जब इसके कषायका उदय हो तब कषाय किये बिना रहा नहीं जाता। बाह्यकषायोंके कारण मिलें तो उनके आश्रय कषाय करता है, यदि न मिलें तो स्वयं कारण बनाता है। जैसे—व्यापारादि कषायोंका कारण न हो तो जुआ खेलना व क्रोधादिकके कारण अन्य अनेक खेल खेलना, दुष्ट कथा कहना-सुनना इत्यादि कारण बनाता है। तथा काम-क्रोधादि पीड़ा करें और शरीरमें उन रूप कार्य करनेकी शक्ति न हो तो औषधि बनाता है और अन्य अनेक उपाय करता है। तथा कोई कारण बने ही नहीं तो अपने उपयोगमें कषायोंके कारणभूत पदार्थोंका चिंतवन करके स्वयं ही कषायोंरूप परिणमित होता है। इस प्रकार यह जीव कषाय भावोंसे पीड़ित हुआ महान दुःखी होता है।

तथा जिस प्रयोजनके लिये कषायभाव हुआ है उस प्रयोजनकी सिद्धि हो तो मेरा यह दुःख दूर हो और मुझे सुख हो,—ऐसा विचारकर उस प्रयोजनकी सिद्धि होनेके अर्थ अनेक उपाय करना उसे उस दुःखके दूर होनेका उपाय मानता है। अब यहाँ कषायभावोंसे जो दुःख होता है वह तो सच्चा ही है; प्रत्यक्ष स्वयं ही दुःखी होता है; परन्तु यह जो उपाय करता है वे झूठे हैं। क्यों? सो कहते हैं—क्रोधमें तो अन्यका बुरा करना, मानमें औरोंको नीचा दिखाकर स्वयं ऊँचा होना, मायामें छलसे कार्यसिद्धि

करना, लोभमें इष्टकी प्राप्ति करना, हास्यमें विकसित होनेका कारण बना रहना, रतिमें इष्ट संयोगका बना रहना, अरतिमें अनिष्टका दूर होना, शोकमें शोकका कारण मिटना, भयमें भयका कारण मिटना, जुगुप्सामें जुगुप्साका कारण दूर होना, पुरुषवेदमें स्त्रीसे रमण करना, स्त्रीवेदमें पुरुषसे रमण करना, नपुंसकवेदमें दोनोंके साथ रमण करना,— ऐसे प्रयोजन पाये जाते हैं। यदि इनकी सिद्धि हो तो कषायका उपशमन होनेसे दुःख दूर हो जाये, सुखी हो; परन्तु उनकी सिद्धि इसके किये उपायोंके आधीन नहीं है, भवितव्यके आधीन है; क्योंकि अनेक उपाय करते देखते हैं परन्तु सिद्धि नहीं होती। तथा उपाय होना भी अपने आधीन नहीं है, भवितव्यके आधीन है; क्योंकि अनेक उपाय करनेका विचार करता है और एक भी उपाय नहीं होता देखते हैं। तथा काकतालीय न्यायसे भवितव्य ऐसा ही हो जैसा अपना प्रयोजन हो, वैसा ही उपाय हो, और उससे कार्यकी सिद्धि भी हो जाये। तो उस कार्य सम्बन्धी किसी कषायका उपशम हो परन्तु वहाँ रुकाव नहीं होता। जब तक कार्यसिद्ध नहीं हुआ था तब तक तो उस कार्य सम्बन्धी कषाय थी, और जिस समय कार्यसिद्ध हुआ उसी समय अन्य कार्य सम्बन्धी कषाय हो जाती है; एक समयमात्र भी निराकुल नहीं रहता। जैसे कोई क्रोधसे किसीका बुरा सोचता था और उसका बुरा हो चुका, तब अन्य पर क्रोध करके उसका बुरा चाहने लगा। अथवा थोड़ी शक्ति थी तब छोटोंका बुरा चाहता था बहुत शक्ति हुई तब बड़ोंका बुरा चाहने लगा। उसी प्रकार मान-माया-लोभादिक द्वारा जो कार्य सोचता था वह सिद्ध हो चुका तब अन्यमें मानादिक उत्पन्न करके उसकी सिद्धि करना चाहता है। थोड़ी शक्ति थी तब छोटे कार्यकी सिद्धि करना चाहता था, बहुत शक्ति हुई तब बड़े कार्यकी सिद्धि करनेकी अभिलाषा हुई। कषायोंमें कार्यका प्रकाश हो तो उस कार्यकी सिद्धि होने पर सुखी हो जाये, परन्तु प्रमाण है नहीं, इच्छा बढ़ती ही जाती है। यही आत्मानुशासनमें कहा है—

"आशागर्तः प्रतिप्राणी यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता॥ ३६॥

अर्थः—आशारूपी गड्ढा प्रत्येक प्राणीमें पाया जाता है। अनन्तानन्त जीव हैं उन सबके आशा पायी जाती है। तथा वह आशारूपी कूप कैसा है कि उस एक गड्ढेमें समस्त लोक अणु समान है और लोक तो एक ही है, तो अब यहाँ कहो किसको कितना हिस्सेमें आये? इसलिये तुम्हें जो यह विषयोंकी इच्छा है सो वृथा ही है। इच्छा पूर्ण तो होती नहीं है; इसलिये कोई कार्य सिद्ध होने पर भी दुःख दूर नहीं होता, अथवा

कोई कषाय मिटे तो उसीसमय अन्य कषाय हो जाती है। जैसे—किसीको मारनेवाले बहुत हों तो कोई एक जब नहीं मारता तब अन्य मारने लग जाता है। उसी प्रकार जीवको दुःख देनेवाले अनेक कषाय हैं; व जब क्रोध नहीं होता तब मानादिक हो जाते हैं, जब मान न हो तब क्रोधादिक हो जाते हैं। इस प्रकार कषायका सद्भाव बना ही रहता है, कोई एक समय भी कषाय रहित नहीं होता। इसलिये किसी कषायका कोई कार्य सिद्ध होनेपर भी दुःख कैसे दूर हो? और इसका अभिप्राय तो सर्व कषायोंका सर्व प्रयोजन सिद्ध करनेका है, वह हो तो यह सुखी हो; परन्तु वह कदापि नहीं हो सकता; इसलिये अभिप्रायमें सर्वदा दुःखी ही रहता है। इसलिये कषायोंके प्रयोजनको साधकर दुःख दूर करके सुखी होना चाहता है; सो यह उपाय झूठा ही है। तब सच्चा उपाय क्या है? **सम्यग्दर्शन-ज्ञानसे यथावत् श्रद्धान और जानना हो तब इष्ट-अनिष्ट बुद्धि मिटे, तथा उन्हींके बलसे चारित्रमोहका अनुभाग हीन हो। ऐसा होने पर कषायोंका अभाव हो तब उनकी पीड़ा दूर हो, और तब प्रयोजन भी कुछ नहीं रहे। निराकुल होनेसे महासुखी हो। इसलिये सम्यग्दर्शनादिक ही यह दुःख मेटनेका सच्चा उपाय है।**

[अंतराय कर्मके उदयसे होनेवाला दुःख और उसके उपायोंका मिथ्यापना]

तथा जीवके मोह द्वारा दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यशक्तिका उत्साह उत्पन्न होता है, परन्तु अन्तरायके उदयसे हो नहीं सकता, तब परम आकुलता होती है सो यह दुःखरूप है ही। इसका उपाय यह करता है कि जो विघ्नके बाह्य कारण सूझते हैं उन्हें दूर करनेका उद्यम करता है परन्तु वह उपाय झूठा है। उपाय करने पर भी अन्तरायका उदय होनेसे विघ्न होता देखा जाता है। अन्तरायका क्षयोपशम होनेपर बिना उपाय भी विघ्न नहीं होता। इसलिये विघ्नोंका मूल कारण अन्तराय है। तथा जैसे कुत्तेको पुरुष द्वारा मारी हुई लाठी लगी, वहाँ वह कुत्ता लाठीसे वृथा ही द्वेष करता है। उसी प्रकार जीवको अन्तरायसे निमित्तभूत किये गये बाह्य चेतन-अचेतन द्रव्यों द्वारा विघ्न हुए, यह जीव उन बाह्य द्रव्योंसे वृथा द्वेष करता है। अन्य द्रव्य इसे विघ्न करना चाहें और इसके न हो; तथा अन्य द्रव्य विघ्न करना न चाहें और इसके हो जाये। इसलिये जाना जाता है कि अन्य द्रव्यका कुछ वश नहीं है; जिनका वश नहीं है उनसे किसलिये लड़ें? इसलिये यह उपाय झूठा है। तब सच्चा उपाय क्या है? मिथ्यादर्शनादिकसे इच्छा द्वारा जो उत्साह उत्पन्न होता था वह सम्यग्दर्शनादिसे दूर होता है और सम्यग्दर्शनादि द्वारा ही अन्तरायका अनुभाग घटे तब इच्छा तो मिट जाये और शक्ति बढ़ जाये, तब वह दुःख

दूर होकर निराकुल सुख उत्पन्न होता है इसलिये सम्यग्दर्शनादि ही सच्चा उपाय है।

[वेदनीय कर्मके उदयसे होनेवाला दुःख और उसके उपायोंका मिथ्यापना]

तथा वेदनीयके उदयसे दुःख-सुखके कारणोंका संयोग होता है। वहाँ कई तो शरीरमें ही अवस्थाएँ होती हैं; कई शरीरकी अवस्थाको निमित्तभूत वाह्य संयोग होते हैं और कई वाह्य ही वस्तुओंके संयोग होते हैं। वहाँ असाताके उदयसे शरीरमें तो क्षुधा, तृषा, उच्छ्वास, पीड़ा, रोग इत्यादि होते हैं, तथा शरीरकी अनिष्ट अवस्थाको निमित्त-भूत वाह्य अति शीत, उष्ण, पवन, वंधनादिकका संयोग होता है। तथा वाह्य शत्रु, कुपुत्रादिक व कुवर्णादिक सहित स्कन्धोंका संयोग होता है; सो मोह द्वारा इनमें अनिष्ट वुद्धि होती है। जब इनका उदय हो तब मोहका उदय ऐसा ही आवे जिससे परिणामोंमें महाव्याकुल होकर इन्हें दूर करना चाहे, और जब तक वे दूर न हों तब तक दुःखी रहता है। इनके होनेसे तो सभी दुःख मानते हैं।

तथा साताके उदयसे शरीरमें आरोग्यवानपना, वलवानपना इत्यादि होते हैं और शरीरकी इष्ट अवस्थाको निमित्तभूत वाह्य खान-पानादिक तथा सुहावने पवनादिकका संयोग होता है। तथा वाह्य मित्र, सुपुत्र, स्त्री, किंकर, हाथी, घोड़ा, धन, धान्य, मकान, वस्त्रादिकका संयोग होता है और मोह द्वारा इनमें इष्टवुद्धि होती है। जव इनका उदय हो तव मोहका उदय ऐसा ही आये कि जिससे परिणामोंमें सुख माने; उनकी रक्षा चाहे; जव तक रहें तव तक सुख माने। सो यह सुख मानना ऐसा है जैसे कोई अनेक रोगोंसे वहुत पीड़ित होरहा था; उसके किसी उपचारसे किसी एक रोगकी कुछ कालके लिये कुछ उपशान्तता हुई; तव वह पूर्व अवस्थाकी अपेक्षा अपनेको सुखी कहता है; परमार्थसे सुख है नहीं। उस प्रकार यह जीव अनेक दुःखोंसे वहुत पीड़ित हो रहा था; उसके किसी प्रकारसे किसी एक दुःखकी कुछ कालके लिये कुछ उपशान्तता हुई; तव वह पूर्व अवस्थाकी अपेक्षा अपनेको सुखी कहता है; परमार्थसे सुख है नहीं।

तथा इसके असाताका उदय होनेपर जो हो उससे तो दुःख भासित होता है इसलिये उसे दूर करनेका उपाय करता है और साताके उदय होनेपर जो हो उससे सुख भासित होता है इसलिये उसे रखनेका उपाय करता है; परन्तु यह उपाय झूठा है। प्रथम तो इसके उपायके आधीन नहीं है, वेदनीय कर्मके उदयके आधीन है। असाताको मिटाने और साताको प्राप्त करनेके अर्थ तो सभीका यत्न रहता है, परन्तु किसीको थोड़ा

यत्न करने पर भी अथवा न करने पर भी सिद्धि हो जाये, किसीको बहुत यत्न करने पर भी सिद्धि नहीं हो; इसलिये जाना जाता है कि इसका उपाय इसके आधीन नहीं है। तथा कदाचित् उपाय भी करे और वैसा ही उदय आये तो थोड़े काल तक किंचित् किसी प्रकारकी असाताका कारण मिटै और साताका कारण हो, वहाँ भी मोहके सद्भावसे उनको भोगनेकी इच्छासे आकुलित होता है। एक भोग्य वस्तुको भोगनेकी इच्छा हो; जब तक वह नहीं मिलती तब तक तो उसकी इच्छासे आकुल होता है और वह मिली उसी समय अन्यको भोगनेकी इच्छा होजाती है, तब उससे आकुल होता है। जैसे किसीको स्वाद लेनेकी इच्छा हुई थी, उसका आस्वाद जिस समय हुआ उसी समय अन्य वस्तुका स्वाद लेनेकी तथा स्पर्शनादिकी इच्छा उत्पन्न होती है। अथवा एक ही वस्तुको पहले अन्य प्रकार भोगनेकी इच्छा हो, जब तक वह नहीं मिले तब तक उसकी आकुलता रहे और वह भोग हुआ उसी समय अन्य प्रकारसे भोगनेकी इच्छा हो जाती है। जैसे स्त्रीको देखना चाहता था, जिस समय अवलोकन हुआ उसी समय रमण करनेकी इच्छा होती है। तथा ऐसे भोग भोगते हुए ही उनके उपाय करनेकी आकुलता होती है तो उन्हें छोड़कर उपाय करनेमें लग जाता है; वहाँ अनेक प्रकारकी आकुलता होती है। देखो, एक धनका उपाय करनेमें व्यापारादिक करते हुए तथा उसकी रक्षा करनेमें सावधानी करते हुए कितनी आकुलता होती है? तथा क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, मल, श्लेष्मादि असाताका उदय आता ही रहे; उसके निराकरणसे सुख माने! सो काहेका सुख है? यह तो रोगका प्रतिकार है। जब तक क्षुधादिक रहें तब तक उनको मिटानेकी इच्छासे आकुलता होती है, वह मिटें तब कोई अन्य इच्छा उत्पन्न हो उसकी आकुलता होती है और फिर क्षुधादिक हों तब उनकी आकुलता हो आती है। इस प्रकार इसके उपाय करते हुए कदाचित् असाता मिटकर साता हो, वहाँ भी आकुलता बनी ही रहती है, इसलिये दुःख ही रहता है। तथा ऐसे भी रहना तो होता नहीं है, उपाय करते-करते ही अपनेको असाताका उदय ऐसा आये कि उसका कुछ उपाय बन नहीं सके और उसकी पीड़ा बहुत हो, सही न जाये; तब उसकी आकुलतासे विह्वल हो जाये, वहाँ महा दुःखी होता है। सो इस संसारमें साताका उदय तो किसी पुण्यके उदयसे किसीके कदाचित् ही पाया जाता है; बहुत जीवोंके बहुत काल असाताहीका उदय रहता है। इसलिये उपाय करता है वे झूठे हैं।

अथवा बाह्य सामग्रीसे सुख-दुःख मानते हैं सो ही भ्रम है। सुख-दुःख तो साता-असाताका उदय होनेपर मोहके निमित्तसे होते हैं—ऐसा प्रत्यक्ष देखनेमें आता है।

लक्ष धनके धनीको सहस्र धनका व्यय हुआ तब वह तो दुःखी है और शत धनके धनीको सहस्र धन हुआ तब वह सुख मानता है। बाह्य सामग्री तो उसके इससे निन्यानवेगुनी है। अथवा लक्ष धनके धनीको अधिक धनकी इच्छा है तो वह दुःखी है और शत धनके धनीको सन्तोष है तो वह सुखी है। तथा समान वस्तु मिलने पर कोई सुख मानता है कोई दुःख मानता है। जैसे—किसीको मोटे वस्त्रका मिलना दुःखकारी होता है, किसीको सुखकारी होता है। तथा शरीरमें क्षुधा आदि पीड़ा व बाह्य इष्टका वियोग, अनिष्टका संयोग होनेपर किसीको बहुत दुःख होता है किसीको थोड़ा होता है, किसीको नहीं होता। इसलिये सामग्रीके आधीन सुख-दुःख नहीं हैं, साता-असाताका उदय होनेपर मोह परिणमनके निमित्तसे ही सुख-दुःख मानते हैं।

यहाँ प्रश्न है कि—बाह्य सामग्रीका तो तुम कहते हो वैसा ही है; परन्तु शरीरमें तो पीड़ा होनेपर दुःखी होता ही है और पीड़ा न होनेपर सुखी होता है—यह तो शरीर-अवस्थाहीके आधीन सुख-दुःख भासित होते हैं ?

समाधानः—आत्माका तो ज्ञान इन्द्रियाधीन है और इन्द्रियाँ शरीरका अङ्ग हैं; इसलिये इसमें जो अवस्था हो उसे जाननेरूप ज्ञान परिणमित होता है; उसके साथ ही मोहभाव हो उससे शरीरकी अवस्था द्वारा सुखदुःखविशेष जाना जाता है। तथा पुत्र धनादिकसे अधिक मोह हो तो अपने शरीरका कष्ट सहे उसका थोड़ा दुःख माने, और उनको दुःख होनेपर अथवा उनका संयोग मिटने पर बहुत दुःख माने; और मुनि हैं वे शरीरकी पीड़ा होनेपर भी कुछ दुःख नहीं मानते; इसलिये सुख-दुःखका मानना तो मोहहीके आधीन है। मोहके और वेदनीयके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसलिये साता-असाताके उदयसे सुख-दुःखका होन भासित होता है। तथा मुख्यतः कितनी ही सामग्री साताके उदयसे होती है, कितनी ही असाताके उदयसे होती है; इसलिये साम-ग्रियोंसे सुख-दुःख भासित होते हैं। परन्तु निर्धार करने पर मोहहीसे सुख-दुःखका मानना होता है, औरोंके द्वारा सुख-दुःख होनेका नियम नहीं है। केवलीके साता-असाताका उदय भी है और सुख-दुःखके कारण सामग्रीका संयोग भी है, परन्तु मोहके अभावसे किंचित्मात्र भी सुख-दुःख नहीं होता। इसलिये सुख-दुःखको मोहजनित ही मानना। इसलिये तू सामग्रीको दूर करनेका या होनेका उपाय करके दुःख मिटाना चाहे, और सुखी होना चाहे सो यह उपाय झूठा है। तो सच्चा उपाय क्या है ?

सम्यग्दर्शनादिकसे भ्रम दूर हो तब सामग्रीसे सुख-दुःख भासित नहीं होता, अपने परिणामहीसे भासित होता है। तथा यथार्थ विचारके अभ्यास द्वारा अपने

परिणाम जैसे सामग्रीके निमित्तसे सुखी-दुःखी न हों वैसे साधन करे तथा सम्यग्दर्शनादिकी भावनासेही मोह मंद हो जाये तव ऐसी दशा हो जाये कि अनेक कारण मिलने पर भी अपनेको सुख-दुःख नहीं होता, तव एक शांतदशारूप निराकुल होकर सच्चे सुखका अनुभव करता है, और तव सर्व दुःख मिटकर सुखी होता है—यह सच्चा उपाय है।

[आयुकर्मके उदयसे होनेवाला दुःख और उसके उपायोंका मिथ्यापना]

तथा आयुकर्मके निमित्तसे पर्यायका धारण करना सो जीवितव्य है और पर्यायका छूटना सो मरण है। यह जीव मिथ्यादर्शनादिकसे पर्यायहीको अपनेरूप अनुभव करता है; इसलिये जीवितव्य रहने पर अपना अस्तित्व मानता है और मरण होने पर अपना अभाव होना मानता है। इसी कारणसे इसे सदाकाल मरणका भय रहता है; उस भयसे सदा आकुलता रहती है। जिनको मरणका कारण जाने उनसे बहुत डरता है; कदाचित् उनका संयोग बने तो महाविह्वल होजाता है।—इस प्रकार महा दुःखी रहता है। उसका उपाय यह करता है कि मरणके कारणोंको दूर रखता है अथवा स्वयं उनसे भागता है। तथा औषधादिकका साधन करता है; किला, कोट आदि बनाता है;—इत्यादि उपाय करता है सो ये उपाय झूठे हैं, क्योंकि आयु पूर्ण होने पर तो अनेक उपाय करे, अनेक सहायक हों तथापि मरण हो ही जाता है, एक समयमात्र भी जीवित नहीं रहता। और जब तक आयु पूर्ण न हो तब तक अनेक कारण मिलो सर्वथा मरण नहीं होता; इसलिये उपाय करनेसे मरण मिटता नहीं है। तथा आयुकी स्थिति पूर्ण होती ही है, इसलिये मरण भी होता ही है। इसका उपाय करना झूठा ही है। तो सच्चा उपाय क्या है ?

सम्यग्दर्शनादिकसे पर्यायमें अहंबुद्धि छूट जाये, स्वयं अनादिनिधन चैतन्यद्रव्य है उसमें अहंबुद्धि आये, पर्यायको स्वांग समान जाने तव मरणका भय नहीं रहता। तथा सम्यग्दर्शनादिकसे ही सिद्धपद प्राप्त करे तव मरणका अभाव ही होता है। इसलिये सम्यग्दर्शनादिक ही सच्चे उपाय हैं।

[नामकर्मके उदयसे होनेवाला दुःख और उसके उपायोंका मिथ्यापना]

तथा नामकर्मके उदयसे गति, जाति, शरीरादिक उत्पन्न होते हैं। उनमेंसे जो पुण्यके उदयसे होते हैं वे तो सुखके कारण होते हैं और जो पापके उदयसे होते हैं वे दुःखके कारण होते हैं; सो यहाँ सुख मानना भ्रम है। तथा यह दुःखके कारण मिटानेका और सुखके कारण होनेका उपाय करता है वह झूठा है; सच्चा उपाय सम्यग्दर्शनादिक हैं।

जैसा निरूपण वेदनीयका कथन करते हुए किया वैसा यहाँ भी जानना। वेदनीय और नाममें सुख-दुःखके कारणपनेकी समानतासे निरूपणकी समानता जानना।

[गोत्रकर्मके उदयसे होनेवाला दुःख और उसके उपायोंका मिथ्यापना]

तथा गोत्रकर्मके उदयसे उच्च-नीच कुलमें उत्पन्न होता है। वहाँ उच्च कुलमें उत्पन्न होने पर अपनेको ऊँचा मानता है और नीच कुलमें उत्पन्न होने पर अपनेको नीचा मानता है। वहाँ, कुल पलटनेका उपाय तो इसको भासित नहीं होता इसलिये जैसा कुल प्राप्त किया उसीमें अपनापन मानता है। परन्तु कुलकी अपेक्षा ऊँचा-नीचा मानना भ्रम है। कोई उच्च कुलवाला निंद्य कार्य करे तो वह नीचा हो जाये और नीच कुलमें कोई श्लाघ्य कार्य करे तो वह ऊँचा हो जाये। लोभादिकसे उच्च कुलवाले नीच कुलवालेकी सेवा करने लग जाते हैं। तथा कुल कितने काल रहता है? पर्याय छूटने पर कुलकी बदली होजाती है; इसलिये उच्च-नीच कुलसे अपनेको ऊँचा-नीचा मानने पर उच्च कुल वालेको नीचा होनेके भयका और नीच कुलवालेको प्राप्त किये हुए नीचेपनका दुःख ही है। इसका सच्चा उपाय यही है कि—सम्यग्दर्शनादिक द्वारा उच्च-नीच कुलमें हर्ष-विषाद न माने। तथा उन्हींसे जिसकी फिर बदली नहीं होती ऐसा सबसे ऊँचा सिद्धपद प्राप्त करता है तब सब दुःख मिट जाते हैं और सुखी होता है।

इस प्रकार कर्मोदयकी अपेक्षा मिथ्यादर्शनादिकके निमित्तसे संसारमें दुःख ही दुःख पाया जाता है उसका वर्णन किया।

अब, इसी दुःखका पर्याय अपेक्षासे वर्णन करते हैं—

[एकेन्द्रिय जीवोंके दुःख]

इस संसारमें बहुत काल तो एकेन्द्रिय पर्यायमें ही बीतता है। इसलिये अनादिहीसे तो नित्यनिगोदमें रहना होता है; फिर वहाँसे निकलना ऐसा है जैसे भाड़में भुंजते हुए चनेका उचट जाना। इस प्रकार वहाँसे निकलकर अन्य पर्याय धारण करे तो त्रसमें तो बहुत थोड़े ही काल रहता है; एकेन्द्रियमें ही बहुत काल व्यतीत करता है। वहाँ इतर निगोदमें बहुत काल रहना होता है तथा कितने काल तक पृथ्वी, अप, तेज, वायु और प्रत्येक वनस्पतिमें रहना होता है। नित्यनिगोदसे निकलकर बादमें त्रसमें रहनेका उत्कृष्ट काल तो साधिक दो हजार सागर ही है तथा एकेन्द्रियमें रहनेका उत्कृष्ट काल असंख्यात पुद्गल परावर्तन मात्र है और पुद्गल परावर्तनका काल ऐसा है जिसके अनंतवें

भागमें भी अनन्त सागर होते हैं। इसलिये इस संसारीके मुख्यतः एकेन्द्रिय पर्यायमें ही काल व्यतीत होता है। वहाँ एकेन्द्रियके ज्ञान-दर्शनकी शक्ति तो किंचित्मात्र ही रहती है। एक स्पर्शन इन्द्रियके निमित्तसे हुआ मतिज्ञान और उसके निमित्तसे हुआ श्रुतज्ञान तथा स्पर्शनइन्द्रियजनित अचक्षुदर्शन जिनके द्वारा शीत-उष्णादिकको किंचित् जानते-देखते हैं। ज्ञानावरण-दर्शनावरणके तीव्र उदयसे इससे अधिक ज्ञान-दर्शन नहीं पाये जाते और विषयोंकी इच्छा पायी जाती है जिससे महा दुःखी हैं। तथा दर्शनमोहके उदयसे मिथ्यादर्शन होता है उससे पर्यायका ही अपनेरूप श्रद्धान करते हैं, अन्य विचार करनेकी शक्ति ही नहीं है।

तथा चारित्रमोहके उदयसे तीव्र क्रोधादि-कषायरूप परिणमित होते हैं, क्योंकि उनके केवलीभगवानने कृष्ण, नील, कापोत यह तीन अशुभ लेश्या ही कही हैं और वे तीव्र कषाय होने पर ही होती हैं। वहाँ कषाय तो बहुत है और शक्ति सर्वप्रकारसे महा हीन है इसलिये बहुत दुःखी हो रहे हैं, कुछ उपाय नहीं कर सकते।

यहाँ कोई कहे कि—ज्ञान तो किंचित्मात्र ही रहा है, फिर वे क्या कषाय करते हैं?

समाधानः—ऐसा कोई नियम तो है नहीं कि जितना ज्ञान हो उतना ही कषाय हो। ज्ञान तो जितना क्षयोपशम हो उतना होता है। जैसे किसी अंधे—बहरे पुरुषको ज्ञान थोड़ा होने पर भी बहुत कषाय होता दिखाई देता है, उसी प्रकार एकेन्द्रियके ज्ञान थोड़ा होने पर भी बहुत कषायका होना माना गया है। तथा बाह्य कषाय प्रगट तब होती है जब कषायके अनुसार कुछ उपाय करे, परन्तु वे शक्तिहीन हैं इसलिये उपाय कुछ कर नहीं सकते, इससे उनकी कषाय प्रगट नहीं होती। जैसे कोई पुरुष शक्तिहीन है उसको किसी कारणसे तीव्र कषाय हो, परन्तु कुछ कर नहीं सकता, इसलिये उसकी कषाय बाह्यमें प्रगट नहीं होती, वही अति दुःखी होता है; उसी प्रकार एकेन्द्रिय जीव शक्तिहीन हैं; उनको किसी कारणसे कषाय होती है परन्तु कुछ कर नहीं सकते, इसलिये उनकी कषाय बाह्यमें प्रगट नहीं होती, वे स्वयं ही दुःखी होते हैं। तथा ऐसा जानना कि जहाँ कषाय बहुत हो और शक्तिहीन हो वहाँ बहुत दुःख होता है और ज्यों-ज्यों कषाय कम होती जाये तथा शक्ति बढ़ती जाये त्यों-त्यों दुःख कम होता है। परन्तु एकेन्द्रियोंके कषाय बहुत और शक्ति हीन इसलिये एकेन्द्रिय जीव महा दुःखी हैं। उनके दुःख वे ही भोगते हैं और केवली जानते हैं। जैसे—सन्निपातके रोगीका

ज्ञान कम हो जाये और वाह्य शक्तिकी हीनतासे अपना दुःख प्रगट भी न कर सके, परन्तु वह महादुःखी है। उसी प्रकार एकेन्द्रियका ज्ञान तो थोड़ा है और वाह्य शक्ति-हीनताके कारण अपना दुःख प्रगट भी नहीं कर सकता, परन्तु महादुःखी है।

तथा अंतरायके तीव्र उदयसे चाहा हुआ वहुत नहीं होता, इसलिये भी दुःखी ही होते हैं।

तथा अघाति कर्मोंमें विशेषरूपसे पापप्रकृतियोंका उदय है, वहाँ असाता-वेदनीयका उदय होनें पर उसके निमित्तसे महादुःखी होते हैं। वनस्पति है सो पवनसे टूटती है, शीत-उष्णतासे सूख जाती है, जल न मिलने से सूख जाती है, अग्निसे जल जाती है, उसको कोई छेदता है, भेदता है, मसलता है, खाता है, तोड़ता है इत्यादि अवस्था होती है। उसीप्रकार यथासम्भव पृथ्वी आदिमें अवस्थाएँ होती है। उन अवस्थाओंके होनेसे वे महा दुःखी होते हैं। जिसप्रकार मनुष्यके शरीरमें ऐसी अवस्था होने पर दुःख होता है उसी प्रकार उनके होता है। क्योंकि इनका जानपना स्पर्शन इन्द्रियसे होता है और उनके स्पर्शनइन्द्रिय है ही, उसके द्वारा उन्हें जानकर मोहके वशसे महाव्याकुल होते हैं परन्तु भागनेकी, लड़नेकी, या पुकारनेकी शक्ति नहीं है इसलिये अज्ञानी लोग उनके दुःखको नहीं जानते। तथा कदाचित् किंचित् साताका उदय होता है, परन्तु वह वलवान नहीं होता।

तथा आयुकर्मसे इन एकेन्द्रिय जीवोंमें जो अपर्याप्त हैं उनके तो पर्यायकी स्थिति उच्छ्वासके अठारहवें भाग मात्र ही है, और पर्याप्तोंकी अंतर्मुहूर्त आदि कितने ही वर्ष पर्यंत है। वहाँ आयु थोड़ा होनेसे जन्म-मरण होते ही रहते हैं उससे दुःखी हैं।

तथा नामकर्ममें तिर्यंचगति आदि पापप्रकृतियोंका ही उदय विशेषरूपसे पाया जाता है। किसी हीन पुण्य प्रकृतिका उदय हो उसका वलवानपना नहीं होता इसलिये उनसे भी मोहके वशसे दुःखी होते हैं।

तथा गोत्रकर्ममें नीच गोत्रहीका उदय है इसलिये महंतता नहीं होती, इसलिये भी दुःखी ही हैं।—इसप्रकार एकेन्द्रिय जीव महा दुःखी हैं और इस संसार में जैसे पाषाण आधार पर तो वहुत काल रहता है, निराधार आकाशमें तो कदाचित् किंचित्मात्र काल रहता है; उसीप्रकार जीव एकेन्द्रिय पर्यायमें वहुत काल रहता है, अन्य

पर्यायोंमें तो कदाचित् किंचित्मात्र काल रहता है; इसलिये यह जीव संसारमें महा दुःखी है।

[द्वीन्द्रियादिक जीवोंके दुःख]

तथा जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यायोंको धारण करे वहाँ भी एकेन्द्रियवत् दुःख जानना। विशेष इतना कि—यहाँ क्रमसे एक-एक इन्द्रियजनित ज्ञान-दर्शनकी तथा कुछ शक्तिकी अधिकता हुई है और बोलने-चालनेकी शक्ति हुई है। वहाँ भी जो अपर्याप्त हैं तथा पर्याप्त भी हीनशक्तिके धारक हैं; छोटे जीव हैं, उनकी शक्ति प्रगट नहीं होती। तथा कितने ही पर्याप्त बहुत शक्तिके धारक बड़े जीव हैं उनकी शक्ति प्रगट होती है; इसलिये वे जीव विषयोंका उपाय करते हैं, दुःख दूर होनेका उपाय करते हैं। क्रोधादिकसे काटना, मारना, लड़ना, छल करना, अन्नादिका संग्रह करना, भागना इत्यादि कार्य करते हैं। दुःखसे तड़फड़ाना, पुकारना इत्यादि क्रिया करते हैं; इसलिये उनका दुःख कुछ प्रगट भी होता है। इस प्रकार लट, कीड़ी आदि जीवोंको शीत, उष्ण, छेदन, भेदनादिकसे तथा भूख-प्यास आदिसे परम दुःखी देखते हैं। जो प्रत्यक्ष दिखायी देता है उसका विचार कर लेना। यहाँ विशेष क्या लिखें? इस प्रकार द्वीन्द्रियादिक जीवोंको भी महा दुःखी ही जानना।

[नरकगतिके दुःख]

तथा संज्ञी पंचेन्द्रियोंमें नारकी जीव हैं वे तो सर्वप्रकारसे बहुत दुःखी हैं। उनमें ज्ञानादिकी शक्ति कुछ है, परन्तु विषयोंकी इच्छा बहुत है और इष्ट विषयोंकी सामग्री किंचित् भी नहीं मिलती, इसलिये उस शक्तिके होनेसे भी बहुत दुःखी हैं। उनके क्रोधादि कषायकी अति तीव्रता पायी जाती है, क्योंकि उनके कृष्णादि अशुभ लेश्या ही हैं। वहाँ क्रोध-मानसे परस्पर दुःख देनेका कार्य निरंतर पाया जाता है। यदि परस्पर मित्रता करें तो दुःख मिट जाये। और अन्यको दुःख देनेसे उनका कुछ कार्य भी नहीं होता, परन्तु क्रोध-मानकी अति तीव्रता पायी जाती है उससे परस्पर दुःख देनेकी ही बुद्धि रहती है। विक्रिया द्वारा अन्यको दुःखदायक शरीरके अंग बनाते हैं तथा शस्त्रादि बनाते हैं। उनके द्वारा दूसरोंको स्वयं पीड़ा देते हैं और स्वयंको कोई और पीड़ा देता है। कभी कषाय उपशान्त नहीं होती। तथा उनमें माया-लोभकी भी अति तीव्रता है, परन्तु कोई इष्ट सामग्री वहाँ दिखायी नहीं देती; इसलिये उन कषायोंका कार्य प्रगट नहीं कर सकते; उनसे

अंतरंगमें महादुःखी हैं। तथा कदाचित् किंचित् कोई प्रयोजन पाकर उनका भी कार्य होता है। तथा हास्य-रति कषाय हैं, परन्तु बाह्य निमित्त नहीं है इसलिये प्रगट होते नहीं हैं, कदाचित् किंचित् किसी कारणसे होते हैं। तथा अरति-शोक-भय-जुगुप्साके बाह्य कारण बन रहे हैं इसलिये वे कषायें तीव्र प्रगट होती हैं। तथा वेदोंमें नपुंसकवेद है, सो इच्छा तो बहुत और स्त्री-पुरुषोंसे रमण करनेका निमित्त नहीं है इसलिये महा पीड़ित हैं। इस प्रकार कषायों द्वारा अति दुःखी हैं। तथा वेदनीयमें असाता ही का उदय है उससे वहाँ अनेक वेदनाओंके निमित्त हैं। शरीरमें कुष्ठ, कास, श्वासादि अनेक रोग युगपत् पाये जाते हैं और क्षुधा, तृषा ऐसी है कि सर्वका भक्षण-पान करना चाहते हैं, और वहाँकी मिट्टी ही का भोजन मिलता है; वह मिट्टी भी ऐसी है कि यदि यहाँ आजाये तो उसकी दुर्गंधसे कई कोसोंके मनुष्य मर जायें। और वहाँ शीत-उष्णता ऐसी है कि यदि लाख योजनका लोहेका गोला हो तो वह भी उनसे भस्म होजाये। कहीं शीत है कहीं उष्णता है। तथा पृथ्वी वहाँ शस्त्रोंसे भी महा तीक्ष्ण कंटकों सहित है। उस पृथ्वीमें जो वन हैं वे शस्त्रकी धार समान पत्रादि सहित हैं। नदी ऐसे जल युक्त है कि जिसका स्पर्श होनेपर शरीर खण्ड-खण्ड होजाये। पवन ऐसा प्रचण्ड है कि उससे शरीर दग्ध हो जाता है। तथा नारकी एक-दूसरेको अनेक प्रकारसे पीड़ा देते हैं, घानीमें पेलते हैं खण्ड-खण्ड कर डालते हैं, हंडियोंमें राँधते हैं, कोड़े मारते हैं, तप्त लोहादिकका स्पर्श कराते हैं—इत्यादि वेदना उत्पन्न करते हैं। तीसरी पृथ्वी तक असुरकुमार देव जाते हैं। वे स्वयं पीड़ा देते हैं और परस्पर लड़ाते हैं। ऐसी वेदना होने पर भी शरीर छूटता नहीं है, पारेकी भाँति खंड-खंड हो जाने पर भी मिल जाता है;—ऐसी महा पीड़ा है। तथा साताका निमित्त तो कुछ है नहीं। किसी अंशमें कदाचित् किसीको अपनी मान्यतासे किसी कारण अपेक्षा साताका उदय होता है तो वह बलवान नहीं होता। आयु वहाँ बहुत है। जघन्य आयु दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर है। इतने काल तक वहाँ ऐसे दुःख सहना पड़ते हैं। वहाँ नामकर्मकी सर्व पापप्रकृतियोंका ही उदय है, एक भी पुण्यप्रकृतिका उदय नहीं है; उनसे महादुःखी हैं। तथा गोत्रमें नीच गोत्रका ही उदय है उससे महन्तता नहीं होती इसलिये दुःखी ही हैं।—इस प्रकार नरकगतिमें महा दुःख जानना।

[तिर्यंचगतिके दुःख]

तथा तिर्यञ्चगतिमें बहुत लब्धि-अपर्याप्त जीव हैं। उनकी तो उच्छ्वासके अठारहवें भाग-मात्र आयु है। तथा कितने ही पर्याप्त भी छोटे जीव हैं; परन्तु उनकी शक्ति

प्रगट भासित नहीं होती। उनके दुःख एकेन्द्रियवत् जानना; ज्ञानादिकका विशेष है सो विशेष जानना। तथा बड़े पर्याप्त जीव कितने ही सम्मूर्च्छन हैं कितने ही गर्भज हैं। उनमें ज्ञानादिक प्रगट होता है, परन्तु वे विषयोंकी इच्छासे आकुलित हैं। उनमें बहुतोंको तो इष्ट विषयकी प्राप्ति है नहीं; किसीको कदाचित् किंचित् होती है।

तथा मिथ्यात्वभावसे अतत्वश्रद्धानी हो ही रहे हैं और कषाय मुख्यतः तीव्र ही पायी जाती हैं। क्रोध-मानसे परस्पर लड़ते हैं, भक्षण करते हैं, दुःख देते हैं; माया-लोभसे छल करते हैं, वस्तुको चाहते हैं, हास्यादिक द्वारा उन कषायोंके कार्योंमें प्रवर्तते हैं। तथा किसीके कदाचित् मंदकषाय होती है परन्तु थोड़े जीवोंके होती है इसलिये मुख्यता नहीं है।

तथा वेदनीयमें मुख्यतः असाताका उदय है, उससे रोग, पीड़ा, क्षुधा, तृषा, छेदन, भेदन, बहुत भार-वहन, शीत, उष्ण, अंग भंगादि अवस्था होती है उससे दुःखी होते प्रत्यक्ष देखे जाते हैं; इसलिये बहुत नहीं कहा है। किसीके कदाचित् किंचित् साताका भी उदय होता है परन्तु थोड़े ही जीवोंको है, मुख्यता नहीं है। तथा आयु अन्तर्मुहूर्तसे लेकर कोटि वर्ष पर्यंत है। वहाँ बहुत जीव अल्प आयुके धारक होते हैं, इसलिये जन्म-मरणका दुःख पाते हैं। तथा भोगभूमियोंकी बड़ी आयु है और उनके साताका भी उदय है परन्तु वे जीव थोड़े हैं। तथा मुख्यतः तो नामकर्मकी तिर्यंचगति आदि पापप्रकृतियोंका ही उदय है। किसीको कदाचित् किन्हीं पुण्यप्रकृतियोंका भी उदय होता है, परन्तु थोड़े जीवोंको थोड़ा होता है, मुख्यता नहीं है। तथा गोत्रमें नीच गोत्रका ही उदय है इसलिये हीन हो रहे हैं।—इस प्रकार तिर्यंचगतिमें महादुःख जानना।

[मनुष्यगतिके दुःख]

तथा मनुष्यगतिमें असंख्यात जीव तो लब्धिअपर्याप्त हैं वे सम्मूर्च्छन ही हैं, उनकी आयु तो उच्छ्वासके अठारहवें भाग मात्र है। तथा कितने ही जीव गर्भमें आकर थोड़े ही कालमें मरण पाते हैं, उनकी तो शक्ति प्रगट भासित नहीं होती; उनके दुःख एकेन्द्रियवत् जानना। विशेष है सो विशेष जानना। तथा गर्भजोंके कुछ काल गर्भमें रहनेके बाद बाहर निकलना होता है। उनके दुःखका वर्णन कर्म अपेक्षासे पहले वर्णन किया है वैसे जानना। वह सर्व वर्णन गर्भज मनुष्योंके सम्भव है। अथवा तिर्यंचोंका वर्णन किया है उस प्रकार जानना। विशेष यह है कि—यहाँ कोई शक्ति विशेष पायी

जाती है तथा राजादिकोंके विशेष साताका उदय होता है तथा क्षत्रियादिकोंको उच्च गोत्रका भी उदय होता है। तथा धन-कुटुम्बादिकका निमित्त विशेष पाया जाता है— इत्यादि विशेष जानना। अथवा गर्भ आदि अवस्थाओंके दुःख प्रत्यक्ष भासित होते हैं। जिस प्रकार विष्टामें लट उत्पन्न होती है उसी प्रकार गर्भमें शुक्र-शोणितके विन्दुको अपने शरीररूप करके जीव उत्पन्न होता है। वादमें वहाँ क्रमशः ज्ञानादिककी तथा शरीरकी वृद्धि होती है। गर्भका दुःख वहुत है। संकुचित रूपसे औंधे मुँह क्षुधा-तृषादि सहित वहाँ काल पूर्ण करता है। जव वाहर निकलता है तव वाल्यावस्थामें महा दुःख होता है। कोई कहते हैं कि वाल्यावस्थामें दुःख थोड़ा है; सो ऐसा नहीं है, किन्तु शक्ति थोड़ी होनेसे व्यक्त नहीं हो सकता। वादमें व्यापारादिक तथा विषय-इच्छा आदि दुःखोंकी प्रगटता होती है। इष्ट-अनिष्टजनित आकुलता वनी ही रहती है। पश्चात् जव वृद्ध हो तव शक्तिहीन हो जाता है और तव परम दुःखी होता है। ये दुःख प्रत्यक्ष होते देखे जाते हैं। हम वहुत क्या कहें? प्रत्यक्ष जिसे भासित नहीं होते वह कहे हुए कैसे सुनेगा? किसीके कदाचित् किंचित् साताका उदय होता है सो आकुलतामय है। और तीर्थंकरादि पद मोक्षमार्ग प्राप्त किये विना होते नहीं हैं।—इस प्रकार मनुष्य पर्यायमें दुःख ही हैं; एक मनुष्य पर्यायमें कोई अपना भला होनेका उपाय करे तो हो सकता है। जैसे—काने गन्नेकी जड़ व उसका ऊपरी फीका भाग तो चूसने योग्य ही नहीं है, और वीचकी पोरें कानी होनेसे वे भी नहीं चूसी जाती। कोई स्वादका लोभी उन्हें विगाड़े तो विगाड़ो, परन्तु यदि उन्हें वो दे तो उनसे वहुतसे गन्ने हों, और उनका स्वाद वहुत मीठा आये। उसी प्रकार मनुष्य-पर्यायका वालक-वृद्धपना तो सुखयोग्य नहीं हैं; और वीचकी अवस्था रोग-क्लेशादिसे युक्त है, वहाँ सुख हो नहीं सकता; कोई विषयसुखका लोभी उसे विगाड़े तो विगाड़ो, परन्तु यदि उसे धर्म साधनमें लगाये तो वहुत उच्चपदको पाये, वहाँ सुख वहुत निराकुल पाया जाता है। इसलिये यहाँ अपना हित साधना, सुख होनेके भ्रमसे वृथा नहीं खोना।

[देवगतिके दुःख]

तथा देवपर्यायमें ज्ञानादिककी शक्ति औरोंसे कुछ विशेष है, वे मिथ्यात्वसे अतत्त्वश्रद्धानी हो रहे हैं। तथा उनके कषाय कुछ मंद है। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्कोंके कषाय वहुत मंद नहीं है और उनका उपयोग चंचल वहुत है तथा कुछ शक्ति भी है सो कषायोंके कार्योंमें प्रवर्तते हैं; कौतूहल, विषयादि कार्योंमें लग रहे हैं और

उस आकुलतासे दुःखी ही हैं। तथा वैमानिकोंके ऊपर-ऊपर विशेष मंदकषाय है और शक्ति विशेष है इसलिये आकुलता घटनेसे दुःख भी घटता है। यहाँ देवोंके क्रोध-मान कषाय हैं, परन्तु कारण थोड़ा है इसलिये उनके कार्यकी गौणता है। किसीका बुरा करना तथा किसीको हीन करना इत्यादि कार्य निकृष्ट देवोंके तो कौतूहलादिसे होते हैं, परन्तु उत्कृष्ट देवोंके थोड़े होते हैं, मुख्यता नहीं है; तथा माया, लोभ कषायोंके कारण पाये जाते हैं इसलिये उनके कार्यकी मुख्यता है; इसलिये छल करना, विषय सामग्रीकी चाह करना इत्यादि कार्य विशेष होते हैं। वे भी ऊँचे-ऊँचे देवोंके कम हैं। तथा हास्य, रति कषायके कारण बहुत पाये जाते हैं, इसलिये इनके कार्योंकी मुख्यता है। तथा अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इनके कारण थोड़े हैं इसलिये इनके कार्योंकी गौणता है। तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेदका उदय है और रमण करनेका भी निमित्त है सो काम सेवन करते हैं। ये भी कषाय ऊपर-ऊपर मंद हैं। अहमिन्द्रोंके वेदोंकी मंदताके कारण कामसेवनका अभाव है।—इस प्रकार देवोंके कषायभाव है और कषायसे ही दुःख है। तथा इनके कषायें जितनी थोड़ी हैं उतना दुःख भी थोड़ा है, इसलिये औरोंकी अपेक्षा इन्हें सुखी कहते हैं। परमार्थसे कषायभाव जीवित है उससे दुःखी ही हैं। तथा वेदनीयमें साताका उदय बहुत है। वहाँ भवनत्रिकको थोड़ा है, वैमानिकोंके ऊपर-ऊपर विशेष है। इष्ट शरीरकी अवस्था, स्त्री, महल आदि सामग्रीका संयोग पाया जाता है। तथा कदाचित् किंचित् असाताका भी उदय किसी कारणसे होता है। वह निकृष्ट देवोंके कुछ प्रगट भी है, परन्तु उत्कृष्ट देवोंके विशेष प्रगट नहीं है। तथा आयु बड़ी है। जघन्य आयु दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट इकतीस सागर है। इससे अधिक आयुका धारी मोक्षमार्ग प्राप्त किये बिना नहीं होता। सो इतने काल तक विषय सुखमें मग्न रहते हैं। तथा नामकर्मकी देवगति आदि सर्व पुण्य प्रकृतियोंका ही उदय है इसलिये सुखका कारण है। और गोत्रमें उच्च गोत्रका ही उदय है इसलिये महन्त पदको प्राप्त हैं। इस प्रकार इनको पुण्यउदयकी विशेषतासे इष्ट सामग्री मिली है और कषायोंसे इच्छा पायी जाती है, इसलिये उसके भोगनेमें आसक्त हो रहे हैं। परन्तु इच्छा अधिक ही रहती है इसलिये सुखी नहीं होते। उच्च देवोंको उत्कृष्ट पुण्य उदय है, कषाय बहुत मंद है तथापि उनके भी इच्छाका अभाव नहीं होता, इसलिये परमार्थतः दुःखी ही हैं। इस प्रकार संसारमें सर्वत्र दुःख ही दुःख पाया जाता है।—इस प्रकार पर्याय अपेक्षासे दुःखका वर्णन किया।

[दुःखका सामान्य स्वरूप]

अब इस सर्व दुःखका सामान्यस्वरूप कहते हैं। दुःखका लक्षण आकुलता है

और आकुलता इच्छा होनेपर होती है। इस संसारी जीवके इच्छा अनेक प्रकार पायी जाती है। एक इच्छा तो विषय ग्रहणकी है, उससे यह देखना-जानना चाहता है। जैसे वर्ण देखनेकी, राग सुननेकी, अव्यक्तको जाननेकी इत्यादि इच्छा होती है। वहाँ अन्य कोई पीड़ा नहीं है परन्तु जब तक देखता-जानता नहीं है तब तक महा व्याकुल होता है। इसका नाम विषय है। तथा एक इच्छा कषायभावोंके अनुसार कार्य करनेकी है जिससे वह कार्य करना चाहता है। जैसे—बुरा करनेकी, हीन करनेकी, इत्यादि इच्छा होती है। यहाँ भी अन्य कोई पीड़ा नहीं है परन्तु जब तक वह कार्य न हो तब तक महा-व्याकुल होता है। इस इच्छाका नाम कषाय है। तथा एक इच्छा पापके उदयसे जो शरीरमें या बाह्य अनिष्ट कारण मिलते हैं उनको दूर करनेकी होती है। जैसे—रोग, पीड़ा, क्षुधा आदिका संयोग होनेपर उन्हें दूर करनेकी इच्छा होती है सो यहाँ यही पीड़ा मानता है, जब तक वह दूर न हो तब तक महा व्याकुल रहता है। इस इच्छाका नाम पापका उदय है। इस प्रकार इन तीन प्रकारकी इच्छा होनेपर सभी दुःख मानते हैं सो दुःख ही है।

तथा एक इच्छा बाह्य निमित्तसे बनती है, सो इन तीन प्रकारकी इच्छाओंके अनुसार प्रवर्तनेकी इच्छा होती है। इन तीन प्रकारकी इच्छाओंमें एक-एक प्रकारकी इच्छाके अनेक प्रकार हैं। वहाँ कितने ही प्रकारकी इच्छा पूर्ण होनेके कारण पुण्योदयसे मिलते हैं; परन्तु उनका साधन एकसाथ नहीं हो सकता; इसलिये एकको छोड़कर अन्यमें लगता है, फिर भी उसे छोड़कर अन्यमें लगता है। जैसे—किसीको अनेक प्रकारकी सामग्री मिली है। वहाँ वह किसीको देखता है, उसे छोड़कर राग सुनता है, फिर उसे छोड़कर किसीका बुरा करने लग जाता है, उसे छोड़कर भोजन करता है अथवा देखनेमें ही एकको देखकर अन्यको देखता है।—इसी प्रकार अनेक कार्योंकी प्रवृत्तिमें इच्छा होती है, सो इस इच्छाका नाम पुण्यका उदय है। इसे जगत सुख मानता है, परन्तु यह सुख है नहीं, दुःख ही है। क्योंकि—प्रथम तो सर्व प्रकारकी इच्छा पूर्ण होनेके कारण किसीके भी नहीं बनते। और किसी प्रकार इच्छा पूर्ण करनेके कारण बनें तो युगपत् उनका साधन नहीं होता। सो एकका साधन जब तक न हो तब तक उसकी आकुलता रहती है, और उसका साधन होनेपर उस ही समय अन्यके साधनकी इच्छा होती है तब उसकी आकुलता होती है। एक समय भी निराकुल नहीं रहता, इसलिये दुःख ही है। अथवा तीन प्रकारकी इच्छारूपी रोगको मिटानेका किंचित् उपाय

करता है, इसलिये किंचित् दुःख कम होता है, सर्व दुःखका तो नाश नहीं होता, इसलिये दुःख ही है।—इस प्रकार संसारी जीवोंको सर्व प्रकारसे दुःख ही है।

तथा यहाँ इतना जानना कि—तीन प्रकारकी इच्छासे सर्व जगत पीड़ित है और चौथी इच्छा तो पुण्यका उदय आने पर होती है, तथा पुण्यका बंध धर्मानुरागसे होता है, परन्तु धर्मानुरागमें जीव कम लगता है, जीव तो बहुत पाप क्रियाओंमें ही प्रवर्तता है। इसलिये चौथी इच्छा किसी जीवके किसी कालमें ही होती है। यहाँ इतना जानना कि—समान इच्छावान जीवोंकी अपेक्षा तो चौथी इच्छावालेके किंचित् तीन प्रकारकी इच्छाके घटनेसे सुख कहते हैं। तथा चौथी इच्छावालेकी अपेक्षा महान इच्छावाला चौथी इच्छा होनेपर भी दुःखी होता है। किसीके बहुत विभूति है और उसके इच्छा बहुत है तो वह बहुत आकुलतावान है; और जिसके थोड़ी विभूति है तथा उसके इच्छा भी थोड़ी है तो वह थोड़ा आकुलतावान है। अथवा किसीको अनिष्ट सामग्री मिली है और उसे उसको दूर करनेकी इच्छा थोड़ी है तो वह थोड़ा आकुलतावान है। तथा किसीको इष्ट सामग्री मिली है, परन्तु उसे उसको भोगनेकी तथा अन्य सामग्रीकी इच्छा बहुत है तो वह जीव बहुत आकुलतावान है। इसलिये सुखी-दुःखी होना इच्छाके अनुसार जानना, बाह्य कारणके आधीन नहीं है। नारकी दुःखी और देव सुखी कहे जाते हैं वह भी इच्छाकी ही अपेक्षा कहते हैं; क्योंकि नारकियोंको तीव्र कषायसे इच्छा बहुत है और देवोंके मन्दकषायसे इच्छा थोड़ी है। तथा मनुष्य, तिर्यंचोंको भी सुखी दुःखी इच्छा ही की अपेक्षा जानना। तीव्र कषायसे जिसके इच्छा बहुत है उसे दुःखी कहते हैं, मंद कषायसे जिसके इच्छा थोड़ी है उसे सुखी कहते हैं। परमार्थसे दुःख ही बहुत या थोड़ा है, सुख नहीं है। देवादिकोंको भी सुखी मानते हैं वह भ्रम ही है। उनके चौथी इच्छाकी मुख्यता है इसलिये आकुलित हैं।—इस प्रकार जो इच्छा होती है वह मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयमसे होती है। तथा इच्छा है सो आकुलतामय है और आकुलता है वह दुःख है। इस प्रकार सर्व संसारी जीव नाना दुःखोंसे पीड़ित ही हो रहे हैं।

[दुःख निवृत्तिका उपाय]

अब, जिन जीवोंको दुःखसे छूटना हो वे इच्छा दूर करनेका उपाय करो। तथा इच्छा दूर तब ही होती है जब मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयमका अभाव हो और सम्य-

ग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्राप्ति हो। इसलिये इसी कार्यका उद्यम करना योग्य है। ऐसा साधन करने पर जितनी-जितनी इच्छा मिटे उतना-उतना दुःख दूर होता जाता है और जव मोहके सर्वथा अभाव से सर्व इच्छाका अभाव हो तव सर्व दुःख मिटता है, सच्चा सुख प्रगट होता है। तथा ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तरायका अभाव हो तव इच्छाके कारणभूत क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शनका तथा शक्तिहीनपनेका भी अभाव होता है, अनंत ज्ञान-दर्शन-वीर्यकी प्राप्ति होती है। तथा कितने ही काल पश्चात् अघातिकर्मोका भी अभाव हो तव इच्छाके वाह्य कारणोंका भी अभाव होता है। क्योंकि मोह चले जानेके वाद किसी भी कालमें कोई इच्छा उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं थे, मोहके होने पर कारण थे, इसलिये कारण कहे हैं; उनका भी अभाव हुआ तव जीव सिद्धपदको प्राप्त होते हैं। वहाँ दुःखका तथा दुःखके कारणोंका सर्वथा अभाव होनेसे सदाकाल अनुपम, अखंडित, सर्वोत्कृष्ट आनन्द सहित अनन्तकाल विराजमान रहते हैं। वही वतलाते हैं—

[सिद्ध अवस्थामें दुःखके अभावकी सिद्धि]

ज्ञानावरण, दर्शनावरणका क्षयोपशम होनेपर तथा उदय होनेपर मोह द्वारा एक-एक विषयको देखने-जाननेकी इच्छासे महाव्याकुल होता था; अव मोहका अभाव होनेसे इच्छाका भी अभाव हुआ इसलिये दुःखका अभाव हुआ है। तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरणका क्षय होनेसे सर्व इन्द्रियोंको सर्व विषयोंका युगपत् ग्रहण हुआ, इसलिये दुःखका कारण भी दूर हुआ है वही दिखाते हैं। जैसे—नेत्र द्वारा एक विषयको देखना चाहता था, अव त्रिकालवर्ती त्रिलोकके सर्व वर्णोंको युगपत् देखता है, कोई विन देखा नहीं रहा जिसके देखनेकी इच्छा उत्पन्न हो। इसीप्रकार स्पर्शनादि द्वारा एक-एक विषयका ग्रहण करना चाहता था, अव त्रिकालवर्ती त्रिलोकके सर्व स्पर्श, रस, गन्ध तथा शब्दोंका युगपत् ग्रहण करता है, कोई विना ग्रहण किया नहीं रहा जिसका ग्रहण करनेकी इच्छा उत्पन्न हो।

यहाँ कोई कहे कि—शरीरादिक विना ग्रहण कैसे होगा ?

समाधान:—इन्द्रियज्ञान होनेपर तो द्रव्येन्द्रियों आदिके विना ग्रहण नहीं होता था। अव ऐसा स्वभाव प्रगट हुआ कि विना इन्द्रियोंके ही ग्रहण होता है। यहाँ कोई कहे कि—जैसे मनद्वारा स्पर्शादिकको जानते हैं उसी प्रकार जानना होता होगा, त्वचा, जिह्वा आदिसे ग्रहण होता है वैसे नहीं होता होगा; सो ऐसा नहीं है। क्योंकि मन द्वारा

तो स्मरणादि होनेपर अस्पष्ट जानना कुछ होता है। यहाँ तो जिसप्रकार त्वचा जिह्वा इत्यादिसे स्पर्श, रसादिकका स्पर्श करने पर, स्वाद लेने पर, सूँघने-देखने-सुनने पर जैसा स्पष्ट जानना होता है उससे भी अनन्तगुणा स्पष्ट जानना उनके होता है। विशेष इतना हुआ है कि—वहाँ इन्द्रियविषयका संयोग होने पर ही जानना होता था, यहाँ दूर रह-कर भी वैसा ही जानना होता है—यह शक्तिकी महिमा है। तथा मन द्वारा कुछ अतीत, अनागतको तथा अव्यक्तको जानना चाहता था, अब सर्व ही अनादिसे अनंतकाल पर्यन्त सर्व पदार्थोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंको युगपत् जानता है, कोई विना जाने नहीं रहा जिसको जाननेकी इच्छा उत्पन्न हो। इस प्रकार यह दुःख और दुःखोंके कारण उनका अभाव जानना। तथा मोहके उदयसे मिथ्यात्व और कपायभाव होते थे उनका सर्वथा अभाव हुआ इसलिये दुःखका अभाव हुआ; तथा इनके कारणोंका अभाव हुआ इसलिये दुःखके कारणोंका भी अभाव हुआ है। उन कारणोंका अभाव यहाँ दिखाते हैं—

सर्व तत्त्व यथार्थ प्रतिभासित होनेपर अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्व कैसे हो? कोई अनिष्ट नहीं रहा, निंदकस्वयमेव अनिष्टको प्राप्त होता ही है; स्वयं क्रोध किस पर करें? सिद्धोंसे ऊँचा कोई है नहीं। इन्द्रादिक स्वयमेव नमन करते हैं और इष्टको पाते हैं, किससे मान करें? सर्व भवितव्य भासित होगया, कार्य रहा नहीं, किसीसे प्रयोजन रहा नहीं है; किसका लोभ करें? कोई अन्य इष्ट रहा नहीं; किस कारणसे हास्य हो? कोई अन्य इष्ट प्रीति करने योग्य है नहीं; फिर कहाँ रति करें? कोई दुःखदायक संयोग रहा नहीं है; कहाँ अरति करें? कोई इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोग होता नहीं है; किसका शोक करें? कोई अनिष्ट करनेवाला कारण रहा नहीं है; किसका भय करें? सर्व वस्तुएँ अपने स्वभाव सहित भासित होती हैं, अपनेको अनिष्ट नहीं हैं; कहाँ जुगुप्सा करें? काम पीड़ा दूर होनेसे स्त्री-पुरुष दोनोंसे रमण करनेका कुछ प्रयोजन नहीं रहा; किस-लिये पुरुष, स्त्री या नपुंसकवेदरूप भाव हो?—इस प्रकार मोह उत्पन्न होनेके कारणों-का अभाव जानना। तथा अन्तरायके उदयसे शक्तिहीनपनेके कारण पूर्ण नहीं होती थी, अब उसका अभाव हुआ, इसलिये दुःखका अभाव हुआ। तथा अनन्तशक्ति प्रगट हुई इसलिये दुःखके कारणका भी अभाव हुआ।

यहाँ कोई कहे कि—दान, लाभ, भोग, उपभोग तो करते नहीं हैं; इनकी शक्ति कैसे प्रगट हुई?

समाधानः—ये कार्य रोगके उपचार थे; रोग ही नहीं है तब उपचार क्यों करें? इसलिये इन कार्योंका सद्भाव तो है नहीं और इन्हें रोकनेवाले कर्मोंका अभाव

हुआ, इसलिये शक्ति प्रगट हुई कहते हैं। जैसे—कोई गमन करना चाहता था। उसे किसीने रोका था तब दुःखी था और जब उसकी रोक दूर हुई तब जिस कार्यके अर्थ जाना चाहता था वह कार्य नहीं रहा इसलिये गमन भी नहीं किया। वहाँ उसके गमन न करने पर भी शक्ति प्रगट हुई कही जाती है; उसी प्रकार यहाँ भी जानना। तथा उनके ज्ञानादिकी शक्तिरूप अनन्तवीर्य प्रगट पाया जाता है।

तथा अघाति कर्मोंमें मोहसे पापप्रकृतियोंका उदय होनेपर दुःख मान रहा था, पुण्यप्रकृतियोंका उदय होनेपर सुख मान रहा था, परमार्थसे आकुलताके कारण सब दुःख ही था। अब मोहके नाशसे सर्व आकुलता दूर होने पर सर्व दुःखका नाश हुआ। तथा जिन कारणोंसे दुःख मान रहा था, वे कारण तो सर्व नष्ट हुए; और किन्हीं कारणोंसे किंचित् दुःख दूर होनेसे सुख मान रहा था सो अब मूलहीमें दुःख नहीं रहा, इसलिये उन दुःखके उपचारोंका कुछ प्रयोजन नहीं रहा कि उनसे कार्यकी सिद्धि करना चाहे। उसकी सिद्धि स्वयमेव ही होरही है। इसीका विशेष बतलाते हैं:—

वेदनायमें असाताके उदयसे दुःखके कारण शरीरमें रोग, क्षुधादिक होते थे। अब शरीर ही नहीं, तब कहाँ हो? तथा शरीरकी अनिष्ट अवस्थाको कारण आताप आदि थे, परन्तु अब शरीर बिना किसको कारण हो? तथा बाह्य अनिष्ट निमित्त बनते थे, परन्तु अब इनके अनिष्ट रहा ही नहीं। इस प्रकार दुःखके कारणोंका तो अभाव हुआ। तथा साताके उदयसे किंचित् दुःख मिटानेके कारण औषधि, भोजनादिक थे, उनका प्रयोजन नहीं रहा है, और इष्टकार्य पराधीन नहीं रहे हैं, इसलिये बाह्यमें भी मित्रादिकको इष्ट माननेका प्रयोजन नहीं रहा। इनके द्वारा दुःख मिटाना चाहता था और इष्ट करना चाहता था, सो अब तो सम्पूर्ण दुःख नष्ट हुआ और सम्पूर्ण इष्ट प्राप्त हुआ। तथा आयुके निमित्तसे जीवन-मरण था। वहाँ मरणसे दुःख मानता था, परन्तु अविनाशी पद प्राप्त कर लिया इसलिये दुःखका कारण नहीं रहा। तथा द्रव्यप्राणोंको धारण किये कितने ही काल तक जीने-मरनेसे सुख मानता था; वहाँ भी नरक पर्यायमें दुःखकी विशेषतासे वहाँ नहीं जीना चाहता था, परन्तु अब इस सिद्धपर्यायमें द्रव्यप्राणके बिना ही अपने चैतन्यप्राणसे सदाकाल जीता है और वहाँ दुःखका लवलेश भी नहीं रहा।

तथा नामकर्मसे अशुभ गति, जाति आदि होनेपर दुःख मानता था, परन्तु अब उन सबका अभाव हुआ; दुःख कहाँसे हो? तथा शुभगति, जाति आदि होनेपर किंचित् दुःख दूर होनेसे सुख मानता था, परन्तु अब उनके बिना ही सर्व दुःखका नाश

और सर्व सुखका प्रकाश पाया जाता है। इसलिये उनका भी कुछ प्रयोजन नहीं रहा। तथा गोत्रके निमित्तसे नीचकुल प्राप्त होनेपर दुःख मानता था; अब उसका अभाव होनेसे दुःखका कारण नहीं रहा। तथा उच्चकुल प्राप्त होनेपर सुख मानता था, परन्तु अब उच्चकुलके विना ही त्रैलोक्य पूज्य उच्चपदको प्राप्त है।—इस प्रकार सिद्धोंके सर्व कर्मोंका नाश होनेसे सर्व दुःखका नाश हो गया है।

दुःखका लक्षण तो आकुलता है, और आकुलता तभी होती है जब इच्छा हो; परन्तु इच्छाका तथा इच्छाके कारणोंका सर्वथा अभाव हुआ इसलिये निराकुल होकर सर्व दुःखरहित अनन्त सुखका अनुभव करता है क्योंकि निराकुलता ही सुखका लक्षण है। संसारमें भी किसी प्रकार निराकुल होकर सब ही सुख मानते हैं; जहाँ सर्वथा निराकुल हुआ वहाँ सुख सम्पूर्ण कैसे नहीं माना जाये ?—इस प्रकार सम्यग्दर्शनादि साधनसे सिद्धपद प्राप्त करने पर सर्व दुःखका अभाव होता है, सर्व सुख प्रगट होता है।

अब यहाँ उपदेश देते हैं कि—हे भव्य ! हे भाई ! तुझे जो संसारके दुःख बतलाए सो वे तुझपर बीतते हैं या नहीं—वह विचार। और तू जो उपाय करता है उन्हें झूठा बतलाया सो ऐसे ही हैं या नहीं वह विचार। तथा सिद्धपद प्राप्त होनेपर सुख होता या नहीं उसका भी विचार कर। जैसा कहा है वैसी ही प्रतीति तुझे आती हो तो तू संसारसे छूटकर सिद्धपद प्राप्त करनेका हम जो उपाय कहते हैं वह कर, विलम्ब मत कर। यह उपाय करनेसे तेरा कल्याण होगा।

इति मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्रमें संसार दुःख तथा मोक्षसुखका
निरूपक तृतीय अधिकार पूर्ण हुआ।

चौथा अधिकार

मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रका निरूपण

* दोहा *

इस भवके सब दुःखनिके, कारण मिथ्याभाव ।
तिनिकी सत्ता नाश करि, प्रगटै मोक्ष उपाव ।।

अब यहाँ संसार दुःखोंके बीजभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र हैं उनके स्वरूपका विशेष निरूपण करते हैं। जैसे वैद्य है सो रोगके कारणोंको विशेषरूपसे कहे तो रोगी कुपथ्य सेवन न करे, तब रोग रहित हो। उसी प्रकार यहाँ संसारके कारणोंका विशेष निरूपण करते हैं, जिससे संसारी मिथ्यात्वादिकका सेवन न करे, तब संसार रहित हो। इसलिये मिथ्यादर्शनादिकका विशेष निरूपण करते हैं:—

[मिथ्यादर्शनका स्वरूप]

यह जीव अनादिसे कर्म सम्बन्ध सहित है। उसको दर्शनमोहके उदयसे हुआ जो अतत्त्वश्रद्धान उसका नाम मिथ्यादर्शन है। क्योंकि तद्भाव सो तत्त्व, अर्थात् जो श्रद्धान करने योग्य अर्थ है उसका जो भाव—स्वरूप—उसका नाम तत्त्व है। तत्त्व नहीं उसका नाम अतत्त्व है। इसलिये अतत्त्व है वह असत्य है; अतः इसीका नाम मिथ्या है। तथा ऐसे ही यह है—ऐसा प्रतीतिभाव उसका नाम श्रद्धान है। यहाँ श्रद्धानहीका नाम दर्शन है। यद्यपि दर्शनका शब्दार्थ सामान्य अवलोकन है तथापि यहाँ प्रकरणवश इसी धातुका अर्थ श्रद्धान जानना।—ऐसा ही सर्वार्थसिद्धि नामक सूत्रकी टीकामें कहा है। क्योंकि सामान्य अवलोकन संसार-मोक्षका कारण नहीं होता; श्रद्धान ही संसार मोक्षका कारण है, इसलिये संसार-मोक्षके कारणमें दर्शनका अर्थ श्रद्धान ही जानना। तथा मिथ्यारूप जो दर्शन अर्थात् श्रद्धान, उसका नाम मिथ्यादर्शन है। जैसा वस्तुका स्वरूप

नहीं है वैसा मानना, जैसा है वैसा नहीं मानना, ऐसा विपरीताभिनिवेश अर्थात् विपरीत अभिप्राय, उसको लिये हुए मिथ्यादर्शन होता है।

यहाँ प्रश्न है कि—केवलज्ञानके विना सर्व पदार्थ यथार्थ भासित नहीं होते और यथार्थ भासित हुए विना यथार्थ श्रद्धान नहीं होता, तो फिर मिथ्यादर्शनका त्याग कैसे बने ?

समाधान:—पदार्थोंका जानना, न जानना, अन्यथा जानना तो ज्ञानावरणके अनुसार है; तथा जो प्रतीति होती है सो जानने पर ही होती है, विना जाने प्रतीति कैसे आये ? यह तो सत्य है, परन्तु जैसे (कोई) पुरुष है, वह जिनसे प्रयोजन नहीं है उन्हें अन्यथा जाने या यथार्थ जाने, तथा जैसा जानता है वैसा ही माने, तो उससे उसका कुछ भी विगाड़-सुधार नहीं है, उससे वह पागल या चतुर नाम नहीं पाता; तथा जिनसे प्रयोजन पाया जाता है उन्हें यदि अन्यथा जाने और वैसा ही माने तो विगाड़ होता है, इसलिये उसे पागल कहते हैं; तथा उनको यदि यथार्थ जाने और वैसा ही माने तो सुधार होता है इसलिये उसे चतुर कहते हैं। उसी प्रकार जीव है वह जिनसे प्रयोजन नहीं है उन्हें अन्यथा जाने या यथार्थ जाने, तथा जैसा जाने वैसा श्रद्धान करे, तो इसका कुछ भी विगाड़-सुधार नहीं है; उससे मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि नाम प्राप्त नहीं करता; तथा जिनसे प्रयोजन पाया जाता है उन्हें यदि अन्यथा जाने और वैसा ही श्रद्धान करे तो विगाड़ होता है, इसलिये उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं; तथा यदि उन्हें यथार्थ जाने और वैसा ही श्रद्धान करे तो सुधार होता है, इसलिये उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। यहाँ इतना जानना कि—अप्रयोजनभूत अथवा प्रयोजनभूत पदार्थोंका न जानना या यथार्थ-अयथार्थ जानना हो उसमें ज्ञानकी हीनाधिकता होना इतना जीवका विगाड़-सुधार है और उसका निमित्त तो ज्ञानावरण कर्म है। परन्तु वहाँ प्रयोजनभूत पदार्थोंका अन्यथा या यथार्थ श्रद्धान करनेसे जीवका कुछ और भी विगाड़-सुधार होता है, इसलिये उसका निमित्त दर्शनमोह नामक कर्म है।

यहाँ कोई कहे कि जैसा जाने वैसा श्रद्धान करे, इसलिये ज्ञानावरणहीके अनुसार श्रद्धान भासित होता है, यहाँ दर्शनमोहका विशेष निमित्त कैसे भासित होता है ?

समाधान:—प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान करने योग्य ज्ञानावरणका क्षयोपशम तो सर्व संज्ञी पंचेन्द्रियोंके हुआ है। परन्तु द्रव्यलिंगी मुनि ग्यारह अङ्ग तक पढ़ते हैं तथा ग्रैवेयकके देव अवधिज्ञानादियुक्त हैं, उनके ज्ञानावरणका क्षयोपशम बहुत

होनेपर भी प्रयोजनभूत जीवादिकका श्रद्धान नहीं होता और तिर्यंचादिकको ज्ञानावरणका क्षयोपशम थोड़ा होनेपर भी प्रयोजनभूत जीवादिकका श्रद्धान होता है, इसलिये जाना जाता है कि ज्ञानावरणके ही अनुसार श्रद्धान नहीं होता। कोई अन्य कर्म है और वह दर्शनमोह है। उसके उदयसे जीवके मिथ्यादर्शन होता है तब प्रयोजनभूत जीवादितत्त्वोंका अन्यथा श्रद्धान करता है।

[प्रयोजन-अप्रयोजनभूत पदार्थ]

यहाँ कोई पूछे कि—प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत पदार्थ कौन हैं ?

समाधानः—इस जीवको प्रयोजन तो एक यही है कि दुःख न हो और सुख हो। किसी जीवके अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं है। तथा दुःखका न होना, सुखका होना एक ही है, क्योंकि दुःखका अभाव वही सुख है और इस प्रयोजनकी सिद्धि जीवादिकका सत्यश्रद्धान करनेसे होती है। कैसे ? सो कहते हैं:—

प्रथम तो दुःख दूर करनेमें अपना और परका ज्ञान अवश्य होना चाहिये। यदि अपना और परका ज्ञान नहीं हो तो अपनेको पहिचाने बिना अपना दुःख कैसे दूर करे ? अथवा अपनेको और परको एक जानकर अपना दुःख दूर करनेके अर्थ परका उपचार करे तो अपना दुःख दूर कैसे हो ? अथवा आप (स्व) और पर भिन्न हैं, परन्तु यह परमें अहंकार-ममकार करे तो उससे दुःख ही होता है। अपना और परका ज्ञान होनेपर ही दुःख दूर होता है। तथा अपना और परका ज्ञान जीव-अजीवका ज्ञान होनेपर ही होता है, क्योंकि आप स्वयं जीव है, शरीरादिक अजीव हैं। यदि लक्षणादि द्वारा जीव-अजीवकी पहिचान हो तो अपनी और परकी भिन्नता भासित हो; इसलिये जीव-अजीवको जानना। अथवा जीव-अजीवका ज्ञान होनेपर, जिन पदार्थोंके अन्यथा श्रद्धानसे दुःख होता था उनका यथार्थ ज्ञान होनेसे दुःख दूर होता है, इसलिये जीव-अजीवको जानना। तथा दुःखका कारण तो कर्म बन्धन है और उसका कारण मिथ्यात्वादिक आस्रव हैं; यदि इनको न पहिचाने, इनको दुःखका मूल कारण न जाने तो इनका अभाव कैसे करे ? और इनका अभाव नहीं करे तो कर्म बन्धन कैसे नहीं हो ? इसलिये दुःख ही होता है। अथवा मिथ्यात्वादिक भाव हैं सो दुःखमय हैं। यदि उन्हें ज्योंका त्यों नहीं जाने तो उनका अभाव नहीं करे, तब दुःखी ही रहे; इसलिये आस्रवको जानना।

तथा समस्त दुःखका कारण कर्म बन्धन है; यदि उसे न जाने तो उससे मुक्त होनेका उपाय नहीं करे, तब उसके निमित्तसे दुःखी हो, इसलिये बन्धको जानना। तथा

आस्रवका अभाव करना सो संवर है। उसका स्वरूप न जाने तो उसमें प्रवर्तन नहीं करे, तब आस्रव ही रहे, उससे वर्तमान तथा आगामी दुःख ही होता है; इसलिये संवरको जानना। तथा कथंचित् किंचित् कर्मबन्धका अभाव करना उसका नाम निर्जरा है। यदि उसे न जाने तो उसकी प्रवृत्तिका उद्यमी नहीं हो; तब सर्वथा बन्ध ही रहे, जिससे दुःख ही होता है; इसलिये निर्जराको जानना। तथा सर्वथा सर्व कर्मबन्धका अभाव होना उसका नाम मोक्ष है। यदि उसे नहीं पहिचाने तो उसका उपाय नहीं करे, तब संसारमें कर्मबन्धसे उत्पन्न दुःखोंको ही सहे; इसलिये मोक्षको जानना।—इस प्रकार जीवादि सात तत्त्व जानना। तथा शास्त्रादि द्वारा कदाचित् उन्हें जाने, परन्तु ऐसे ही हैं ऐसी प्रतीति न आयी तो जाननेसे क्या हो? इसलिये उनका श्रद्धान करना कार्यकारी है। ऐसे जीवादि तत्त्वोंका सत्य श्रद्धान करने पर ही दुःख होनेका अभावरूप प्रयोजनकी सिद्धि होती है। इसलिये जीवादिक पदार्थ हैं वे ही प्रयोजनभूत जानना। तथा इनके विशेष भेद पुण्य-पापादिरूप हैं उनका भी श्रद्धान प्रयोजनभूत है क्योंकि सामान्यसे विशेष बलवान है। इस प्रकार यह पदार्थ तो प्रयोजनभूत हैं इसलिये इनका यथार्थ श्रद्धान करने पर तो दुःख नहीं होता, सुख होता है और इनका यथार्थ श्रद्धान किए बिना दुःख होता है, सुख नहीं होता। तथा इनके अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं वे अप्रयोजनभूत हैं, क्योंकि उनका यथार्थ श्रद्धान करो या मत करो उनका श्रद्धान कुछ सुख-दुःखका कारण नहीं है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि—पहले जीव-अजीव पदार्थ कहे उनमें तो सभी पदार्थ आगये; उनके सिवा अन्य पदार्थ कौन रहे जिन्हें अप्रयोजनभूत कहा है?

समाधानः—पदार्थ तो सब जीव-अजीवमें गर्भित हैं, परन्तु उन जीव-अजीवोंके विशेष बहुत हैं। उनमेंसे जिन विशेषों सहित जीव-अजीवका यथार्थ श्रद्धान करनेसे स्व-परका श्रद्धान हो, रागादिक दूर करनेका श्रद्धान हो, उनसे सुख उत्पन्न हो तथा अयथार्थ श्रद्धान करनेसे स्व-परका श्रद्धान नहीं हो, रागादिक दूर करनेका श्रद्धान नहीं हो, इसलिये दुःख उत्पन्न हो, उन विशेषों सहित जीव-अजीव पदार्थ तो प्रयोजनभूत जानना। तथा जिन विशेषों सहित जीव-अजीवका यथार्थ श्रद्धान करने या न करनेसे स्व-परका श्रद्धान हो या न हो, तथा रागादिक दूर करनेका श्रद्धान हो या न हो,—कोई नियम नहीं है, उन विशेषों सहित जीव-अजीव पदार्थ अप्रयोजनभूत जानना। जैसे—जीव और शरीरका चैतन्य, मूर्तत्वादि विशेषोंसे श्रद्धान करना तो प्रयोजनभूत है, और मनुष्यादि पर्यायोंका तथा घट-पटादिका अवस्था, आकारादि विशेषोंसे श्रद्धान करना अप्रयोजनभूत

हैं। इसी प्रकार अन्य जानना। इस प्रकार कहे गये जो प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्व उनके अयथार्थ श्रद्धानका नाम मिथ्यादर्शन जानना।

अब, संसारी जीवोंके मिथ्यादर्शनकी प्रवृत्ति कैसे पायी जाती है सो कहते हैं। यहाँ वर्णन तो श्रद्धानका करना है, परन्तु जानेगा तो श्रद्धान करेगा, इसलिये जाननेकी मुख्यतासे वर्णन करते हैं।

[मिथ्यादर्शनकी प्रवृत्ति]

अनादिकालसे जीव है वह कर्मके निमित्तसे अनेक पर्यायें धारण करता है। वहाँ पूर्व पर्यायको छोड़ता है, नवीन पर्याय धारण करता है। तथा वह पर्याय एक तो स्वयं आत्मा और अनन्त पुद्गलपरमाणुमय शरीर उनके एक पिण्ड बन्धानरूप है। तथा जीवको उस पर्यायमें, यह मैं हूँ—ऐसी अहंबुद्धि होती है। तथा स्वयं जीव है, उसका स्वभाव तो ज्ञानादिक है और विभाव क्रोधादिक हैं और पुद्गल परमाणुओंके वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि स्वभाव हैं—उन सबको अपना स्वरूप मानता है। ये मेरे हैं—इस प्रकार उनमें ममत्वबुद्धि होती है। तथा स्वयं जीव है, उसके ज्ञानादिककी तथा क्रोधादिककी अधिकता–हीनतारूप अवस्था होती है और पुद्गल परमाणुओंकी वर्णादि पलटनेरूप अवस्था होती है उन सबको अपनी अवस्था मानता है। यह मेरी अवस्था है—ऐसी ममत्वबुद्धि करता है। तथा जीव और शरीरके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसलिये जो क्रिया होती है उसे अपनी मानता है। अपना दर्शनज्ञान स्वभाव है, उसकी प्रवृत्तिको निमित्तमात्र शरीरके अंगरूप स्पर्शनादि द्रव्य इन्द्रियाँ हैं; यह उन्हें एक मानकर ऐसा मानता है कि—हाथ आदिसे मैंने स्पर्श किया, जीभसे स्वाद लिया, नासिकासे सूंघा, नेत्रसे देखा, कानोंसे सुना। मनोवर्गणारूप आठ पंखुड़ियोंके फूले कमलके आकारका हृदय स्थानमें द्रव्यमन है, वह दृष्टिगम्य नहीं ऐसा है, सो शरीरका अंग है; उसके निमित्त होनेपर स्मरणादिरूप ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। यह द्रव्यमनको और ज्ञानको एक मानकर ऐसा मानता है कि मैंने मनसे जाना। तथा अपनेको बोलनेकी इच्छा होती है तब अपने प्रदेशोंको जिस प्रकार बोलना बने उस प्रकार हिलाता है, तब एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धके कारण शरीरके अंग भी हिलते हैं। उनके निमित्तसे भाषावर्गणारूप पुद्गल वचनरूप परिणमित होते हैं; यह सबको एक मानकर ऐसा मानता है कि मैं बोलता हूँ। तथा अपनेको गमनादि क्रियाकी या वस्तु ग्रहणादिककी इच्छा होती है तब अपने प्रदेशोंको जैसे कार्य बने वैसे हिलाता है। वहाँ एक क्षेत्रावगाहके कारण शरीरके अंग

हिलते हैं तब वह कार्य बनता है; अथवा अपनी इच्छाके बिना शरीर हिलता है तब अपने प्रदेश भी हिलते हैं; यह सबको एक मानकर ऐसा मानता है कि मैं गमनादि कार्य करता हूँ, मैं वस्तुका ग्रहण करता हूँ अथवा मैंने किया है—इत्यादिरूप मानता है। तथा जीवके कषायभाव हों तब शरीरकी चेष्टा उनके अनुसार हो जाती है। जैसे—क्रोधादिक होनेपर लाल नेत्रादि हो जाते हैं, हास्यादि होनेपर मुखादि प्रफुल्लित हो जाते हैं, पुरुषवेदादि होनेपर लिंगकाठिन्यादि हो जाते हैं; यह सब एक मानकर ऐसा मानता है कि यह कार्य सब मैं करता हूँ। तथा शरीरमें शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा, रोग इत्यादि अवस्थाएँ होती हैं; उनके निमित्तसे मोहभाव द्वारा स्वयं सुख-दुःख मानता है; इन सबको एक जानकर शीतादिक तथा सुख-दुःख अपनेको ही हुए मानता है। तथा शरीरके परमाणुओंका मिलना-बिछुड़ना आदि होनेसे अथवा उनकी अवस्था पलटनेसे या शरीर स्कन्धके खण्ड आदि होनेसे स्थूल–कृशादिक, बाल-वृद्धादिक अथवा अंगहीनादिक होते हैं और उसके अनुसार अपने प्रदेशोंका संकोच-विस्तार होता है; यह सबको एक मानकर मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं बालक हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मेरे इन अंगोंका भंग हुआ है इत्यादिरूप मानता है। तथा शरीरकी अपेक्षा गति-कुलादिक होते हैं उन्हें अपना मानकर मैं मनुष्य हूँ, मैं तिर्यंच हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ इत्यादिरूप मानता है। तथा शरीरका संयोग होने और छूटनेकी अपेक्षा जन्म-मरण होता है; उसे अपना जन्म-मरण मानकर मैं उत्पन्न हुआ, मैं मरूँगा ऐसा मानता है। तथा शरीरहीकी अपेक्षा अन्य वस्तुओंसे नाता मानता है। जिनके द्वारा शरीरकी उत्पत्ति हुई उन्हें अपने माता-पिता मानता है; जो शरीरको रमण कराये उसे अपनी रमणी मानता है, जो शरीरसे उत्पन्न हुआ उसे अपना पुत्र मानता है; जो शरीरको उपकारी हो उसे मित्र मानता है; जो शरीरका बुरा करे उसे शत्रु मानता है—इत्यादिरूप मान्यता होती है। अधिक क्या कहें, जिस-तिस प्रकारसे अपनेको और शरीरको एक ही मानता है। इन्द्रियादिकके नाम तो यहाँ कहे हैं, परन्तु इसे तो कुछ गम्य नहीं है। अचेत हुआ पर्यायमें अहंबुद्धि धारण करता है। उसका कारण क्या है? वह बतलाते हैं:—

इस आत्माको अनादिसे इन्द्रियज्ञान है; उससे स्वयं अमूर्तिक है वह तो भासित नहीं होता, परन्तु शरीर मूर्तिक है वही भासित होता है। और आत्मा किसीको आपरूप जानकर अहंबुद्धि धारण करे ही करे, सो जब स्वयं पृथक् भासित नहीं हुआ तब उनके समुदायरूप पर्यायमें ही अहंबुद्धि धारण करता है। तथा अपनेको और शरीरको निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बहुत है इसलिये भिन्नता भासित नहीं होती। और जिस

विचार द्वारा भिन्नता भासित होती है वह मिथ्यादर्शनके जोरसे हो नहीं सकता, इसलिये पर्यायमें ही अहंबुद्धि पायी जाती है। तथा मिथ्यादर्शनसे यह जीव कदाचित् बाह्य-सामग्रीका संयोग होनेपर उसे भी अपनी मानता है। पुत्र, स्त्री, धन, धान्य, हाथी, घोड़े, महल, किंकर आदि प्रत्यक्ष अपनेसे भिन्न और सदाकाल अपने आधीन नहीं ऐसे स्वयंको भासित होते हैं, तथापि उनमें ममकार करता है। पुत्रादिकमें 'ये हैं सो मैं ही हूँ' ऐसी भी कदाचित् भ्रमबुद्धि होता है। तथा मिथ्यादर्शनसे शरीरादिकका स्वरूप अन्यथा ही भासित होता है। अनित्यको नित्य मानता है, भिन्नको अभिन्न मानता है, दुःखके कारणको सुखका कारण मानता है, दुःखको सुख मानता है इत्यादि विपरीत भासित होता है। इस प्रकार जीव-अजीव तत्त्वोंका अयथार्थ ज्ञान होनेपर अयथार्थ श्रद्धान होता है।

तथा इस जीवको मोहके उदयसे मिथ्यात्व-कषायादिभाव होते हैं, उनको अपना स्वभाव मानता है, कर्मोपाधिसे हुए नहीं जानता। दर्शन-ज्ञान उपयोग और ये आस्रवभाव उनको एक मानता है; क्योंकि इनका आधारभूत तो एक आत्मा है और इनका परिणमन एक ही कालमें होता है, इसलिये इसे भिन्नपना भासित नहीं होता और भिन्नपना भासित होनेका कारण जो विचार है सो मिथ्यादर्शनके बलसे हो नहीं सकता। तथा ये मिथ्यात्व कषायभाव आकुलता सहित हैं इसलिये वर्तमान दुःखमय हैं और कर्मबन्धके कारण हैं इसलिये आगामी कालमें दुःख उत्पन्न करेंगे—ऐसा उन्हें नहीं मानता और भला जान इन भावोंरूप होकर स्वयं प्रवर्तता है। तथा वह दुःखी तो अपने इन मिथ्यात्व कषायभावोंसे होता है और वृथा ही औरोंको दुःख उत्पन्न करनेवाले मानता है। जैसे—दुःखी तो मिथ्याश्रद्धानसे होता है, परन्तु अपने श्रद्धानके अनुसार जो पदार्थ न प्रवर्ते उसे दुःखदायक मानता है। तथा दुःखी तो क्रोधसे होता है, परन्तु जिससे क्रोध किया हो उसको दुःखदायक मानता है। दुःखी तो लोभसे होता है, परन्तु इष्ट वस्तुकी अप्राप्तिको दुःखदायक मानता है;—इसी प्रकार अन्यत्र जानना। तथा इन भावोंका जैसा फल आता है वैसा भासित नहीं होता। इनकी तीव्रतासे नरकादि होते हैं तथा मन्दतासे स्वर्गादि होते हैं, वहाँ अधिक-कम आकुलता होती है। ऐसा भासित नहीं होता है इसलिये वे बुरे नहीं लगते। कारण यह है कि—वे अपने किये भासित होते हैं इसलिये उनको बुरे कैसे माने?—इस प्रकार आस्रवतत्त्वका अयथार्थ ज्ञान होनेपर अयथार्थ श्रद्धान होता है।

तथा इन आस्रवभावोंसे ज्ञानावरणादि कर्मोंका बन्ध होता है। उनका उदय होनेपर ज्ञान-दर्शनकी हीनता होना, मिथ्यात्वकषायरूप परिणमन होना, चाहा हुआ न होना, सुख-दुःखका कारण मिलना, शरीरसंयोग रहना, गति-जाति-शरीरादिका उत्पन्न होना, नीच-उच्च कुलका पाना होता है। इनके होनेमें मूल कारण कर्म है, उसे यह पहिचानता नहीं है, क्योंकि वह सूक्ष्म है, इसे दिखायी नहीं देता, तथा वह इसको इन कार्योंका कर्त्ता दिखायी नहीं देता, इसलिये इनके होनेमें या तो अपनेको कर्त्ता मानता है या किसी औरको कर्ता मानता है। तथा अपना या अन्यका कर्त्तापना भासित न हो तो मूढ़ होकर भवितव्यको मानता है।—इस प्रकार बन्धतत्त्वका अयथार्थ ज्ञान होनेपर अयथार्थ श्रद्धान होता है।

तथा आस्रवका अभाव होना सो संवर है। जो आस्रवको यथार्थ नहीं पहिचाने उसे संवरका यथार्थ श्रद्धान कैसे हो? जैसे—किसीके अहितरूप आचरण है; उसे वह अहितरूप भासित न हो तो उसके अभावको हितरूप कैसे माने? जैसे—जीवको आस्रवकी प्रवृत्ति है; इसे वह अहितरूप भासित न हो तो उसके अभावरूप संवरको कैसे हितरूप माने? तथा अनादिसे इस जीवको आस्रवभाव ही हुआ है, संवर कभी नहीं हुआ, इसलिये संवरका होना भासित नहीं होता। संवर होनेपर सुख होता है वह भासित नहीं होता। संवरसे आगामी कालमें दुःख नहीं होगा वह भासित नहीं होता। इसलिये आस्रवका तो संवर करता नहीं है और उन अन्य पदार्थोंको दुःखदायक मानता है; उन्हींके न होनेका उपाय किया करता है; परन्तु वे अपने आधीन नहीं हैं। वृथा ही खेदखिन्न होता है। इस प्रकार संवरतत्त्वका अयथार्थ ज्ञान होनेपर अयथार्थ श्रद्धान होता है।

तथा बन्धका एकदेश अभाव होना सो निर्जरा है। जो बन्धको यथार्थ नहीं पहिचाने उसे निर्जराका यथार्थ श्रद्धान कैसे हो? जैसे—भक्षण किये हुए विष आदिकसे दुःखका होना न जाने तो उसे नष्ट करनेके उपायको कैसे भला जाने? उसी प्रकार बन्धनरूप किये कर्मोंसे दुःख होना न जाने तो उनकी निर्जराके उपायको कैसे भला जाने? तथा इस जीवको इन्द्रियोंद्वारा सूक्ष्मरूप जो कर्म उनका तो ज्ञान होता नहीं है और उनमें दुःखोंके कारणभूत शक्ति है उसका भी ज्ञान नहीं है; इसलिये अन्य पदार्थोंके ही निमित्तको दुःखदायक जानकर उनका ही अभाव करनेका उपाय करता है परन्तु वे अपने आधीन नहीं हैं। तथा कदाचित् दुःख दूर करनेके निमित्त कोई इष्ट संयोगादि

कार्य बनता है तो वह भी कर्मके अनुसार बनता है, इसलिये उनका उपाय करके वृथा ही खेद करता है।—इस प्रकार निर्जरातत्त्वका अयथार्थ ज्ञान होनेपर अयथार्थ श्रद्धान होता है।

तथा सर्व कर्मबन्धके अभावका नाम मोक्ष है। जो बन्धको तथा बन्धजनित सर्व दुःखोंको नहीं पहिचाने उसको मोक्षका यथार्थ श्रद्धान कैसे हो? जैसे—किसीको रोग है; वह उस रोगको तथा रोगजनित दुःखको न जाने तो सर्वथा रोगके अभावको कैसे भला जाने? उसी प्रकार इसके कर्मबन्धन है, यह उस बन्धनको तथा बन्धजनित दुःखको न जाने तो सर्वथा बन्धके अभावको कैसे भला जाने? तथा इस जीवको कर्मोंका और उनकी शक्तिका तो ज्ञान है नहीं, इसलिये बाह्यपदार्थोंको दुःखका कारण जानकर उनका सर्वथा अभाव करनेका उपाय करता है। तथा यह तो जानता है कि—सर्वथा दुःख दूर होनेका कारण इष्ट सामग्रियोंको जुटाकर सर्वथा सुखी होना है, परन्तु ऐसा कदापि नहीं हो सकता। यह वृथा ही खेद करता है।—इस प्रकार मिथ्यादर्शनसे मोक्षतत्त्वका अयथार्थ ज्ञान होनेसे अयथार्थ श्रद्धान है। इस प्रकार यह जीव मिथ्यादर्शनके कारण जीवादि सात तत्त्वोंका जो कि प्रयोजनभूत हैं उनका अयथार्थ श्रद्धान करता है। तथा पुण्य-पाप हैं सो इन्हींके विशेष हैं और इन पुण्य-पापकी एक जाति है, तथापि मिथ्यादर्शनसे पुण्यको भला जानता है, पापको बुरा जानता है। पुण्यसे अपनी इच्छानुसार किंचित् कार्य बने, उसको भला जानता है और पापसे इच्छानुसार कार्य नहीं बने उसको बुरा जानता है; परन्तु दोनों ही आकुलताके कारण हैं इसलिये बुरे ही हैं। तथा यह अपनी मान्यतासे वहाँ सुख-दुःख मानता है। परमार्थसे जहाँ आकुलता है वहाँ दुःख ही है; इसलिये पुण्य-पापके उदयको भला-बुरा जानना भ्रम ही है। तथा कितने ही जीव कदाचित् पुण्य-पापके कारण जो शुभ-अशुभभाव उन्हें भला-बुरा जानते हैं वह भी भ्रम ही है; क्योंकि दोनों ही कर्मबन्धनके कारण हैं।—इस प्रकार पुण्य-पापका अयथार्थ ज्ञान होनेपर अयथार्थ श्रद्धान होता है। इस प्रकार अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यादर्शनका स्वरूप कहा। यह असत्यरूप है इसलिये इसीका नाम मिथ्यात्व है और यह सत्य श्रद्धानसे रहित है इसलिये इसीका नाम अदर्शन है।

[मिथ्याज्ञानका स्वरूप]

अब मिथ्याज्ञानका स्वरूप कहते हैं—प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंको अयथार्थ जाननेका नाम मिथ्याज्ञान है। उसके द्वारा उनको जाननेमें संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय होता है। वहाँ, "ऐसे है कि ऐसे है?"—इस प्रकार परस्पर विरुद्धता सहित दो रूप

ज्ञान उसका नाम संशय है। जैसे—"मैं आत्मा हूँ कि शरीर हूँ?"—ऐसा जानना। तथा "ऐसे ही है", इस प्रकार वस्तुस्वरूपसे विरुद्धता सहित एकरूप ज्ञान उसका नाम विपर्यय है। जैसे—"मैं शरीर हूँ"—ऐसा जानना। तथा "कुछ है," ऐसा निर्धाररहित विचार उसका नाम अनध्यवसाय है। जैसे—"मैं कोई हूँ"—ऐसा जानना। इस प्रकार प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंमें संशय, विपर्यय, अनध्यवसायरूप जो जानना हो उसका नाम मिथ्याज्ञान है। तथा अप्रयोजनभूत पदार्थोंको यथार्थ जाने या अयथार्थ जाने उसकी अपेक्षा मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञान नाम नहीं है। जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि रस्सोको रस्सी जाने तो सम्यग्ज्ञान नाम नहीं होता, और सम्यग्दृष्टि रस्सीको सांप जाने तो मिथ्याज्ञान नाम नहीं होता।

यहाँ प्रश्न है कि—प्रत्यक्ष सच्चे-झूठे ज्ञानको सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान कैसे न कहें?

समाधानः—जहाँ जाननेहीका-सच-झूठका निर्धार करनेका—प्रयोजन हो वहाँ तो कोई पदार्थ है उसके सच–झूठ जाननेकी अपेक्षा ही सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान नाम दिया जाता है। जैसे—प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणके वर्णनमें कोई पदार्थ होता है; उसके सच्चे जाननेरूप सम्यग्ज्ञानका ग्रहण किया है और संशयादिरूप जाननेको अप्रमाणरूप मिथ्याज्ञान कहा है। तथा यहाँ संसार-मोक्षके कारणभूत सच-झूठ जाननेका निर्धार करना है, वहाँ रस्सी, सर्पादिकका यथार्थ या अन्यथा ज्ञान संसार-मोक्षका कारण नहीं है, इसलिये उनकी अपेक्षा यहाँ सम्यग्ज्ञान–मिथ्याज्ञान नहीं कहे हैं। यहाँ तो प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्वोंके ही जाननेकी अपेक्षा सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान कहे हैं। इसी अभिप्रायसे सिद्धान्तमें मिथ्यादृष्टिके तो सर्व जाननेको मिथ्याज्ञान ही कहा और सम्यग्दृष्टिके सर्व जाननेको सम्यग्ज्ञान कहा।

यहाँ प्रश्न है कि—मिथ्यादृष्टिको जीवादि तत्त्वोंका अयथार्थ जानना है, उसे मिथ्याज्ञान कहो; परन्तु रस्सी, सर्पादिकके यथार्थ जाननेको तो सम्यग्ज्ञान कहो?

समाधानः—मिथ्यादृष्टि जानता है, वहाँ उसको सत्ता-असत्ताका विशेष नहीं है; इसलिये कारणविपर्यय व स्वरूपविपर्यय व भेदाभेदविपर्ययको उत्पन्न करता है। वहाँ जिसे जानता है, उसके मूलकारणको नहीं पहिचानता, अन्यथा कारण मानता है, वह तो कारणविपर्यय है। तथा जिसे जानता है उसके मूलवस्तुत्वरूप स्वरूपको नहीं पहिचानता, अन्यथास्वरूप मानता है, वह स्वरूपविपर्यय है। तथा जिसे जानता है उसे यह इनसे भिन्न है, इनसे अभिन्न है—ऐसा नहीं पहिचानता, अन्यथा भिन्न-अभिन्नपना

मानता है सो भेदाभेदविपर्यय है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टिके जाननेमें विपरीतता पायी जाती है। जैसे मतवाला माताको पत्नी मानता है, पत्नीको माता मानता है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टिके अन्यथा जानना होता है। तथा जैसे किसी कालमें मतवाला माताको माता और पत्नीको पत्नी भी जाने तो भी उसके निश्चयरूप निर्धारसे श्रद्धान सहित जानना नहीं होता; इसलिये उसको यथार्थ ज्ञान नहीं कहा जाता। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि किसी कालमें किसी पदार्थको सत्यभी जाने, तो भी उसके निश्चयरूप निर्धारसे श्रद्धान सहित जानना नहीं होता। अथवा सत्य भी जाने, परन्तु उनसे अपना प्रयोजन अयथार्थ ही साधता है, इसलिये उसके सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जाता। इस प्रकार मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहते हैं।

यहाँ प्रश्न है कि—इस मिथ्याज्ञानका कारण कौन है?

समाधानः—मोहके उदयसे जो मिथ्यात्वभाव होता है सम्यक्त्व नहीं होता, वह इस मिथ्याज्ञानका कारण है। जैसे विषके संयोगसे भोजनको भी विषरूप कहते हैं वैसे मिथ्यात्वके सम्बन्धसे ज्ञान है सो मिथ्याज्ञान नाम पाता है।

यहाँ कोई कहे कि—ज्ञानावरणका निमित्त क्यों नहीं कहते?

समाधानः—ज्ञानावरणके उदयसे तो ज्ञानके अभावरूप अज्ञानभाव होता है तथा उसके क्षयोपशमसे किंचित् ज्ञानरूप मति-आदिज्ञान होते हैं। यदि इनमेंसे किसीको मिथ्याज्ञान किसीको सम्यग्ज्ञान कहें तो यह दोनों ही भाव मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्दृष्टिके पाये जाते हैं, इसलिये उन दोनोंके मिथ्याज्ञान तथा सम्यग्ज्ञानका सद्भाव हो जायेगा और वह सिद्धान्तसे विरुद्ध होता है, इसलिये ज्ञानावरणका निमित्त नहीं बनता।

यहाँ फिर पूछते हैं कि—रस्सी, सर्पादिकके अयथार्थ-यथार्थ ज्ञानका कारण कौन है? उसहीको जीवादि तत्त्वोंके अयथार्थ-यथार्थ ज्ञानका कारण कहो?

उत्तरः—जाननेमें जितना अयथार्थपना होता है उतना तो ज्ञानावरणके उदयसे होता है; और जो यथार्थपना होता है उतना ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है। जैसे कि रस्सीको सर्प जाना वहाँ यथार्थ जाननेकी शक्तिका थानक (बाधक?) उदय है इसलिये अयथार्थ जानता है; तथा रस्सीको रस्सी जाना वहाँ यथार्थ जाननेकी शक्तिका कारण क्षयोपशम है इसलिये यथार्थ जानता है। उसी प्रकार जीवादि तत्त्वोंको यथार्थ जाननेकी शक्ति होने या न होनेमें तो ज्ञानावरणहीका निमित्त है; परन्तु जैसे किसी पुरुषको क्षयोपशमसे दुःखके तथा सुखके

कारणभूत पदार्थोंको यथार्थ जाननेकी शक्ति हो, वहाँ जिसको असातावेदनीयका उदय हो वह दुःखके कारणभूत जो हों उन्हींका वेदन करता है, सुखके कारणभूत पदार्थोंका वेदन नहीं करता। यदि सुखके कारणभूत पदार्थोंका वेदन करे तो सुखी होजाये; असाताका उदय होनेसे हो नहीं सकता। इसलिये यहाँ दुःखके कारणभूत और सुखके कारणभूत पदार्थोंके वेदनमें ज्ञानावरणका निमित्त नहीं है, असाता-साताका उदय ही कारणभूत है। उसी प्रकार जीवमें प्रयोजनभूत जीवादिकतत्त्व तथा अप्रयोजनभूत अन्यको यथार्थ जाननेकी शक्ति होती है। वहाँ जिसके मिथ्यात्वका उदय होता है वह तो अप्रयोजनभूत हों उन्हीं का वेदन करता है, जानता है, प्रयोजनभूतको नहीं जानता। यदि प्रयोजनभूतको जाने तो सम्यग्दर्शन होजाये परन्तु वह मिथ्यात्वका उदय होने पर हो नहीं सकता; इसलिये यहाँ प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत पदार्थोंको जाननेमें ज्ञानावरणका निमित्त नहीं है; मिथ्यात्वका उदय-अनुदय ही कारणभूत है। यहाँ ऐसा जानना कि—जहाँ एकेन्द्रियादिकमें जीवादितत्त्वोंको यथार्थ जाननेकी शक्ति ही न हो, वहाँ तो ज्ञानावरणका उदय और मिथ्यात्वके उदयसे हुआ मिथ्यादर्शन—इन दोनोंका निमित्त है। तथा जहाँ संज्ञी मनुष्यादिकमें क्षयोपशमादि लब्धि होनेसे शक्ति हो और न जाने वहाँ मिथ्यात्वके उदयका ही निमित्त जानना। इसलिये मिथ्याज्ञानका मुख्य कारण ज्ञानावरणको नहीं कहा, मोहके उदयसे हुआ भाव वही कारण कहा है।

यहाँ फिर प्रश्न है कि—ज्ञान होने पर श्रद्धान होता है, इसलिये पहले मिथ्याज्ञान कहो बादमें मिथ्यादर्शन कहो ?

समाधानः—है तो ऐसा ही; जाने बिना श्रद्धान कैसे हो ? परन्तु मिथ्या और सम्यक्—ऐसी संज्ञा ज्ञानको मिथ्यादर्शन और सम्यक्दर्शनके निमित्तसे होती है। जैसे—मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि सुवर्णादि पदार्थोंको जानते तो समान हैं, [परन्तु] वही जानना मिथ्यादृष्टिके मिथ्याज्ञान नाम पाता है और सम्यग्दृष्टिके सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। इसी प्रकार सर्व मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञानको मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन कारण जानना। इसलिये जहाँ सामान्यतया ज्ञान-श्रद्धानका निरूपण हो वहाँ तो ज्ञान कारणभूत है, उसे प्रथम कहना और श्रद्धान कार्यभूत है, उसे बादमें कहना। तथा जहाँ मिथ्या-सम्यक्ज्ञान-श्रद्धानका निरूपण हो वहाँ श्रद्धान कारणभूत है, उसे पहले कहना और ज्ञान कार्यभूत है उसे बादमें कहना।

फिर प्रश्न है कि—ज्ञान-श्रद्धान तो युगपत् होते हैं, उनमें कारण-कार्यपना कैसे कहते हो ?

समाधानः—वह हो तो वह हो,—इस अपेक्षा कारणकार्यपना होता है। जैसे–दीपक और प्रकाश युगपत् होते हैं, तथापि दीपक हो तो प्रकाश हो, इसलिये दीपक कारण है प्रकाश कार्य है। उसी प्रकार ज्ञान-श्रद्धानके है। अथवा मिथ्यादर्शन–मिथ्याज्ञानके व सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानके कारण कार्यपना जानना।

फिर प्रश्न है कि—मिथ्यादर्शनके संयोगसे ही मिथ्याज्ञान नाम पाता है, तो एक मिथ्यादर्शनको ही संसारका कारण कहना था, मिथ्याज्ञानको अलग किसलिये कहा ?

समाधानः—ज्ञानहीकी अपेक्षा तो मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके क्षयोपशमसे हुए यथार्थ ज्ञानमें कुछ विशेष नहीं है, तथा वह ज्ञान केवलज्ञानमें भी जा मिलता है, जैसे नदी समुद्रमें मिलती है। इसलिये ज्ञानमें कुछ दोप नहीं है, परन्तु क्षयोपशम ज्ञान जहाँ लगता है वहाँ एक ज्ञेयमें लगता है; और इस मिथ्यादर्शनके निमित्तसे वह ज्ञान अन्य ज्ञेयोंमें तो लगता है, परन्तु प्रयोजनभूत जीवादितत्त्वोंका यथार्थ निर्णय करनेमें नहीं लगता, सो यह ज्ञानमें दोप हुआ; इसे मिथ्याज्ञान कहा। तथा जीवादितत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान नहीं होता सो यह श्रद्धानमें दोष हुआ। इसे मिथ्यादर्शन कहा। ऐसे लक्षणभेदसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञानको भिन्न कहा। इस प्रकार मिथ्याज्ञानका स्वरूप कहा। इसीको तत्त्वज्ञानके अभावसे अज्ञान कहते हैं और अपना प्रयोजन नहीं साधता इसलिये इसीको कुज्ञान कहते हैं।

[मिथ्याचारित्रका स्वरूप]

अब मिथ्याचारित्रका स्वरूप कहते हैं—चारित्रमोहके उदयसे जो कपायभाव होता है उसका नाम मिथ्याचारित्र है। यहाँ अपने स्वभावरूप प्रवृत्ति नहीं है, झूठी परस्वभावरूप प्रवृत्ति करना चाहता है सो बनती नहीं है; इसलिये इसका नाम मिथ्याचारित्र है। वही बतलाते हैंः—अपना स्वभाव तो दृष्टा-ज्ञाता है, सो स्वयं केवल देखनेवाला जाननेवाला तो रहता नहीं है, जिन पदार्थोंको देखता-जानता है उनमें इष्ट-अनिष्टपना मानता है, इसलिये रागी-द्वेषी होकर किसीका सद्भाव चाहता है, किसीका अभाव चाहता है। परन्तु उनका सद्भाव या अभाव इसका किया हुआ होता नहीं; क्योंकि कोई द्रव्य किसी द्रव्यका कर्त्ता-हर्त्ता है नहीं, सर्वद्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमित होते हैं; यह वृथा ही कषाय भावसे आकुलित होता है। तथा कदाचित् जैसा यह चाहे वैसा ही पदार्थ परिणमित हो तो वह अपने परिणमानेसे तो परिणमित हुआ नहीं है। जैसे गाड़ी चलती है और बालक उसे धक्का देकर ऐसा माने कि मैं इसे चला रहा हूँ तो वह

असत्य मानता है; यदि उसके चलानेसे चलती हो तो जब वह नहीं चलती तब क्यों नहीं चलाता ? उसी प्रकार पदार्थ परिणमित होते हैं और यह जीव उनका अनुसरण करके ऐसा मानता है कि इनको मैं ऐसा परिणमित कर रहा हूँ, परन्तु वह असत्य मानता है; यदि उसके परिणमानेसे परिणमित होते हैं तो वे वैसे परिणमित नहीं होते तब क्यों नहीं परिणमाता ? सो जैसा स्वयं चाहता है वैसा तो पदार्थका परिणमन कदाचित् ऐसे ही बन जाय तब होता है। बहुत परिणमन तो जिन्हें स्वयं नहीं चाहता वैसे ही होते देखे जाते हैं। इसलिये यह निश्चय है कि अपने करनेसे किसीका सद्भाव या अभाव होता नहीं। तथा यदि अपने करनेसे सद्भाव-अभाव होते ही नहीं तो कषायभाव करनेसे क्या हो ? केवल स्वयं ही दुःखी होता है जैसे—किसी विवाहादि कार्यमें जिसका कुछ भी कहा नहीं होता, वह यदि स्वयं कर्ता होकर कषाय करे तो स्वयं ही दुःखी होता है— उसी प्रकार जानना। इसलिये कषायभाव करना ऐसा है जैसे जलका बिलोना कुछ कार्यकारी नहीं है। इसलिये इन कषायोंकी प्रवृत्तिको मिथ्याचारित्र कहते हैं। तथा कषायभाव होते हैं सो पदार्थोंको इष्ट-अनिष्ट माननेपर होते हैं, सो इष्ट-अनिष्ट मानना भी मिथ्या है; क्योंकि कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट है नहीं। कैसे ? सो कहते हैं—

[इष्ट-अनिष्टकी मिथ्याकल्पना]

जो अपनेको सुखदायक-उपकारी हो उसे इष्ट कहते हैं; अपनेको दुःखदायक-अनुपकारी हो उसे अनिष्ट कहते हैं। लोकमें सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभावके ही कर्त्ता हैं, कोई किसीको सुख-दुःखदायक, उपकारी-अनुपकारी है नहीं। यह जीव ही अपने परिणामोंमें उन्हें सुखदायक-उपकारी मानकर इष्ट जानता है अथवा दुःखदायक-अनुपकारी जानकर अनिष्ट मानता है; क्योंकि एक ही पदार्थ किसीको इष्ट लगता है, किसीको अनिष्ट लगता है। जैसे—जिसे वस्त्र न मिलता हो उसे मोटा वस्त्र इष्ट लगता है और जिसे पतला वस्त्र मिलता है उसे वह अनिष्ट लगता है। सूकरादिको विष्टा इष्ट लगती है, देवादिको अनिष्ट लगती है। किसीको मेघवर्षा इष्ट लगती है, किसीको अनिष्ट लगती है। इसी प्रकार अन्य जानना। तथा इसी प्रकार एक जीवको भी एक ही पदार्थ किसी कालमें इष्ट लगता है किसी कालमें अनिष्ट लगता है। तथा यह जीव जिसे मुख्यरूपसे इष्ट मानता है वह भी अनिष्ट होता देखा जाता है—इत्यादि जानना। जैसे शरीर इष्ट है, परन्तु रोगादि सहित हो तब अनिष्ट हो जाता है। पुत्रादिक इष्ट हैं, परन्तु कारण मिलने पर अनिष्ट होते देखे जाते हैं—इत्यादि जानना। तथा यह जीव जिसे मुख्यरूपसे अनिष्ट मानता है वह भी इष्ट होता देखते हैं। जैसे—गाली अनिष्ट लगती है, परन्तु

ससुरालमें इष्ट लगती है—इत्यादि जानना। इस प्रकार पदार्थमें इष्ट-अनिष्टपना है नहीं। यदि पदार्थमें इष्ट-अनिष्टपना होता, तो जो पदार्थ इष्ट होता वह सभीको इष्ट ही होता और जो अनिष्ट होता वह अनिष्ट ही होता; परन्तु ऐसा है नहीं। यह जीव कल्पना द्वारा उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानता है सो यह कल्पना झूठी है।

तथा पदार्थ सुखदायक–उपकारी या दुःखदायक–अनुपकारी होता है सो अपने आप नहीं होता, परन्तु पुण्य-पापके उदयानुसार होता है। जिसके पुण्यका उदय होता है उसको पदार्थोंका संयोग सुखदायक–उपकारी होता है और जिसके पापका उदय होता है उसे पदार्थोंका संयोग दुःखदायक–अनुपकारी होता है—ऐसा प्रत्यक्ष देखते हैं। किसीको स्त्री-पुत्रादिक सुखदायक हैं किसीको दुःखदायक हैं; किसीको व्यापार करनेसे लाभ है किसीको नुकसान है; किसीके शत्रु भी दास होजाते हैं, किसीके पुत्र भी अहितकारी होता है। इसलिये जाना जाता है कि पदार्थ अपने आप इष्ट-अनिष्ट नहीं होते, परन्तु कर्मोदयके अनुसार प्रवर्तते हैं। जैसे किसीके नौकर अपने स्वामीके कहे अनुसार किसी पुरुषको इष्ट-अनिष्ट उत्पन्न करें तो वह कुछ नौकरोंका कर्तव्य नहीं है उनके स्वामीका कर्तव्य है। कोई नौकरोंको ही इष्ट-अनिष्ट माने तो झूठ है। उसी प्रकार कर्मके उदयसे प्राप्त हुए पदार्थ कर्मके अनुसार जीवको इष्ट-अनिष्ट उत्पन्न करें तो वह कोई पदार्थोंका कर्तव्य नहीं है, कर्मका कर्तव्य है। यदि पदार्थोंको ही इष्ट-अनिष्ट माने तो झूठ है। इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि पदार्थोंको इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष करना मिथ्या है।

यहाँ कोई कहे कि—बाह्य वस्तुओंका संयोग कर्मनिमित्तसे बनता है, तब कर्मोंमें तो राग-द्वेष करना ?

समाधानः—कर्म तो जड़ हैं, उनके कुछ सुख-दुःख देनेकी इच्छा नहीं है। तथा वे स्वयमेव तो कर्मरूप परिणमित होते नहीं है, इसके भावोंके निमित्तसे कर्मरूप होते हैं। जैसे—कोई अपने हाथसे पत्थर लेकर अपना सिर फोड़ले तो पत्थरका क्या दोष है ? उसी प्रकार जीव अपने रागादिक भावोंसे पुद्गलको कर्मरूप परिणमित करके अपना बुरा करे तो कर्मका क्या दोष है ? इसलिये कर्मसे भी राग-द्वेष करना मिथ्या है। इस प्रकार परद्रव्योंको इष्ट-अनिष्ट मानकर रागद्वेष करना मिथ्या है। यदि परद्रव्य इष्ट-अनिष्ट होते और वहाँ राग-द्वेष करता तो मिथ्या नाम न पाता, वे तो इष्ट-अनिष्ट हैं नहीं और यह

इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करता है, इसलिये इस परिणमनको मिथ्या कहा है। मिथ्यारूप जो परिणमन उसका नाम मिथ्याचारित्र है।

अब, इस जीवके राग-द्वेष होते हैं, उनका विधान और विस्तार बतलाते हैं:—

[राग-द्वेषकी प्रवृत्ति]

प्रथम तो इस जीवका पर्यायमें अहंबुद्धि है सो अपनेको और शरीरको एक जानकर प्रवर्तता है। तथा इस शरीरमें अपनेको सुहाये ऐसी इष्ट अवस्था होती है उसमें राग करता है; अपनेको न सुहाये ऐसी अनिष्ट अवस्था होती है उसमें द्वेष करता है। तथा शरीरकी इष्ट अवस्थाके कारणभूत बाह्य पदार्थोंमें तो राग करता है और उसके घातकोंमें द्वेष करता है। तथा शरीरकी अनिष्ट अवस्थाके कारणभूत बाह्यपदार्थोंमें तो द्वेष करता है और उसके घातकोंमें राग करता है। तथा इनमें जिन बाह्य पदार्थोंसे राग करता है उनके कारणभूत अन्य पदार्थोंमें राग करता है और उनके घातकोंमें द्वेष करता है। तथा जिन बाह्य पदार्थोंसे द्वेष करता है उनके कारणभूत अन्य पदार्थोंमें द्वेष करता है और उनके घातकोंमें राग करता है। तथा इनमें भी जिनसे राग करता है उनके कारण व घातक अन्य पदार्थोंमें राग व द्वेष करता है। तथा जिनसे द्वेष है उनके कारण व घातक अन्य पदार्थोंमें द्वेष व राग करता है। इसी प्रकार रागद्वेषकी परम्परा प्रवर्तती है। तथा कितने ही बाह्य पदार्थ शरीरकी अवस्थाको कारण नहीं है उनमें भी राग-द्वेष करता है। जैसे—गाय आदिको बच्चोंसे कुछ शरीरका इष्ट नहीं होता तथापि वहाँ राग करते हैं और कुत्ते आदि को बिल्ली आदिसे कुछ शरीरका अनिष्ट नहीं होता तथापि वहाँ द्वेष करते हैं। तथा कितने ही वर्ण, गंध, शब्दादिके अवलोकनादिकसे शरीरका इष्ट नहीं होता तथापि उनमें राग करता है। कितने ही वर्णादिकके अवलोकनादिकसे शरीरको अनिष्ट नहीं होता तथापि उनमें द्वेष करता है।—इस प्रकार भिन्न बाह्य पदार्थोंमें राग द्वेष होता है। तथा इनमें भी जिनसे राग करता है उनके कारण और घातक अन्य पदार्थोंमें राग व द्वेष करता है। और जिनसे द्वेष करता है उनके कारण और घातक अन्य पदार्थोंमें द्वेष व राग करता है। इसी प्रकार यहाँ भी राग-द्वेषकी परम्परा प्रवर्तती है।

यहाँ प्रश्न है कि—अन्य पदार्थोंमें तो राग द्वेष करनेका प्रयोजन जाना, परन्तु प्रथम ही मूलभूत शरीरकी अवस्थामें तथा जो शरीरकी अवस्थाको कारण नहीं है उन पदार्थोंमें इष्ट-अनिष्ट माननेका प्रयोजन क्या है?

समाधानः—जो प्रथम मूलभूत शरीरकी अवस्था आदिक हैं उनमें भी प्रयोजन विचारकर राग-द्वेष करे तो मिथ्याचारित्र नाम क्यों पाये ? उनमें बिना ही प्रयोजन रागद्वेष करता है और उन्हींके अर्थ अन्यसे रागद्वेष करता है, इसलिये सर्व राग-द्वेष परिणतिका नाम मिथ्याचारित्र कहा है।

यहाँ प्रश्न है कि—शरीरकी अवस्था एवं बाह्य पदार्थोंमें इष्ट-अनिष्ट माननेका प्रयोजन तो भासित नहीं होता और इष्ट-अनिष्ट माने बिना रहा भी नहीं जाता, सो कारण क्या है ?

समाधानः—इस जीवके चारित्रमोहके उदयसे रागद्वेषभाव होते हैं और वे भाव किसी पदार्थके आश्रय बिना हो नहीं सकते। जैसे—राग हो तो किसी पदार्थमें होता है, द्वेष हो तो किसी पदार्थमें होता है।—इस प्रकार उन पदार्थोंके और राग-द्वेषके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वहाँ विशेष इतना है कि—कितने ही पदार्थ तो मुख्यरूपसे रागके कारण हैं और कितने ही पदार्थ मुख्यरूपसे द्वेषके कारण हैं। कितने ही पदार्थ किसीको किसीकालमें रागके कारण होते हैं तथा किसीको किसीकालमें द्वेषके कारण होते हैं। यहाँ इतना जानना—एक कार्य होनेमें अनेक कारण चाहिये सो रागादिक होनेमें अन्तरंग कारण मोहका उदय है वह तो बलवान है और बाह्य कारण पदार्थ है वह बलवान नहीं है। महा मुनियोंको मोह मन्द होनेसे बाह्यपदार्थोंका निमित्त होने पर भी राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते। पापी जीवोंको मोह तीव्र होनेसे बाह्यकारण न होनेपर भी उनके संकल्पहीसे राग-द्वेष होते हैं। इसलिये मोहका उदय होनेसे रागादिक होते हैं। वहाँ जिस बाह्यपदार्थके आश्रयसे रागभाव होना हो उसमें बिना ही प्रयोजन अथवा कुछ प्रयोजनसहित इष्टबुद्धि होती है। तथा जिस पदार्थके आश्रयसे द्वेषभाव होना हो, उसमें बिना ही प्रयोजन अथवा कुछ प्रयोजनसहित अनिष्टबुद्धि होती है। इसलिये मोहके उदयसे पदार्थोंको इष्ट-अनिष्ट माने बिना रहा नहीं जाता। इसप्रकार पदार्थोंमें इष्ट-अनिष्टबुद्धि होनेपर जो रागद्वेषरूप परिणमन होता है उसका नाम मिथ्याचारित्र जानना। तथा इन राग-द्वेषोंहीके विशेष क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेदरूप कषायभाव हैं वे सब इस मिथ्याचारित्रहीके भेद जानना। इनका वर्णन पहले किया ही है। तथा इस मिथ्याचारित्रमें स्वरूपाचरणचारित्रका अभाव है इसलिये इसका नाम अचारित्र भी कहा जाता है। तथा यहाँ ये परिणाम मिटते नहीं हैं अथवा विरक्त नहीं हैं, इसलिये इसीका नाम असंयम कहा जाता

है या अविरति कहा जाता है। क्योंकि पाँच इन्द्रियाँ और मनके विषयोंमें तथा पंचस्थावर और त्रसकी हिंसामें स्वच्छन्दपना हो तथा उनके त्यागरूप भाव नहीं हो, वही बारह प्रकारका असंयम या अविरति है। कषायभाव होनेपर ऐसे कार्य होते हैं इसलिये मिथ्याचारित्रका नाम असंयम या अविरति जानना। तथा इसीका नाम अव्रत जानना, क्योंकि हिंसा, अनृत, अस्तेय, अब्रह्म, परिग्रह—इन पापकार्योंमें प्रवृत्तिका नाम अव्रत है। इनका मूलकारण प्रमत्तयोग कहा है। प्रमत्तयोग है वह कषायमय है इसलिये मिथ्याचारित्रका नाम अव्रतभी कहा जाता है।—ऐसे मिथ्याचारित्रका स्वरूप कहा। इस प्रकार इस संसारी जीवके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप परिणमन अनादिसे पाया जाता है। ऐसा परिणमन एकेन्द्रियादि असंज्ञी पर्यंत तो सर्वजीवोंके पाया जाता है। तथा संज्ञी पंचेन्द्रियोंमें सम्यग्दृष्टिको छोड़कर अन्य सर्व जीवोंके ऐसा ही परिणमन पाया जाता है। परिणमनमें जैसा जहाँ संभव हो वैसा वहाँ जानना। जैसे—एकेन्द्रियादिकोंको इन्द्रियादिककी हीनता-अधिकता पायी जाती है और धन-पुत्रादिकका सम्बन्ध मनुष्यादिकको ही पाया जाता है। इन्हींके निमित्तसे मिथ्यादर्शनादिकका वर्णन किया है। उसमें जैसा विशेष संभव हो वैसा जानना। तथा एकेन्द्रियादिक जीव इन्द्रिय, शरीरादिकका नाम नहीं जानते, परन्तु उस नामके अर्थरूप जो भाव है उसमें पूर्वोक्त प्रकारसे परिणमन पाया जाता है। जैसे—मैं स्पर्शनसे स्पर्श करता हूँ। शरीर मेरा है ऐसा नाम नहीं जानता, तथापि उसके अर्थरूप जो भाव है उसरूप परिणमित होता है। तथा मनुष्यादिक कितने ही नाम भी जानते हैं और उनके भावरूप परिणमन करते हैं—इत्यादि विशेष सम्भव हैं उन्हें जान लेना।

ऐसे ये मिथ्यादर्शनादिकभाव जीवके अनादिसे पाये जाते हैं, नवीन ग्रहण नहीं किये हैं। देखो इसकी महिमा, कि जो पर्याय धारण करता है वहाँ बिना ही सिखाये मोहके उदयसे स्वयमेव ऐसा ही परिणमन होता है। तथा मनुष्यादिकको सत्यविचार होनेके कारण मिलने परभी सम्यक्परिणमन नहीं होता; और श्रीगुरुके उपदेशका निमित्त बने, वे बारम्बार समझायें, परन्तु यह कुछ विचार नहीं करता। तथा स्वयंको भी प्रत्यक्ष भासित हो वह तो नहीं मानता और अन्यथाही मानता है। किस प्रकार? सो कहते हैं:—

मरण होनेपर शरीर-आत्मा प्रत्यक्ष भिन्न होते हैं। एक शरीरको छोड़कर आत्मा अन्य शरीर धारण करता है; वहाँ व्यन्तरादिक अपने पूर्वभवका सम्बन्ध प्रगट करते देखे जाते हैं; परन्तु इसको शरीरसे भिन्नबुद्धि नहीं हो सकती। स्त्री-पुत्रादिक अपने स्वार्थके सगे प्रत्यक्ष देखे जाते हैं; उनका प्रयोजन सिद्ध न हो तभी विपरीत होते

दिखायी देते हैं, यह उनमें ममत्व करता है और उनके अर्थ नरकादिकमें गमनके कारणभूत नानाप्रकारके पाप उत्पन्न करता है। धनादिक सामग्री किसीकी किसीके होती देखी जाती है, यह उन्हें अपनी मानता है। तथा शरीरकी अवस्था और बाह्य सामग्री स्वयमेव उत्पन्न होती तथा विनष्ट होती दिखायी देती है, यह वृथा स्वयं कर्त्ता होता है। वहाँ जो कार्य अपने मनोरथके अनुसार होता है उसे तो कहता है—मैंने किया; और अन्यथा हो तो कहता है—मैं क्या करूँ ? ऐसा ही होना था अथवा ऐसा क्यों हुआ ?—ऐसा मानता है। परन्तु या तो सर्वका कर्ता ही होना था या अकर्ता रहना था, सो विचार नहीं है। तथा मरण अवश्य होगा ऐसा जानता है परन्तु मरणका निश्चय करके कुछ कर्तव्य नहीं करता, इस पर्याय सम्बन्धी ही यत्न करता है। तथा मरणका निश्चय करके कभी तो कहता है कि—मैं मरूंगा और शरीरको जला देंगे। कभी कहता है—मुझे जला देंगे। कभी कहता है—यश रहा तो हम जीवित ही हैं। कभी कहता है—पुत्रादिक रहेंगे तो मैं ही जीऊँगा।—इस प्रकार पागलकी भाँति बकता है, कुछ सावधानी नहीं है। तथा अपनेको परलोकमें जाना है यह प्रत्यक्ष जानता है, उसके तो इष्ट-अनिष्टका यह कुछ भी उपाय नहीं करता और यहाँ पुत्र, पौत्र आदि मेरी संगतिमें (सन्ततिमें ?) बहुत काल तक इष्ट बना रहे—अनिष्ट न हो, ऐसे अनेक उपाय करता है। किसीके परलोक जानेके बाद इस लोककी सामग्री द्वारा उपकार हुआ देखा नहीं है, परन्तु इसको परलोक होनेका निश्चय होनेपर भी इस लोककी सामग्रीका ही पालन रहता है। तथा विषय-कषायोंकी परिणतिसे तथा हिंसादि कार्यों द्वारा स्वयं दुःखी होता है, खेदखिन्न होता है, दूसरोंका शत्रु होता है, इस लोकमें निंद्य होता है, परलोकमें बुरा होता है—ऐसा स्वयं प्रत्यक्ष जानता है तथापि उन्हींमें प्रवर्तता है।—इत्यादि अनेक प्रकारसे प्रत्यक्ष भासित हो उसका भी अन्यथा श्रद्धान करता है, जानता है, आचरण करता है सो यह मोहका माहात्म्य है।

—इस प्रकार यह जीव अनादिसे मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हो रहा है। इसी परिणमनसे संसारमें अनेक प्रकारका दुःख उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका सम्बन्ध पाया जाता है। यही भाव दुःखोंके बीज हैं, अन्य कोई नहीं। इसलिये हे भव्य ! यदि दुःखोंसे मुक्त होना चाहता है तो इन मिथ्यादर्शनादिक विभावभावोंका अभाव करना ही कार्य है; इस कार्यके करनेसे तेरा परम कल्याण होगा।

इति मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्रमें मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रके
निरूपणरूप चौथा अधिकार समाप्त हुआ ।।

पाँचवाँ अधिकार

विविधमत-समीक्षा

* दोहा *

बहुविधि मिथ्या गहनकरि, मलिन भयो निज भाव।
ताको होत अभाव ह्वै, सहजरूप दरसाव ॥ १ ॥

अब, यह जीव पूर्वोक्त प्रकारसे अनादिहीसे मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित होरहा है, उससे संसारमें दुःख सहता हुआ कदाचित् मनुष्यादि पर्यायोंमें विशेष श्रद्धानादि करनेकी शक्तिको पाता है। वहाँ यदि विशेष मिथ्याश्रद्धानादिकके कारणोंसे उन मिथ्याश्रद्धानादिकका पोषण करे तो उस जीवका दुःखसे मुक्त होना अति दुर्लभ होता है। जैसे कोई पुरुष रोगी है, वह कुछ सावधानीको पाकर कुपथ्य सेवन करे तो उस रोगीका सुलझना कठिन ही होगा। उसी प्रकार यह जीव मिथ्यात्वादि सहित है, वह कुछ ज्ञानादिशक्तिको पाकर विशेष विपरीत श्रद्धानादिकके कारणोंका सेवन करे तो इस जीवका मुक्त होना कठिन ही होगा। उसी प्रकार यह जीव मिथ्यात्वादि सहित है, वह कुछ ज्ञानादिशक्तिको पाकर विशेष विपरीत श्रद्धानादिकके कारणोंका सेवन करे तो इस जीवका मुक्त होना कठिन ही होगा; इसलिये जिस प्रकार वैद्य कुपथ्योंके विशेष बतलाकर उनके सेवनका निषेध करता है उसी प्रकार यहाँ विशेष मिथ्याश्रद्धानादिकके कारणोंका विशेष बतलाकर उनका निषेध करते हैं। यहाँ अनादिसे जो मिथ्यात्वादिभाव पाये जाते हैं उन्हें तो अगृहीत मिथ्यात्वादि जानना, क्योंकि वे नवीन ग्रहण नहीं किये हैं। तथा उनके पुष्ट करनेके कारणोंसे विशेष मिथ्यात्वादिभाव होते हैं उन्हें गृहीत मिथ्यात्वादि जानना। वहाँ अगृहीत मिथ्यात्वादिका वर्णन तो पहले किया है वहाँ जानना और अब गृहीतमिथ्यात्वादिका निरूपण करते हैं सो जानना।

[गृहीत मिथ्यात्व]

कुदेव-कुगुरु-कुधर्म और कल्पित तत्त्वोंका श्रद्धान तो मिथ्यादर्शन है। तथा जिनमें विपरीत निरूपण द्वारा रागादिका पोषण किया हो ऐसे कुशास्त्रोंमें श्रद्धानपूर्वक अभ्यास सो मिथ्याज्ञान है। तथा जिस आचरणमें कषायोंका सेवन हो और उसे धर्मरूप अंगीकार करें सो मिथ्याचारित्र है। अब इन्हींको विशेष बतलाते हैं :—

इन्द्र, लोकपाल इत्यादि, तथा अद्वैत ब्रह्म राम, कृष्ण, महादेव, बुद्ध, खुदा, पीर, पैगम्बर इत्यादि, तथा हनुमान, भैरों, क्षेत्रपाल, देवी, दहाड़ी, सती इत्यादि; तथा शीतला, चौथ, सांझी, गनगौर, होली इत्यादि; तथा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, औत, पितृ, व्यन्तर इत्यादि; तथा गाय, सर्प इत्यादि; तथा अग्नि, जल, वृक्ष इत्यादि; तथा शस्त्र, दवात, बर्तन इत्यादि अनेक हैं; उनका अन्यथा श्रद्धान करके उनको पूजते हैं और उनसे अपना कार्य सिद्ध करना चाहते हैं; परन्तु वे कार्य सिद्धिके कारण नहीं हैं; इसलिये ऐसे श्रद्धानको गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। वहाँ उनका अन्यथा श्रद्धान कैसे होता है सो कहते हैं :—

[सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म]

अद्वैत ब्रह्म*को सर्वव्यापी सर्वका कर्त्ता मानते हैं, सो कोई है नहीं। प्रथम उसे सर्वव्यापी मानते हैं सो सर्व पदार्थ तो न्यारे-न्यारे प्रत्यक्ष हैं तथा उनके स्वभाव न्यारे-न्यारे देखे जाते हैं, उन्हें एक कैसे माना जाये ? इनका मानना तो इन प्रकारोंसे है:—

एक प्रकार तो यह है कि—सर्व न्यारे न्यारे हैं उनके समुदायकी कल्पना करके उसका कुछ नाम रखलें। जैसे घोड़ा, हाथी आदि भिन्न भिन्न हैं, उनके समुदायका नाम सेना है, उनसे भिन्न कोई सेना वस्तु नहीं है। सो इस प्रकारसे सर्व पदार्थ जिनका नाम ब्रह्म है वह ब्रह्म कोई भिन्न वस्तु तो सिद्ध नहीं हुई, कल्पना मात्र ही ठहरी।

तथा एक प्रकार यह है कि—व्यक्ति अपेक्षा तो न्यारे-न्यारे हैं, उन्हें जाति अपेक्षा—कल्पनासे एक कहा जाता है। जैसे—घोड़े हैं सो व्यक्ति अपेक्षा तो भिन्न भिन्न सौ ही हैं, उनके आकारादिकी समानता देखकर एक जाति कहते हैं, परन्तु वह जाति

---

* "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" छान्दोग्योपनिषद् प्र० खं० १४ मं० १।
"नेह नानास्ति किंचन" कठोपनिषद् अ० २ व. ४१ मं० ११।
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्मदक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥ मुण्डको. खं० २, मं० ११।

उनसे कोई भिन्न ही तो है नहीं। सो इस प्रकारसे यदि सबहीकी किसी एक जाति अपेक्षा एक ब्रह्म माना जाय तो ब्रह्म कोई भिन्न तो सिद्ध हुआ नहीं।

तथा एक प्रकार यह है कि—पदार्थ न्यारे-न्यारे हैं, उनके मिलापसे एक स्कंध हो उसे एक कहते हैं। जैसे जलके परमाणु न्यारे-न्यारे हैं, उनका मिलाप होनेपर समुद्रादि कहते हैं, तथा जैसे पृथ्वीके परमाणुओंका मिलाप होनेपर घट आदि कहते हैं; परन्तु यहाँ समुद्रादि व घटादिक हैं उन परमाणुओंसे भिन्न कोई अलग वस्तु तो नहीं हैं। सो इस प्रकारसे सर्व पदार्थ न्यारे-न्यारे हैं, परन्तु कदाचित् मिलकर एक होजाते हैं वह ब्रह्म है—ऐसा माना जाये तो इनसे अलग तो कोई ब्रह्म सिद्ध नहीं हुआ।

तथा एक प्रकार यह है कि—अंग तो न्यारे न्यारे हैं और जिसके अङ्ग हैं वह अंगी एक है। जैसे नेत्र, हस्त, पादादिक भिन्न भिन्न हैं और जिसके यह हैं वह मनुष्य एक है। सो इस प्रकारसे यह सर्व पदार्थ तो अंग हैं और जिसके यह हैं वह अंगी ब्रह्म है। यह सर्व लोक विराट स्वरूप ब्रह्मका अंग है—ऐसा मानते हैं तो मनुष्यके हस्त-पादादिक अंगोंमें परस्पर अन्तराल होनेपर तो एकत्वपना नहीं रहता, जुड़े रहने पर ही एक शरीर नाम पाते हैं। सो लोकमें तो पदार्थोंके परस्पर अन्तराल भासित होता है; फिर उसका एकत्वपना कैसे माना जाये? अन्तराल होनेपर भी एकत्व मानें तो भिन्नपना कहाँ माना जायेगा?

यहाँ कोई कहे कि—समस्त पदार्थोंके मध्यमें सूक्ष्मरूप ब्रह्मके अंग हैं उनके द्वारा सब जुड़ रहे हैं। उससे कहते हैं—

जो अंग जिस अंगसे जुड़ा है वह उसीसे जुड़ा रहता है या टूट-टूटकर अन्य-अन्य अंगोंसे जुड़ता रहता है? यदि प्रथम पक्ष ग्रहण करेगा तो सूर्यादि गमन करते हैं, उनके साथ जिन सूक्ष्म अंगोंसे वह जुड़ता है वे भी गमन करेंगे। तथा उनके गमन करनेसे वे सूक्ष्म अंग अन्य स्थूल अंगोंसे जुड़े रहते हैं वे भी गमन करेंगे,—इस प्रकार सर्व लोक अस्थिर हो जायेगा। जिस प्रकार शरीरका एक अंग खींचने पर सर्व अंग खिंच जाते हैं, उसी प्रकार एक पदार्थके गमनादि करनेसे सर्व पदार्थोंके गमनादि होंगे, सो भासित नहीं होता। तथा यदि द्वितीय पक्ष ग्रहण करेगा तो अंग टूटनेसे भिन्नपना हो ही जाता है, तब एकत्वपना कैसे रहा? इसलिये सर्व-लोकके एकत्वको ब्रह्म मानना कैसे सम्भव हो सकता है?

तथा एक प्रकार यह है कि—पहले एक था, फिर अनेक हुआ, फिर एक हो जाता है इसलिये एक है। जैसे जल एक था सो वर्तनोंमें अलग-अलग हुआ, फिर मिलता है तव एक हो जाता है। तथा जैसे—सोनेका एक डला था, सो कंकन-कुण्डलादिरूप हुआ, फिर मिलकर सोनेका डला हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म एक था, फिर अनेकरूप हुआ और फिर एक होगा इसलिये एक ही है। इस प्रकार एकत्व मानता है तो जव अनेकरूप हुआ तव जुड़ा रहा या भिन्न हुआ ? यदि जुड़ा रहा कहेगा तो पूर्वोक्त दोष आयेगा। भिन्न हुआ कहेगा तो उस काल तो एकत्व नहीं रहा। तथा जल सुवर्णादिकको भिन्न होनेपर भी एक कहते हैं वह तो एक जाति अपेक्षासे कहते हैं, परन्तु यहाँ सर्व पदार्थोंकी एक जाति भासित नहीं होती। कोई चेतन है, कोई अचेतन है इत्यादि अनेक रूप हैं उनकी एक जाति कैसे कहें ? तथा पहले एक था, फिर भिन्न हुआ मानता है तो जैसे एक पाषाण फूटकर टुकड़े हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मके खण्ड होगये, फिर उनका इकट्ठा होना मानता है तो वहाँ उनका स्वरूप भिन्न रहता है या एक हो जाता है ? यदि भिन्न रहता है तो वहाँ अपने-अपने स्वरूपसे भिन्न ही हैं और एक हो जाते हैं तो जड़ भी चेतन हो जायेगा व चेतन जड़ हो जायगा। वहाँ अनेक वस्तुओंकी एक वस्तु हुई तव किसी कालमें अनेक वस्तु, किसी कालमें एक वस्तु ऐसा कहना वनेगा, 'अनादि-अनन्त एक ब्रह्म है'—ऐसा कहना नहीं वनेगा। तथा यदि कहेगा कि लोक रचना होनेसे व न होनेसे ब्रह्म जैसेका तैसा ही रहता है, इसलिये ब्रह्म अनादि-अनन्त है। तो हम पूछते हैं कि लोकमें पृथ्वी, जलादिक देखे जाते हैं वे अलग नवीन उत्पन्न हुए हैं या ब्रह्म ही इन स्वरूप हुआ है ? यदि अलग नवीन उत्पन्न हुए हैं तो वे न्यारे हुए, ब्रह्म न्यारा रहा, सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म नहीं ठहरा। तथा यदि ब्रह्म ही इन स्वरूप हुआ तो कदाचित् लोक हुआ, कदाचित् ब्रह्म हुआ, फिर जैसेका तैसा कैसे रहा ? तथा वह कहता है कि—सभी ब्रह्म तो लोकस्वरूप नहीं होता, उसका कोई अंश होता है। उससे कहते हैं—जैसे समुद्रका एक विन्दु विषरूप हुआ, वहाँ स्थूल दृष्टिसे तो गम्य नहीं है, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि देने पर तो एक विन्दु अपेक्षा समुद्रके अन्यथापना हुआ। उसी प्रकार ब्रह्मका एक अंश भिन्न होकर लोकरूप हुआ, वहाँ स्थूल विचारसे तो कुछ गम्य नहीं है, परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर तो एक अंश अपेक्षासे ब्रह्मके अन्यथापना हुआ। यह अन्यथापना और तो किसीके हुआ नहीं है। इसप्रकार सर्वरूप ब्रह्मको मानना भ्रम ही है।

तथा एक प्रकार यह है—जैसे आकाश सर्वव्यापी एक है, उसी प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापी एक है। यदि इस प्रकार मानता है तो आकाशवत् बड़ा ब्रह्मको मान,

और जहाँ घटपटादिक हैं वहाँ जिस प्रकार आकाश है उसी प्रकार ब्रह्म भी है—ऐसा भी मान। परन्तु जिस प्रकार घटपटादिकको और आकाशको एक ही कहें तो कैसे बनेगा? उसी प्रकार लोकको और ब्रह्मको एक मानना कैसे सम्भव है? तथा आकाशका लक्षण तो सर्वत्र भासित है, इसलिये उसका तो सर्वत्र सद्भाव मानते हैं। ब्रह्मका लक्षण तो सर्वत्र भासित नहीं होता इसलिये उसका सर्वत्र सद्भाव कैसे मानें? इस प्रकारसे भी सर्वरूप ब्रह्म नहीं है। ऐसा विचार करनेपर किसी भी प्रकारसे—एक ब्रह्म सम्भवित नहीं है। सर्वपदार्थ भिन्न-भिन्न ही भासित होते हैं।

यहाँ प्रतिवादी कहता है कि—सर्व एक ही है, परन्तु तुम्हें भ्रम है इसलिये तुम्हें एक भासित नहीं होता। तथा तुमने युक्ति कही सो ब्रह्मका स्वरूप युक्तिगम्य नहीं है, वचन अगोचर है। एक भी है, अनेक भी है। भिन्न भी है, मिला भी है। उसकी महिमा ऐसी ही है। उससे कहते हैं कि—प्रत्यक्ष तुझको व हमको व सबको भासित होता है, उसे तो तू भ्रम कहता है और युक्तिसे अनुमान करें सो तू कहता है कि सच्चा स्वरूप युक्तिगम्य है ही नहीं। तथा वह कहता है—सच्चा स्वरूप वचन अगोचर है तो वचन बिना कैसे निर्णय करें? तथा कहता है—एक भी है, अनेक भी है; भिन्न भी है, मिला भी है परन्तु उनकी अपेक्षा नहीं बतलाता; बावलेकी भाँति ऐसे भी है, ऐसे भी है—ऐसा कहकर इसकी महिमा बतलाता है। परन्तु जहाँ न्याय नहीं होता वहाँ झूठे ऐसा ही वाचालपना करते हैं सो करो, न्याय तो जिस प्रकार सत्य है उसी प्रकार होगा।

[सृष्टि कर्त्तावादका निराकरण]

तथा अब, उस ब्रह्मको लोकका कर्ता मानता है उसे मिथ्या दिखलाते हैं। प्रथम तो ऐसा मानता है कि ब्रह्मको ऐसी इच्छा हुई कि—"एकोऽहं बहुस्यां" अर्थात् मैं एक हूँ सो बहुत होऊँगा। वहाँ पूछते हैं—पूर्व अवस्थामें दुःखी हो तब अन्य अवस्थाको चाहे। सो ब्रह्मने एकरूप अवस्थासे बहुतरूप होनेकी इच्छा की तो उस एकरूप अवस्थामें क्या दुःख था? तब वह कहता है कि दुःख तो नहीं था, ऐसा ही कौतूहल उत्पन्न हुआ। उससे कहते हैं—यदि पहले थोड़ा सुखी हो और कौतूहल करनेसे बहुत सुखी हो तो कौतूहल करनेका विचार करे। सो ब्रह्मको एक अवस्थासे बहुत अवस्थारूप होनेपर बहुत सुख होना कैसे सम्भव है? और यदि पूर्व ही सम्पूर्ण सुखी हो तो अवस्था किसलिये पलटे? प्रयोजन बिना तो कोई कुछ कर्तव्य करता नहीं है। तथा पहले भी सुखी होगा, इच्छानुसार कार्य होनेपर भी सुखी होगा, परन्तु इच्छा हुई उसकाल तो दुःखी होगा?

तव वह कहता है—ब्रह्मके जिस काल इच्छा होती है उसी काल ही कार्य होता है इसलिये दुःखी नहीं होता। वहाँ कहते हैं—स्थूल कालकी अपेक्षा तो ऐसा मानो, परन्तु सूक्ष्मकालकी अपेक्षा तो इच्छाका और कार्यका होना युगपत् सम्भव नहीं है। इच्छा तो तभी होती है जव कार्य न हो। कार्य हो तव इच्छा नहीं रहती; इसलिये सूक्ष्मकालमात्र इच्छा रही तव तो दुःखी हुआ होगा; क्योंकि इच्छा है सो ही दुःख है, और कोई दुःखका स्वरूप है नहीं। इसलिये ब्रह्मके इच्छा कैसे वने ?

[ब्रह्मकी माया]

फिर वे कहते हैं कि, इच्छा होनेपर **ब्रह्मकी माया प्रगट** हुई वह ब्रह्मको माया हुई तव ब्रह्म भी मायावी हुआ, शुद्धस्वरूप कैसे रहा ? तथा ब्रह्मको और मायाको दंडी-दंडवत् संयोग सम्वन्ध है कि अग्नि-उष्णवत् समवायसम्वन्ध है। जो समवायसम्वन्ध है तो ब्रह्म भिन्न है, माया भिन्न है, अद्वैत ब्रह्म कैसे रहा ? तथा जैसे दंडी दंडको उपकारी जानकर ग्रहण करता है तैसे ब्रह्म मायाको उपकारी जानता है तो ग्रहण करता है, नहीं तो क्यों ग्रहण करे ? तथा जिस मायाको ब्रह्म ग्रहण करे उसका निपेध करना कैसे सम्भव है, वह तो उपादेय हुई। तथा यदि समवायसम्वन्ध है तो जैसे अग्निका उष्णत्वस्वभाव है वैसे ब्रह्मका माया स्वभाव ही हुआ। जो ब्रह्मका स्वभाव है उसका निपेध करना कैसे सम्भव है ? यह तो उत्तम हुई।

फिर वे कहते हैं कि ब्रह्म तो चैतन्य है, माया जड़ है, सो समवायसम्वन्धमें ऐसे दो स्वभाव सम्भवित नहीं होते। जैसे प्रकाश और अन्धकार एकत्र कैसे सम्भव हैं ? तथा वह कहता है—मायासे ब्रह्म आप तो भ्रमरूप होता नहीं है, उसकी मायासे जीव भ्रमरूप होता है। उससे कहते हैं—जिस प्रकार कपटी अपने कपटको आप जानता है सो आप भ्रमरूप नहीं होता, उसके कपटसे अन्य भ्रमरूप हो जाता है। वहाँ कपटी तो उसीको कहते हैं जिसने कपट किया, उसके कपटसे अन्य भ्रमरूप हुए उन्हें तो कपटी नहीं कहते। उसी प्रकार ब्रह्म अपनी मायाको आप जानता है सो आप तो भ्रमरूप नहीं होता, परन्तु उनकी मायासे अन्य जीव भ्रमरूप होते हैं वहाँ मायावीतो ब्रह्महीको कहा जायगा, उसकी मायासे अन्य जीव भ्रमरूप हुए उन्हें मायावी किसलिये कहते हैं ?

फिर पूछते हैं कि—वे जीव ब्रह्मसे एक हैं या न्यारे हैं ? यदि एक हैं तो जैसे कोई आप ही अपने अंगोंको पीड़ा उत्पन्न करे तो उसे बावला कहते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म आप ही जो अपनेसे भिन्न नहीं है ऐसे अन्य जीव उनको मायासे दुःखी करता है सो

कैसे बनेगा ? तथा जो न्यारे हैं तो जैसे कोई भूत बिना ही प्रयोजन अन्य जीवोंको भ्रम उत्पन्न करके पीड़ा उत्पन्न करता है उसी प्रकार ब्रह्म बिना ही प्रयोजन अन्य जीवोंको माया उत्पन्न करके पीड़ा उत्पन्न करे सो भी बनता नहीं है। इस प्रकार माया ब्रह्मकी कहते हैं सो कैसे सम्भव है ?

[जीवोंकी चेतनाको ब्रह्मकी चेतना माननेका निराकरण]

फिर वे कहते हैं—माया होनेपर लोक उत्पन्न हुआ वहाँ जीवोंके जो चेतना है वह तो ब्रह्मस्वरूप है, शरीरादिक माया है। वहाँ जिस प्रकार भिन्न-भिन्न बहुतसे पात्रोंमें जल भरा है, उन सबमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब अलग-अलग पड़ता है, चन्द्रमा एक है। उसी प्रकार अलग-अलग बहुतसे शरीरोंमें ब्रह्मका चैतन्यप्रकाश अलग-अलग पाया जाता है। ब्रह्म एक है, इसलिये जीवोंके चेतना है सो ब्रह्मकी है,—ऐसा कहना भी भ्रम ही है, क्योंकि शरीर जड़ है, इसमें ब्रह्मके प्रतिबिम्बसे चेतना हुई तो घट-पटादि जड़ हैं उनमें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब क्यों नहीं पड़ा और चेतना क्यों नहीं हुई ? तथा वह कहता है—शरीरको तो चेतन नहीं करता, जीवको करता है। तब उससे पूछते हैं कि जीवका स्वरूप चेतन है या अचेतन ? यदि चेतन है तो चेतनका चेतन क्या करेगा ? अचेतन है तो शरीरकी व घटादिककी व जीवकी एक जाति हुई। तथा उससे पूछते हैं—ब्रह्मकी और जीवोंकी चेतना एक है या भिन्न है ? यदि एक है तो ज्ञानका अधिक-हीनपना कैसे देखा जाता है ? तथा यह जीव परस्पर वह उसकी जानीको नहीं जानता, सो क्या कारण है ? यदि तू कहेगा, यह घटउपाधि भेद है; तो घटउपाधि होनेसे तो चेतना भिन्न-भिन्न ठहरी। घटउपाधि मिटने पर इसकी चेतना ब्रह्ममें मिलेगी या नाश हो जायेगी ? यदि नाश हो जायेगी तो यह जीव तो अचेतन रह जायेगा। और तू कहेगा कि जीव ही ब्रह्ममें मिल जाता है तो वहाँ ब्रह्ममें मिलने पर इसका अस्तित्व रहता है या नहीं रहता ? यदि अस्तित्व रहता है तो यह रहा, इसकी चेतना इसके रही, ब्रह्ममें क्या मिला ? और यदि अस्तित्व नहीं रहता है तो उसका नाश ही हुआ, ब्रह्ममें कौन मिला ? यदि तू कहेगा कि—ब्रह्मकी और जीवोंकी चेतना भिन्न है, तो ब्रह्म और सर्व जीव आप ही भिन्न-भिन्न ठहरे। इस प्रकार जीवोंकी चेतना है सो ब्रह्मकी है—ऐसा भी नहीं बनता।

[शरीरादिकको मायारूप माननेका निराकरण]

शरीरादि मायाके कहते हो सो माया ही हाड़-मांसादिरूप होती है या मायाके निमित्तसे और कोई उनरूप होता है। यदि माया ही होती है तो मायाके वर्ण-गंधादिक

पहले ही थे या नवीन हुए हैं ? यदि पहले ही थे तो पहले तो माया ब्रह्मकी थी, ब्रह्म अमूर्तिक है वहाँ वर्णादि कैसे सम्भव हैं ? और यदि नवीन हुए तो अमूर्तिकका मूर्तिक हुआ तब अमूर्तिक स्वभाव शाश्वत नहीं ठहरा। और यदि कहेगा कि—मायाके निमित्तसे और कोई होता है, तब और पदार्थ तो तू ठहराता ही नहीं, फिर हुआ कौन ? यदि तू कहेगा—नवीन पदार्थ उत्पन्न होता है; तो वह मायासे भिन्न उत्पन्न होता है या अभिन्न उत्पन्न होता है ? मायासे भिन्न उत्पन्न हो तो मायामयी शरीरादिक किसलिये कहता है, वे तो उन पदार्थमय हुए। और अभिन्न उत्पन्न हुए तो माया ही तद्रूप हुई, नवीन पदार्थ उत्पन्न किसलिये कहता है ? इस प्रकार शरीरादिक माया स्वरूप हैं ऐसा कहना भ्रम है।

तथा वे कहते हैं—मायासे तीन गुण उत्पन्न हुए—राजस, तामस, सात्विक। सो यह भी कहना कैसे बनेगा ? क्योंकि मानादि कपायरूप भावको राजस कहते हैं, क्रोधादिकषायरूप भावको तामस कहते हैं, मन्दकपायरूप भावको सात्विक कहते हैं। सो यह भाव तो चेतनामय प्रत्यक्ष देखे जाते हैं और मायाका स्वरूप जड़ कहते हो सो जड़से यह भाव कैसे उत्पन्न होंगे ? यदि जड़के भी हों तो पाषाणादिकके भी होंगे, परंतु चेतनास्वरूप जीवोंहीके यह भाव दिखते हैं; इसलिये यह भाव मायासे उत्पन्न नहीं हैं। यदि मायाको चेतन ठहराये तो यह मानें। सो मायाको चेतन ठहराने पर शरीरादिक मायासे उत्पन्न कहेगा तो नहीं मानेंगे। इसलिये निर्धार कर; भ्रमरूप माननेसे लाभ क्या है ?

तथा वे कहते हैं—उन गुणोंसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश यह तीन देव प्रगट हुए सो कैसे सम्भव है ? क्योंकि गुणीसे तो गुण होता है, गुणसे गुणी कैसे उत्पन्न होगा ? पुरुषसे तो क्रोध होगा, क्रोधसे पुरुष कैसे उत्पन्न होगा ? फिर इन गुणोंकी तो निन्दा करते हैं, इनसे उत्पन्न हुए ब्रह्मादिकको पूज्य कैसे माना जाता है ? तथा गुण तो मायामयी और इन्हें ब्रह्मके अवतार कहा जाता है सो यह तो मायाके अवतार हुए, इनको ब्रह्मका अवतार* कैसे कहा जाता है ? तथा यह गुण जिनके थोड़े भी पाये जाते

---

* ब्रह्मा, विष्णु और शिव यह तीनों ब्रह्मकी प्रधान शक्तियाँ हैं।

('विष्णु पुराण' अ० २२-५८)

कलिकालके प्रारम्भमें परब्रह्म परमात्माने रजोगुणसे उत्पन्न होकर ब्रह्मा बनकर प्रजाकी रचना की। प्रलयके समय तमोगुणसे उत्पन्न हो काल (शिव) बनकर उस सृष्टिको ग्रस लिया। उस परमात्माने सत्वगुणसे उत्पन्न हो, नारायण बनकर समुद्रमें शयन किया।

('वायु पुराण' अ० ७-६८, ६९.)

हैं उन्हें तो छुड़ानेका उपदेश देते हैं और जो इन्हींकी मूर्ति उन्हें पूज्य मानें यह कैसा भ्रम है? तथा उनका कर्तव्य भी इन मय भासित होता है। कौतूहलादिक व स्त्री सेवनादिक व युद्धादिक कार्य करते हैं सो उन राजसादि गुणोंसे ही यह क्रियाएँ होती हैं, इसलिये उनके राजसादिक पाये जाते हैं ऐसा कहो। इन्हें पूज्य कहना, परमेश्वर कहना तो नहीं बनता। जैसे अन्य संसारी हैं वैसे यह भी हैं। तथा कदाचित् तू कहेगा कि—संसारी तो मायाके आधीन हैं सो विना जाने उन कार्योंको करते हैं। माया ब्रह्मादिकके आधीन है, इसलिये वे जानते ही इन कार्योंको करते हैं, सो यह भी भ्रम है। क्योंकि मायाके आधीन होनेसे तो काम-क्रोधादिक ही उत्पन्न होते हैं और क्या होता है? सो उन ब्रह्मादिकोंके तो काम-क्रोधादिक तीव्रता पायी जाती है। कामकी तीव्रतासे स्त्रियोंके वशीभूत हुए नृत्य-गानादि करने लगे, विह्वल होने लगे, नानाप्रकार कुचेष्टा करने लगे, तथा क्रोधके वशीभूत हुए अनेक युद्धादि करने लगे, मानके वशीभूत हुए अपनी उच्चता प्रगट करनेके अर्थ अनेक उपाय करने लगे, मायाके वशीभूत हुए अनेक छल करने लगे, लोभके वशीभूत हुए परिग्रहका संग्रह करने लगे—इत्यादि; अधिक क्या कहें? इस प्रकार वशीभूत हुए चीर हरणादि निर्लज्जोंकी क्रिया और दधिलूटनादि चोरोंकी क्रिया तथा रुण्डमाला धारणादि बावलोंकी क्रिया, *बहुरूप धारणादि भूतोंकी क्रिया, गायें चराना आदि नीच कुलवालोंकी क्रिया इत्यादि जो निंद्य क्रियाएँ उनको तो करने लगे; इससे अधिक मायाके वशीभूत होनेपर क्या क्रिया होती सो समझमें नहीं आता। जैसे—कोई मेघपटल सहित अमावस्याकी रात्रिको अन्धकार रहित माने, उसी प्रकार बाह्य कुचेष्टा सहित तीव्र काम-क्रोधादिकोंके धारी ब्रह्मादिकोंको मायारहित मानना है।

फिर वह कहता है कि—इनको काम-क्रोधादि व्याप्त नहीं होते, यह भी परमेश्वरकी लीला है। इससे कहते हैं—ऐसे कार्य करता है वे इच्छासे करता है या बिना इच्छाके करता है? यदि इच्छासे करता है तो स्त्री सेवनकी इच्छाहीका नाम काम है, युद्ध करनेकी इच्छाहीका नाम क्रोध है इत्यादि इसी प्रकार जानना। और यदि बिना इच्छा करता है तो स्वयं जिसे न चाहे ऐसा कार्य तो परवश होने पर ही होता है सो, परवशपना कैसे सम्भव है? तथा तू लीला बतलाता है सो परमेश्वर अवतार धारण करके इन कार्योंकी लीला करता है तो अन्य

---

* नानारूपाय मुण्डाय वरूथपृथुदण्डिने।
नमः कपालहस्ताय दिग्वासाय शिखण्डिने॥ (मत्स्य पुराण, अ० २५०, श्लोक २)

जीवोंको इन कार्योंसे छुड़ाकर मुक्त करनेका उपदेश किसलिये देते हैं ? क्षमा, सन्तोष, शील, संयमादिका उपदेश सर्व झूठा हुआ।

फिर वह कहता है कि परमेश्वरको तो कुछ प्रयोजन नहीं है। लोकरीतिकी प्रवृत्तिके अर्थ व भक्तोंकी रक्षा, दुष्टोंका निग्रह उसके अर्थ अवतार धारण* करता है। तो इससे पूछते हैं—प्रयोजन बिना चींटी भी कार्य नहीं करती, परमेश्वर किसलिये करेगा ? तथा तूने प्रयोजन भी कहा कि—लोकरीतिकी प्रवृत्तिके अर्थ करता है। सो जैसे कोई पुरुष आप कुचेष्टासे अपने पुत्रोंको सिखाये और वे उस चेष्टारूप प्रवर्तें तब उनको मारे तो ऐसे पिताको भला कैसे कहेंगे ? उसी प्रकार ब्रह्मादिक आप काम-क्रोधरूप चेष्टासे अपने उत्पन्न किये लोगोंको प्रवृत्ति कराये और वे लोग उस प्रकार प्रवृत्ति करें तब उन्हें नरकादिमें डाले। इन्हीं भावोंका फल शास्त्रमें नरकादि लिखा है सो ऐसे प्रभुको भला कैसे मानें ? तथा तूने यह प्रयोजन कहा कि भक्तोंकी रक्षा, दुष्टोंका निग्रह करना। सो भक्तोंको दुःखदायक जो दुष्ट हुए वे परमेश्वरकी इच्छासे हुए या बिना इच्छासे हुए ? यदि इच्छासे हुए तो जैसे कोई अपने सेवकको आप ही किसीसे कहकर मराये और फिर उस मारनेवालेको आप मारे, तो ऐसे स्वामीको भला कैसे कहेंगे ? उसी प्रकार जो अपने भक्तको आप ही इच्छासे दुष्टों द्वारा पीड़ित कराये और फिर उन दुष्टोंको आप अवतार धारण करके मारे तो ऐसे ईश्वरको भला कैसे माना जाये ? यदि तू कहेगा कि बिना इच्छा दुष्ट हुए तो या तो परमेश्वरको ऐसा आगामी ज्ञान नहीं होगा कि यह दुष्ट मेरे भक्तोंको दुःख देंगे, या पहले ऐसी शक्ति नहीं होगी कि इनको ऐसा न होने दे। तथा उससे पूछते हैं कि यदि ऐसे कार्यके अर्थ अवतार धारण किया, सो क्या बिना अवतार धारण किये शक्ति थी या नहीं ? यदि थी तो अवतार क्यों धारण किया ? और नहीं थी तो बादमें सामर्थ्य होनेका कारण क्या हुआ ? तब वह कहता है—ऐसा किये बिना परमेश्वरकी महिमा प्रगट कैसे होती ? उससे पूछते हैं कि—अपनी महिमाके अर्थ अपने अनुचरोंका पालन करे, प्रतिपक्षियोंका निग्रह करे वही राग-द्वेष है। वह रागद्वेष तो संसारी जीवका लक्षण है। यदि परमेश्वरके भी रागद्वेष पाये जाते हैं तो अन्य जीवोंको रागद्वेष छोड़कर समताभाव करनेका उपदेश किसलिये दें ? तथा रागद्वेषके अनुसार कार्य करनेका विचार किया, सो कार्य थोड़े व बहुत काल लगे बिना होता नहीं है, तो उतनेकाल आकुलता भी परमेश्वरको होती होगी। तथा जैसे जिस-

---

* परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥ (गीता ४-८)

कार्यको छोटा आदमी ही कर सकता हो उस कार्यको राजा स्वयं आकर करे तो कुछ राजाकी महिमा नहीं होती, निन्दा ही होती है। उसी प्रकार जिस कार्यको राजा व व्यंतर देवादिक कर सकें उस कार्यको परमेश्वर स्वयं अवतार धारण करके करता है—ऐसा मानें तो कुछ परमेश्वरकी महिमा नहीं होती, निन्दा ही होती है। तथा महिमा तो कोई और हो उसे दिखलाते हैं, तू तो अद्वैत ब्रह्म मानता है, महिमा किसको दिखाता है? और महिमा दिखलानेका फल तो स्तुति कराना है सो किससे स्तुति कराना चाहता है? तथा तू तो कहता है सर्व जीव परमेश्वरकी इच्छानुसार प्रवर्तते हैं और स्वयंको स्तुति करानेकी इच्छा है तो सबको अपनी स्तुतिरूप प्रवर्तित करो, किसलिये अन्य कार्य करना पड़े? इसलिये महिमाके अर्थ भी कार्य करना नहीं बनता।

फिर वह कहता है—परमेश्वर इन कार्योंको करते हुए भी अकर्ता है, उसका निर्धार नहीं होता। इससे कहते हैं—तू कहेगा कि यह मेरी माता भी है और बांझ भी है तो तेरा कहा कैसे मानें? जो कार्य करता है उसे अकर्ता कैसे मानें? और तू कहता है-निर्धार नहीं होता, सो निर्धार बिना मान लेना ठहरा, तो आकाशके फूल, गधेके सींग भी मानो, परन्तु ऐसा असम्भव कहना युक्त नहीं है। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेशका होना कहते हैं सो मिथ्या जानना।

[ब्रह्मा-विष्णु-महेशके सृष्टिके कर्ता, रक्षक और संहारकपनेका निराकरण]

फिर वे कहते हैं—ब्रह्मा तो सृष्टिको उत्पन्न करते हैं, विष्णु रक्षा करते हैं, महेश संहार करते हैं सो ऐसा कहना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि इन कार्योंको करते हुए कोई कुछ करना चाहेगा, कोई कुछ करना चाहेगा, तब परस्पर विरोध होगा। और यदि तू कहेगा कि यह तो एक परमेश्वरका ही स्वरूप है विरोध किसलिये होगा? तो आप ही उत्पन्न करे, आप ही नष्ट करे ऐसे कार्यमें कौन फल है? यदि सृष्टि अपनेको अनिष्ट है तो किसलिये उत्पन्न की, और इष्ट है तो किसलिये नष्ट की? और यदि पहले इष्ट लगी तब उत्पन्न की, फिर अनिष्ट लगी तब नष्ट कर दी—ऐसा है तो परमेश्वरका स्वभाव अन्यथा हुआ कि सृष्टिका स्वरूप अन्यथा हुआ? यदि प्रथम पक्ष ग्रहण करेगा तो परमेश्वरका एक स्वभाव नहीं ठहरा। सो एक स्वभाव न रहनेका कारण क्या है? वह बतला, बिना कारण स्वभावका पलटना किसलिये होगा? और द्वितीय पक्ष ग्रहण करेगा

तो सृष्टि तो परमेश्वरके आधीन थी, उसे ऐसी क्यों होने दिया कि अपनेको अनिष्ट लगे ?

तथा हम पूछते हैं कि—ब्रह्मा सृष्टि उत्पन्न करते हैं सो कैसे उत्पन्न करते हैं ? एक प्रकार तो यह है कि— जैसे मन्दिर बनानेवाला चूना, पत्थर आदि सामग्री एकत्रित करके आकारादि बनाता है उसी प्रकार ब्रह्मा सामग्री एकत्रित करके सृष्टिकी रचना करता है। तो वह सामग्री जहाँ से लाकर एकत्रित की वह ठिकाना बतला और एक ब्रह्माने ही इतनी रचना बनायी सो पहले–बादमें बनायी होगी या अपने शरीरके हस्तादि बहुत किये होंगे ? वह कैसे है सो बतला ? जो बतलायेगा उसीमें विचार करनेसे विरुद्ध भासित होगा।

तथा एक प्रकार यह है—जिस प्रकार राजा आज्ञा करे तदनुसार कार्य होता है, उसी प्रकार ब्रह्माकी आज्ञासे सृष्टि उत्पन्न होती है, तो आज्ञा किनको दी ? और जिन्हें आज्ञा दी वे कहाँसे सामग्री लाकर कैसे रचना करते हैं सो बतला ?

तथा एक प्रकार यह है—जिस प्रकार ऋद्धिधारी इच्छा करे तदनुसार कार्य स्वयमेव बनता है। उसी प्रकार ब्रह्म इच्छा करे तदनुसार सृष्टि उत्पन्न होती है, तब ब्रह्मा तो इच्छाहीका कर्ता हुआ, लोक तो स्वयमेव ही उत्पन्न हुआ। तथा इच्छा तो परम-ब्रह्मने की थी, ब्रह्माका कर्त्तव्य क्या हुआ जिससे ब्रह्मको सृष्टिका उत्पन्न करनेवाला कहा ? तथा तू कहेगा—परमब्रह्मने भी इच्छा की और ब्रह्माने भी इच्छा की तब लोक उत्पन्न हुआ, तो मालूम होता है कि केवल परमब्रह्मकी इच्छा कार्यकारी नहीं है। वहाँ शक्तिहीनपना आया।

तथा हम पूछते हैं—यदि लोक केवल बनानेसे बनता है तब बनानेवाला तो सुखके अर्थ बनायेगा, तो इष्ट ही रचना करेगा। इस लोक में तो इष्ट पदार्थ थोड़े देखे जाते हैं, अनिष्ट बहुत देखे जाते हैं। जीवोंमें देवादिक बनाये सो तो रमण करनेके अर्थ व भक्ति करानेके अर्थ इष्ट बनाये, और लट, कीड़ी, कुत्ता, सुअर, सिंहादिक बनाये सो किस अर्थ बनाये ? वे तो रमणीक नहीं हैं, भक्ति नहीं करते, सर्व प्रकार अनिष्ट ही हैं। तथा दरिद्री, दुःखी नारकियोंको देखकर अपने जुगुप्सा, ग्लानि आदि दुःख उत्पन्न हों—ऐसे अनिष्ट किसलिये बनाये ? वहाँ वह कहता है—जीव अपने पापसे लट, कीड़ी, दरिद्री, नारकी आदि पर्याय भुगतते हैं। उससे पूछते हैं कि—बादमें तो पापहीके फलसे यह पर्यायें हुई कहो, परन्तु पहले लोकरचना करते ही इनको बनाया सो किस अर्थ बनाया ?

तथा बादमें जीव पापरूप परिणमित हुए सो कैसे परिणमित हुए ? यदि आप ही परिणमित हुए कहोगे तो मालूम होता है ब्रह्माने पहले तो उत्पन्न किये, फिर वे इसके आधीन नहीं रहे, इस कारण ब्रह्माको दुःख ही हुआ। तथा यदि कहोगे— ब्रह्माके परिणमित करनेसे परिणमित होते हैं तो उन्हें पापरूप किसलिये परिणमित किया ? जीव तो अपने उत्पन्न किये थे, उनका बुरा किस अर्थ किया ? इसलिये ऐसा भी नहीं बनता। तथा अजीवोंमें सुवर्ण, सुगन्धादिसहित वस्तुएँ बनायीं सो तो रमण करनेके अर्थ बनायीं, कुवर्ण, दुर्गन्धादि सहित वस्तुएँ दुःखदायक बनायीं सो किस अर्थ बनायीं ? इनके दर्शनादिसे ब्रह्माको कुछ सुख तो नहीं उत्पन्न होता होगा। तथा तू कहेगा पापी जीवोंको दुःख देनेके अर्थ बनायीं; तो अपने ही उत्पन्न किये जीव उनसे ऐसी दुष्टता किसलिये की, जो उनको दुःखदायक सामग्री पहले ही बनायी ? तथा धूल, पर्वतादि कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जो रमणीक भी नहीं हैं और दुःखदायक भी नहीं हैं, उन्हें किस अर्थ बनाया ? स्वयमेव तो जैसी-तैसी ही होती हैं और बनानेवाला जो बनाये वह तो प्रयोजन सहित ही बनाता है; इसलिये ब्रह्माको सृष्टिका कर्ता कैसे कहा जाता है ?

तथा विष्णुको लोकका रक्षक कहते हैं। रक्षक हो वह तो दो ही कार्य करता है—एक तो दुःख उत्पत्तिके कारण नहीं होने देता और एक विनष्ट होनेके कारण नहीं होने देता। सो लोकमें तो दुःखहीकी उत्पत्तिके कारण जहाँ-तहाँ देखे जाते हैं और उनसे जीवोंको दुःख ही देखा जाता है। क्षुधा-तृषादि लग रहे हैं, शीत-उष्णादिकसे दुःख होता है, जीव परस्पर दुःख उत्पन्न करते हैं, शस्त्रादि दुःखके कारण बन रहे हैं। तथा विनष्ट होनेके अनेक कारण बन रहे हैं। जीवोंको रोगादिक व अग्नि, विष, शस्त्रादिक पर्यायके नाशके कारण देखे जाते हैं, तथा अजीवोंके भी परस्पर विनष्ट होनेके कारण देखे जाते हैं। सो ऐसे दोनों प्रकारकी ही रक्षा नहीं की तो विष्णुने रक्षक होकर क्या किया ?

वह कहता है—विष्णु रक्षक ही है। देखो, क्षुधा-तृषादिकके अर्थ अन्न-जलादिक बनाये हैं; कीड़ीको कण और कुञ्जरको मन पहुँचाता है संकटमें सहायता करता है। मृत्युके कारण उपस्थित होने पर भी *टिटहरीकी भाँति उबारता है,—इत्यादि प्रकारसे विष्णु रक्षा करता है। उससे कहते हैं—ऐसा है तो जहाँ जीवोंको क्षुधा-तृषादिक बहुत

* एक प्रकारका पक्षी जो एक समुद्रके किनारे रहता था। समुद्र उसके अण्डे बहा ले जाता था। उसने दुःखी होकर गरुड़ पक्षी द्वारा विष्णुसे प्रार्थना की, तो उन्होंने समुद्रसे अण्डे दिलवा दिये। ऐसी पुराणोंमें कथा है।

पीड़ित करते हैं और अन्न-जलादिक नहीं मिलते, संकट पड़ने पर सहाय नहीं होती, किंचित् कारण पाकर मरण होजाता है, वहाँ विष्णुकी शक्ति हीन हुई या उसे ज्ञान ही नहीं हुआ? लोकमें वहुत तो ऐसे ही दुःखी होते हैं, मरण पाते हैं; विष्णुने रक्षा क्यों नहीं की? तव वह कहता है—यह जीवोंके अपने कर्तव्यका फल है। तव उससे कहते हैं कि–जैसे शक्तिहीन लोभी झूठा वैद्य किसीका कुछ भला हो तो कहता है मेरा किया हुआ है, और जहाँ वुरा हो, मरण हो तव कहता है इसकी ऐसी ही होनहार थी। उसी प्रकार तू कहता है कि भला हुआ वहाँ तो विष्णुका किया हुआ और वुरा हुआ सो इसके कर्तव्यका फल हुआ। इस प्रकार झूठी कल्पना किसलिये करें? या तो वुरा व भला दोनों विष्णुके किये कहो, या अपने कर्तव्यका फल कहो। यदि विष्णुका किया हुआ तो वहुत जीव दुःखी और शीघ्र मरते देखे जाते हैं सो ऐसा कार्य करे उसे रक्षक कैसे कहें? तथा अपने कर्तव्यका फल है तो करेगा सो पायेगा, विष्णु क्या रक्षा करेगा? तव वह कहता है—जो विष्णुके भक्त हैं उनकी रक्षा करता है। उससे कहते हैं कि—यदि ऐसा है तो कीड़ी, कुञ्जर आदि भक्त नहीं हैं उनको अन्नादिक पहुँचानेमें व संकटमें सहाय होनेमें व मरण न होनेमें विष्णुका कर्त्तव्य मानकर सर्वका रक्षक किसलिये मानता है, भक्तोंहीका रक्षक मान। सो भक्तोंका भी रक्षक नहीं दीखता, क्योंकि अभक्त भी भक्त पुरुषोंको पीड़ा उत्पन्न करते देखे जाते हैं। तव वह कहता है—कई जगह प्रह्लादादिककी सहाय की है। उससे कहते हैं—जहाँ सहाय की वहाँ तो तू वैसा ही मान, परन्तु हम तो प्रत्यक्ष म्लेच्छ मुसलमान आदि अभक्त पुरुषों द्वारा भक्त पुरुषोंको पीड़ित होते देख व मन्दिरादिको विघ्न करते देखकर पूछते हैं कि यहाँ सहाय नहीं करता, सो शक्ति ही नहीं है या खवर ही नहीं है। यदि शक्ति नहीं है तो इनसे भी हीन शक्तिका धारक हुआ। खवर भी नहीं है तो जिसे इतनी भी खवर नहीं है सो अजान हुआ। और यदि तू कहेगा—शक्ति भी है और जानता भी है; परन्तु इच्छा ऐसी ही हुई; तो फिर भक्तवत्सल किसलिये कहता है? इस प्रकार विष्णुको लोकका रक्षक मानना नहीं वनता।

फिर वे कहते हैं—महेश संहार करता है, सो उससे पूछते हैं कि—प्रथम तो महेश संहार सदा करता है या महाप्रलय होता है तभी करता है। यदि सदा करता है तो जिस प्रकार विष्णुकी रक्षा करनेसे स्तुति की, उसी प्रकार उसको संहार करनेसे निन्दा करो। क्योंकि रक्षा और संहार प्रतिपक्षी हैं। तथा यह संहार कैसे करता है? जैसे पुरुष हस्तादिसे किसीको मारे या कहकर मराये, उसी प्रकार महेश अपने अंगोंसे संहार करता है या आज्ञासे मराता है? तव क्षण क्षणमें संहार तो वहुत जीवोंका

सर्वलोकमें होता है, यह कैसे कैसे अंगोंसे व किस-किसको आज्ञा देकर युगपत् (-एक साथ) कैसे संहार करता है? तथा महेश तो इच्छा ही करता है, उसकी इच्छासे स्वयमेव उनका संहार होता है; तो उसके सदाकाल मारनेरूप दुष्ट परिणाम ही रहा करते होंगे और अनेक जीवोंको एकसाथ मारनेकी इच्छा कैसे होती होगी? तथा यदि महा प्रलय होनेपर संहार करता है तो परमब्रह्मकी इच्छा होने पर करता है या उसकी बिना इच्छा ही करता है? यदि इच्छा होनेपर करता है तो परमब्रह्मके ऐसा क्रोध कैसे हुआ कि सर्वका प्रलय करनेकी इच्छा हुई? क्योंकि किसी कारण बिना नाश करनेकी इच्छा नहीं होती और नाश करनेकी जो इच्छा उसीका नाम क्रोध है सो कारण बतला। तथा तू कहेगा—परमब्रह्मने यह खेल बनाया था, फिर दूर कर दिया, कारण कुछ भी नहीं है। तो खेल बनानेवालेको भी खेल इष्ट लगता है तब बनाता है, अनिष्ट लगता है तब दूर करता है। यदि उसे यह लोक इष्ट-अनिष्ट लगता है तो उसे लोकसे राग-द्वेष तो हुआ। ब्रह्मका स्वरूप साक्षीभूत किसलिये कहते हो, साक्षीभूत तो उसका नाम है जो स्वयमेव जैसा हो उसी प्रकार देखता-जानता रहे। यदि इष्ट-अनिष्ट मानकर उत्पन्न करे, नष्ट करे उसे साक्षीभूत कैसे कहें; क्योंकि साक्षीभूत रहना और कर्त्ता हर्त्ता होना यह दोनों परस्पर विरोधी हैं; एकको दोनों सम्भव नहीं हैं। तथा परमब्रह्मके पहले तो यह इच्छा हुई थी कि "मैं एक हूँ सो बहुत होऊँगा" तब बहुत हुआ। अब ऐसी इच्छा हुई होगी कि "मैं बहुत हूँ सो एक होऊँगा," सो जैसे कोई भोलेपनसे कार्य करके फिर उस कार्यको दूर करना चाहे, उसी प्रकार परमब्रह्मने भी बहुत होकर एक होनेकी इच्छा की सो मालूम होता है कि बहुत होनेका कार्य किया होगा सो भोलेपनहीसे किया होगा, आगामी ज्ञानसे किया होता तो किसलिये उसे दूर करनेकी इच्छा होती?

तथा यदि परमब्रह्मकी इच्छा बिना ही महेश संहार करता है तो यह परमब्रह्मका व ब्रह्माका विरोधी हुआ। फिर पूछते हैं—यह महेश लोकका संहार कैसे करता है? अपने अंगोंहीसे संहार करता है कि इच्छा होने पर स्वयमेव ही संहार होता है? यदि अपने अंगोंसे संहार करता है तो सबका एक साथ संहार कैसे करता है? तथा इसकी इच्छा होनेसे स्वयमेव संहार होता है, तब इच्छा तो परमब्रह्मने की थी, इसने संहार क्यों किया?

फिर हम पूछते हैं कि—संहार होने पर सर्व लोकमें जो जीव-अजीव थे वे कहाँ गये? तब वह कहता है—जीवोंमें जो भक्त थे वे तो ब्रह्ममें मिल गये, अन्य मायामें मिल

गये। अब इससे पूछते हैं कि—माया ब्रह्मसे अलग रहती है कि बादमें एक होजाती है? यदि अलग रहती है तो ब्रह्मवत् माया भी नित्य हुई, तब अद्वैत ब्रह्म नहीं रहा। और माया ब्रह्ममें एक होजाती है तो जो जीव मायामें मिले थे वे भी मायाके साथ ब्रह्ममें मिल गये तो महाप्रलय होनेपर सर्वका परमब्रह्ममें मिलना ठहरा ही, तब मोक्षका उपाय किसलिये करें? तथा जो जीव मायामें मिले वे पुनः लोक रचना होनेपर वे ही जीव लोकमें आयेंगे कि वे ब्रह्ममें मिल गये थे इसलिये नये उत्पन्न होंगे? यदि वे ही आयेंगे तो मालूम होता है अलग-अलग रहते हैं, मिले क्यों कहते हो? और नये उत्पन्न होंगे तो जीवका अस्तित्व थोड़ेकाल पर्यंत ही रहता है, फिर किसलिये मुक्त होनेका उपाय करें? तथा वह कहता है—पृथ्वी आदि हैं वे मायामें मिलते हैं, सो माया अमूर्तिक सचेतन है या मूर्त्तिक अचेतन है? यदि अमूर्तिक सचेतन है तो अमूर्तिकमें मूर्तिक अचेतन कैसे मिलेगा? और मूर्तिक अचेतन है तो यह ब्रह्ममें मिलता है या नहीं? यदि मिलता है तो इसके मिलनेसे ब्रह्म भी मूर्तिक अचेतनसे मिश्रित हुआ। और नहीं मिलता है तो अद्वैतता नहीं रही। और तू कहेगा—यह सर्व अमूर्तिक अचेतन हो जाते हैं तो आत्मा और शरीरादिककी एकता हुई, सो यह संसारी एकता मानता ही है, इसे अज्ञानी किसलिये कहें? फिर पूछते हैं—लोकका प्रलय होने पर महेशका प्रलय होता है या नहीं होता? यदि होता है तो एकसाथ होता है या आगे—पीछे होता है? यदि एकसाथ होता है तो आप नष्ट होता हुआ लोकको नष्ट कैसे करेगा? और आगे-पीछे होता है तो महेश लोकको नष्ट करके आप कहाँ रहा, आप भी तो सृष्टिमें ही था? इस प्रकार महेश को सृष्टिका संहारकर्ता मानते हैं सो असम्भव है। इस प्रकारसे व अन्य अनेक प्रकारसे ब्रह्मा, विष्णु, महेशको सृष्टिका उत्पन्न करनेवाला, रक्षा करनेवाला, संहार करनेवाला मानना नहीं बनता, इसलिये लोकको अनादिनिधन मानना।

[लोकके अनादिनिधनपनेकी पुष्टि]

इस लोकमें जो जीवादि पदार्थ हैं वे न्यारे-न्यारे अनादिनिधन हैं; तथा उनकी अवस्थाका परिवर्तन होता रहता है, उस अपेक्षासे उत्पन्न-विनष्ट होते कहे जाते हैं। तथा जो स्वर्ग-नरक द्वीपादिक हैं वे अनादिसे इसी प्रकार ही हैं और सदाकाल इसी प्रकार रहेंगे। कदाचित् तू कहेगा—विना बनाये ऐसे आकारादि कैसे हुए? सो हुए होंगे तो बनाने पर ही हुए होंगे। ऐसा नहीं है, क्योंकि अनादिसे ही जो पाये जाते हैं वहाँ तर्क कैसा? जिसप्रकार तू परमब्रह्मका स्वरूप अनादिनिधन मानता है, उसी प्रकार उन जीवादिक व स्वर्गादिकको अनादिनिधन मानते हैं। तू कहेगा—जीवादिक व स्वर्गादिक

कैसे हुए ? हम कहेंगे परमब्रह्म कैसे हुआ ? तू कहेगा—इनकी रचना ऐसी किसने की ? हम कहेंगे—परमब्रह्मको ऐसा किसने बनाया ? तू कहेगा—परमब्रह्म स्वयंसिद्ध है; हम कहेंगे—जीवादिक व स्वर्गादिक स्वयंसिद्ध हैं; तू कहेगा—इनकी और परमब्रह्मकी समानता कैसे सम्भव है ? तो सम्भावनामें दूषण बतला। लोकको नवीन उत्पन्न करना, उसका नाश करना उसमें तो हमने अनेक दोष दिखाये। लोकको अनादिनिधन माननेसे क्या दोष है ? सो तू बतला। यदि तू परमब्रह्म मानता है सो अलग कोई है ही नहीं; इस संसारमें जीव हैं वे ही यथार्थ ज्ञानसे मोक्षमार्ग साधनसे सर्वज्ञवीतराग होते हैं।

यहाँ प्रश्न है कि—तुम तो न्यारे-न्यारे जीव अनादिनिधन कहते हो; मुक्त होनेके पश्चात् तो निराकार होते हैं, वहाँ न्यारे-न्यारे कैसे सम्भव हैं ?

समाधानः—मुक्त होनेके पश्चात् सर्वज्ञको दिखते हैं या नहीं दिखते ? यदि दिखते हैं तो कुछ आकार दिखता ही होगा। बिना आकार देखे क्या देखा ? और नहीं दिखते तो या तो वस्तु ही नहीं है या सर्वज्ञ नहीं है। इसलिये इन्द्रियज्ञानगम्य आकार नहीं है उस अपेक्षा निराकार हैं और सर्वज्ञ ज्ञानगम्य हैं इसलिये आकारवान हैं। जब आकारवान ठहरे तब अलग अलग हों तो क्या दोष लगेगा ? और यदि तू जाति अपेक्षा एक कहे तो हम भी मानते हैं। जैसे गेहूँ भिन्न-भिन्न हैं उनकी जाति एक है;—इसप्रकार एक मानें तो कुछ दोष नहीं है। इसप्रकार यथार्थ श्रद्धानसे लोकमें सर्व पदार्थ अकृत्रिम भिन्न-भिन्न अनादिनिधन मानना। यदि वृथा ही भ्रमसे सच-झूठका निर्णय न करे तो तू जाने, अपने श्रद्धानका फल तू पायेगा।

[ब्रह्मसे कुलप्रवृत्ति आदिका प्रतिषेध]

तथा वे ही ब्रह्मसे पुत्र-पौत्रादि द्वारा कुलप्रवृत्ति कहते हैं। और कुलोंमें राक्षस, मनुष्य, देव, तिर्यंचोंके परस्पर प्रसूति भेद बतलाते हैं। वहाँ देवसे मनुष्य व मनुष्यसे देव व तिर्यंचसे मनुष्य इत्यादि किसी माता किसी पितासे किसी पुत्र-पुत्रीका उत्पन्न होना बतलाते हैं सो कैसे सम्भव है ? तथा मनहीसे व पवनादिसे व वीर्य सूँघने आदिसे प्रसूतिका होना बतलाते हैं सो प्रत्यक्षविरुद्ध भासित होता है। ऐसा होनेसे पुत्र-पौत्रादिकका नियम कैसे रहा ? तथा बड़े-बड़े महन्तोंको अन्य-अन्य माता-पितासे हुआ कहते हैं; सो महन्त पुरुष कुशीलवान माता-पिताके कैसे उत्पन्न होंगे ? यह तो लोकमें गाली है। फिर ऐसा कहकर उनकी महंतता किसलिये कहते हैं ?

[अवतार मीमांसा]

तथा गणेशादिककी मैल आदिसे उत्पत्ति बतलाते हैं व किसीके अंग किसीमें जुड़े बतलाते हैं। इत्यादि अनेक प्रत्यक्षविरुद्ध कहते हैं। तथा चौबीस अवतार* हुए कहते हैं; वहाँ कितने ही अवतारोंको पूर्णावतार कहते हैं; कितनोंको अंशावतार कहते हैं। सो पूर्णावतार हुए तब ब्रह्म अन्यत्र व्यापक रहा या नहीं रहा? यदि रहा तो इन अवतारोंको पूर्णावतार किसलिये कहते हो? यदि (व्यापक) नहीं रहा तो एतावन्मात्र ही ब्रह्म रहा। तथा अंशावतार हुए वहाँ ब्रह्मका अंश तो सर्वत्र कहते हो, इनमें क्या अधिकता हुई? तथा कार्य तो तुच्छ था और उसके लिये ब्रह्मने स्वयं अवतार धारण किया कहते हैं सो मालूम होता है बिना अवतार धारण किये ब्रह्मकी शक्ति वह कार्य करनेकी नहीं थी; क्योंकि जो कार्य अल्प उद्यमसे हो वहाँ बहुत उद्यम किसलिये करें? तथा अवतारोंमें मच्छ, कच्छादि अवतार हुए सो किंचित् कार्य करनेके अर्थ हीन तिर्यंच पर्यायरूप हुआ सो कैसे सम्भव है? तथा प्रह्लादके अर्थ नरसिंह अवतार हुआ, सो हरिणांकुशको ऐसा क्यों होने दिया, और कितने ही काल तक अपने भक्तको किसलिये दुःख दिलाया? तथा ऐसा रूप किसलिये धारण किया? तथा नाभिराजाके वृषभावतार हुआ बतलाते हैं, सो नाभिको पुत्रपनेका सुख उपजानेको अवतार धारण किया। घोर तपश्चरण किसलिये किया? उनको तो कुछ साध्य था ही नहीं। कहेगा कि जगतके दिखलानेको किया; तब कोई अवतार तो तपश्चरण दिखाये, कोई अवतार भोगादिक दिखाये, वहाँ जगत किसको भला जानेगा?

फिर (वह) कहता है—एक अरहंत नामका राजा हुआ✱ उसने वृषभावतारका मत अंगीकार करके जैनमत प्रगट किया, सो जैनमें कोई एक अरहंत नहीं हुआ। जो सर्वज्ञपद पाकर पूजने योग्य हो उसीका नाम अर्हत् है। तथा राम-कृष्ण इन दोनों अवतारोंको मुख्य कहते हैं सो रामावतारने क्या किया? सीताके अर्थ विलाप करके रावणसे लड़कर उसे मारकर राज्य किया। और कृष्णावतारमें पहले ग्वाला होकर परस्त्री गोपियोंके अर्थ नाना विपरीत निंद्य ×चेष्टाएँ करके, फिर जरासिंधु आदिको

---

* सनत्कुमार-१, शूकरावतार-२, देवर्षिनारद-३, नर-नारायण-४, कपिल-५, दत्तात्रय-६, यज्ञपुरुष-७, ऋषभावतार-८, पृथुअवतार-९, मत्स्य-१०, कच्छप-११, धन्वन्तरि-१२, मोहिनी-१३, नृसिंहावतार-१४, वामन-१५, परशुराम-१६, व्यास-१७, हंस-१८, रामावतार-१९, कृष्णावतार-२०, हयग्रीव-२१, हरि-२२, बुद्ध-२३, और कल्कि यह २४ अवतार माने जाते हैं।

✱ भागवत स्कन्ध-५, अध्याय ६, ७, ११।

× विष्णु पु० अध्याय १३, श्लोक ४४ से ६० तक।
ब्रह्मपुराण अ० १८९ और भागवत स्कन्ध १०, अ० ३०, ४८।

मारकर राज्य किया। सो ऐसे कार्य करनेमें क्या सिद्धि हुई? तथा राम-कृष्णादिकका एक स्वरूप कहते हैं, सो बीचमें इतने काल कहाँ रहे? यदि ब्रह्ममें रहे तो अलग रहे या एक रहे? अलग रहे तो मालूम होता है वे ब्रह्मसे अलग रहते हैं। एक रहें तो राम ही कृष्ण हुए, सीता ही रुक्मिणी हुई—इत्यादि कैसे कहते हैं? तथा रामावतारमें तो सीताको मुख्य करते हैं और कृष्णावतारमें सीताको रुक्मिणी हुई कहते हैं और उसे तो प्रधान नहीं कहते, राधिकाकुमारीको मुख्य करते हैं। तथा पूछें तब कहते हैं—राधिका भक्त थी; सो निज स्त्रीको छोड़कर दासीको मुख्य करना कैसे बनता है? तथा कृष्णके तो राधिका सहित पर स्त्री सेवनके सर्व विधान हुए सो यह भक्ति कैसी की, ऐसे कार्य तो महानिंद्य हैं। तथा रुक्मिणीको छोड़कर राधाको मुख्य किया, सो परस्त्री सेवनको भला जान किया होगा। तथा एक राधामें ही आसक्त नहीं हुए, अन्य गोपिका ÷कुब्जा आदि अनेक पर स्त्रियोंमें भी आसक्त हुआ। सो यह अवतार ऐसे ही कार्यका अधिकारी हुआ। फिर कहते हैं—लक्ष्मी उसकी स्त्री है, और धनादिकको लक्ष्मी कहते हैं, सो यह तो पृथ्वी आदिमें जिस प्रकार पाषाण, धूल हैं, उसी प्रकार रत्न, सुवर्णादि धन देखते हैं; यह अलग लक्ष्मी कौन है जिसका भर्तार नारायण है? तथा सीतादिकको मायाका स्वरूप कहते हैं, सो इनमें आसक्त हुए तब मायामें आसक्त कैसे न हुए? कहाँ तक कहें, जो निरूपण करते हैं सो विरुद्ध करते हैं। परन्तु जीवोंको भोगादिककी कथा अच्छी लगती है, इसलिये उनका कहना प्रिय लगता है।

ऐसे अवतार कहे हैं इनको ब्रह्मस्वरूप कहते हैं। तथा औरोंको भी ब्रह्मस्वरूप कहते हैं। एक तो महादेवको ब्रह्मस्वरूप मानते हैं, उसे योगी कहते हैं, सो योग किसलिये ग्रहण किया? तथा मृगछाला, भस्म धारण करते हैं सो किस अर्थ धारण की है? तथा रुण्डमाला पहिनते हैं सो हड्डीका छूना भी निंद्य है उसे गलेमें किस अर्थ धारण करते हैं? सर्पादि सहित हैं सो इसमें कौन बड़ाई है? आक-धतूरा खाता है सो इसमें कौन भलाई है? त्रिशूलादि रखता है सो किसका भय है? तथा पार्वतीको संग लिये है, परन्तु योगी होकर स्त्री रखता है सो ऐसी विपरीतता किसलिये की? कामासक्त था तो घरहीमें रहता, तथा उसने नानाप्रकार विपरीत चेष्टा की उसका प्रयोजन तो कुछ भासित नहीं होता, बावले जैसा कर्तव्य भासित होता है, उसे ब्रह्मस्वरूप कहते हैं।

÷ भागवत स्कन्ध १० अ० ४८, १-११।

तथा कभी कृष्णको इसका सेवक कहते हैं कभी इसको कृष्णका सेवक कहते हैं कभी दोनोंको एक ही कहते हैं, कुछ ठिकाना नहीं है। तथा सूर्यादिकको ब्रह्मका स्वरूप कहते हैं। तथा ऐसा कहते हैं कि विष्णुने कहा है—धातुओंमें सुवर्ण, वृक्षोंमें कल्पवृक्ष, जुएमें झूठ इत्यादिमें मैं ही हूँ; सो पूर्वापर कुछ विचार नहीं करते। किसी एक अङ्गसे कितने ही संसारी जिसे महंत मानते हैं, उसीको ब्रह्मका स्वरूप कहते हैं; सो ब्रह्म सर्वव्यापी है तो ऐसा विशेष किसलिये किया? और सूर्यादिमें व सुवर्णादिमें ही ब्रह्म है तो सूर्य उजाला करता है, सुवर्ण धन है इत्यादि गुणोंसे ब्रह्म माना, सो दीपादिक भी सूर्यवत् उजाला करते हैं, चाँदी, लोहादि भी सुवर्णवत् धन हैं—इत्यादि गुण अन्य पदार्थोंमें भी हैं, उन्हें भी ब्रह्म मानो! बड़ा-छोटा मानो, परन्तु जाति तो एक हुई। सो झूठी महंतता ठहरानेके अर्थ अनेक प्रकारकी युक्ति बनाते हैं।

तथा अनेक ज्वालामालिनी आदि देवियोंको मायाका स्वरूप कहकर हिंसादिक पाप उत्पन्न करके उन्हें पूजना ठहराते हैं, सो माया तो निंद्य है, उसका पूजना कैसे सम्भव है? और हिंसादिक करना कैसे भला होगा? तथा गाय, सर्प आदि पशु अभक्ष्य भक्षणादिसहित उन्हें पूज्य कहते हैं, अग्नि, पवन, जलादिकको देव ठहराकर पूज्य कहते हैं, वृक्षादिकको युक्ति बनाकर पूज्य कहते हैं। बहुत क्या कहें? पुरुषलिंगी नाम सहित जो हों उनमें ब्रह्मकी कल्पना करते हैं और स्त्रीलिंगी नाम सहित हों उनमें मायाकी कल्पना करके अनेक वस्तुओंका पूजन ठहराते हैं। इनके पूजनेसे क्या होगा सो कुछ विचार नहीं है। झूठे लौकिक प्रयोजनके कारण ठहराकर जगतको भ्रमाते हैं।

तथा वे कहते हैं—विधाता शरीरको गढ़ता है और यम मारता है, मरते समय यमके दूत लेने आते हैं, मरनेके पश्चात् मार्गमें बहुत काल लगता है, तथा वहाँ पुण्य-पापका लेखा करते हैं और वहाँ दण्डादिक देते हैं सो यह कल्पित झूठी युक्ति है। जीव तो प्रतिसमय अनन्त उपजते—मरते हैं, उनका युगपत् ऐसा होना कैसे सम्भव है? और इस प्रकार माननेका कोई कारण भी भासित नहीं होता।

तथा वे मरनेके पश्चात् श्राद्धादिकसे उसका भला होना कहते हैं, सो जीवित दशामें तो किसीके पुण्य-पाप द्वारा कोई सुखी-दुःखी होता दिखायी नहीं देता, मरनेके बाद कैसे होगा? यह युक्ति मनुष्योंको भ्रमित करके अपना लोभ साधनेके अर्थ बनायी है? कीड़ी, पतंगा, सिंहादिक जीव भी तो उपजते—मरते हैं, उनको तो प्रलयके जीव ठहराते हैं; परन्तु जिस प्रकार मनुष्यादिकके जन्म-मरण होते देखे जाते हैं उसी प्रकार

उनके होते देखे जाते हैं। झूठी कल्पना करनेसे क्या सिद्धि है? तथा वे शास्त्रोंमें कथादिकका निरूपण करते हैं वहाँ विचार करने पर विरुद्ध भासित होता है।

[यज्ञमें पशुहिंसाका प्रतिषेध]

तथा यज्ञादिक करना धर्म ठहराते हैं; सो वहाँ बड़े जीव उनका होम करते हैं, अग्नि आदिकका महा आरम्भ करते हैं; वहाँ जीव घात होता है; सो उन्हींके शास्त्रोंमें व लोकमें हिंसाका निषेध है, परन्तु ऐसे निर्दय हैं कि कुछ गिनते नहीं हैं। और कहते हैं—"यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः" इस यज्ञके ही अर्थ पशु बनाये हैं, वहाँ घात करनेका दोष नहीं है। तथा मेघादिकका होना, शत्रु आदिका विनष्ट होना इत्यादि फल बतलाकर अपने लोभके अर्थ राजादिकोंको भ्रमित करते हैं। सो कोई विषसे जीवित होना कहे तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है, उसी प्रकार हिंसा करनेसे धर्म और कार्यसिद्धि कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। परन्तु जिनकी हिंसा करना कहा, उनकी तो कुछ शक्ति नहीं है, किसीको उनकी पीड़ा नहीं है। यदि किसी शक्तिवान व इष्टका होम करना ठहराया होता तो ठीक रहता। पापका भय नहीं है, इसलिये पापी दुर्बलके घातक होकर अपने लोभके अर्थ अपना व अन्यका बुरा करनेमें तत्पर हुए हैं।

तथा वे मोक्षमार्ग भक्तियोग और ज्ञानयोग द्वारा दो प्रकारसे प्ररूपित करते हैं। अब, भक्तियोग द्वारा मोक्षमार्ग कहते हैं उसका स्वरूप कहा जाता है:—

[भक्तियोग मीमांसा]

वहाँ भक्ति निर्गुण-सगुण भेदसे दो प्रकारकी कहते हैं। वहाँ अद्वैत परब्रह्मकी भक्ति करना सो निर्गुण भक्ति है; वह इस प्रकार करते हैं—तुम निराकार हो, निरंजन हो, मन-वचनसे अगोचर हो, अपार हो, सर्वव्यापी हो, एक हो, सर्वके प्रतिपालक हो, अधम उधारन हो, सर्वके कर्त्ताहर्त्ता हो इत्यादि विशेषणोंसे गुण गाते हैं; सो इनमें कितने ही तो निराकारादि विशेषण हैं सो अभावरूप हैं, उनको सर्वथा माननेसे अभाव ही भासित होता है। क्योंकि आकारादि बिना वस्तु कैसे होगी? तथा कितने ही सर्वव्यापी आदि विशेषण असम्भवी हैं सो उनका असम्भवपना पहले दिखाया ही है। फिर ऐसा कहते हैं कि—जीवबुद्धिसे मैं तुम्हारा दास हूँ, शास्त्रदृष्टिसे तुम्हारा अंश हूँ, तत्त्वबुद्धिसे "तू ही मैं हूँ," सो यह तीनों ही भ्रम हैं। यह भक्ति करनेवाला चेतन है या जड़ है? यदि चेतन है तो वह चेतना ब्रह्मकी है या इसीकी है? यदि ब्रह्मकी है तो मैं दास हूँ ऐसा मानना तो चेतनाहीके होता है सो चेतना ब्रह्मका स्वभाव ठहरा और स्वभाव स्वभावीके

तादात्म्य सम्बन्ध है वहाँ दास और स्वामीका सम्बन्ध कैसे बनता है? दास और स्वामीका सम्बन्ध तो भिन्न पदार्थ हो तभी बनता है। तथा यदि यह चेतना इसीकी है तो यह अपनी चेतनाका स्वामी भिन्न पदार्थ ठहरा, तब मैं अंश हूँ व "जो तू है सो मैं हूँ"—ऐसा कहना झूठा हुआ। और यदि भक्ति करनेवाला जड़ है तो जड़के बुद्धिका होना असम्भव है, ऐसी बुद्धि कैसे हुई? इसलिये "मैं दास हूँ" ऐसा कहना तो तभी बनता है जब अलग-अलग पदार्थ हों। और "तेरा मैं अंश हूँ" ऐसा कहना बनता ही नहीं। क्योंकि 'तू" और "मैं" ऐसा तो भिन्न हो तभी बनता है, परन्तु अंश-अंशी भिन्न कैसे होंगे? अंशी तो कोई भिन्न वस्तु है नहीं, अंशोंका समुदाय वही अंशी है। और तू है सो मैं हूँ—ऐसा वचन ही विरुद्ध है। एक पदार्थमें अपनत्व भी माने और उसे पर भी माने सो कैसे सम्भव है? इसलिये भ्रम छोड़कर निर्णय करना। तथा कितने नाम ही जपते हैं, सो जिसका नाम जपते हैं उसका स्वरूप पहिचाने बिना केवल नामहीका जपना कैसे कार्यकारी होगा? यदि तू कहेगा, नामहीका अतिशय है, तो जो नाम ईश्वरका है वही नाम किसी पापी पुरुषका रखा, वहाँ दोनोंके नाम उच्चारणमें फलकी समानता हो, सो कैसे बनेगा? इसलिये स्वरूपका निर्णय करके पश्चात् भक्ति करने योग्य हो उसकी भक्ति करना। इस प्रकार निर्गुणभक्तिका स्वरूप बतलाया।

तथा जहाँ काम-क्रोधादिसे उत्पन्न हुए कार्योंका वर्णन करके स्तुति आदि करें उसे सगुणभक्ति कहते हैं। वहाँ सगुणभक्तिमें लौकिक शृंगार वर्णन जैसा नायक-नायिकाका करते हैं वैसा ठाकुर-ठकुरानीका वर्णन करते हैं। स्वकीया-परकीया स्त्री सम्बन्धी संयोग-वियोगरूप सर्वव्यवहार वहाँ निरूपित करते हैं। तथा स्नान करती स्त्रियोंके वस्त्र चुराना, दधि लूटना, स्त्रियोंके पैर पड़ना, स्त्रियोंके आगे नाचना इत्यादि जिन कार्योंको करते संसारी जीव भी लज्जित हों उन कार्योंका करना ठहराते हैं; सो ऐसा कार्य अतिकामपीड़ित होनेपर ही बनता है। तथा युद्धादिक किये कहते हैं सो यह क्रोधके कार्य हैं। अपनी महिमा दिखानेके अर्थ उपाय किये कहते हैं सो यह मानके कार्य हैं। अनेक छल किये कहते हैं सो मायाके कार्य हैं। विषयसामग्री प्राप्तिके अर्थ यत्न किये कहते हैं सो यह लोभके कार्य हैं। कौतूहलादिक किये कहते हैं सो हास्यादिकके कार्य हैं।—ऐसे यह कार्य क्रोधादिसे युक्त होनेपर ही बनते हैं। इस प्रकार काम-क्रोधादिसे उत्पन्न कार्योंको प्रगट करके कहते हैं कि—हम स्तुति करते हैं; सो काम-क्रोधादिके कार्य ही स्तुति योग्य हुए, तो निंद्य कौन ठहरेंगे? जिनकी लोकमें, शास्त्रमें अत्यन्त निन्दा पायी जाती है उन कार्योंका वर्णन करके स्तुति करना तो हस्तचुगल जैसा कार्य हुआ। हम

पूछते हैं—कोई किसीका नाम तो न कहे, और ऐसे कार्योंहीका निरूपण करके कहे कि किसीने ऐसे कार्य किये हैं, तब तुम उसे भला जानोगे या बुरा जानोगे? यदि भला जानोगे तो पापी भले हुए, बुरा कौन रहा? बुरा जानोगे तो ऐसे कार्य कोई करो, वही बुरा हुआ। पक्षपात रहित न्याय करो। यदि पक्षपातसे कहोगे कि—ठाकुरका ऐसा वर्णन करना भी स्तुति है तो ठाकुरने ऐसे कार्य किसलिये किये? ऐसे निंद्य कार्य करनेमें क्या सिद्धि हुई? कहोगे कि—प्रवृत्ति चलानेके अर्थ किये, तो परस्त्री सेवन आदि निंद्य कार्योंको प्रवृत्ति चलानेमें आपको व अन्यको क्या लाभ हुआ? इसलिये ठाकुरको ऐसा कार्य करना सम्भव नहीं है। तथा यदि ठाकुरने कार्य नहीं किये, तुमही कहते हो, तो जिसमें दोप नहीं था उसे दोष लगाया। इसलिये ऐसा वर्णन करना तो निन्दा है—स्तुति नहीं है। तथा स्तुति करते हुए जिन गुणोंका वर्णन करते हैं उस रूप ही परिणाम होते हैं व उन्हींमें अनुराग आता है। सो काम-क्रोधादि कार्योंका वर्णन करते हुए आप भी काम-क्रोधादिरूप होगा अथवा काम-क्रोधादिमें अनुरागी होगा, सो ऐसे भाव तो भले नहीं हैं। यदि कहोगे—भक्त ऐसा भाव नहीं करते, तो परिणाम हुए बिना वर्णन कैसे किया? उनका अनुराग हुए बिना भक्ति कैसे की? यदि यह भाव ही भले हों तो ब्रह्मचर्यको व क्षमादिकको भला किसलिये कहें? इनके तो परस्पर प्रतिपक्षीपना है।

तथा सगुणभक्ति करनेके अर्थ राम-कृष्णादिकी मूर्ति भी शृंगारादि किये, वक्रत्वादि सहित, स्त्री आदि संग सहित बनाते हैं, जिसे देखते ही काम-क्रोधादिभाव प्रगट हो आयें। और महादेवके लिंगहीका आकार बनाते हैं। देखो विडम्बना, जिसका नाम लेनेसे लाज आती है, जगत् जिसे ढँक रखता है, उसके आकारकी पूजा कराते हैं। क्या उसके अन्य अंग नहीं थे? परन्तु बहुत विडम्बना ऐसा ही करनेसे प्रगट होती है। तथा सगुण भक्तिके अर्थ नानाप्रकारकी विषयसामग्री एकत्रित करते हैं। वहाँ नाम ठाकुरका करते हैं और स्वयं उसका उपभोग करते हैं। भोजनादि बनाते हैं और ठाकुरको भोग लगाया कहते हैं, फिर आप ही प्रसादकी कल्पना करके उसका भक्षणादि करते हैं। सो यहाँ पूछते हैं—प्रथम तो ठाकुरके क्षुधा-तृषाकी पीड़ा होगी; न हो तो ऐसी कल्पना कैसे सम्भव है? और क्षुधादिसे पीड़ित होगा तब व्याकुल होकर ईश्वर दुःखी हुआ, औरोंका दुःख कैसे दूर करेगा? तथा भोजनादि सामग्री आपने तो उनके अर्थ अर्पण की सो की, फिर प्रसाद तो ठाकुर दे तब होता है, अपना ही किया तो नहीं होता। जैसे कोई राजाको भेंट करे, फिर राजा इनाम दे तो उसे ग्रहण करना योग्य है, परन्तु आप राजाको भेंट करे, वहाँ राजा तो कुछ कहे नहीं और आप ही "राजाने मुझे इनाम दी"—ऐसा

कहकर उसे अंगीकार करे तो यह खेल हुआ। उसी प्रकार यहाँ भी ऐसा करनेसे भक्ति तो हुई नहीं हास्य करना हुआ। फिर ठाकुर और तुम दो हो या एक हो ? दो हो तो तूने भेंट की, पश्चात् ठाकुर दे तो ग्रहण करना चाहिये, अपने आप ग्रहण किसलिये करता है ? और तू कहेगा—ठाकुरकी तो मूर्ति है, इसलिये मैं ही कल्पना करता हूँ, तो ठाकुरके करनेका कार्य तूने ही किया, तब तू ही ठाकुर हुआ। और यदि एक हो तो भेंट करना, प्रसाद कहना झूठा हुआ। एक होनेपर यह व्यवहार सम्भव नहीं होता; इसलिये भोजनासक्त पुरुषों द्वारा ऐसी कल्पना की जाती है।

तथा ठाकुरजीके अर्थ नृत्य-गानादि कराना, शीत, ग्रीष्म, वसन्तादि ऋतुओंमें संसारियोंके सम्भवित ऐसी विषयसामग्री एकत्रित करना इत्यादि कार्य करते हैं। वहाँ नाम तो ठाकुरका लेना और इन्द्रियोंके विषय अपने पोषना सो विषयासक्त जीवों द्वारा ऐसा उपाय किया गया है। तथा वहाँ जन्म, विवाहादिक की व सोने-जागने इत्यादिकी कल्पना करते हैं सो जिस प्रकार लड़कियाँ गुड्डा-गुड़ियोंका खेल बनाकर कौतूहल करती हैं, उसी प्रकार यह भी कौतूहल करना है, कुछ परमार्थरूप गुण नहीं है। तथा बाल-ठाकुरका स्वांग बनाकर चेष्टाएँ दिखाते हैं, उससे अपने विषयोंका पोषण करते हैं और कहते हैं—यह भी भक्ति है, इत्यादि क्या-क्या कहें ? ऐसी अनेक विपरीतताएँ सगुण भक्तिमें पायी जाती हैं। इस प्रकार दोनों प्रकारकी भक्तिसे मोक्षमार्ग कहते हैं सो उसे मिथ्या दिखाया। अब अन्यमत प्ररूपित ज्ञानयोगसे मोक्षमार्गका स्वरूप बतलाते हैं—

[ज्ञानयोग मीमांसा]

एक अद्वैत सर्वव्यापी परब्रह्मको जानना उसे ज्ञान कहते हैं सो उसका मिथ्यापना तो पहले कहा ही है। तथा अपनेको सर्वथा शुद्ध ब्रह्मस्वरूप मानना, काम-क्रोधदिक व शरीरादिकको भ्रम जानना उसे ज्ञान कहते हैं सो यह भ्रम है। आप शुद्ध है तो मोक्षका उपाय किसलिये करता है ? आप शुद्ध ब्रह्म ठहरा तब कर्तव्य क्या रहा ? तथा अपनेको प्रत्यक्ष काम-क्रोधादिक होते देखे जाते हैं, और शरीरादिकका संयोग देखा जाता है, सो इनका अभाव होगा तब होगा, वर्तमानमें इनका सद्भाव मानना भ्रम कैसे हुआ ? फिर कहते हैं—मोक्षका उपाय करना भी भ्रम है। जैसे—रस्सी तो रस्सी ही है, उसे सर्प जान रहा था सो भ्रम था, भ्रम मिटनेपर रस्सी ही है; उसी प्रकार आप तो ब्रह्म ही है, अपनेको अशुद्ध जान रहा था सो भ्रम था, भ्रम मिटने पर आप ब्रह्म ही है।—सो ऐसा कहना मिथ्या है। यदि आप शुद्ध हो और उसे अशुद्ध जाने तो भ्रम

है, और आप काम-क्रोधादि सहित अशुद्ध हो रहा है उसे अशुद्ध जाने तो भ्रम कैसे होगा ? शुद्ध जाननेपर भ्रम होगा। सो झूठे भ्रमसे अपनेको शुद्धब्रह्म माननेसे क्या सिद्धि है ? तथा तू कहेगा—यह काम-क्रोधादिक तो मनके धर्म हैं, ब्रह्म न्यारा है। तो तुझसे पूछते हैं—मन तेरा स्वरूप है या नहीं ? यदि है तो काम-क्रोधादिक भी तेरे ही हुए; और नहीं है तो तू ज्ञानस्वरूप है या जड़ है ? यदि ज्ञानस्वरूप है तो तेरे तो ज्ञान मन व इन्द्रिय द्वारा ही होता दिखायी देता है। इनके बिना कोई ज्ञान बतलाये तो उसे तेरा अलग स्वरूप मानें, सो भासित नहीं होता। तथा "मनज्ञाने" धातुसे मन शब्द उत्पन्न होता है सो मन तो ज्ञानस्वरूप है; सो यह ज्ञान किसका है उसे बतला; परन्तु अलग कोई भासित नहीं होता। तथा यदि तू जड़ है तो ज्ञान बिना अपने स्वरूपका विचार कैसे करता है ? यह तो बनता नहीं है। तथा तू कहता है—ब्रह्म न्यारा है, सो वह न्यारा ब्रह्म तू ही है या और है ? यदि तू ही है तो तेरे "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा माननेवाला जो ज्ञान है वह तो मन-स्वरूप ही है, मनसे अलग नहीं है; और अपनत्व मानना तो अपनेहीमें होता है। जिसे न्यारा जाने उसमें अपनत्व नहीं माना जाता। सो मनसे न्यारा ब्रह्म है, तो मनरूप ज्ञान ब्रह्ममें अपनत्व किसलिये मानता है ? तथा यदि ब्रह्म और ही है तो तू ब्रह्ममें अपनत्व किसलिये मानता है ? इसलिये भ्रम छोड़कर ऐसा जान कि जिस प्रकार स्पर्शनादि इन्द्रियाँ तो शरीरका स्वरूप है सो जड़ है, उसके द्वारा जो जानपना होता है सो आत्माका स्वरूप है; उसी प्रकार मन भी सूक्ष्म परमाणुओंका पुंज है, वह शरीरहीका अंग है, उसके द्वारा जानपना होता है व काम-क्रोधादिभाव होते हैं सो सर्व आत्माका स्वरूप है। विशेष इतना—जानपना तो निजस्वभाव है, काम-क्रोधादिक औपाधिकभाव हैं, उनसे आत्मा अशुद्ध है। जब काल पाकर काम-क्रोधादि मिटेंगे और जानपनेके मन-इन्द्रियकी आधीनता मिटेगी तब केवलज्ञानस्वरूप आत्मा शुद्ध होगा। इसी प्रकार बुद्धि-अहङ्कारादिक भी जानलेना; क्योंकि मन और बुद्धि आदिक एकार्थ हैं और अहंकारादिक हैं वे काम-क्रोधादिकवत् औपाधिकभाव हैं; इनको अपनेसे भिन्न जानना भ्रम है। इनको अपना जानकर औपाधिकभावोंका अभाव करनेका उद्यम करना योग्य है। तथा जिनसे इनका अभाव न होसके और अपनी महंतता चाहें, वे जीव इन्हें अपने न ठहराकर स्वच्छन्द प्रवर्तते हैं; काम-क्रोधादिक भावोंको बढ़ाकर विषयसामग्रियोंमें व हिंसादिक कार्योंमें तत्पर होते हैं।

तथा अहंकारादिके त्यागको भी वे अन्यथा मानते हैं। सर्वको परब्रह्म मानना, कहीं अपनत्व न मानना उसे अहंकारका त्याग बतलाते हैं सो मिथ्या है; क्योंकि कोई आप

है या नहीं ? यदि है तो आपमें अपनत्व कैसे न मानें ? यदि आप नहीं है तो सर्वको ब्रह्म कौन मानता है ? इसलिये शरीरादि परमें अहंबुद्धि न करना, वहाँ कर्ता न होना सो अहंकारका त्याग है। अपनेमें अहंबुद्धि करनेका दोष नहीं है। तथा सर्वको समान जानना, किसीमें भेद नहीं करना, उसको राग-द्वेषका त्याग बतलाते हैं वह भी मिथ्या है; क्योंकि सर्व पदार्थ समान नहीं हैं। कोई चेतन है, कोई अचेतन है, कोई कैसा है, कोई कैसा है, उन्हें समान कैसे मानें ? इसलिये परद्रव्योंको इष्ट-अनिष्ट न मानना सो रागद्वेषका त्याग है। पदार्थोंका विशेष जाननेमें तो कुछ दोष नहीं है। इसी प्रकार अन्य मोक्षमार्गरूप भावोंकी अन्यथा कल्पना करते हैं। तथा ऐसी कल्पनासे कुशील सेवन करते हैं, अभक्ष्य भक्षण करते हैं, वर्णादि भेद नहीं करते, हीन क्रिया आचरते हैं इत्यादि विपरीतरूप प्रवर्तते हैं। जब कोई पूछे तब कहते हैं—यह तो शरीरका धर्म है अथवा जैसी प्रारब्ध (-भाग्य) है वैसा होता है, अथवा जैसी ईश्वरकी इच्छा होती है वैसा होता है, हमको तो विकल्प नहीं करना। सो देखो झूठ, आप जान-जानकर प्रवर्तता है उसे तो शरीरका धर्म बतलाता है, स्वयं उद्यमी होकर कार्य करता है उसे प्रारब्ध (-भाग्य) कहता है, और आप इच्छासे सेवन करे उसे ईश्वरकी इच्छा बतलाता है। विकल्प करता है और कहता है—हमको तो विकल्प नहीं करना। सो धर्मका आश्रय लेकर विषयकषाय सेवन करना है, इसलिये ऐसी झूठी युक्ति बनाता है। यदि अपने परिणाम किंचित् भी न मिलाये तो हम इसका कर्तव्य न मानें। जैसे—आप ध्यान धरे बैठा हो, कोई अपने ऊपर वस्त्र डाल गया, वहाँ आप किंचित् सुखी न हुआ; वहाँ तो उसका कर्तव्य नहीं है यह सच है, और आप वस्त्रको अंगीकार करके पहिने, अपनी शीतादिक वेदना मिटाकर सुखी हो, वहाँ यदि अपना कर्तव्य नहीं माने तो कैसे सम्भव है ? तथा कुशील सेवन करना, अभक्ष्य भक्षण करना इत्यादि कार्य तो परिणाम मिले बिना होते ही नहीं; वहाँ अपना कर्तव्य कैसे न माने ? इसलिये यदि काम-क्रोधादिका अभाव ही हुआ हो तो वहाँ किन्हीं क्रियाओंमें प्रवृत्ति सम्भव ही नहीं है। और यदि काम-क्रोधादि पाये जाते हैं तो जिस प्रकार यह भाव थोड़े हों तदनुसार प्रवृत्ति करना। स्वच्छन्द होकर इनको बढ़ाना युक्त नहीं है।

[पवनादि साधन द्वारा ज्ञानी होनेका प्रतिषेध]

तथा कई जीव पवनादिकी साधना करके अपनेको ज्ञानी मानते हैं। वहाँ इड़ा, पिंगला, सुषुम्णारूप नासिकाद्वारसे पवन निकले, वहाँ वर्णादिक भेदोंसे पवनहीकी पृथ्वी तत्त्वादिरूप कल्पना करते हैं। उसके विज्ञान द्वारा किंचित् साधनासे निमित्तका ज्ञान होता है, इसलिये जगतको इष्ट-अनिष्ट बतलाते हैं, आप महन्त कहलाते हैं, सो यह

तो लौकिक कार्य है, कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। जीवोंको इष्ट-अनिष्ट बतलाकर उनके राग-द्वेष बढ़ाये और अपने मान-लोभादिक उत्पन्न करे, इसमें क्या सिद्धि है? तथा प्राणायामादिका साधन करे, पवनको चढ़ाकर समाधि लगायी कहे, सो यह तो जिस प्रकार नट साधना द्वारा हस्तादिकसे क्रिया करता है, उसी प्रकार यहाँ भी साधना द्वारा पवनसे क्रिया की। हस्तादिक और पवन यह तो शरीरहीके अंग हैं; इनके साधनेसे आत्महित कैसे सधेगा? तथा तू कहेगा—वहाँ मनका विकल्प मिटता है, सुख उत्पन्न होता है, यमके वशीभूतपना नहीं होता, सो यह मिथ्या है। जिस प्रकार निद्रामें चेतनाकी प्रवृत्ति मिटती है, उसी प्रकार पवन साधनेसे यहाँ चेतनाकी प्रवृत्ति मिटती है। वहाँ मनको रोक रखा है, कुछ वासना तो मिटी नहीं है; इसलिये मनका विकल्प मिटा नहीं कहते, और चेतना बिना सुख कौन भोगता है? इसलिये सुख उत्पन्न हुआ नहीं कहते। तथा इस साधनावाले तो इस क्षेत्रमें हुए हैं, उनमें कोई अमर दिखायी नहीं देता। अग्नि लगानेसे उनका भी मरण होता दिखायी देता है, इसलिये यमके वशीभूत नहीं हैं—यह झूठी कल्पना है।

तथा जहाँ साधनामें किंचित् चेतना रहे और वहाँ साधनासे शब्द सुने उसे 'अनहद नाद' बतलाता है। सो जिस प्रकार वीणादिकके शब्द सुननेसे सुख मानना है, उसी प्रकार उसके सुननेसे सुख मानना है। यहाँ तो विषयपोषण हुआ, परमार्थ तो कुछ नहीं है। तथा पवनके निकलने–प्रविष्ट होनेमें "सोहं" ऐसे शब्दकी कल्पना करके उसे 'अजपा जाप' कहते हैं। सो जिस प्रकार तीतरके शब्दमें 'तू ही' शब्दकी कल्पना करते हैं, कहीं तीतर अर्थका अवधारण कर ऐसा शब्द नहीं कहता। उसी प्रकार यहाँ 'सोहं' शब्दकी कल्पना है कुछ पवन अर्थ अवधारण करके ऐसे शब्द नहीं कहते, तथा शब्दके जपने–सुननेहीसे तो कुछ फलप्राप्ति नहीं है, अर्थका अवधारण करनेसे फलप्राप्ति होती है।

"सोहं" शब्दका तो अर्थ यह है "सो मैं हूँ।" यहाँ ऐसी अपेक्षा चाहिये कि—'सो' कौन? तब उसका निर्णय करना चाहिये; क्योंकि तत् शब्दको और यत् शब्दको नित्य सम्बन्ध है। इसलिये वस्तुका निर्णय करके उसमें अहंबुद्धि धारण करनेमें "सोहं" शब्द बनता है। वहाँ भी आपको आपरूप अनुभव करे वहाँ तो "सोहं" शब्द सम्भव नहीं है; परको अपनेरूप बतलानेमें "सोहं" शब्द सम्भव है। जैसे—पुरुष आपको आप जाने, वहाँ "सो मैं हूँ" ऐसा किसलिये विचारेगा? कोई अन्य जीव जो अपनेको न पहिचानता हो, और कोई अपना लक्षण न जानता हो, तब उसने कहते हैं—"जो ऐसा है सो मैं हूँ;" उसी प्रकार यहाँ जानना।

तथा कोई ललाट, भ्रमर और नासिकाके अग्रको देखनेके साधन द्वारा त्रिकुटी आदिका ध्यान हुआ कहकर परमार्थ मानता है। वहाँ नेत्रकी पुतली फिरनेसे मूर्तिक वस्तु देखी, उसमें क्या सिद्धि है? तथा ऐसे साधनसे किंचित् अतीत-अनागतादिकका ज्ञान हो, व वचनसिद्धि हो, व पृथ्वी-आकाशादिमें गमनादिककी शक्ति हो, व शरीरमें आरोग्यतादिक हो तो यह तो सर्व लौकिक कार्य हैं; देवादिकको स्वयमेव ही ऐसी शक्ति पायी जाती है। इनसे कुछ अपना भला तो होता नहीं है; भला तो विषयकषायकी वासना मिटने पर होता है; यह तो विषयकषायका पोषण करनेके उपाय हैं; इसलिये यह सर्व साधन किंचित् भी हितकारी नहीं हैं। इनमें कष्ट वहुत मरणादि पर्यन्त होता है और हित सधता नहीं है; इसलिये ज्ञानी वृथा ऐसा खेद नहीं करते, कषायी जीव ही ऐसे साधनमें लगते हैं। तथा किसीको वहुत तपश्चरणादिक द्वारा मोक्षका साधन कठिन वतलाते हैं, किसीको सुगमतासे ही मोक्ष हुआ कहते हैं। उद्धवादिकको परम भक्त कहकर उन्हें तो तपका उपदेश दिया कहते हैं और वेश्यादिकको विना परिणाम (केवल) नामादिकहीसे तरना वतलाते हैं, कोई ठिकाना ही नहीं है। इस प्रकार मोक्षमार्गको अन्यथा प्ररूपित करते हैं।

[अन्यमत कल्पित मोक्षमार्गकी मीमांसा]

तथा मोक्षस्वरूपको भी अन्यथा प्ररूपित करते हैं। वहाँ मोक्ष अनेक प्रकारसे वतलाते हैं। एक तो मोक्ष ऐसा कहते हैं कि—वैकुण्ठधाममें ठाकुर-ठकुराणी सहित नाना भोगविलास करते हैं, वहाँ पहुँच जाय और उनकी सेवा करता रहे सो मोक्ष है, सो यह तो विरुद्ध है। प्रथम तो ठाकुर ही संसारीवत् विषयासक्त हो रहे हैं; सो जैसे राजादिक हैं वैसे ही ठाकुर हुए। तथा दूसरोंसे सेवा करानी पड़ी तब ठाकुरके पराधीनपना हुआ। और यदि यह मोक्ष प्राप्त करके वहाँ सेवा करता रहे तो जिस प्रकार राजाकी चाकरी करना उसी प्रकार यह भी चाकरी हुई, वहाँ पराधीन होनेपर सुख कैसे होगा? इसलिये यह भी नहीं वनता।

तथा एक मोक्ष ऐसा कहते हैं—ईश्वरके समान आप होता है, सो भी मिथ्या है। यदि उसके समान और भी अलग होते हैं तो वहुत ईश्वर हुए। लोकका कर्ता हर्ता कौन ठहरेगा? सभी ठहरें तो भिन्न इच्छा होनेपर परस्पर विरोध होगा। एक ही है तो समानता नहीं हुई। न्यून है उसको नीचपनेसे उच्च होनेकी आकुलता रही, तब सुखी कैसे होगा? जिस प्रकार छोटा राजा या वड़ा राजा संसारमें होता है, उसी प्रकार छोटा-वड़ा ईश्वर मुक्तिमें भी हुआ सो नहीं वनता।

तथा एक मोक्ष ऐसा कहते हैं कि—वैकुण्ठमें दीपक जैसी एक ज्योति है, वहाँ ज्योतिमें ज्योति मिल जाती है; सो यह भी मिथ्या है। दीपककी ज्योति तो मूर्त्तिक अचेतन है, ऐसी ज्योति वहाँ कैसे सम्भव है? तथा ज्योतिमें ज्योति मिलने पर यह ज्योति रहती है या विनष्ट हो जाती है? यदि रहती है तो ज्योति बढ़ती जायगी, तब ज्योतिमें हीनाधिकपना होगा; और विनष्ट हो जाती है तो अपनी सत्ता नष्ट हो ऐसा कार्य उपादेय कैसे मानें? इसलिये ऐसा भी बनता नहीं है।

तथा एक मोक्ष ऐसा कहते हैं कि—आत्मा ब्रह्म ही है, मायाका आवरण मिटने पर मुक्ति ही है, सो यह भी मिथ्या है। यह मायाके आवरण सहित था तब ब्रह्मसे एक था कि अलग था? यदि एक था तो ब्रह्म ही मायारूप हुआ और अलग था तो माया दूर होनेपर ब्रह्ममें मिलता है तब इसका अस्तित्व रहता है या नहीं? यदि रहता है, तो सर्वज्ञको तो इसका अस्तित्व अलग भासित होगा, तब संयोग होनेसे मिले कहो, परन्तु परमार्थसे तो मिले नहीं हैं। तथा अस्तित्व नहीं रहता है तो अपना अभाव होना कौन चाहेगा? इसलिये यह भी नहीं बनता।

तथा कितने ही एक प्रकारसे मोक्षको ऐसा भी कहते हैं कि—बुद्धि आदिकका नाश होनेपर मोक्ष होता है। सो शरीरके अंगभूत मन, इन्द्रियोंके आधीन ज्ञान नहीं रहा। काम-क्रोधादिक दूर होनेपर तो ऐसा कहना बनता है, और वहाँ चेतनताका भी अभाव हुआ मानें तो पाषाणादि समान जड़ अवस्थाको कैसे भला मानें? तथा भला साधन करनेसे तो जानपना बढ़ता है, फिर बहुत भला साधन करने पर जानपनेका अभाव होना कैसे मानें? तथा लोकमें ज्ञानकी महंततासे जड़पनेकी तो महंतता नहीं है, इसलिये यह नहीं बनता। इसी प्रकार अनेक प्रकार कल्पना द्वारा मोक्षको बतलाते हैं सो कुछ यथार्थ तो जानते नहीं हैं, संसार अवस्थाकी मुक्ति अवस्थामें कल्पना करके अपनी इच्छानुसार बकते हैं। इस प्रकार वेदान्तादि मतोंमें अन्यथा निरूपण करते हैं।

[मुस्लिम मत सम्बन्धी विचार]

तथा इसी प्रकार मुसलमानोंके मतमें अन्यथा निरूपण करते हैं। जिस प्रकार वे ब्रह्मको सर्वव्यापी, एक, निरंजन, सर्वका कर्त्ता हर्त्ता मानते हैं उसी प्रकार यह खुदाको मानते हैं। तथा जैसे वे अवतार हुए मानते हैं वैसे ही यह पैगम्बर हुए मानते हैं। जिस प्रकार वे पुण्य-पापका लेखा लेना, यथायोग्य दण्डादिक देना ठहराते हैं उसी प्रकार यह खुदाको ठहराते हैं। तथा जिस प्रकार वे गाय आदिको पूज्य कहते हैं उसी प्रकार

यह सूअर आदिको कहते हैं। सब तिर्यंचादिक हैं। तथा जिस प्रकार वे ईश्वरकी भक्तिसे मुक्ति कहते हैं उसी प्रकार यह खुदाकी भक्तिसे कहते हैं। तथा जिस प्रकार वे कहीं दयाका पोषण, कहीं हिंसाका पोषण करते हैं, उसी प्रकार यह भी कहीं महर करनेका, कहीं कतल करनेका पोषण करते हैं। तथा जिस प्रकार वे कहीं तपश्चरण करनेका, कहीं विषय सेवनका पोषण करते हैं उसी प्रकार यह भी पोषण करते हैं। तथा जिस प्रकार वे कहीं मांस-मदिरा, शिकार आदिका निषेध करते हैं, कहीं उत्तम पुरुषों द्वारा उनका अंगीकार करना बतलाते हैं, उसी प्रकार यह भी उनका निषेध व अंगीकार करना बतलाते हैं।—ऐसे अनेक प्रकारसे समानता पायी जाती है। यद्यपि नामादिक और-और हैं, तथापि प्रयोजनभूत अर्थकी एकता पायी जाती है। तथा ईश्वर, खुदा आदि मूल श्रद्धानकी तो एकता है और उत्तर श्रद्धानमें बहुत ही विशेष हैं; वहाँ उनसे भी यह विपरीतरूप विषयकषायके पोषक, हिंसादि पापके पोषक, प्रत्यक्षादि प्रमाणसे विरुद्ध निरूपण करते हैं। इसलिये मुसलमानोंका मत महा विपरीतरूप जानना। इस प्रकार इस क्षेत्र-कालमें जिस जिस मतोंकी प्रचुर प्रवृत्ति है उनका मिथ्यापना प्रगट किया।

यहाँ कोई कहे कि—यह मत मिथ्या हैं तो बड़े राजादिक व बड़े विद्यावान् इन मतोंमें कैसे प्रवर्तते हैं?

समाधानः—जीवोंके मिथ्यावासना अनादिसे है सो इनमें मिथ्यात्वहीका पोषण है। तथा जीवोंको विषय कषायरूप कार्योंकी चाह वर्तती है सो इनमें विषय-कषायरूप कार्योंहीका पोषण है। तथा राजादिकोंका व विद्यावानोंका ऐसे धर्ममें विषयकषायरूप प्रयोजन सिद्ध होता है। तथा जीव तो लोकनिंद्यपनाको भी लाँघकर, पापभी जानकर जिन कार्योंको करना चाहे उन कार्योंको करते धर्म बतलायें तो ऐसे धर्ममें कौन नहीं लगेगा? इसलिये इन धर्मोंकी विशेष प्रवृत्ति है। तथा कदाचित् तू कहेगा—इन धर्मोंमें विरागता, दया इत्यादि भी तो कहते हैं? सो जिस प्रकार चमक दिये बिना खोटा द्रव्य (सिक्का) नहीं चलता, उसी प्रकार सचको मिलाये बिना झूठ नहीं चलता, परन्तु सबके हित प्रयोजनमें विषयकषायका ही पोषण किया है। जिस प्रकार गीतामें उपदेश देकर युद्ध करानेका प्रयोजन प्रगट किया, वेदान्तमें शुद्ध निरूपण करके स्वच्छन्द होनेका प्रयोजन दिखाया; उसी प्रकार अन्य जानना। तथा यह काल तो निकृष्ट है, सो इस-में तो निकृष्ट धर्महीकी प्रवृत्ति विशेष होती है। देखो, इसकालमें मुसलमान बहुत प्रधान होगये, हिन्दू घट गये; हिन्दुओंमें और तो बढ़ गये, जैनी घट गये। सो यह कालका दोष है। इस प्रकार इस क्षेत्रमें इसकाल मिथ्याधर्मकी प्रवृत्ति बहुत पायी जाती है।

अब, पण्डितपनेके बलसे कल्पित युक्तियों द्वारा नाना मत स्थापित हुए हैं, उनमें जो तत्त्वादिक माने जाते हैं उनका निरूपण करते हैं:—

[सांख्यमत निराकरण]

वहाँ सांख्यमतमें पच्चीसतत्त्व मानते हैं* सो कहते हैं—सत्त्व, रजः, तमः यह तीन गुण कहते हैं। वहाँ सत्त्व द्वारा प्रसाद (प्रसन्नता) होता है, रजोगुण द्वारा चित्तकी चंचलता होती है, तमोगुण द्वारा मूढ़ता होती है, इत्यादि लक्षण कहते हैं। इनरूप अवस्थाका नाम प्रकृति है; तथा उससे बुद्धि उत्पन्न होती है; उसीका नाम महत्तत्त्व है। उससे अहंकार उत्पन्न होता है; उससे सोलह मात्रा होती हैं। वहाँ पांच तो ज्ञान इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। तथा एक मन होता है। तथा पांच कर्मइन्द्रियाँ होती हैं—वचन, चरण, हस्त, लिंग, गुदा। तथा पांच तन्मात्रा होती हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द। तथा रूपसे अग्नि, रससे जल, गन्धसे पृथ्वी, स्पर्शसे पवन, शब्दसे आकाश—इस प्रकार हुए कहते हैं। इस प्रकार चौवीस तत्त्व तो प्रकृतिस्वरूप हैं; इनसे भिन्न निर्गुण कर्त्ता-भोक्ता एक पुरुष है। इस प्रकार पच्चीसतत्त्व कहते हैं सो यह कल्पित हैं, क्योंकि राजसादिक गुण आश्रय बिना कैसे होंगे ? इनका आश्रय तो चेतन द्रव्य ही सम्भव है। तथा इनसे बुद्धि हुई कहते हैं सो बुद्धि नाम तो ज्ञानका है, और ज्ञानगुणधारी पदार्थमें यह होती देखी जाती है, तो इससे ज्ञान हुआ कैसे मानें ? कोई कहे—बुद्धि अलग है, ज्ञान अलग है, तब मन तो पहले सोलह-मात्रामें कहा, और ज्ञान अलग कहोगे तो बुद्धि किसका नाम ठहरेगा ? तथा उससे अहंकार हुआ कहा सो परवस्तुमें "मैं करता हूँ" ऐसा माननेका नाम अहंकार है, साक्षीभूत जाननेसे तो अहंकार होता नहीं है, तो ज्ञानसे उत्पन्न कैसे कहा जाता है ? तथा अहंकार द्वारा सोलहमात्राएँ कहीं, उनमें पांच ज्ञानइन्द्रियाँ कहीं, सो शरीरमें नेत्रादि आकाररूप द्रव्येन्द्रियाँ हैं वे तो पृथ्वी आदिवत् जड़ देखी जाती हैं और वर्णादिकके जाननेरूप भावइन्द्रियाँ हैं सो ज्ञानरूप हैं, अहंकारका क्या प्रयोजन है ? कोई-किसीको-अहंकार, बुद्धि रहित देखनेमें आता है ? वहाँ अहंकार द्वारा उत्पन्न होना कैसे सम्भव है ? तथा मन कहा, सो इन्द्रियवत् ही मन है; क्योंकि द्रव्यमन शरीररूप है, भावमन ज्ञानरूप है। तथा पाँच कर्मइन्द्रियाँ कहते हैं सो यह तो शरीरके अंग हैं, मूर्तिक हैं। अमूर्तिक अहंकारसे इनका उत्पन्न होना कैसे

---

* प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंच भूतानि॥ (सांख्य का० २२)

मानें ? तथा कर्मइन्द्रियाँ पांच ही तो नहीं हैं, शरीरके सर्व अंग कार्यकारी हैं। तथा वर्णन तो सर्व जीवाश्रित है, मनुष्याश्रित ही तो नहीं है, इसलिये सूंड, पूंछ इत्यादि अंग भी कर्म इन्द्रियाँ हैं; पाँचहीकी संख्या किसलिये कहते हैं ? तथा स्पर्शादिक पाँच तन्मात्रा कहीं, सो रूपादि कुछ अलग वस्तु नहीं हैं, वे तो परमाणुओंसे तन्मय गुण हैं; वे अलग कैसे उत्पन्न हुए ? तथा अहंकार तो अमूर्तिक जीवका परिणाम है, इसलिये यह मूर्तिक गुण उससे कैसे उत्पन्न हुए मानें ? तथा इन पाँचोंसे अग्नि आदि उत्पन्न कहते हैं सो प्रत्यक्ष झूठ है। रूपादिक और अग्नि आदिकके तो सहभूत गुणगुणी सम्बन्ध है, कथनमात्र भिन्न हैं, वस्तुभेद नहीं है। किसी प्रकार कोई भिन्न होते भासित नहीं होते, कथन मात्रसे भेद उत्पन्न करते हैं; इसलिये रूपादिसे अग्नि आदि उत्पन्न हुए कैसे कहें ? तथा कहनेमें भी गुणीमें गुण हैं, गुणसे गुणी उत्पन्न हुआ कैसे माने ?

तथा इनसे भिन्न एक पुरुष कहते हैं, परन्तु उसका स्वरूप अव्यक्त कहकर प्रत्युत्तर नहीं करते, तो कौन समझे। कैसा है, कहाँ है, कैसे कर्त्ता-हर्त्ता है सो बतला। जो बतलायेगा उसीमें विचार करनेसे अन्यथापना भासित होगा। इस प्रकार सांख्यमत द्वारा कल्पित तत्त्व मिथ्या जानना।

तथा पुरुषको प्रकृतिसे भिन्न जाननेका नाम मोक्षमार्ग कहते हैं; सो प्रथम तो प्रकृति और पुरुष कोई है ही नहीं। तथा मात्र जाननेहीसे तो सिद्धि होती नहीं है; जानकर रागादिक मिटाने पर सिद्धि होती है। परन्तु इस प्रकार जाननेसे कुछ रागादिक नहीं घटते। प्रकृतिका कर्तव्य माने, आप अकर्त्ता रहे, तो किसलिये आप रागादिक कम करेगा ? इसलिये यह मोक्षमार्ग नहीं है।

तथा प्रकृति-पुरुषका भिन्न होना उसे मोक्ष कहते हैं। सो पच्चीस तत्त्वोंमें चौबीस तत्त्व तो प्रकृति सम्बन्धी कहे, एक पुरुष भिन्न कहा; सो वे तो भिन्न हैं ही; और कोई जीव पदार्थ पचीस तत्त्वोंमें कहा ही नहीं। तथा पुरुषहीको प्रकृतिका संयोग होनेपर जीव संज्ञा होती है तो पुरुष न्यारे-न्यारे प्रकृति सहित हैं, पश्चात् साधन द्वारा कोई पुरुष प्रकृति रहित होता है—ऐसा सिद्ध हुआ, एक पुरुष न ठहरा।

तथा प्रकृति पुरुषकी भूल है या किसी व्यंतरीवत् भिन्न ही है, जो जीवको आ लगती है ? यदि उसकी भूल है तो प्रकृतिसे इन्द्रियादिक व स्पर्शादिक तत्त्व उत्पन्न हुए कैसे मानें ? और अलग है तो वह भी एक वस्तु है, सर्व कर्तव्य उसका ठहरा। पुरुषका कुछ कर्तव्य ही नहीं रहा, तब किसलिये उपदेश देते हैं ? इस प्रकार यह मोक्ष मानना मिथ्या

है। तथा वहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम यह तीन प्रमाण कहते हैं, परन्तु उनके सत्य-असत्यका निर्णय जैनके न्यायग्रन्थोंसे जानना।

तथा इस सांख्यमतमें कोई तो ईश्वरको मानते नहीं है, कितने ही एक पुरुषको ईश्वर मानते हैं, कितने ही शिवको, कितने ही नारायणको देव मानते हैं। अपनी इच्छानुसार कल्पना करते हैं, कुछ निश्चय नहीं है। तथा इस मतमें कितने ही जटा धारण करते हैं, कितने ही चोटी रखते हैं; कितने ही मुण्डित होते हैं, कितने ही कत्थई वस्त्र पहिनते हैं; इत्यादि अनेक प्रकारसे भेष धारण करके तत्त्वज्ञानके आश्रयसे महंत कहलाते हैं। इस प्रकार सांख्यमतका निरूपण किया।

[नैयायिक मत-निराकरण]

तथा शिवमतमें दो भेद हैं—नैयायिक, वैशेषिक। वहाँ नैयायिकमतमें सोलह तत्त्व कहते हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान। वहाँ प्रमाण चार प्रकारके कहते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमा। तथा आत्मा, देह, अर्थ, बुद्धि इत्यादि प्रमेय कहते हैं। तथा "यह क्या है?" उसका नाम संशय है। जिसके अर्थ प्रवृत्ति हो सो प्रयोजन है। जिसे वादी-प्रतिवादी मानें सो दृष्टान्त है; दृष्टान्त द्वारा जिसे ठहरायें वह सिद्धान्त है। तथा अनुमानके प्रतिज्ञा आदि पाँच अंग वह अवयव हैं। संशय दूर होनेपर किसी विचारसे ठीक हो सो तर्क है। पश्चात् प्रतीतिरूप जानना सो निर्णय है। आचार्य-शिष्यमें पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा अभ्यास सो वाद है। जाननेकी इच्छारूप कथामें जो छल-जाति आदि दूषण हो सो जल्प है। प्रतिपक्ष रहित वाद सो वितंडा है। सच्चे हेतु नहीं हैं ऐसे असिद्ध आदि भेद सहित हेत्वाभास है। छलसहित वचन सो छल है। सच्चे दूषण नहीं हैं ऐसे दूषणाभास सो जाति है, जिससे प्रतिवादीका निग्रह हो सो निग्रह स्थान है।

इस प्रकार संशयादि तत्त्व कहे हैं, सो यह कोई वस्तुस्वरूप तत्त्व तो हैं नहीं। ज्ञानका निर्णय करनेको व वाद द्वारा पांडित्य प्रगट करनेको कारणभूत विचाररूप तत्त्व कहे हैं, सो इनसे परमार्थकार्य क्या होगा? काम-क्रोधादि भावको मिटाकर निराकुल होना सो कार्य है; वह प्रयोजन तो यहाँ कुछ दिखाया नहीं है, पंडिताईकी नाना युक्तियाँ बनायीं, सो यह भी एक चातुर्य है; इसलिये यह तत्त्व तत्त्वभूत नहीं है।

फिर कहोगे—इनको जाने बिना प्रयोजनभूत तत्त्वोंका निर्णय नहीं कर सकते, इसलिये यह तत्त्व कहे हैं; सो ऐसी परम्परा तो व्याकरणवाले भी कहते हैं कि—

व्याकरण पढ़नेसे अर्थका निर्णय होता है, व भोजनादिकके अधिकारी भी कहते हैं कि—भोजन करनेसे शरीरकी स्थिरता होनेपर तत्त्व निर्णय करनेमें समर्थ होते हैं, सो ऐसी युक्ति कार्यकारी नहीं है। तथा यदि कहोगे कि—व्याकरण, भोजनादिक तो अवश्य तत्त्वज्ञानको कारण नहीं हैं, लौकिक कार्य साधनेको कारण हैं; सो जैसे यह हैं उसी प्रकार तुम्हारे कहे तत्त्व भी लौकिक (कार्य) साधनेको ही कारण होते हैं। जिस प्रकार इन्द्रियादिकके जाननेको प्रत्यक्षादि प्रमाण कहा, व स्थाणु-पुरुषादिमें संशयादिकका निरूपण किया। इसलिये जिनको जाननेसे अवश्य काम-क्रोधादि दूर हो, निराकुलता उत्पन्न हो, वे ही तत्त्व कार्यकारी हैं। फिर कहोगे कि—प्रमेय तत्त्वमें आत्मादिकका निर्णय होता है सो कार्यकारी है; सो प्रमेय तो सर्व ही वस्तु हैं, प्रमितिका विषय नहीं है ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है; इसलिये प्रमेय तत्त्व किसलिये कहे ? आत्मा आदि तत्त्व कहना थे।

तथा आत्मादिकका भी स्वरूप अन्यथा प्ररूपित किया है ऐसा पक्षपात रहित विचार करने पर भासित होता है। जैसे आत्माके दो भेद कहते हैं—परमात्मा, जीवात्मा। वहाँ परमात्माको सर्वका कर्ता बतलाते हैं। वहाँ ऐसा अनुमान करते हैं कि—यह जगत कर्त्ता द्वारा उत्पन्न हुआ है, क्योंकि यह कार्य है। जो कार्य है वह कर्ता द्वारा उत्पन्न है जैसे—घटादिक। परन्तु यह अनुमानाभास हैं; क्योंकि ऐसा अनुमानान्तर सम्भव है। यह सर्व जगत कर्त्ता द्वारा उत्पन्न नहीं है, क्योंकि इसमें अकार्यरूप पदार्थ भी हैं। जो अकार्य हैं सो कर्त्ता द्वारा उत्पन्न नहीं हैं, जैसे—सूर्य बिम्बादिक। क्योंकि अनेक पदार्थोंके समुदायरूप जगतमें कोई पदार्थ कृत्रिम हैं सो मनुष्यादिक द्वारा किये होते हैं, कोई अकृत्रिम हैं सो उनका कोई कर्त्ता नहीं है। यह प्रत्यक्षादि प्रमाणके अगोचर है इसलिये ईश्वरको कर्त्ता मानना मिथ्या है। तथा जीवात्माको प्रत्येक शरीर भिन्न-भिन्न कहते हैं, सो यह सत्य है, परन्तु मुक्त होनेके पश्चात् भी भिन्न ही मानना योग्य है। विशेष तो पहले कहा ही है। इसी प्रकार अन्य तत्त्वोंको मिथ्या प्ररूपित करते हैं, तथा प्रमाणादिकके स्वरूपकी भी अन्यथा कल्पना करते हैं वह जैन ग्रन्थोंसे परीक्षा करने पर भासित होता है। इस प्रकार नैयायिक मतमें कहे कल्पित तत्त्व जानना।

[वैशेषिकमत निराकरण]

तथा वैशेषिकमतमें छह तत्त्व कहे हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय। वहाँ द्रव्य नौ प्रकार है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा,

मन। वहाँ पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुके परमाणु भिन्न-भिन्न हैं; वे परमाणु नित्य हैं; उनसे कार्यरूप पृथ्वी आदि होते हैं सो अनित्य हैं। परन्तु ऐसा कहना प्रत्यक्षादिसे विरुद्ध है। ईंधनरूप पृथ्वी आदिके परमाणु अग्निरूप होते देखे जाते हैं, अग्निके परमाणु राखरूप पृथ्वी होते देखे जाते हैं। जलके परमाणु मुक्ताफल (मोती) रूप पृथ्वी होते देखे जाते हैं। फिर यदि तू कहेगा—वे परमाणु चले जाते हैं, दूसरे ही परमाणु उनरूप होते हैं, सो प्रत्यक्षको असत्य ठहराता है। ऐसी कोई प्रबल युक्ति कह तो इसी प्रकार मानें, परन्तु केवल कहनेसे ही ऐसा ठहरता नहीं है। इसलिये सब परमाणुओंकी एक पुद्गलरूप मूर्तिक जाति है, वह पृथ्वी आदि अनेक अवस्थारूप परिणमित होती है।

तथा इन पृथ्वी आदिका कहीं पृथक् शरीर ठहराते हैं, सो मिथ्या ही है; क्योंकि उसका कोई प्रमाण नहीं है। और पृथ्वी आदि तो परमाणु पिण्ड हैं, इनका शरीर अन्यत्र, यह अन्यत्र ऐसा सम्भव नहीं है इसलिये यह मिथ्या है। तथा जहाँ पदार्थ अटके नहीं ऐसी जो पोल उसे आकाश कहते हैं; क्षण, पल आदिको काल कहते हैं, सो यह दोनों ही अवस्तु हैं; यह सत्तारूप पदार्थ नहीं हैं। पदार्थोंके क्षेत्र-परिणमनादिकका पूर्वापर विचार करनेके अर्थ इनकी कल्पना करते हैं। तथा दिशा कुछ है ही नहीं; आकाशमें खण्डकल्पना द्वारा दिशा मानते हैं। तथा आत्मा दो प्रकारसे कहते हैं, सो पहले निरूपण किया ही है। तथा मन कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। भावमन तो ज्ञानरूप है सो आत्माका स्वरूप है, द्रव्यमन परमाणुओंका पिण्ड है सो शरीरका अंग है। इस प्रकार यह द्रव्य कल्पित जानना। तथा चौबीस गुण कहते हैं—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिणाम, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, द्वेष, स्नेह, गुरुत्व, द्रव्यत्व। सो इनमें स्पर्शादिक गुण तो परमाणुओंमें पाये जाते हैं; परन्तु पृथ्वीको गंधवती ही कहना, जलको शीत स्पर्शवान ही कहना इत्यादि मिथ्या है, क्योंकि किसी पृथ्वीमें गंधकी मुख्यता भासित नहीं होती, कोई जल उष्ण देखा जाता है—इत्यादि प्रत्यक्षादिसे विरुद्ध है। तथा शब्दको आकाशका गुण कहते हैं सो मिथ्या है; शब्द तो भींत आदिसे रुकता है, इसलिये मूर्तिक है और आकाश अमूर्तिक सर्वव्यापी है। भींतमें आकाश रहे और शब्द गुण प्रवेश न कर सके यह कैसे बनेगा? तथा संख्यादिक हैं सो वस्तुमें तो कुछ हैं नहीं, अन्य पदार्थकी अपेक्षा अन्य पदार्थकी हीनाधिकता जाननेको अपने ज्ञानमें संख्यादिककी कल्पना द्वारा विचार करते हैं। तथा बुद्धि आदि हैं सो आत्माका परिणमन है, वहाँ बुद्धि नाम ज्ञानका है तो आत्माका गुण है ही, और मनका नाम है तो मन तो द्रव्योंमें कहा ही था, यहाँ गुण

किसलिये कहा ? तथा सुखादिक हैं सो आत्मामें कदाचित् पाये जाते हैं, आत्माके लक्षणभूत तो यह गुण हैं नहीं, अव्याप्तपनेसे लक्षणाभास हैं। तथा स्निग्धादि पुद्गल-परमाणुमें पाये जाते हैं, सो स्निग्ध, गुरुत्व इत्यादि तो स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा जाने जाते हैं, इसलिये स्पर्श गुणमें गर्भित हुए, अलग किसलिये कहे ? तथा द्रव्यत्वगुण जलमें कहा, सो ऐसे तो अग्नि आदिमें ऊर्ध्वगमनत्वादि पाये जाते हैं। या तो सर्व कहना थे या सामान्यमें गर्भित करना थे। इस प्रकार यह गुण कहे वे भी कल्पित हैं।

तथा कर्म पाँच प्रकारके कहते हैं—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, गमन; सो यह तो शरीरकी चेष्टाएँ हैं; इनको अलग कहनेका अर्थ क्या ? तथा इतनी ही चेष्टाएँ तो होती नहीं हैं, चेष्टाएँ तो बहुत ही प्रकारकी होती हैं। तथा इनको अलग ही तत्त्व संज्ञा कही, सो या तो अलग पदार्थ हों तो उन्हें अलग तत्त्व कहना था, या काम-क्रोधादि मिटानेमें विशेष प्रयोजनभूत हों तो तत्त्व कहना था; सो दोनों ही नहीं हैं। और ऐसे ही कह देना हों तो पाषाणादिककी अनेक अवस्थाएँ होती हैं सो कहा करो, कुछ साध्य नहीं है।

तथा सामान्य दो प्रकारसे है—पर और अपर। वहाँ पर तो सत्तारूप है, अपर द्रव्यत्वादिरूप है। तथा जिनकी नित्य द्रव्यमें प्रवृत्ति हो वे विशेष हैं; अयुतसिद्ध सम्बन्धका नाम समवाय है। यह सामान्यादिक तो बहुतोंको एक प्रकार द्वारा व एक वस्तुमें भेदकल्पना द्वारा व भेदकल्पना अपेक्षा सम्बन्ध माननेसे अपने विचारहीमें होते हैं, कोई अलग पदार्थ तो हैं नहीं। तथा इनके जाननेसे काम-क्रोधादि मिटानेरूप विशेष प्रयोजनकी भी सिद्धि नहीं है, इसलिये इनको तत्त्व किसलिये कहा ? और ऐसे ही तत्त्व कहना थे तो प्रमेयत्वादि वस्तुके अनन्त धर्म हैं व सम्बन्ध, आधारादिक कारकोंके अनेक प्रकार वस्तुमें सम्भवित हैं, इसलिये या तो सर्व कहना थे या प्रयोजन जानकर कहना थे। इसलिये यह सामान्यादिक तत्त्व भी वृथा ही कहे हैं। इस प्रकार वैशेषिकों द्वारा कहे तत्त्व कल्पित जानना। तथा वैशेषिक दो ही प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। सो इनके सत्य-असत्यका निर्णय जैन न्याय ग्रन्थोंसे* जानना।

तथा नैयायिक तो कहते हैं—विषय, इन्द्रिय, बुद्धि, शरीर, सुख, दुःखोंके अभावसे आत्माकी स्थिति सो मुक्ति है। और वैशेषिक कहते हैं—चौबीस गुणोंमें बुद्धि

---

* देवागम, युक्त्यनुशासन, अष्टसहस्री, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रादि दार्शनिक ग्रन्थोंसे जानना चाहिये।

आदि नौ गुणोंका अभाव सो मुक्ति है। यहाँ बुद्धिका अभाव कहा, सो बुद्धि नाम ज्ञानका है और ज्ञानका अधिकरणपना आत्माका लक्षण कहा था; अब ज्ञानका अभाव होनेपर लक्षणका अभाव होनेसे लक्ष्यका भी अभाव होगा, तब आत्माकी स्थिति किस प्रकार रही ? और यदि बुद्धि नाम मनका है तो भावमन तो ज्ञानरूप है ही, और द्रव्यमन शरीररूप है सो मुक्त होनेपर द्रव्यमनका सम्बन्ध छूटता ही है, तो जड़ द्रव्यमनका नाम बुद्धि कैसे होगा ? तथा मनवत् ही इन्द्रियाँ जानना। तथा विषयका अभाव हो, तो स्पर्शादि विषयोंका जानना मिटता है, तब ज्ञान किसका नाम ठहरेगा ? और उन विषयोंका अभाव होगा तो लोकका अभाव होगा ! तथा सुखका अभाव कहा, सो सुख-हीके अर्थ उपाय करते हैं, उसका जब अभाव होगा, तब उपादेय कैसे होगा ? तथा यदि वहाँ आकुलतामय इन्द्रियजनित सुखका अभाव हुआ कहें तो यह सत्य है; क्योंकि निराकुलता लक्षण अतीन्द्रिय सुख तो वहाँ सम्पूर्ण सम्भव है, इसलिये सुखका अभाव नहीं है। तथा शरीर, दुःख, द्वेषादिकका वहाँ अभाव कहते हैं सो सत्य है।

तथा शिवमतमें कर्त्ता निर्गुण ईश्वर शिव है, उसे देव मानते हैं; सो उसके स्वरूपका अन्यथापना पूर्वोक्त प्रकारसे जानना। तथा यहाँ भस्म, कोपीन, जटा, जनेऊ इत्यादि चिह्नों सहित भेष होते हैं सो आचारादि भेदसे चार प्रकार हैं:—शैव, पाशुपत, महाव्रती, कालमुख। सो यह रागादि सहित हैं इसलिये सुलिंग नहीं हैं। इस प्रकार शिवमतका निरूपण किया। अब मीमांसक मतका स्वरूप कहते हैं।

[मीमांसक मत निराकरण]

मीमांसक दो प्रकारके हैं:—ब्रह्मवादी और कर्मवादी। वहाँ ब्रह्मवादी तो "यह सर्व ब्रह्म है, दूसरा कोई नहीं है" ऐसा वेदान्तमें अद्वैत ब्रह्मको निरूपित करते हैं; तथा "आत्मामें लय होना सो मुक्ति" कहते हैं। इनका मिथ्यापना पहले दिखाया है सो विचारना। तथा कर्मवादी क्रिया, आचार, यज्ञादिक कार्योंका कर्त्तव्यपना प्ररूपित करते हैं सो इन क्रियाओंमें रागादिकका सद्भाव पाया जाता है, इसलिये यह कार्य कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं। तथा वहाँ 'भट्ट' और 'प्रभाकर' द्वारा की हुई दो पद्धतियाँ हैं। वहाँ भट्ट तो छह प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, वेद, उपमा, अर्थापत्ति, अभाव। तथा प्रभाकर अभाव बिना पाँच ही प्रमाण मानते हैं, सो इनका सत्यासत्यपना जैन शास्त्रोंसे जानना। तथा वहाँ षट्कर्म सहित ब्रह्मसूत्रके धारक, शूद्रके अन्नादिके त्यागी, गृहस्थाश्रम है नाम जिनका ऐसे भट्ट हैं। तथा वेदान्तमें यज्ञोपवीत रहित विप्रअन्नादिकके ग्राही,

भगवत् है नाम जिनका वे चार प्रकारके हैं—कुटीचर, बहूदक, हंस, परमहंस। सो यह कुछ त्यागसे संतुष्ट हुए हैं, परन्तु ज्ञान-श्रद्धानका मिथ्यापना और रागादिकका सद्भाव इनके पाया जाता है; इसलिये यह भेष कार्यकारी नहीं है।

[जैमिनीयमत निराकरण]

तथा यहीं जैमिनीयमत है; सो इस प्रकार कहते हैं :—

सर्वज्ञदेव कोई है नहीं; नित्य वेदवचन हैं उनसे यथार्थ निर्णय होता है। इसलिये पहले वेदपाठ द्वारा क्रियामें प्रवर्तना वह तो नोदना (प्रेरणा), वही है लक्षण जिसका ऐसे धर्मका साधन करना। जैसे कहते हैं कि—"स्व: कामोऽग्निं यजेत्" स्वर्गाभिलापी अग्निको पूजे, इत्यादि निरूपण करते हैं।

यहाँ पूछते हैं—शैव, सांख्य, नैयायिकादि सभी वेदको मानते हैं, तुम भी मानते हो; तुम्हारे व उन सबके तत्त्वादि निरूपणमें परस्पर विरुद्धता पायी जाती है सो क्या कारण है? यदि वेदहीमें कहीं कुछ, कहीं कुछ निरूपण किया है, तो उसकी प्रमाणता कैसे रही? और यदि मतवाले ही कहीं कुछ, कहीं कुछ निरूपण करते हैं तो तुम परस्पर झगड़-निर्णय करके एकको वेदका अनुसारी अन्यको वेदसे पराङ्मुख ठहराओ। सो हमें तो यह भासित होता है—वेदहीमें पूर्वापर विरुद्धतासहित निरूपण है। इसलिये उसका अपनी-अपनी इच्छानुसार अर्थ ग्रहण करके अलग-अलग मतोंके अधिकारी हुए हैं। परन्तु ऐसे वेदको प्रमाण कैसे करें? तथा अग्नि पूजनेसे स्वर्ग होता है, सो अग्निको मनुष्यसे उत्तम कैसे मानें? प्रत्यक्ष विरुद्ध है। तथा वह स्वर्गदाता कैसे होगी? इसी प्रकार अन्य वेदवचन प्रमाणविरुद्ध हैं। तथा वेदमें ब्रह्मा कहा है, तो सर्वज्ञ क्यों नहीं मानते? इत्यादि प्रकारसे जैमिनीयमत कल्पित जानना।

[बौद्धमत निराकरण]

अब बौद्धमतका स्वरूप कहते हैं :—

बौद्धमतमें चार आर्यसत्य× प्ररूपित करते हैं—दुःख, आयतन, समुदाय, मार्ग। वहाँ संसारीके स्कन्धरूप वह दुःख है। वह पाँच प्रकार÷का है—विज्ञान,

---

× दुःखमायतनं चैव ततः समुदयो मतः।
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः॥ ३६॥

÷ दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्चप्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च॥ ३७॥ षि. नि.

वेदना, संज्ञा, संस्कार, रूप। वहाँ रूपादिकका जानना सो विज्ञान है, सुख-दुःखका अनुभवन करना सो वेदना है, सोतेका जागना सो संज्ञा है, पढ़ा था उसे याद करना सो संस्कार है, रूपका धारण सो रूप* है। यहाँ विज्ञानादिको दुःख कहा सो मिथ्या है, दुःख तो काम-क्रोधादिक हैं, ज्ञान दुःख नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष देखते हैं कि—किसीके ज्ञान थोड़ा है और क्रोध-लोभादिक बहुत हैं सो दुःखी है, किसीके ज्ञान बहुत है, काम-क्रोधादि अल्प हैं व नहीं हैं सो सुखी है। इसलिये विज्ञानादिक दुःख नहीं हैं। तथा आयतन बारह कहे हैं—पाँच इन्द्रियाँ और उनके शब्दादिक पाँच विषय, एक मन और एक धर्मायतन। सो यह आयतन किस अर्थ कहे हैं? सबको क्षणिक कहते हैं, तो इनका क्या प्रयोजन है? तथा जिससे रागादिकके गण उत्पन्न होते हैं ऐसा आत्मा और आत्मीय है नाम जिसका सो समुदाय है। वहाँ अहंरूप आत्मा और ममरूप आत्मीय जानना, परन्तु क्षणिक माननेसे इनको भी कहनेका कुछ प्रयोजन नहीं है। तथा सर्व संस्कार क्षणिक हैं, ऐसी वासना सो मार्ग है। परन्तु बहुत काल स्थायी कितनी ही वस्तुएँ प्रत्यक्ष देखी जाती हैं। तू कहेगा—एक अवस्था नहीं रहती; सो यह हम भी मानते हैं। सूक्ष्म पर्याय क्षणस्थायी है। तथा उसी वस्तुका नाश मानते हैं, परन्तु यह तो होता दिखायी नहीं देता, हम कैसे मानें? तथा बाल-वृद्धादि अवस्थामें एक आत्माका अस्तित्व भासित होता है; यदि एक नहीं है तो पूर्व-उत्तर कार्यका एक कर्त्ता कैसे मानते हैं? यदि तू कहेगा—संस्कारसे है, तो संस्कार किसके हैं? जिसके हैं वह नित्य है या क्षणिक है? नित्य है तो सर्व क्षणिक कैसे कहते हैं? क्षणिक है तो जिसका आधार ही क्षणिक है उस संस्कारकी परम्परा कैसे कहते हैं? तथा सर्व क्षणिक हुआ तब आप भी क्षणिक हुआ। तू ऐसी वासनाको मार्ग कहता है, परन्तु इस मार्गके फलको आप तो प्राप्त करता ही नहीं है, किसलिये इस मार्गमें प्रवर्तता है? तथा तेरे मतमें निरर्थक शास्त्र किसलिये बनाये? उपदेश तो कुछ कर्तव्य द्वारा फल प्राप्त करनेके अर्थ दिया जाता है। इस प्रकार यह मार्ग मिथ्या है।

तथा रागादिक ज्ञान संतान वासनाका उच्छेद अर्थात् निरोध उसे मोक्ष कहते हैं। परन्तु क्षणिक हुआ तब मोक्ष किसको कहता है? और रागादिकका अभाव होना

---

* रूपं पंचेन्द्रियाण्यर्थाः पंचाविज्ञप्तिरेव च।
तद्विज्ञानाश्रया रूपप्रसादाश्चक्षुरादयः ॥ ७ ॥
वेदनानुभवः संज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका।
संस्कारस्कन्धश्चतुर्भ्योऽन्ये संस्कारास्त इमे त्रयः ॥ १५ ॥
विज्ञानं प्रति विज्ञप्तिः.......।

तो हम भी मानते हैं, परन्तु ज्ञानादिक अपने स्वरूपका अभाव होनेपर तो अपना अभाव होगा, उसका उपाय करना कैसे हितकारी होगा ? हिताहितका विचार करनेवाला तो ज्ञान ही है, सो अपने अभावको ज्ञानी हित कैसे मानेगा ? तथा बौद्धमतमें दो प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। इनके सत्यासत्यका निरूपण जैन शास्त्रोंसे जानना। तथा यदि यह दो ही प्रमाण हैं तो इनके शास्त्र अप्रमाण हुए, उनका निरूपण किस अर्थ किया ? प्रत्यक्ष-अनुमान तो जीव आप ही कर लेंगे, तुमने शास्त्र किसलिये बनाये ? तथा वहाँ सुगतका देव मानते हैं और उसका स्वरूप नग्न व विक्रियारूप स्थापित करते हैं सो विडम्बनारूप है। तथा कमण्डल और रक्ताम्बरके धारी, पूर्वाह्नमें भोजन करनेवाले इत्यादि लिंगरूप बौद्धमतके भिक्षुक हैं; सो क्षणिकको भेष धारण करनेका क्या प्रयोजन ? परन्तु महंतताके अर्थ कल्पित निरूपण करना और भेष धारण करना होता है।

इस प्रकार बौद्धोंके चार प्रकार हैं—वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार, मध्यम। वहाँ वैभाषिक तो ज्ञान सहित पदार्थको मानते हैं; सौत्रांतिक प्रत्यक्ष यह दिखायी देता है यही है, इससे परे कुछ नहीं है ऐसा मानते हैं। योगाचारोंके आचारसहित बुद्धि पायी जाती है तथा मध्यम हैं वे पदार्थके आश्रय विना ज्ञानहीको मानते हैं। वे अपनी-अपनी कल्पना करते हैं, परन्तु विचार करनेपर कुछ ठिकानेकी बात नहीं है। इस प्रकार बौद्ध-मतका निरूपण किया।

[चार्वाकमत निराकरण]

अब चार्वाकमतका स्वरूप कहते हैं—

कोई सर्वज्ञदेव, धर्म, अधर्म, मोक्ष है नहीं, पुण्य-पापका फल है नहीं, परलोक है नहीं यह इन्द्रियगोचर जितना है वह लोक है;—ऐसा चार्वाक कहता है; सो वहाँ उससे पूछते हैं—सर्वज्ञदेव इस काल-क्षेत्रमें नहीं हैं या सर्वदा सर्वत्र नहीं हैं ? इस काल-क्षेत्रमें तो हम भी नहीं मानते हैं, परन्तु सर्वकाल-क्षेत्रमें नहीं हैं ऐसा जानना सर्वज्ञ-के विना किसके हुआ ? जो सर्व क्षेत्र-कालकी जाने वही सर्वज्ञ, और नहीं जानता तो निषेध कैसे करता है ? तथा धर्म-अधर्म लोकमें प्रसिद्ध हैं। यदि वे कल्पित हों तो सर्व-जन-सुप्रसिद्ध कैसे होते ? तथा धर्म-अधर्मरूप परिणति होती देखी जाती है, उससे वर्त-मानहीमें सुखी-दुःखी होते हैं; इन्हें कैसे न मानें ? और मोक्षका होना अनुमानमें आता है। क्रोधादिक दोष किसीके हीन हैं, किसीके अधिक हैं तो मालूम होता है किसी-के इनकी नास्ति भी होती होगी। और ज्ञानादि गुण किसीके हीन किसीके अधिक

भासित होते हैं, इसलिये मालूम होता है किसीके सम्पूर्ण भी होते होंगे। इस प्रकार जिसके समस्त दोषकी हानि, गुणोंकी प्राप्ति हो वही मोक्षअवस्था है। तथा पुण्य-पापका फल भी देखते हैं। कोई उद्यम करने पर भी दरिद्री रहता है, किसीके स्वयमेव लक्ष्मी होती है। कोई शरीरका यत्न करने पर भी रोगी रहता है, किसीके विना ही यत्न निरोगता रहती है; इत्यादि प्रत्यक्ष देखा जाता है सो इसका कारण कोई तो होगा? जो इसका कारण वही पुण्य-पाप है। तथा परलोक भी प्रत्यक्ष-अनुमानसे भासित होता है। व्यंतरादि हैं वे देखे जाते हैं—"मैं अमुक था सो देव हुआ हूँ।" तथा तू कहेगा—'यह तो पवन है,' सो हम तो "मैं हूँ" इत्यादि चेतनाभाव जिसके आश्रयसे पाये जाते हैं उसीको आत्मा कहते हैं। तू उसका नाम पवन कहता है, परन्तु पवन तो भींत आदिसे अटकती है, आत्मा मुँदा (वन्द) होने पर भी अटकता नहीं है, इसलिये पवन कैसे मानें? तथा जितना इन्द्रियगोचर है उतना ही लोक कहता है, परन्तु तेरे इन्द्रियगोचर तो थोड़े से भी योजन दूरवर्ती क्षेत्र और थोड़ा-सा अतीत-अनागत काल—ऐसे क्षेत्र-कालवर्ती भी पदार्थ नहीं हो सकते, और दूर देशकी व वहुतकालकी वातें परम्परासे सुनते ही हैं, इसलिये सवका जानना तेरे नहीं है, तू इतना ही लोक किस प्रकार कहता है?

तथा चार्वाकमतमें कहते हैं कि—पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश मिलनेसे चेतना हो आती है। सो मरने पर पृथ्वी आदि यहाँ रहे, चेतनावान पदार्थ गया सो व्यंतरादि हुआ, जो प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। तथा एक शरीरमें पृथ्वी आदि तो भिन्न-भिन्न भासित होते हैं, चेतना एक भासित होती है। यदि पृथ्वी आदिके आधारसे चेतना हो तो हाड़, रक्त उच्छ्वासादिकके अलग-अलग चेतना होगी। तथा हाथ आदिको काटनेपर जिस प्रकार उसके साथ वर्णादिक रहते हैं उसी प्रकार चेतना भी रहेगी। तथा अहंकार, बुद्धि तो चेतनाके है, सो पृथ्वी आदिरूप शरीर तो यहाँ ही रहा, तव व्यंतरादि पर्यायमें पूर्वपर्यायका अहंपना देखा जाता है सो किस प्रकार होता है? तथा पूर्वपर्यायके गुप्त समाचार प्रगट करते हैं सो यह जानना किसके साथ गया? जिसके साथ जानना गया वही आत्मा है।

तथा चार्वाकमतमें खाना, पीना, भोग-विलास करना इत्यादि स्वच्छन्द वृत्तिका उपदेश है, परन्तु ऐसे तो जगत स्वयमेव ही प्रवर्तता है। वहाँ शास्त्रादि वनाकर क्या भला होनेका उपदेश दिया? तू कहेगा—तपश्चरण, शील, संयमादि छुड़ानेके अर्थ उपदेश दिया तो इन कार्योंमें तो कषाय घटनेसे आकुलता घटती है, इसलिये यही सुखी होना होता

है, तथा यश आदि होता है, तू इनको छुड़ाकर क्या भला करता है ? विषयासक्त जीवोंको सुहाती बातें कहकर अपना व औरोंका बुरा करनेका भय नहीं है; स्वच्छन्द होकर विषय सेवनके अर्थ ऐसी झूठी युक्ति बनाता है। इस प्रकार चार्वाकमतका निरूपण किया ।

[अन्यमत निराकरण उपसंहार]

इसी प्रकार अन्य अनेक मत हैं वे झूठी कल्पित युक्ति बनाकर विषय-कषायासक्त पापी जीवों द्वारा प्रगट किये गये हैं; उनके श्रद्धानादिक द्वारा जीवोंका बुरा होता है। तथा एक जिनमत है सो ही सत्यार्थका प्ररूपक है, सर्वज्ञ वीतरागदेव द्वारा भाषित है, उसके श्रद्धानादिकसे ही जीवोंका भला होता है। ऐसे जिनमतमें जीवादि तत्त्वोंका निरूपण किया है; प्रत्यक्ष-परोक्ष दो प्रमाण कहे हैं; सर्वज्ञ-वीतराग अर्हंतदेव हैं; बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह रहित निर्ग्रंथ गुरु हैं। इनका वर्णन इस ग्रन्थमें आगे विशेष लिखेंगे सो जानना ।

यहाँ कोई कहे—तुम्हारे राग-द्वेष है, इसलिये तुम अन्यमतका निषेध करके अपने मतको स्थापित करते हो। उससे कहते हैं—

यथार्थ वस्तुका प्ररूपण करनेमें राग-द्वेष नहीं है। कुछ अपना प्रयोजन विचारकर अन्यथा प्ररूपण करें तो राग-द्वेष नाम पाये ।

फिर वह कहता है—यदि राग-द्वेष नहीं है, तो अन्यमत बुरे और जैनमत भला ऐसा किस प्रकार कहते हो ? साम्यभाव हो तो सबको समान जानों, मतपक्ष किसलिये करते हो ?

उससे कहते हैं—बुरेको बुरा कहते हैं, भलेको भला कहते हैं, इसमें राग-द्वेष क्या किया ? तथा बुरे-भलेको समान जानना तो अज्ञान भाव है, साम्यभाव नहीं है।

फिर वह कहता है कि—सर्व मतोंका प्रयोजन तो एक ही है, इसलिये सबको समान जानना ?

उससे कहते हैं—यदि प्रयोजन एक हो तो नाना मत किसलिये कहें ? एकमतमें तो एक प्रयोजनसहित अनेक प्रकार व्याख्यान होता है, उसे अलग मत कौन कहता है ? परन्तु प्रयोजन ही भिन्न-भिन्न हैं सो बतलाते हैं—

[अन्यमतोंसे जैनमतकी तुलना]

जैनमतमें एक वीतरागभावके पोषणका प्रयोजन है; सो कथाओंमें, लोकादिकके निरूपणमें, आचरणमें, व तत्त्वोंमें जहाँ-तहाँ वीतरागताकी ही पुष्टि की है। तथा अन्य-मतोंमें सरागभावके पोषणका प्रयोजन है; क्योंकि कल्पित रचना कषायी जीव ही करते हैं और अनेक युक्तियाँ बनाकर कषायभावहीका पोषण करते हैं। जैसे—अद्वैत ब्रह्म-वादी सर्वको ब्रह्म मानने द्वारा, सांख्यमती सर्व कार्य प्रकृतिका मानकर अपनेको शुद्ध अकर्त्ता मानने द्वारा और शिवमती तत्त्व जाननेहीसे सिद्धि होना मानने द्वारा, मीमांसक कषायजनित आचरणको धर्म मानने द्वारा, बौद्ध क्षणिक मानने द्वारा, चार्वाक परलो-कादि न मानने द्वारा विषयभोगादिरूप कषायकार्योंमें स्वच्छन्द होनेका ही पोषण करते हैं। यद्यपि किसी स्थानपर कोई कषाय घटानेका भी निरूपण करते हैं, तो उस छलसे अन्य किसी कषायका पोषण करते हैं। जिस प्रकार—गृहकार्य छोड़कर परमेश्वर-का भजन करना ठहराया और परमेश्वरका स्वरूप सरागी ठहराकर उनके आश्रयसे अपने विषय-कषायका पोषण करते हैं तथा जैनधर्ममें देव-गुरु धर्मादिकका स्वरूप वीतराग ही निरूपण करके केवल वीतरागताहीका पोषण करते हैं सो यह प्रगट है। हम क्या कहें? अन्यमती भर्तृहरिने भी वैराग्य प्रकरणमें* ऐसा कहा है—

> एको* रागिषु राजते प्रियतमादेहार्द्धधारी हरो,
> नीरागेषु जिनो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात्परः।
> दुर्वारस्मरबाणपन्नगविषव्यासक्तमुग्धो जनः,
> शेषः कामविडंबितो हि विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः॥ १॥

इसमें सरागियोंमें महादेवको प्रधान कहा और वीतरागियोंमें जिनदेवको प्रधान कहा है। तथा सरागभाव और वीतरागभावोंमें परस्पर प्रतिपक्षीपना है। यह दोनों भले नहीं हैं, परन्तु इनमें एक ही हितकारी है और वह वीतरागभाव ही है, जिसके होनेसे तत्काल आकुलता मिटनेसे स्तुति योग्य होता है। जिससे आगामी भला होना केवल हम ही नहीं कहते किन्तु सभी मतवाले कहते हैं। सरागभाव होनेपर तत्काल

---

* रागी पुरुषोंमें तो एक महादेव शोभित होता है, जिसने अपनी प्रियतमा पार्वतीको आधे शरीरमें धारण कर रखा है और वीतरागियोंमें जिनदेव शोभित हैं जिनके समान स्त्रियोंका संग छोड़नेवाला दूसरा कोई नहीं है। शेष लोग तो दुर्निवार कामदेवके बाणरूप सर्पोंके विषसे मूर्च्छित हुए हैं जो कामकी विडम्बना-से न तो विषयोंको भलीभांति भोग ही सकते हैं और न छोड़ ही सकते हैं।

आकुलता होती है, निंदनीक होता है और आगामी बुरा होना भासित होता है; इसलिये जिसमें वीतरागभावका प्रयोजन है ऐसा जैनमत ही इष्ट है। जिनमें सरागभावके प्रयोजन प्रगट किये हैं ऐसे अन्यमत अनिष्ट हैं; इन्हें समान कैसे मानें ?

तथा वह कहते हैं कि—यह तो सच है, परन्तु अन्यमतकी निन्दा करनेसे अन्यमती दुःखी होंगे, विरोध उत्पन्न होगा, इसलिये निन्दा किसलिये करें ?

वहाँ कहते हैं कि—हम कषायसे निन्दा करें व औरोंको दुःख उपजायें तो हम पापी ही हैं; परन्तु अन्यमतके श्रद्धानादिसे जीवोंके अतत्त्वश्रद्धान दृढ़ हो, जिससे संसारमें जीव दुःखी होंगे, इसलिये करुणाभावसे यथार्थ निरूपण किया है। कोई बिना दोष दुःख पाता हो, विरोध उत्पन्न करे तो हम क्या करें ? जैसे—मदिराकी निन्दा करनेसे कलाल दुःखी हो, कुशीलकी निन्दा करनेसे वेश्यादिक दुःख पायें और खोटा-खरा पहिचाननेकी परीक्षा बतलानेसे ठग दुःखी हो तो क्या करें ? इसी प्रकार यदि पापियोंके भयसे धर्मोपदेश न दें तो जीवोंका भला कैसे होगा ? ऐसा तो कोई उपदेश है नहीं जिससे सभी चैन पायें ? तथा वे विरोध उत्पन्न करते हैं, सो विरोध तो परस्पर होता है; परन्तु हम लड़ेंगे नहीं, वे आप ही उपशांत हो जायेंगे। हमें तो अपने परिणामोंका फल होगा।

तथा कोई कहे—प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्वोंका अन्यथा श्रद्धान करनेसे मिथ्यादर्शनादिक होते हैं, अन्य मतोंका श्रद्धान करनेसे किस प्रकार मिथ्यादर्शनादिक होंगे ?

समाधानः—अन्यमतोंमें विपरीत युक्ति बनाकर, जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप यथार्थ भासित न हो, यही उपाय किया है, सो किसलिये किया है ? जीवादि तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप भासित हो तो वीतरागभाव होनेपर ही महंतपना भासित हो; परन्तु जो जीव वीतरागी नहीं हैं और अपनी महंतता चाहते हैं, उन्होंने सरागभाव होनेपर भी महंतता मनानेके अर्थ कल्पित युक्ति द्वारा अन्यथा निरूपण किया है। वे अद्वैतब्रह्मादिकके निरूपण द्वारा जीव-अजीवके और स्वच्छन्दवृत्तिके पोषण द्वारा आश्रव-संवरादिकके और सकषायीवत् व अचेतनवत् मोक्ष कहने द्वारा मोक्षके अयथार्थ श्रद्धानका पोषण करते हैं; इसलिये अन्यमतोंका अन्यथापना प्रगट किया है। इनका अन्यथापना भासित हो तो तत्त्वश्रद्धानमें रुचिवान हो, और उनकी युक्तिसे भ्रम उत्पन्न न हो। इस प्रकार अन्यमतोंका निरूपण किया।

[अन्यमतके ग्रन्थोद्धरणोंसे जैनधर्मकी प्राचीनता और समीचीनता]

अब अन्यमतोंके शास्त्रोंकी ही साक्षीसे जिनमतकी समीचीनता व प्राचीनता प्रगट करते हैं—

वड़ा योग वासिष्ठ छत्तीस हजार श्लोक प्रमाण है, उसके प्रथम वैराग्य प्रकरण-में अहंकार निषेध अध्यायमें वसिष्ठ और रामके संवादमें ऐसा कहा है—

रामोवाच—

"नाहं रामो न मे वांछा भावेषु च न मे मनः ।
शांतिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा* ॥ १ ॥"

इसमें रामजीने जिन समान होनेकी इच्छा की, इसलिये रामजीसे जिनदेवका उत्तमपना प्रगट हुआ और प्राचीनपना प्रगट हुआ । तथा "दक्षिणामूर्ति-सहस्रनाम" में कहा है—

शिवोवाच—

"जैनमार्गरतो जैनो जितक्रोधो जितामयः ।"

यहाँ भगवत्का नाम जैनमार्गमें रत और जैन कहा, सो इसमें जैनमार्गकी प्रधानता व प्राचीनता प्रगट हुई । तथा "वैशम्पायनसहस्रनाम" में कहा है—

"कालनेमिर्म्महा वीरः शूरः शौरिर्जिनेश्वरः ।"

यहाँ भगवान्का नाम जिनेश्वर कहा, इसलिये जिनेश्वर भगवान हैं । तथा दुर्वासाऋषिकृत "महिम्निस्तोत्र" में ऐसा कहा है—

तत्तद्दर्शनमुख्यशक्तिरिति च त्वं ब्रह्मकर्मेश्वरी ।
कर्त्तार्हन् पुरुषो हरिश्च सविता बुद्धः शिवस्त्वं गुरुः ॥ १ ॥

यहाँ—"अरहंत तुम हो" इस प्रकार भगवंतकी स्तुति की, इसलिये अरहंतके भगवानपना प्रगट हुआ । तथा "हनुमन्नाटक" में ऐसा कहा है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः ।

---

* अर्थात् मैं राम नहीं हूँ, मेरी कुछ इच्छा नहीं है और भावों या पदार्थोंमें मेरा मन नहीं है । मैं तो जिन-देवके समान अपनी आत्मामें ही शान्ति स्थापना करना चाहता हूँ ।

अर्हन्नित्यथ जैनशासनरतः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथः प्रभुः* ।। १ ।।

यहाँ छहों मतोंमें एक ईश्वर कहा वहाँ अरहन्तदेवके भी ईश्वरपना प्रगट किया ।

यहाँ कोई कहे—जिस प्रकार यहाँ सर्व मतोंमें एक ईश्वर कहा, उसी प्रकार तुम भी मानो ।

उससे कहते हैं—तुमने यह कहा है, हमने तो नहीं कहा, इसलिये तुम्हारे मतमें अरहंतके ईश्वरपना सिद्ध हुआ । हमारे मतमें भी इसी प्रकार कहें तो हम भी शिवादिकको ईश्वर मानें । जैसे—कोई व्यापारी सच्चे रत्न दिखाये, कोई झूठे रत्न दिखाये । वहाँ झूठे रत्नोंवाला तो रत्नोंका समान मूल्य लेनेके अर्थ समान कहता है; सच्चे रत्नवाला कैसे समान माने ? उसी प्रकार जैनी सच्चे देवादिकका निरूपण करता है, अन्यमती झूठे निरूपित करता है । वहाँ अन्यमती अपनी समान महिमाके अर्थ सर्वको समान कहता है, परन्तु जैनी कैसे मानें ? तथा "रुद्रयामलतंत्र" में भवानी सहस्रनाममें ऐसा कहा है—

"कुण्डासना जगद्धात्री बुद्धमाता जिनेश्वरी ।
जिनमाता जिनेन्द्रा च शारदा हंसवाहिनी ।। १ ।।"

यहाँ भवानीके नाम जिनेश्वरी इत्यादि कहे, इसलिये जिनका उत्तमपना प्रगट किया । तथा 'गणेश पुराण' में ऐसा कहा है—

"जैनं पशुपतं सांख्यं ।"

तथा व्यासकृत सूत्रमें ऐसा कहा है—

"जैना एकस्मिन्नेव वस्तुनि उभयं प्ररूपयन्ति स्याद्वादिनः* ।

इत्यादि उनके शास्त्रोंमें जैन निरूपण है, इसलिये जैनमतका प्राचीनपना भासित होता है । तथा भागवतके पंचमस्कंधमें ऋषभावतारका वर्णन÷ है । वहाँ उन्हें करुणा-

---

* यह हनुमन्नाटकके मंगलाचरणका तीसरा श्लोक है । इसमें बताया है कि जिसको शैव लोग शिव कहकर, वेदान्ती ब्रह्म कहकर, बौद्ध बुद्धदेव कहकर, नैयायिक कर्ता कहकर, जैनी अर्हन् कहकर और मीमांसक कर्म कहकर उपासना करते हैं, वह त्रैलोक्यनाथ प्रभु तुम्हारे मनोरथोंको सफल करें ।

* प्ररूपयन्ति स्याद्वादिनः इति खरड़ा प्रतौ पाठः ।

÷ भागवत स्कंध ५ अध्याय ५, २६ ।

मय, तृष्णादि रहित ध्यानमुद्राधारी, सर्वाश्रम द्वारा पूजित कहा है; उनके अनुसार अर्हंत राजाने प्रवृत्ति की ऐसा कहते हैं। सो जिस प्रकार राम-कृष्णादि अवतारोंके अनुसार अन्यमत हैं, उसी प्रकार ऋषभावतारके अनुसार जैनमत है; इस प्रकार तुम्हारे मत ही द्वारा जैनमत प्रमाण हुआ। यहाँ इतना विचार और करना चाहिये—कृष्णादि अवतारोंके अनुसार विषयकषायोंकी प्रवृत्ति होती है; ऋषभावतारके अनुसार वीतराग साम्यभावकी प्रवृत्ति होती है। यहाँ दोनों प्रवृत्तियोंको समान माननेसे धर्म-अधर्मका विशेष नहीं रहेगा और विशेष माननेसे जो भली हो वह अंगीकार करना।

तथा दशावतार चरित्रमें—"बद्ध्वापद्मासनं यो नयनयुगमिदं न्यस्य नासाग्रदेशे" इत्यादि बुद्धावतारका स्वरूप अरहंतदेव समान लिखा है; सो ऐसा स्वरूप पूज्य है तो अरहंतदेव पूज्य सहज ही हुये।

तथा काशीखंडमें देवदास राजाको सम्बोधकर राज्य छुड़ाया, वहाँ नारायण तो विनयकीर्ति यति हुआ, लक्ष्मीको विनयश्री आर्यिका की, गरुड़को श्रावक किया ऐसा कथन है। सो जहाँ सम्बोधन करना हुआ वहाँ जैनी भेष बनाया, इसलिये जैन हितकारी प्राचीन प्रतिभासित होते हैं। तथा 'प्रभास पुराण' में ऐसा कहा है—

भवस्य पश्चिमे भागे वामनेन तपःकृतम्।
तेनैव तपसाकृष्टः शिवः प्रत्यक्षतां गतः ॥ १ ॥
"पद्मासनमासीनः श्याममूर्तिर्दिगम्बरः।
नेमिनाथः शिवेत्येवं नाम चक्रेऽस्य वामनः ॥ २ ॥
कलिकाले महाघोरे सर्व पापप्रणाशकः।
दर्शनात्स्पर्शनादेव कोटियज्ञफलप्रदः ॥ ३ ॥"

यहाँ वामनको पद्मासन दिगम्बर नेमिनाथका दर्शन हुआ कहा है; उसीका नाम शिव कहा है। तथा उसके दर्शनादिकसे कोटियज्ञका फल कहा है सो ऐसा नेमिनाथका स्वरूप तो जैनी प्रत्यक्ष मानते हैं, सो प्रमाण ठहरा। तथा प्रभास पुराण में कहा है—

रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम् ॥ १ ॥"

यहाँ नेमिनाथको जिनसंज्ञा कही, उनके स्थानको ऋषिका आश्रम मुक्तिका कारण कहा और युगादिके स्थानको भी ऐसा ही कहा, इसलिये उत्तम पूज्य ठहरे। तथा 'नगर पुराण' में भवावतार रहस्य में ऐसा कहा है—

"अकारादिहकारन्तमूर्द्धाधोरेफसंयुतम् ।
नादविन्दुकलाक्रान्तं चन्द्रमण्डलसन्निभम् ।। १ ।।
एतद्देवि परं तत्त्वं यो विजानातितत्त्वतः ।
संसारबन्धनं छित्वा स गच्छेत्परमां गतिम् ।। २ ।।"

यहाँ 'अर्हं' ऐसे पदको परमतत्त्व कहा है। उसके जाननेसे परमगतिकी प्राप्ति कही; सो 'अर्हं' पद जैनमत उक्त है। तथा नगर पुराणमें कहा है—

"दशभिर्भोजितैर्विप्रैः यत्फलं जायते कृते ।
मुनेरर्हत्सुभक्तस्य तत्फलं जायते कलौ ।। १ ।।"

यहाँ कृतयुगमें दस ब्राह्मणोंको भोजन करानेका जितना फल कहा, उतना फल कलियुगमें अर्हंतभक्तमुनिको भोजन करानेका कहा है, इसलिये जैनमुनि उत्तम ठहरे। तथा 'मनुस्मृति' में ऐसा कहा है—

कुलादिबीजं सर्वेषां प्रथमो विमलवाहनः ।
चक्षुष्मान् यशस्वी वाभिचन्द्रोऽथ प्रसेनजित् ।। १ ।।
मरुदेवी च नाभिश्च भरते कुल सत्तमाः ।
अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरक्रमः ।। २ ।।
दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः ।
नीतित्रितयकर्त्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः ।। ३ ।।"

यहाँ विमलवाहनादिक मनु कहे, सो जैनमें कुलकरोंके नाम कहे हैं और यहाँ प्रथमजिन युगके आदिमें मार्गका दर्शक तथा सुरासुर द्वारा पूजित कहा; सो इसी प्रकार है तो जैनमत युगके आदिहीसे है, और प्रमाणभूत कैसे न कहें? तथा ऋग्वेदमें ऐसा कहा है—

"ॐ त्रैलोक्य प्रतिष्ठितान् चतुर्विंशतितीर्थंकरान् ऋषभाद्यान् वर्द्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये । ॐ पवित्रं नग्नमुपविस्पृसामहे एषां नग्नं येषां जातं येषां वीरं सुवीरं...... इत्यादि ।

तथा यजुर्वेदमें ऐसा कहा है—

ॐ नमो अर्हतो ऋषभाय । तथा ऐसा कहा है—

ॐ ऋषभपवित्रं पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परमं माहसंस्तुतं वरं शत्रुं जयंतं पशुरिंद्र-माहुतिरिति स्वाहा । ॐ त्रातारमिंद्रं ऋषभं वदन्ति । अमृतारमिंद्रं हवे सुगतं सुपार्श्वमिंद्रं हवे शक्रमजितं तद्वर्द्धमानपुरुहूतमिंद्रमाहुरिति स्वाहा । ॐ नग्नं सुधीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनं उपैमि वीरं पुरुषमर्हंतमादित्यवर्णं तमसः परस्तात स्वाहा । ॐ स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु । दीर्घायुस्त्वायुबला-युर्वा शुभाजातायु । ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमिः स्वाहा । वामदेव शान्त्यर्थमनुविधीयते सोऽस्माकं अरिष्टनेमिः स्वाहा* ।

सो यहाँ जैन तीर्थंकरोंके जो नाम हैं उनके पूजनादि कहे । तथा यहाँ यह भासित हुआ कि—इनके पीछे वेदरचना हुई है । इस प्रकार अन्यमतके ग्रन्थोंकी साक्षीसे भी जिनमतकी उत्तमता और प्राचीनता दृढ़ हुई । तथा जिनमतको देखनेसे वे मत कल्पित ही भासित होते हैं; इसलिये जो अपने हितका इच्छुक हो वह पक्षपात छोड़कर सच्चे जैनधर्मको अंगीकार करो ।

तथा अन्यमतोंमें पूर्वापर विरोध भासित होता है । पहले अवतारमें वेदका उद्धार किया, वहाँ यज्ञादिकमें हिंसादिकका पोषण किया और बुद्धावतारमें यज्ञके निंदक होकर हिंसादिकका निषेध किया । वृषभावतारमें वीतराग संयमका मार्ग दिखाया और कृष्णा-वतारमें परस्त्री रमणादि विषयकषायादिकका मार्ग दिखाया । अब यह संसारी किसका कहा करे ? किसके अनुसार प्रवर्ते ? और इन सब अवतारोंको एक बतलाते हैं, परन्तु एक भी कदाचित् किसी प्रकार कदाचित् किसी प्रकार कहते हैं व प्रवर्त्तते हैं, तो इसे उनके कह-नेकी व प्रवर्त्तनेकी प्रतीति कैसे आये ? तथा कहीं क्रोधादिकषायोंका व विषयोंका निषेध करते हैं, कहीं लड़नेका व विषयादि सेवनका उपदेश देते हैं; वहाँ प्रारब्ध बतलाते हैं । सो बिना क्रोधादि हुए अपने आप लड़ना आदि कार्य हों तो यह भी मानें, परन्तु या तो होते नहीं हैं । तथा लड़ना आदि कार्य करने पर भी क्रोधादि हुए न मानें, तो अलग क्रोधादि कौन हैं जिनका निषेध किया ? इसलिये ऐसा नहीं बनता; पूर्वापर विरोध है । गीतामें वीतरागता बतलाकर लड़नेका उपदेश दिया सो यह प्रत्यक्ष विरोध भासित होता है । तथा ऋषीश्वरादिकों द्वारा श्राप दिया बतलाते हैं, सो ऐसा क्रोध करने पर निंद्य-पना कैसे नहीं हुआ ? इत्यादि जानना । तथा "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" ऐसा भी कहते हैं और भारतमें ऐसा भी कहा है—

---

* यजुर्वेद अ० २५ म० १९ अष्ट ९१ अ० ६ वर्ग१ ।

अनेकानि सहस्राणि कुमार ब्रह्मचारिणाम् ।
दिवं गतानि राजेन्द्र अकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥ १ ॥

यहाँ कुमार ब्रह्मचारियोंको स्वर्ग गये बतलाया, सो यह परस्पर विरोध है। तथा ऋषीश्वरभारतमें ऐसा कहा है—

मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कंदभक्षणम् ।
ये कुर्वन्तिवृथास्तेषां तीर्थयात्रां जपस्तपः ॥ १ ॥
वृथा एकादशी प्रोक्ता वृथा जागरणं हरेः ।
वृथा च पौष्करी यात्रा कृत्स्नं चान्द्रायणं वृथा ॥२ ।
चातुर्मास्ये तु सम्प्राप्ते रात्रिभोज्यं करोति यः ।
तस्य शुद्धिर्न विद्येत् चान्द्रायणशतैरपि ॥ ३ ॥

इसमें मद्य-मांसादिकका व रात्रिभोजनका व चौमासेमें विशेपरूपसे रात्रि-भोजनका व कन्दफल-भक्षणका निषेध किया; तथा बड़े पुरुषोंको मद्य-मांसादिकका सेवन करना कहते हैं, व्रतादिमें रात्रिभोजन व कंदादि भक्षण स्थापित करते हैं; इस प्रकार विरुद्ध निरूपण करते हैं। इसी प्रकार अनेक पूर्वापर विरुद्ध वचन अन्यमतके शास्त्रोंमें हैं सो क्या किया जाये? कहीं तो पूर्व परम्परा जानकर विश्वास करानेके अर्थ यथार्थ कहा और कहीं विषयकषायका पोषण करनेके अर्थ अन्यथा कहा; सो जहाँ पूर्वापर विरोध हो उनके वचन प्रमाण कैसे करें? अन्यमतोंमें जो क्षमा, शील, सन्तोषादिकका पोषण करनेवाले वचन हैं वे तो जैनमतमें पाये जाते हैं, और विपरीत वचन हैं वे उनके कल्पित हैं। जिनमतानुसार वचनोंके विश्वाससे उनके विपरीत वचनके भी श्रद्धानादिक होजाते हैं, इसलिये अन्यमतका कोई अंग भला देखकर भी वहाँ श्रद्धानादिक नहीं करना। जिस प्रकार विषमिश्रित भोजन हितकारी नहीं है, उसी प्रकार जानना।

तथा यदि कोई उत्तमधर्मका अंग जिनमतमें न पाया जाये और अन्यमतमें पाया जाये, अथवा किसी निषिद्ध धर्मका अंग जिनमतमें पाया जाये और अन्यत्र न पाया जाये तो अन्यमतका आदर करो; परन्तु ऐसा सर्वथा होना ही नहीं; क्योंकि सर्वज्ञके ज्ञानसे कुछ छिपा नहीं है। इसलिये अन्यमतोंके श्रद्धानादिक छोड़कर जिनमतके दृढ़ श्रद्धानादिक करना। तथा कालदोषसे कषायी जीवों द्वारा जिनमतमें भी कल्पित रचना की है, सो बतलाते हैं—

[श्वेताम्बर मत निराकरण]

श्वेताम्बर मतवाले किसीने सूत्र बनाये उन्हें गणधरके बनाये कहते हैं। सो उनसे पूछते हैं—गणधरने आचारांगादिक बनाये हैं सो तुम्हारे वर्तमानमें पाये जाते हैं इतने प्रमाणसहित बनाये थे या बहुत प्रमाणसहित बनाये थे? यदि इतने प्रमाण-सहित ही किये थे तो तुम्हारे शास्त्रोंमें आचारांगादिकके पदोंका प्रमाण अठारह हजार आदि कहा है, सो उनकी विधि मिला दो! पदका प्रमाण क्या? यदि विभक्तिके अन्तको पद कहोगे, तो कहे हुए प्रमाणसे बहुत पद हो जायेंगे, और यदि प्रमाण पद कहोगे, तो उस एक पदके साधिक (किंचित् अधिक) इक्यावन करोड़ श्लोक हैं। सो यह तो बहुत छोटे शास्त्र हैं, इसलिये बनता नहीं है। तथा आचारांगादिकसे दशवैकालिकादिका प्रमाण कम कहा है; और तुम्हारे अधिक हैं, सो किस प्रकार बनता है? फिर कहोगे—"आचारांगादिक बड़े थे; कालदोष जानकर उन्हींमेंसे कितने ही सूत्र निकालकर यह शास्त्र बनाये हैं।" तब प्रथम तो टूटक ग्रन्थ प्रमाण नहीं है। तथा ऐसा प्रबन्ध है कि—बड़ा ग्रन्थ बनाये तो उसमें सर्व वर्णन विस्तार सहित करता है और छोटा ग्रन्थ बनाये तो वहाँ संक्षिप्त वर्णन करता है, परन्तु सम्बन्ध टूटता नहीं है। और किसी बड़े ग्रन्थमेंसे थोड़ा-सा कथन निकाल लें तो वहाँ सम्बन्ध नहीं मिलेगा—कथनका अनुक्रम टूट जायगा। परन्तु तुम्हारे सूत्रोंमें तो कथादिकका भी सम्बन्ध मिलता भासित होता है—टूटकपना भासित नहीं होता। तथा अन्य कवियोंसे गणधरकी बुद्धि तो अधिक होगी, उनके बनाये ग्रन्थोंमें थोड़े शब्दोंमें बहुत अर्थ होना चाहिये; परन्तु अन्य कवियों जैसी भी गम्भीरता नहीं है।

तथा जो ग्रन्थ बनाये वह अपना नाम ऐसा नहीं रखता कि—"अमुक कहता है," "मैं कहता हूँ" ऐसा कहता है; परन्तु तुम्हारे सूत्रोंमें "हे गौतम! व "गौतम कहते हैं" ऐसे वचन हैं। परन्तु ऐसे वचन तो तभी सम्भव हैं जब और कोई कर्ता हो। इसलिये यह सूत्र गणधरकृत नहीं हैं, औरके बनाये गये हैं। गणधरके नामसे कल्पित-रचनाको प्रमाण कराना चाहते हैं; परन्तु विवेकी तो परीक्षा करके मानते हैं, कहा ही तो नहीं मानते।

तथा वे ऐसा भी कहते हैं कि—गणधर सूत्रोंके अनुसार कोई दशपूर्वधारी हुए हैं, उसने यह सूत्र बनाये हैं। वहाँ पूछते हैं—यदि नये ग्रन्थ बनाये हैं तो नया नाम रखना था, अंगादिकके नाम किसलिये रखे? जैसे—कोई बड़े साहूकारकी कोठीके

नामसे अपना साहूकारा प्रगट करे—ऐसा यह कार्य हुआ। सच्चेको तो जिस प्रकार दिगम्बरमें ग्रन्थोंके और नाम रखे तथा अनुसारी पूर्व ग्रन्थोंका कहा; उसी प्रकार कहना योग्य था। अंगादिकके नाम रखकर गणधरकृतका भ्रम किसलिये उत्पन्न किया? इसलिये गणधरके, पूर्वधारीके वचन नहीं हैं। तथा इन सूत्रोंमें विश्वास करानेके अर्थ जो जिनमत-अनुसार कथन है वह तो सत्य है ही, दिगम्बर भी उसी प्रकार कहते हैं। तथा जो कल्पित रचना की है, उसमें पूर्वापर विरुद्धपना व प्रत्यक्षादि प्रमाणमें विरुद्धपना भासित होता है वही बतलाते हैं—

[अन्य लिंगसे मुक्तिका निषेध]

अन्यलिंगीके व गृहस्थके व स्त्रीके व चाण्डालादि शूद्रोंके साक्षात् मुक्तिकी प्राप्ति होना मानते हैं, सो बनता नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है; परन्तु वे सम्यग्दर्शनका स्वरूप तो ऐसा कहते हैं :—

अरहन्तो महादेवो जावज्जीवं सुसाहणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं ए सम्मत्तं मए गहियं॥ १॥

सो अन्यलिंगीके अरहन्तदेव, साधु, गुरु, जिनप्रणीततत्त्वका मानना किस प्रकार सम्भव है? जब सम्यक्त्व भी न होगा तो मोक्ष कैसे होगा? यदि कहोगे—अन्तरङ्गमें श्रद्धान होनेसे उनके सम्यक्त्व होता है; सो विपरीत लिंग धारककी प्रशंसादिक करने पर भी सम्यक्त्वको अतिचार कहा है, तो सच्चा श्रद्धान होनेके पश्चात् आप विपरीत लिंगका धारक कैसे रहेगा? श्रद्धान होनेके पश्चात् महाव्रतादि अंगीकार करने पर सम्यक्चारित्र होता है, वह अन्यलिंगमें किस प्रकार बनेगा? यदि अन्यलिंगमें भी सम्यक्चारित्र होता है तो जैनलिंग अन्यलिंग समान हुआ, इसलिये अन्यलिंगीको मोक्ष कहना मिथ्या है। तथा गृहस्थको मोक्ष कहते हैं, सो हिंसादिक सर्व सावद्ययोगका त्याग करने पर सम्यक्-चारित्र होता है; तब सर्व सावद्ययोगका त्याग करने पर गृहस्थपना कैसे सम्भव है? यदि कहोगे—अन्तरंग त्याग हुआ है, तो यहाँ तो तीनों योग द्वारा त्याग करते हैं, तो काय द्वारा त्याग कैसे हुआ? तथा बाह्य परिग्रहादिक रखने पर भी महाव्रत होते हैं; सो महाव्रतोंमें तो बाह्य त्याग करनेकी ही प्रतिज्ञा करते हैं, त्याग किये बिना महाव्रत नहीं होते। महाव्रत बिना छट्ठा आदि गुणस्थान नहीं होता; तो फिर मोक्ष कैसे होगा? इसलिये गृहस्थको मोक्ष कहना मिथ्यावचन है।

[स्त्रीमुक्तिका निषेध]

तथा स्त्रीको मोक्ष कहते हैं; सो जिससे सप्तम नरक गमनयोग्य पाप न हो सके, उससे मोक्षका कारण शुद्धभाव कैसे होगा ? क्योंकि जिसके भाव दृढ़ हों, वही उत्कृष्ट पाप व धर्म उत्पन्न कर सकता है। तथा स्त्रीके निःशंक एकान्तमें ध्यान धरना और सर्व परिग्रहादिकका त्याग करना सम्भव नहीं है। यदि कहोगे—एक समयमें पुरुषवेदी व स्त्रीवेदी व नपुंसकवेदीको सिद्धि होना सिद्धान्तमें कही है, इसलिये स्त्रीको मोक्ष मानते हैं। परन्तु यहाँ वह भाववेदी है या द्रव्यवेदी है ? यदि भाववेदी है तो हम मानते ही हैं; तथा द्रव्यवेदी है तो पुरुष-स्त्रीवेदी तो लोकमें प्रचुर दिखायी देते हैं, और नपुंसक तो कोई विरले दिखते हैं; तो एक समयमें मोक्ष जानेवाले इतने नपुंसक कैसे सम्भव हैं ? इसलिये द्रव्यवेदकी अपेक्षा कथन नहीं बनता। तथा यदि कहोगे—नववें गुणस्थान तक वेद कहे हैं; सो भी भाववेदकी अपेक्षा ही कथन है। द्रव्यवेदकी अपेक्षा हो तो चौदहवें गुणस्थानपर्यन्त वेदका सद्भाव कहना सम्भव हो। इसलिये स्त्रीको मोक्षका कहना मिथ्या है।

[शूद्रमुक्तिका निषेध]

तथा शूद्रोंको मोक्ष कहते हैं; परन्तु चाण्डालादिकको गृहस्थ सन्मानादिक पूर्वक दानादिक कैसे देंगे ? लोकविरुद्ध होता है। तथा नीच कुलवालोंके उत्तम परिणाम नहीं हो सकते। तथा नीच गोत्रकर्मका उदय तो पंचम गुणस्थानपर्यन्त ही है; ऊपरके गुणस्थान चढ़े बिना मोक्ष कैसे होगा ? यदि कहोगे—संयम धारण करनेके पश्चात् उसके उच्चगोत्रका उदय कहते हैं, तो संयम धारण करने—न करनेकी अपेक्षासे नीच-उच्चगोत्रका उदय ठहरा। ऐसा होनेसे असंयमी मनुष्य, तीर्थंकर क्षत्रियादिकको भी नीच गोत्रका उदय ठहरेगा। यदि उनके कुल अपेक्षा उच्चगोत्रका उदय कहोगे तो चाण्डालादिकके भी कुल अपेक्षा ही नीच गोत्रका उदय कहो ! उसका सद्भाव तुम्हारे सूत्रोंमें भी पंचम गुणस्थानपर्यन्त ही कहा है। सो कल्पित कहनेमें पूर्वापर विरोध होगा ही होगा; इसलिये शूद्रोंको मोक्ष कहना मिथ्या है।

इस प्रकार उन्होंने सबको मोक्षकी प्राप्ति कही, सो उसका प्रयोजन यह है कि सबको भला मनाना, मोक्षकी लालच देना और अपने कल्पित मतकी प्रवृत्ति करना। परन्तु विचार करने पर मिथ्या भासित होता है।

[अछेरोंका निराकरण]

तथा उनके शास्त्रोंमें "अछेरा" कहते हैं। वहाँ कहते हैं—हुण्डावसर्प्पिणीके निमित्तसे हुए हैं, इनको छेड़ना नहीं। सो काल दोषसे कितनी ही बातें होती हैं, परन्तु प्रमाणविरुद्ध तो नहीं होती। यदि प्रमाण विरुद्ध भी हों तो आकाशके फूल, गधेके सींग इत्यादिका होना भी बनेगा; सो सम्भव नहीं है। वे अछेरा कहते हैं सो प्रमाण-विरुद्ध हैं। किसलिये ? सो कहते हैं :—

वर्द्धमान जिन कुछ काल ब्राह्मणीके गर्भमें रहे, फिर क्षत्रियाणीके गर्भमें बढ़े ऐसा कहते हैं। सो किसीका गर्भ किसीके रख देना प्रत्यक्ष भासित नहीं होता, अनुमानादिकमें नहीं आता। तथा तीर्थंकरके हुआ कहें तो गर्भकल्याणक किसीके घर हुआ, जन्मकल्याणक किसीके घर हुआ। कुछ दिन रत्नवृष्टि आदि किसीके घर हुए, कुछ दिन किसीके घर हुए। सोलह स्वप्न किसीको आये, पुत्र किसीके हुआ इत्यादि असम्भव भासित होता है। तथा माताएँ तो दो हुईं और पिता तो एक ब्राह्मण ही रहा। जन्मकल्याणादिमें उसका सन्मान नहीं किया, अन्य कल्पित पिताका सन्मान किया। इस प्रकार तीर्थंकरके दो पिताका कहना महाविपरीत भासित होता है। सर्वोत्कृष्ट पद धारकके लिये ऐसे वचन सुनना भी योग्य नहीं हैं। तथा तीर्थंकरके भी ऐसी अवस्था हुई तो सर्वत्र ही अन्य स्त्रीका गर्भ अन्य स्त्रीको रख देना ठहरेगा। तो जैसे वैष्णव अनेक प्रकारसे पुत्र-पुत्रीका उत्पन्न होना बतलाते हैं वैसा यह कार्य हुआ। सो ऐसे निकृष्ट कालमें जब ऐसा नहीं होता तब वहाँ होना कैसे सम्भव है ? इसलिये यह मिथ्या है।

तथा मल्लि तीर्थंकरको कन्या कहते हैं; परन्तु मुनि, देवादिककी सभामें स्त्रीका स्थिति करना, उपदेश देना सम्भव नहीं है; व स्त्रीपर्याय हीन है सो उत्कृष्ट तीर्थंकर पदधारीके नहीं बनती। तथा तीर्थंकरके नग्न लिंग ही कहते हैं, सो स्त्रीके नग्नपना सम्भव नहीं है। इत्यादि विचार करनेसे असम्भव भासित होता है।

तथा हरिक्षेत्रके भोगभूमियाको नरकमें गया कहते हैं। सो बन्ध वर्णनमें तो भोगभूमियाको देवगति, देवायुहीका बन्ध कहते हैं, नरक कैसे गया ? सिद्धान्तमें तो अनन्तकालमें जो बात हो वह भी कहते हैं। जैसे—तीसरे नरकपर्यंन्त तीर्थंकर प्रकृतिका सत्व कहा, भोगभूमियाके नरकायु गतिका बन्ध नहीं कहा। सो केवली भूलते तो नहीं हैं; इसलिये यह मिथ्या है। इस प्रकार सर्व अछेरे असम्भव जानना। तथा वे कहते हैं—इनको छेड़ना नहीं, सो झूठ कहनेवाला इसी प्रकार कहता है।

तथा यदि कहोगे—दिगम्बरमें जिस प्रकार तीर्थंकरके पुत्री, चक्रवर्तीका मान-भंग इत्यादि कार्य कालदोषसे हुआ कहते हैं, उसी प्रकार यह भी हुए। परन्तु यह कार्य तो प्रमाणविरुद्ध नहीं हैं; अन्यके होते थे सो महन्तोंके हुए, इसलिये कालदोष कहा है। गर्भहरणादि कार्य प्रत्यक्ष-अनुमानादिसे विरुद्ध हैं, उनका होना कैसे सम्भव है? तथा अन्य भी बहुत ही कथन प्रमाणविरुद्ध कहते हैं। जैसे कहते हैं—सर्वार्थसिद्धिके देव मनहीसे प्रश्न करते हैं, केवली मनहीसे उत्तर देते हैं; परन्तु सामान्य जीवके मनकी बात मनःपर्ययज्ञानीके बिना जान नहीं सकता, तो केवलीके मनकी सर्वार्थसिद्धिके देव किस प्रकार जानेंगे? तथा केवलीके भावमनका तो अभाव है, द्रव्यमन जड़-आकारमात्र है, उत्तर किसने दिया? इसलिये यह मिथ्या है। इस प्रकार अनेक प्रमाणविरुद्ध कथन किये हैं, इसलिये उनके आगम कल्पित जानना।

[केवलीके आहार–निहारका निराकरण]

तथा वे श्वेताम्बर मतवाले देव-गुरु-धर्मका स्वरूप अन्यथा निरूपित करते हैं। वहाँ केवलीके क्षुधादिक दोष कहते हैं सो यह देवका स्वरूप अन्यथा है, कारण कि क्षुधादिक दोष होनेसे आकुलता होगी तब अनन्तसुख किस प्रकार बनेगा? फिर यदि कहोगे–शरीरको क्षुधा लगती है, आत्मा तद्रूप नहीं होता; तो क्षुधादिकका उपाय आहारादिक किसलिये ग्रहण किया कहते हो? क्षुधादिसे पीड़ित हो तभी आहार ग्रहण करेगा। फिर कहोगे—जिस प्रकार कर्मोदयसे विहार होता है उसी प्रकार आहार ग्रहण होता है। सो विहार तो विहायोगति प्रकृतिके उदयसे होता है और पीड़ाका उपाय नहीं है तथा वह बिना इच्छा भी किसी जीवके होता देखा जाता है। तथा आहार है वह प्रकृतिउदयसे नहीं है, क्षुधासे पीड़ित होने पर ही ग्रहण करता है। तथा आत्मा पवनादिको प्रेरित करे तभी निगलना होता है, इसलिये विहारवत् आहार नहीं है। यदि कहोगे–सातावेदनीयके उदयसे आहार ग्रहण होता है, सो भी बनता नहीं है। यदि जीव क्षुधादिसे पीड़ित हो, पश्चात् आहारादिक ग्रहणसे सुख माने, उसके आहारादिक साताके उदयसे कहे जाते हैं। आहारादिकका ग्रहण सातावेदनीयके उदयसे स्वयमेव हो ऐसा तो है नहीं; यदि ऐसा हो तो सातावेदनीयका मुख्य उदय देवोंके है, वे निरन्तर आहार क्यों नहीं करते? तथा महामुनि उपवासादि करें उनके साताका भी उदय और निरन्तर भोजन करनेवालोंको असाताका भी उदय सम्भव है। इसलिये जिस प्रकार बिना इच्छा विहायोगतिके उदयसे विहार सम्भव है, उसी प्रकार बिना इच्छा केवल सातावेदनीय हीके उदयसे आहारका ग्रहण सम्भव नहीं है।

फिर वे कहते हैं—सिद्धान्तमें केवलीके क्षुधादिक ग्यारह परीषह कहे हैं, इसलिये उनके क्षुधाका सद्भाव सम्भव है। तथा आहारादिक बिना उनकी उपशांतता कैसे होगी? इसलिये उनके आहारादि मानते हैं।

समाधानः—कर्मप्रकृतियोंका उदय मन्द-तीव्र भेदसहित होता है। वहाँ अति मन्द उदय होनेसे उस उदयजनित कार्यकी व्यक्तता भासित नहीं होती; इसलिये मुख्यरूपसे अभाव कहा जाता है, तारतम्यमें सद्भाव कहा जाता है। जैसे—नववें गुणस्थानमें वेदादिकका उदय मन्द है, वहाँ मैथुनादि क्रिया व्यक्त नहीं है, इसलिये वहाँ ब्रह्मचर्य ही कहा है। तारतम्यमें मैथुनादिकका सद्भाव कहा जाता है। उसी प्रकार केवलीके असाताका उदय अतिमन्द है; क्योंकि एक-एक कांडकमें अनन्तवें भाग-अनुभाग रहते हैं, ऐसे बहुत अनुभागकांडकोंसे व गुणसंक्रमणादिसे सत्तामें असातावेदनीयका अनुभाग अत्यन्त मन्द हुआ है, उसके उदयमें ऐसी क्षुधा व्यक्त नहीं होती जो शरीरको क्षीण करे। और मोहके अभावसे क्षुधादिकजनित दुःख भी नहीं है, इसलिये क्षुधादिकका अभाव कहा जाता है और तारतम्यमें उसका सद्भाव कहा जाता है। तथा तूने कहा—आहारादिक बिना उसकी उपशांतता कैसे होगी? परन्तु आहारादिकसे उपशांत होने योग्य क्षुधा लगे तो मन्द उदय कैसे रहा? देव, भोगभूमिया आदिकके किंचित् मन्द उदय होनेपर भी बहुत काल पश्चात् किंचित् आहार ग्रहण होता है तो इनके अतिमन्द उदय हुआ है, इसलिये इनके आहारका अभाव सम्भव है।

फिर वह कहता है—देव, भोगभूमियोंका तो शरीर ही वैसा है कि जिन्हें भूख थोड़ी और बहुत काल पश्चात् लगती है; उनका तो शरीर कर्मभूमिका औदारिक है; इसलिये इनका शरीर आहार बिना देशोन्यून कोटि पूर्व पर्यन्त उत्कृष्टरूपसे कैसे रहता है?

समाधानः—देवादिकका भी शरीर वैसा है, सो कर्मके ही निमित्तसे है। यहाँ केवलज्ञान होनेपर ऐसा ही कर्मका उदय हुआ, जिससे शरीर ऐसा हुआ कि उसको भूख प्रगट होती ही नहीं। जिस प्रकार केवलज्ञान होनेसे पूर्व केश, नख बढ़ते थे, अब नहीं बढ़ते; छाया होती थी अब नहीं होती; शरीरमें निगोद थी, उसका अभाव हुआ। बहुत प्रकारसे जैसे शरीरकी अवस्था अन्यथा हुई, उसी प्रकार आहार बिना भी शरीर जैसेका तैसा रहे ऐसी भी अवस्था हुई। प्रत्यक्ष देखो, औरोंको जरा व्याप्त हो तब शरीर शिथिल होजाता है, इनका आयुपर्यंत शरीर शिथिल नहीं होता; इसलिये अन्य मनुष्योंकी और इनके शरीरकी समानता सम्भव नहीं है। तथा यदि तू कहेगा—देवा-

दिकके आहार ही ऐसा है जिससे बहुतकालकी भूख मिट जाये, परन्तु इनकी भूख काहेसे मिटी और शरीर पुष्ट किस प्रकार रहा ? तो सुन, असाताका उदय मन्द होनेसे मिटी, और प्रति समय परम औदारिक शरीरवर्गणाका ग्रहण होता है सो वह नोकर्म-आहार है; इसलिये ऐसी-ऐसी वर्गणाका ग्रहण होता है जिससे क्षुधादिक व्याप्त न हों और शरीर शिथिल न हो। सिद्धान्तमें इसीकी अपेक्षा केवलीको आहार कहा है। तथा अन्नादिकका आहार तो शरीरकी पुष्टताका मुख्य कारण नहीं है। प्रत्यक्ष देखो, कोई थोड़ा आहार ग्रहण करता है और शरीर पुष्ट बहुत होय; कोई बहुत आहार ग्रहण करता है और शरीर क्षीण रहता है। तथा पवनादि साधनेवाले बहुत कालतक आहार नहीं लेते और शरीर पुष्ट बना रहता है, वा ऋद्धिधारी मुनि उपवासादि करते हैं तथापि शरीर पुष्ट बना रहता है; फिर केवलीके तो सर्वोत्कृष्टपना है, उनके अन्नादिक बिना शरीर पुष्ट बना रहता है तो क्या आश्चर्य हुआ ? तथा केवली कैसे आहारको जायेंगे ? कैसे याचना करेंगे ?

तथा वे आहारको जायें तो समवसरण खाली कैसे रहेगा ? अथवा अन्यका ला देना ठहराओगे तो कौन ला देगा ? उनके मनकी कौन जानेगा ? पूर्वमें उपवासादिकी प्रतिज्ञा की थी उसका कैसे निर्वाह होगा ? जीव अंतराय सर्वत्र प्रतिभासित हो वहाँ कैसे आहार ग्रहण करेंगे ? इत्यादि विरुद्धता भासित होती है। तथा वे कहते हैं— आहार ग्रहण करते हैं, परन्तु किसीको दिखायी नहीं देता। सो आहार ग्रहणको निंद्य जाना, तब उसका न देखना अतिशयमें लिखा है, सो उनके निंद्यपना तो रहा, और दूसरे नहीं देखते हैं तो क्या हुआ ? ऐसे अनेक प्रकार विरुद्धता उत्पन्न होती है।

तथा अन्य अविवेकताकी बातें सुनो—केवलीके निहार कहते हैं, रोगादिक हुए कहते हैं और कहते हैं—किसीने तेजोलेश्या छोड़ी, उससे वर्द्धमानस्वामीके पेढ़ूंगाका (पेचिसका) रोग हुआ, उससे बहुत बार निहार होने लगा। यदि तीर्थंकर केवलीके भी ऐसे कर्मका उदय रहा और अतिशय नहीं हुआ तो इन्द्रादि द्वारा पूज्यपना कैसे शोभा देगा ? तथा निहार कैसे करते हैं, कहाँ करते हैं ? कोई सम्भवित बातें नहीं हैं। तथा जिस प्रकार रागादियुक्त छद्मस्थके क्रिया होती है उसी प्रकार केवलीके क्रिया ठहराते हैं। वर्द्धमानस्वामीके उपदेशमें 'हे गौतम !' ऐसा बारम्बार कहना ठहराते हैं; परन्तु उनके तो अपने कालमें सहज दिव्यध्वनि होती है, वहाँ सर्वको उपदेश होता है, गौतमको सम्बोधन किस प्रकार बनता है ? तथा केवलीके नमस्कारादि क्रिया ठहराते हैं, परन्तु

अनुराग विना वन्दना संभव नहीं है। तथा गुणाधिकको वन्दना संभव है, परन्तु उनसे कोई गुणाधिक रहा नहीं है सो कैसे बनती है? तथा हाटमें समवसरण उतरा कहते हैं, सो इन्द्रकृत समवसरण हाटमें किस प्रकार रहेगा? इतनी रचनाका समावेश वहाँ कैसे होगा? तथा हाटमें किसलिये रहें? क्या इन्द्र हाट जैसी रचना करनेमें भी समर्थ नहीं है, जिससे हाटका आश्रय लेना पड़े? तथा कहते हैं—केवली उपदेश देनेको गये; सो घर जाकर उपदेश देना अति रागसे होता है और वह मुनिके भी सम्भव नहीं है तो केवलीके कैसे होगा? इसी प्रकार वहाँ अनेक विपरीतता प्ररूपित करते हैं। केवली शुद्ध केवलज्ञान-दर्शनमय रागादिरहित हुए हैं, उनके अघातियोंके उदयसे संभवित क्रिया कोई होती है; परन्तु उनके मोहादिकका अभाव हुआ है, इसलिये उपयोग जुड़नेसे जो क्रिया हो सकती है वह संभव नहीं है। पाप प्रकृतिका अनुभाग अत्यन्त मन्द हुआ है; ऐसा मन्द अनुभाग अन्य किसीके नहीं है; इसलिये अन्य जीवोंके पाप उदयसे जो क्रिया होती देखी जाती है, वह केवलीके नहीं होती। इस प्रकार केवली भगवानके सामान्य मनुष्य जैसी क्रियाका सद्भाव कहकर देवके स्वरूपको अन्यथा प्ररूपित करते हैं।

[मुनिके वस्त्रादि उपकरणोंका प्रतिषेध]

तथा गुरुके स्वरूपको अन्यथा प्ररूपित करते हैं। मुनिके वस्त्रादिक चौदह उपकरण* कहते हैं। सो हम पूछते हैं—मुनिको निर्ग्रन्थ कहते हैं, और मुनिपद लेते समय नव प्रकारके सर्व परिग्रहका त्याग करके महाव्रत अंगीकार करते हैं; सो यह वस्त्रादिक परिग्रह हैं या नहीं? यदि हैं तो त्याग करनेके पश्चात् किसलिये रखते हैं? और नहीं है तो वस्त्रादिक गृहस्थ रखते हैं, उन्हें भी परिग्रह मत कहो? सुवर्णादिकको परिग्रह कहो। तथा यदि कहोगे—जिस प्रकार क्षुधाके अर्थ आहार ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार शीत-उष्णादिकके अर्थ वस्त्रादिक ग्रहण करते हैं; परंतु मुनिपद अंगीकार करते हुए आहारका त्याग नहीं किया है, परिग्रहका त्याग किया है। तथा अन्नादिकका संग्रह करना तो परिग्रह है, भोजन करने जायें वह परिग्रह नहीं है। तथा वस्त्रादिकका संग्रह करना व पहिनना वह सर्व ही परिग्रह है, सो लोकमें प्रसिद्ध है। फिर कहोगे—शरीरकी स्थितिके अर्थ वस्त्रादिक रखते हैं; ममत्व नहीं है इससे उनको परिग्रह नहीं कहते

---

* पात्र-१, पात्रबन्ध-२, पात्रकेसरिका-३, पटलिकाएँ ४-५, रजस्त्राण-६, गोच्छक-७, रजोहरण-८, मुखवस्त्रिका-९, दो सूती कपड़े १०-११, एक ऊनी कपड़ा-१२, मात्रक-१३, चोलपट्ट-१४।
—देखो, बृहत्क० सू० उ० ३ भा० गा० ३९६२ से ३९६५ तक।

सो श्रद्धानमें तो जब सम्यग्दृष्टि हुआ तभी समस्त परद्रव्योंमें ममत्वका अभाव हुआ; उस अपेक्षासे चौथा गुणस्थान ही परिग्रह रहित कहो ! तथा प्रवृत्तिमें ममत्व नहीं है तो कैसे ग्रहण करते हैं ? इसलिये वस्त्रादिकका ग्रहण-धारण छूटेगा तभी निष्परिग्रह होगा। फिर कहोगे—वस्त्रादिकको कोई ले जाये तो क्रोध नहीं करते व क्षुधादिक लगे तो उन्हें बेचते नहीं हैं वा वस्त्रादिक पहिनकर प्रमाद नहीं करते; परिणामोंकी स्थिरता द्वारा धर्म ही साधन करते हैं, इसलिये ममत्व नहीं है। सो बाह्य क्रोध भले न करो, परन्तु जिसके ग्रहणमें इष्टबुद्धि होगी उसके वियोगमें अनिष्टबुद्धि होगी ही होगी। यदि इष्टबुद्धि नहीं है तो उसके अर्थ याचना किसलिये करते हैं ? तथा बेचते नहीं हैं, सो धातु रखनेसे अपनी हीनता जानकर नहीं बेचते। परन्तु जिस प्रकार धनादिका रखना है उसी प्रकार वस्त्रादिका रखना है। लोकमें परिग्रहके चाहक जीवोंको दोनोंकी इच्छा है; इसलिये चोरादिकके भयादिकके कारण दोनों समान हैं। तथा परिणामोंकी स्थिरता द्वारा धर्म-साधनहीसे परिग्रहपना न हो, तो किसीको बहुत ठंड लगेगी वह रजाई रखकर परि-णामोंकी स्थिरता करेगा और धर्म साधेगा; सो उसे भी निष्परिग्रह कहो ? इस प्रकार गृहस्थधर्म-मुनिधर्ममें विशेष क्या रहेगा ? जिसके परिषह सहनेकी शक्ति न हो, वह परिग्रह रखकर धर्म साधन करे उसका नाम गृहस्थधर्म; और जिसके परिणाम निर्मल होनेसे परीषहसे व्याकुल नहीं होते, वह परिग्रह न रखे और धर्म साधन करे उसका नाम मुनिधर्म,—इतना ही विशेष है।

फिर कहोगे—शीतादिके परिषहसे व्याकुल कैसे नहीं होंगे ? परन्तु व्याकुलता तो मोहउदयके निमित्तसे है; और मुनिके छठवें आदि गुणस्थानोंमें तीन चौकड़ीका उदय नहीं है तथा संज्वलनके सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उदय नहीं है, देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय है सो उनका कुछ बल नहीं है। जैसे वेदक सम्यग्दृष्टिको सम्यग्मोहनीयका उदय है, परन्तु सम्यक्त्वका घात नहीं कर सकता, उसी प्रकार देशघाती संज्वलनका उदय परिणामोंको व्याकुल नहीं कर सकता। अहो ! मुनियोंके और दूसरोंके परिणामोंकी समानता नहीं है। और सबके सर्वघातीका उदय है, इनके देशघातीका उदय है इसलिये दूसरोंके जैसे परिणाम होते हैं वैसे इनके कदाचित् नहीं होते। जिनके सर्वघाती कषायोंका उदय हो वे गृहस्थ ही रहते हैं और जिनके देशघातीका उदय हो वे मुनिधर्म अंगीकार करते हैं; उनके परिणाम शीतादिकसे व्याकुल नहीं होते, इसलिये वस्त्रादिक नहीं रखते। फिर कहोगे—जैनशास्त्रोंमें मुनि चौदह उपकरण रखे—ऐसा कहा है; सो तुम्हारे ही शास्त्रोंमें कहा है, दिगम्बर जैनशास्त्रोंमें तो कहा नहीं है; वहाँ तो लँगोट मात्र परिग्रह रहने पर

भी ग्यारहवीं प्रतिमाके धारीको श्रावक ही कहा है। अब यहाँ, विचार करो कि—दोनोंमें कल्पित वचन कौन है? प्रथम तो कल्पित रचना कषायी हो वह करता है; तथा कषायी हो वही नीचपदमें उच्चपना प्रगट करता है। यहाँ दिगम्बरमें वस्त्रादि रखनेसे धर्म होता ही नहीं है—ऐसा तो नहीं कहा, परन्तु वहाँ श्रावकधर्म कहा है; श्वेताम्बरमें मुनिधर्म कहा है। इसलिये यहाँ जिसने नीची क्रिया होनेपर उच्चत्व पद प्रगट किया वही कषायी है। इस कल्पित कथनसे अपनेको वस्त्रादि रखने पर भी लोग मुनि मानने लगें; इसलिये मानकषायका पोषण किया और दूसरोंको सुगमक्रियामें उच्चपदका होना दिखाया, इसलिये बहुत लोग लग गये। जो कल्पित मत हुए हैं वे इसी प्रकार हुए हैं। इसलिये कषायी होकर वस्त्रादि होनेपर मुनिपना कहा है सो पूर्वोक्त युक्तिसे विरुद्ध भासित होता है; इसलिये यह कल्पित वचन हैं ऐसा जानना।

फिर कहोगे—दिगम्बरमें भी शास्त्र, पींछी आदि उपकरण मुनिके कहे हैं, उसी प्रकार हमारे चौदह उपकरण कहे हैं?

समाधान:—जिससे उपकार हो उसका नाम उपकरण है। सो यहाँ शीतादिककी वेदना दूर करनेसे उपकरण ठहरायें तो सर्व परिग्रह सामग्री उपकरण नाम प्राप्त करे, परन्तु धर्ममें उनका क्या प्रयोजन? वे तो पापके कारण हैं; धर्ममें तो जो धर्मके उपकारी हों उनका नाम उपकरण है। वहाँ शास्त्र ज्ञानका कारण, पींछी दयाका कारण, कमण्डल शौचका कारण है, सो यह तो धर्मके उपकारी हुए, वस्त्रादिक किस प्रकार धर्मके उपकारी होंगे? वे तो शरीरसुखके अर्थ ही धारण किये जाते हैं। और सुनो, यदि शास्त्र रखकर महंतता दिखायें, पींछीसे बुहारी दें, कमण्डलसे जलादिक पियें, व मैल उतारें, तो शास्त्रादिक भी परिग्रह ही हैं; परन्तु मुनि ऐसे कार्य नहीं करते। इसलिये धर्मके साधनको परिग्रह संज्ञा नहीं है; भोगके साधनको परिग्रह संज्ञा होती है ऐसा जानना। फिर कहोगे—कमण्डलसे तो शरीरहीका मल दूर करते हैं; परन्तु मुनि मल दूर करनेकी इच्छासे कमण्डल नहीं रखते हैं। शास्त्र पढ़ना आदि कार्य करते हैं, वहाँ मललिप्त हों तो उनकी अविनय होगी, लोकनिंद्य होंगे, इसलिये इस धर्मके अर्थ कमंडल रखते हैं। इस प्रकार पींछी आदि उपकरण सम्भवित हैं, वस्त्रादिको उपकरण संज्ञा सम्भव नहीं है। काम, अरति आदि मोहके उदयसे विकार बाह्य प्रगट हो, तथा शीतादि सहे नहीं जायेंगे, इसलिये विकार ढँकनेको व शीतादि मिटानेको वस्त्रादि रखते हैं और मानके उदयसे अपनी महंतता भी चाहते हैं, इसलिये उन्हें कल्पित युक्ति द्वारा उपकरण ठहराया है।

तथा घर-घर याचना करके आहार लाना ठहराते हैं। सो पहले तो यह पूछते हैं कि—याचना धर्मका अङ्ग है या पापका अङ्ग है? यदि धर्मका अङ्ग है तो मांगनेवाले सर्व धर्मात्मा हुए; और पापका अङ्ग है तो मुनिके किस प्रकार सम्भव है?

फिर यदि तू कहेगा—लोभसे कुछ धनादिककी याचना करें तो पाप हो, यह तो धर्म साधनके अर्थ शरीरकी स्थिरता करना चाहते हैं, इसलिये आहारादिककी याचना करते हैं?

समाधान:—आहारादिसे धर्म नहीं होता, शरीरका सुख होता है; इसलिये शरीरसुखके अर्थ अति लोभ होनेपर याचना करते हैं। यदि अतिलोभ न होता तो आप किसलिये मांगता? वे ही देते तो देते, न देते तो न देते। तथा अतिलोभ हुआ वही पाप हुआ, तब मुनिधर्म नष्ट हुआ, दूसरा धर्म क्या साधेगा? अब वह कहता है—मनमें तो आहारकी इच्छा हो और याचना न करें तो मानकषाय हुआ, और याचना करनेमें हीनता आती है सो गर्वके कारण याचना न करे तो मानकषाय हुआ। आहार लेना था सो मांग लिया, इसमें अतिलोभ क्या हुआ और इससे मुनिधर्म किस प्रकार नष्ट हुआ? सो कहो। उससे कहते हैं:—

जैसे किसी व्यापारीको कमानेकी इच्छा मन्द है सो दूकान पर तो बैठे और मनमें व्यापार करनेकी इच्छा भी है, परन्तु किसीसे वस्तु लेन-देनरूप व्यापारके अर्थ प्रार्थना नहीं करता है, स्वयमेव कोई आये तो अपनी विधि मिलनेपर व्यापार करता है तो उसके लोभकी मन्दता है, माया व मान नहीं है। माया, मानकषाय तो तब होगी जब छल करनेके अर्थ वा अपनी महंतताके अर्थ ऐसा स्वांग करे। परन्तु अच्छे व्यापारीके ऐसा प्रयोजन नहीं है, इसलिये उनके माया मान नहीं कहते। उसी प्रकार मुनियोंके आहारादिककी इच्छा मन्द है। वे आहार लेने आते हैं और मनमें आहार लेनेकी इच्छा भी है, परन्तु आहारके अर्थ प्रार्थना नहीं करते; स्वयमेव कोई दे तो अपनी विधि मिलने पर आहार लेते हैं, वहाँ उनके लोभकी मन्दता है, माया व मान नहीं है। माया-मान तो तब होगा जब छल करनेके अर्थ व महंतताके अर्थ ऐसा स्वांग करें, परन्तु मुनियोंके ऐसे प्रयोजन हैं नहीं, इसलिये उनके माया-मान नहीं हैं। यदि इसी प्रकार माया-मान हो, तो जो मन ही द्वारा पाप करते हैं, वचन-काय द्वारा नहीं करते, उन सबके माया ठहरेगी और जो उच्चपदवीके धारक नीचवृत्ति अंगीकार नहीं करते उन सबके मान ठहरेगा—ऐसा अनर्थ होगा! तथा तूने कहा—"आहार मांगनेमें अतिलोभ क्या

हुआ ?" सो अतिकषाय हो तब लोकनिंद्य कार्य अंगीकार करके भी मनोरथ पूर्ण करना चाहता है; और माँगना लोकनिंद्य है, उसे भी अंगीकार करके आहारकी इच्छा पूर्ण करनेकी चाह हुई, इसलिये यहाँ अतिलोभ हुआ। तथा तूने कहा—"मुनिधर्म कैसे नष्ट हुआ ?" परन्तु मुनिधर्ममें ऐसी तीव्रकषाय सम्भव नहीं है। तथा किसीके आहार देनेका परिणाम नहीं था और इसने उसके घरमें जाकर याचना की; वहाँ उसको संकोच हुआ और न देनेपर लोकनिंद्य होनेका भय हुआ, इसलिये उसे आहार दिया, परन्तु उसके (दातारके) अन्तरंग प्राण पीड़ित होनेसे हिंसाका सद्भाव आया। यदि आप उसके घरमें न जाते, उसीके देनेका उपाय होता तो देता, उसे हर्ष होता। यह तो दबाकर कार्य कराना हुआ। तथा अपने कार्यके अर्थ याचनारूप वचन है वह पापरूप है, सो यहाँ असत्य वचन भी हुआ। तथा उसके देनेकी इच्छा नहीं थी, इसने याचना की, तब उसने अपनी इच्छासे नहीं दिया, संकोचसे दिया, इसलिये अदत्तग्रहण भी हुआ। तथा गृहस्थके घरमें स्त्री जैसी-तैसी बैठी थी और यह चला गया, सो वहाँ ब्रह्मचर्यकी बाड़का भंग हुआ। तथा आहार लाकर कितने काल तक रखा; आहारादिके रखनेको पात्रादिक रखे वह परिग्रह हुआ। इस प्रकार पांच महाव्रतोंका भंग होनेसे मुनिधर्म नष्ट होता है, इसलिये मुनिको याचनासे आहार लेना युक्त नहीं है।

फिर वह कहता है—मुनिके बाईस परीषहोंमें याचनापरीषह कहा है, सो माँगे बिना उस परीषहका सहना कैसे होगा ?

समाधानः—याचना करनेका नाम याचनापरीषह नहीं है। याचना न करनेका नाम याचनापरीषह है। जैसे—अरति करनेका नाम अरति परीषह नहीं है, अरति न करनेका नाम अरतिपरीषह है, ऐसा जानना। यदि याचना करना परीषह ठहरे तो रंकादि बहुत याचना करते हैं, उनके बहुत धर्म होगा। और कहोगे—मान घटानेके कारण इसे परीषह कहते हैं, तो किसी कषाय-कार्यके अर्थ कोई कषाय छोड़ने पर भी पापी ही होता है। जैसे—कोई लोभके अर्थ अपने अपमानको भी न गिने तो उसके लोभकी तीव्रता है; उस अपमान करानेसे भी महापाप होता है। और आपके कुछ इच्छा नहीं है, कोई स्वयमेव अपमान करे तो उसके महाधर्म है; परन्तु यहाँ तो भोजनके लोभके अर्थ याचना करके अपमान कराया इसलिये पाप ही है, धर्म नहीं है। तथा वस्त्रादिकके अर्थ भी याचना करता है, परन्तु वस्त्रादिक कोई धर्मका अंग नहीं है, शरीर-सुखका कारण है; इसलिये पूर्वोक्त प्रकारसे उसका निषेध जानना। देखो, अपने धर्मरूप उच्चपदको याचना करके नीचा करते हैं सो उसमें धर्मकी हीनता होती है।—इत्यादि

अनेक प्रकारसे मुनिधर्ममें याचना आदि सम्भव नहीं है, परन्तु ऐसी असम्भवित क्रियाके धारकको साधु-गुरु कहते हैं; इसलिये गुरुका स्वरूप अन्यथा कहते हैं।

[धर्मका अन्यथा स्वरूप]

तथा धर्मका स्वरूप अन्यथा कहते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इनकी एकता मोक्षमार्ग है, वही धर्म है; परन्तु उसका स्वरूप अन्यथा प्ररूपित करते हैं सो कहते हैं:—

तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है; उसकी तो प्रधानता नहीं है। आप जिस प्रकार अरहंतदेव-साधु-गुरु-दया-धर्मका निरूपण करते हैं उसके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। वहाँ प्रथम तो अरिहंतादिकका स्वरूप अन्यथा कहते हैं; तथा इतने ही श्रद्धानसे तत्त्व-श्रद्धान हुए विना सम्यक्त्व कैसे होगा? इसलिये मिथ्या कहते हैं। तथा तत्त्वोंके भी श्रद्धानको सम्यक्त्व कहते हैं तो प्रयोजनसहित तत्त्वोंका श्रद्धान नहीं कहते। गुणस्थान-मार्गणादिरूप जीवका, अणु-स्कन्धादिरूप अजीवका, पाप-पुण्यके स्थानोंका, अविरति आदि आस्रवोंका, व्रतादिरूप संवरका, तपश्चरणादिरूप निर्जराका, सिद्ध होनेके लिंगादिके भेदोंसे मोक्षका स्वरूप जिस प्रकार उनके शास्त्रोंमें कहा है उस प्रकार सीख लेना, और केवलीका वचन प्रमाण है; ऐसे तत्त्वार्थश्रद्धानसे सम्यक्त्व हुआ मानते हैं। सो हम पूछते हैं कि—ग्रैवेयिक जानेवाले द्रव्यलिंगी मुनिके ऐसा श्रद्धान होता है या नहीं? यदि होता है तो उसे मिथ्यादृष्टि किसलिये कहते हैं? और नहीं होता, तो उसने तो जैनलिंग धर्मबुद्धिसे धारण किया है, उसके देवादिकी प्रतीति कैसे नहीं हुई? और उसके बहुत शास्त्राभ्यास है सो उसने जीवादिके भेद कैसे नहीं जाने? और अन्यमतका लवलेश भी अभिप्रायमें नहीं है, उसको अरहंत वचनकी कैसे प्रतीति नहीं हुई? इसलिये उसके ऐसा श्रद्धान तो होता है, परन्तु सम्यक्त्व नहीं हुआ। तथा नारकी, भोगभूमिया, तिर्यञ्च आदिको ऐसा श्रद्धान होनेका निमित्त नहीं है, तथापि उनके बहुतकालपर्यन्त सम्यक्त्व रहता है, इसलिये उनके ऐसा श्रद्धान नहीं होता, तब भी सम्यक्त्व हुआ है। इसलिये सम्यक्श्रद्धानका स्वरूप यह नहीं है। सच्चा स्वरूप है उसका वर्णन आगे करेंगे सो जानना।

तथा उनके शास्त्रोंका अभ्यास करना उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं; परन्तु द्रव्यलिंगी मुनिके शास्त्राभ्यास होनेपर भी मिथ्याज्ञान कहा है, असंयत सम्यग्दृष्टिका विषयादिरूप जानना उसे सम्यग्ज्ञान कहा है। इसलिये यह स्वरूप नहीं है, सच्चा स्वरूप आगे कहेंगे सो जानना।

तथा उनके द्वारा निरूपित अणुव्रत-महाव्रतादिरूप श्रावक-यतिका धर्म धारण करनेसे सम्यक्चारित्र हुआ मानते हैं; परन्तु प्रथम तो व्रतादिका स्वरूप अन्यथा कहते हैं, वह कुछ पहले गुरु वर्णनमें कहा है। तथा द्रव्यलिंगीके महाव्रत होनेपर भी सम्यक्चारित्र नहीं होता, और उनके मतके अनुसार गृहस्थादिकके महाव्रतादि विना अंगीकार किये भी सम्यक्चारित्र होता है, इसलिये यह स्वरूप नहीं है। सच्चा स्वरूप दूसरा है सो आगे कहेंगे।

यहाँ वे कहते हैं—द्रव्यलिंगीके अन्तरंगमें पूर्वोक्त श्रद्धानादिक नहीं हुए, बाह्य ही हुए हैं, इसलिये सम्यक्त्वादि नहीं हुए ?

उत्तरः—यदि अन्तरंग नहीं है और बाह्य धारण करता है, तो वह कपटसे धारण करता है। और उसके कपट हो तो ग्रैवेयक कैसे जाये ? वह तो नरकादिमें जायेगा। बन्ध तो अन्तरंग परिणामोंसे होता है; इसलिये अन्तरंग जैनधर्मरूप परिणाम हुए विना ग्रैवेयक जाना सम्भव नहीं है। तथा व्रतादिरूप शुभोपयोगहीसे देवका बन्ध मानते हैं और उसीको मोक्षमार्ग मानते हैं, सो बन्धमार्ग-मोक्षमार्गको एक किया, परन्तु यह मिथ्या है।

तथा व्यवहार धर्ममें अनेक विपरीतताएँ निरूपित करते हैं, निंदकको मारनेमें पाप नहीं है ऐसा कहते हैं; परन्तु अन्यमती निन्दक तीर्थंकरादि होनेपर भी हुए; उनको इन्द्रादिक मारते नहीं हैं; यदि पाप न होता तो इन्द्रादिक क्यों नहीं मारते ? तथा प्रतिमाजीके आभरणादि बनाते हैं; परन्तु प्रतिबिम्ब तो वीतरागभाव बढ़ानेके लिये स्थापित किया था, आभरणादि बनानेसे अन्यमतकी मूर्तिवत् यह भी हुए। इत्यादि कहाँ तक कहें ? अनेक अन्यथा निरूपण करते हैं। इस प्रकार श्वेताम्बर मत कल्पित जानना। यहाँ सम्यग्दर्शनादिकके अन्यथा निरूपणसे मिथ्यादर्शनादिकहीकी पुष्टता होती है, इसलिये उसका श्रद्धानादि नहीं करना।

[ढूँढकमत–निराकरण]

तथा इन श्वेताम्बरोंमें ही ढूंढ़िये प्रगट हुए हैं; वे अपनेको सच्चा धर्मात्मा मानते हैं, सो भ्रम है। किसलिये ? सो कहते हैं—

कितने ही तो भेष धारण करके साधु कहलाते हैं; परन्तु उनके ग्रन्थोंके अनुसार भी व्रत, समिति, गुप्ति आदिका साधन भासित नहीं होता। और देखो, मन-

वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदनासे सर्व सावद्ययोग त्याग करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं, बादमें पालन नहीं करते। बालकको व भोलेको व शूद्रादिकको भी दीक्षा देते हैं। इस प्रकार त्याग करते हैं और त्याग करते हुए कुछ विचार नहीं करते कि—क्या त्याग करता हूँ? बादमें पालन भी नहीं करते और उन्हें सब साधु मानते हैं। तथा यह कहता है—बादमें धर्मबुद्धि हो जायेगी तब तो उसका भला होगा? परन्तु पहले ही दीक्षा देनेवालेने प्रतिज्ञा भंग होती जानकर भी प्रतिज्ञा करायी, तथा इसने प्रतिज्ञा अंगीकार करके भंग की, सो यह पाप किसे लगा? बादमें धर्मात्मा होनेका निश्चय कैसा? तथा जो साधुका धर्म अंगीकार करके यथार्थ पालन न करे उसे साधु मानें या न मानें? यदि मानें तो जो साधु मुनिनाम धारण करते हैं और भ्रष्ट हैं उन सबको साधु मानो। न मानें तो इनके साधुपना नहीं रहा। तुम जैसे आचरणसे साधु मानते हो, उसका भी पालन किसी विरलेके पाया जाता है; सबको साधु किसलिये मानते हो?

यहाँ कोई कहे—हम तो जिसके यथार्थ आचरण देखेंगे उसे साधु मानेंगे, औरको नहीं मानेंगे। उससे पूछते हैं—

एक संघमें बहुत भेषी हैं; वहाँ जिसके यथार्थ आचरण मानते हो, वह औरोंको साधु मानता है या नहीं मानता? यदि मानता है तो तुमसे भी अश्रद्धानी हुआ, उसे पूज्य कैसे मानते हो? और नहीं मानता तो उससे साधुका व्यवहार किसलिये वर्तता है? तथा आप तो उन्हें साधु न माने और अपने संघमें रखकर औरोंसे साधु मनवाकर औरोंको अश्रद्धानी करता है ऐसा कपट किसलिये करता है? तथा तुम जिसको साधु नहीं मानोगे तब अन्य जीवोंकोभी ऐसा ही उपदेश करोगे कि—'इनको साधु मत मानो,' इससे तो धर्मपद्धतिमें विरोध होता है! और जिसको तुम साधु मानते हो उससे भी तुम्हारा विरोध हुआ, क्योंकि वह उसे साधु मानता है। तथा तुम जिसके यथार्थ आचरण मानते हो, वहाँ भी विचारकर देखो, वह भी यथार्थ मुनिधर्मका पालन नहीं करता है।

कोई कहे—अन्य भेषधारियोंसे तो बहुत अच्छे हैं, इसलिये हम मानते हैं; परन्तु अन्यमतोंमें तो नानाप्रकारके भेष सम्भव हैं, क्योंकि वहाँ रागभावका निषेध नहीं है। इस जैनमतमें तो जैसा कहा है, वैसा ही होने पर साधुसंज्ञा होती है।

यहाँ कोई कहे—शील-संयमादि पालते हैं, तपश्चरणादि करते हैं, सो जितना करें उतना ही भला है?

समाधान:—यह सत्य है, धर्म थोड़ा भी पाला हुआ भला ही है; परन्तु प्रतिज्ञा तो बड़े धर्मकी करें और पालें थोड़ा, तो वहाँ प्रतिज्ञाभंगसे महा पाप होता है। जैसे कोई उपवासकी प्रतिज्ञा करके एकबार भोजन करे तो उसके बहुतबार भोजनका संयम होनेपर भी प्रतिज्ञा भंगसे पापी कहते हैं, उसी प्रकार मुनिधर्मकी प्रतिज्ञा करके कोई किंचित् धर्म न पाले, तो उसे शील-संयमादि होनेपरभी पापी ही कहते हैं। और जैसे एकंत (एकाशन) की प्रतिज्ञा करके एकबार भोजन करे तो धर्मात्मा ही है, उसी प्रकार अपना श्रावकपद धारण करके थोड़ा भी धर्म साधन करे तो धर्मात्मा ही है। यहाँ ऊँचा नाम रखकर नीची क्रिया करनेसे पापीपना सम्भव है। यथा योग्य नाम धारण करके धर्मक्रिया करनेसे तो पापीपना होता नहीं है; जितना धर्म साधन करे उतना ही भला है।

यहाँ कोई कहे—पंचमकालके अंत पर्यन्त चतुर्विध संघका सद्भाव कहा है। इनको साधु न मानें तो किसको मानें ?

उत्तर:—जिस प्रकार इसकालमें हंसका सद्भाव कहा है, और गम्यक्षेत्रमें हंस दिखायी नहीं देते, औरोंको तो हंस माना नहीं जाता; हंसका लक्षण मिलनेपर ही हंस माने जाते हैं। उसी प्रकार इसकालमें साधुका सद्भाव है और गम्यक्षेत्रमें साधु दिखायी नहीं देते, तो औरोंको तो साधु माना नहीं जाता, साधुका लक्षण मिलने-पर ही साधु माने जाते हैं। तथा इनका प्रचार भी थोड़े ही क्षेत्रमें दिखायी देता है, वहाँसे दूरके क्षेत्रमें साधुका सद्भाव कैसे मानें ? यदि लक्षण मिलनेपर मानें, तो यहाँ भी इसी प्रकार मानो। और बिना लक्षण मिले ही मानें तो वहाँ अन्य कुलिंगी हैं उन्हींको साधु मानो। इस प्रकार विपरीतता होती है, इसलिये बनता नहीं है। कोई कहे—इस पंचमकालमें इस प्रकारभी साधुपद होता है, तो ऐसा सिद्धान्त वचन बत-लाओ ! बिना ही सिद्धान्त तुम मानते हो तो पापी होगे। इस प्रकार अनेक युक्ति द्वारा इनके साधुपना बनता नहीं है; और साधुपने बिना साधु मानकर गुरु माननेसे मिथ्यादर्शन होता है; क्योंकि भले साधुको गुरु माननेसे ही सम्यग्दर्शन होता है।

[प्रतिमाधारी श्रावक न होनेकी मान्यताका निषेध]

तथा श्रावकधर्मकी अन्यथा प्रवृत्ति कराते हैं। त्रसहिंसा एवं स्थूल मृषादिक होनेपर भी जिसका कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा किंचित् त्याग कराके उसे देशव्रती हुआ कहते हैं; और वह त्रसघातादिक जिसमें हो ऐसा कार्य करना है; सो देशव्रत गुण-

स्थानमें तो ग्यारह अविरति कहे हैं, वहाँ त्रसघात किस प्रकार सम्भव है? तथा ग्यारह प्रतिमाभेद श्रावकके हैं, उनमें दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमाधारक श्रावक तो कोई होता ही नहीं और साधु होता है। पूछे तब कहते हैं—प्रतिमाधारी श्रावक इसकाल नहीं हो सकते। सो देखो, श्रावक धर्म तो कठिन और मुनिधर्म सुगम—ऐसा विरुद्ध कहते हैं। तथा ग्यारहवीं प्रतिमाधारीको थोड़ा परिग्रह, मुनिको बहुत परिग्रह बतलाते हैं सो सम्भवित वचन नहीं है। फिर कहते हैं—यह प्रतिमा तो थोड़े ही काल पालन कर छोड़ देते हैं; परन्तु यह कार्य उत्तम है तो धर्मबुद्धि ऊँची क्रियाको किसलिये छोड़ेगा और नीचा कार्य है तो किसलिये अंगीकार करेगा? यह सम्भव ही नहीं है।

तथा कुदेव-कुगुरुको नमस्कारादि करनेसे भी श्रावकपना बतलाते हैं। कहते हैं—धर्मबुद्धिसे तो नहीं वंदते हैं लौकिक व्यवहार है; परन्तु सिद्धान्तमें तो उनकी प्रशंसा स्तवनको भी सम्यक्त्वका अतिचार कहते हैं और गृहस्थोंका भला मनानेके अर्थ वन्दना करने पर भी कुछ नहीं कहते। फिर कहोगे—भय, लज्जा, कुतूहलादिसे वंदते हैं, तो इन्हीं कारणोंसे कुशीलादि सेवन करनेपर भी पाप मत कहो, अंतरंगमें पाप जानना चाहिये। इस प्रकार तो सर्व आचारोंमें विरोध होगा।

देखो, मिथ्यात्व जैसे महापापकी प्रवृत्ति छुड़ानेकी तो मुख्यता नहीं है और पवनकायकी हिंसा ठहराकर खुले मुँह बोलना छुड़ानेकी मुख्यता पायी जाती है; सो यह क्रमभंग उपदेश है। तथा धर्मके अंग अनेक हैं, उनमें एक परजीवकी दयाको मुख्य कहते हैं, उसका भी विवेक नहीं है। जलका छानना, अन्नका शोधना, सदोष वस्तुका भक्षण न करना, हिंसादिकरूप व्यापार न करना इत्यादि उसके अंगोंकी तो मुख्यता नहीं है।

[मुखपट्टि आदिका निषेध]

तथा पट्टीका बाँधना, शौचादिक थोड़ा करना, इत्यादि कार्योंकी मुख्यता करते हैं; परन्तु मैलयुक्त पट्टीके थूकके सम्बन्धसे जीव उत्पन्न होते हैं उनका तो यत्न नहीं है और पवनकी हिंसाका यत्न बतलाते हैं। सो नासिका द्वारा बहुत पवन निकलती है उसका तो यत्न करते ही नहीं। तथा उनके शास्त्रानुसार बोलनेहीका यत्न किया है तो सर्वदा किसलिये रखते हैं? बोलें तब यत्न कर लेना चाहिये। यदि कहें—भूल जाते हैं; तो इतनी भी याद नहीं रहती तब अन्य धर्म साधन कैसे होगा? तथा शौचादिक थोड़े करें, सो सम्भवित शौच तो मुनि भी करते हैं; इसलिये गृहस्थको अपने योग्य शौच करना चाहिये। स्त्री संगमादि करके शौच किये बिना सामायिकादि क्रिया करनेसे अविनय, विक्षिप्तता आदि द्वारा पाप उत्पन्न होता है। इस प्रकार जिनकी मुख्यता

करते हैं उनका भी ठिकाना नहीं है। और कितने ही दयाके अंग योग्य पालते हैं, हरितकायका त्याग आदि करते हैं, जल थोड़ा गिराते हैं, इनका हम निषेध नहीं करते।

[मूर्तिपूजा निषेधका निराकरण]

तथा इस अहिंसाका एकान्त पकड़कर प्रतिमा, चैत्यालय, पूजनादि क्रियाका उत्थापन करते हैं; सो उन्हींके शास्त्रोंमें प्रतिमा आदिका निरूपण है, उसे आग्रहसे लोप करते हैं। भगवतीसूत्रमें ऋद्धिधारी मुनिका निरूपण है वहाँ मेरुगिरि आदि में जाकर "तत्थ चेययाइं वंदई" ऐसा पाठ है। इसका अर्थ यह है कि—वहाँ चैत्योंकी वंदना करते हैं। और चैत्य नाम प्रतिमाका प्रसिद्ध है। तथा वे हठसे कहते हैं—चैत्य शब्दके ज्ञानादिक अनेक अर्थ होते हैं, इसलिये अन्य अर्थ हैं प्रतिमाका अर्थ नहीं है। इससे पूछते हैं—मेरुगिरि नन्दीश्वर द्वीपमें जा-जाकर वहाँ चैत्य वन्दना की, सो वहाँ ज्ञानादिककी वन्दना करनेका अर्थ कैसे सम्भव है? ज्ञानादिककी वन्दना तो सर्वत्र संभव है। जो वन्दनायोग्य चैत्य वहाँ सम्भव हो और सर्वत्र सम्भव न हो वहाँ उसे वंदना करनेका विशेष सम्भव है और ऐसा सम्भवित अर्थ प्रतिमा ही है और चैत्य शब्दका मुख्य अर्थ प्रतिमा ही है, सो प्रसिद्ध है। इसी अर्थ द्वारा चैत्यालय नाम सम्भव है; उसे हठ करके किसलिये लुप्त करें?

तथा नन्दीश्वर द्वीपादिकमें जाकर, देवादिक पूजनादि क्रिया करते हैं, उसका व्याख्यान उनके जहाँ-तहाँ पाया जाता है। तथा लोकमें जहाँ-तहाँ अकृत्रिम प्रतिमाका निरूपण है। सो वह रचना अनादि है, वह रचना भोग-कुतूहलादिके अर्थ तो है नहीं। और इन्द्रादिकोंके स्थानोंमें निष्प्रयोजन रचना सम्भवे नाहीं। इसलिये इन्द्रादिक उसे देखकर क्या करते हैं? या तो अपने मन्दिरोंमें निष्प्रयोजन रचना देखकर उससे उदासीन होते होंगे, वहाँ दुःखी होते होंगे, परन्तु यह सम्भव नहीं है। या अच्छी रचना देखकर विषयोंका पोषण करते होंगे, परन्तु अरहन्तकी मूर्ति द्वारा सम्यग्दृष्टि अपना विषय पोषण करें यह भी सम्भव नहीं है; इसलिये वहाँ उनकी भक्ति आदि ही करते हैं; यही सम्भव है।

उनके सूर्याभदेवका व्याख्यान है; वहाँ प्रतिमाजीको पूजनेका विशेष वर्णन किया है। उसे गोपनेके अर्थ कहते हैं—देवोंका ऐसा ही कर्तव्य है। सो सच है, परन्तु कर्तव्यका तो फल होता ही होता है; वहाँ धर्म होता है या पाप होता है? यदि धर्म

होता है तो अन्यत्र पाप होता था यहाँ धर्म हुआ ; इसे औरोंके सदृश कैसे कहें ? यह तो योग्य कार्य हुआ। और पाप होता है तो वहाँ "णमोत्थुणं" का पाठ पढ़ा, सो पापके ठिकाने ऐसा पाठ किसलिये पढ़ा ? तथा एक विचार यहाँ यह आया कि—"णमोत्थुणं" के पाठमें तो अरिहन्तकी भक्ति है, सो प्रतिमाजीके आगे जाकर यह पाठ पढ़ा, इसलिये प्रतिमाजीके आगे जो अरहंतभक्तिकी क्रिया है वह करना युक्त हुई। तथा वे ऐसा कहते हैं—देवोंके ऐसा कार्य है, मनुष्योंके नहीं है; क्योंकि मनुष्योंको प्रतिमा आदि बनानेमें हिंसा होती है। तो उन्हींके शास्त्रोंमें ऐसा कथन है कि—द्रौपदी रानी प्रतिमाजीके पूजनादिक जैसे सूर्याभदेवने किये उसी प्रकार करने लगी, इसलिये मनुष्योंके भी ऐसा कार्य कर्त्तव्य है। यहाँ एक यह विचार आया कि—चैत्यालय, प्रतिमा बनानेकी प्रवृत्ति नहीं थी तो द्रौपदीने किस प्रकार प्रतिमाका पूजन किया ? तथा प्रवृत्ति थी तो बनानेवाले धर्मात्मा थे या पापी थे ? यदि धर्मात्मा थे तो गृहस्थोंको ऐसा कार्य करना योग्य हुआ, और पापी थे तो वहाँ भोगादिकका प्रयोजन तो था नहीं, किसलिये बनाया ? तथा द्रौपदीने वहाँ "णमोत्थुणं" का पाठ किया व पूजनादि किया, सो कुतूहल किया या धर्म किया ? यदि कुतूहल किया तो महापापिनी हुई। धर्ममें कुतूहल कैसा ? और धर्म किया तो औरोंको भी प्रतिमाजीकी स्तुति-पूजा करना युक्त है। तथा वे ऐसी मिथ्यायुक्ति बनाते हैं—जिस प्रकार इन्द्रकी स्थापनासे इन्द्रका कार्य सिद्ध नहीं है, उसी प्रकार अरहन्त प्रतिमासे कार्य सिद्ध नहीं है। सो अरहंत किसीको भक्त मानकर भला करते हों तब तो ऐसा भी मानें, परन्तु वे तो वीतराग हैं। यह जीव भक्तिरूप अपने भावोंसे शुभफल प्राप्त करता है। जिस प्रकार स्त्रीके आकाररूप काष्ठ-पाषाणकी मूर्ति देखकर, वहाँ विकाररूप होकर अनुराग करे तो उसको पापबंध होगा; उसी प्रकार अरिहन्तके आकाररूप धातु-पाषाणादिककी मूर्ति देखकर धर्मबुद्धिसे वहाँ अनुराग करे तो शुभकी प्राप्ति कैसे न होगी ? वहाँ वे कहते हैं—बिना प्रतिमा ही हम अरहन्तमें अनुराग करके शुभ उत्पन्न करेंगे; तो इनसे कहते हैं—आकार देखनेसे जैसा भाव होता है वैसा परोक्ष स्मरण करनेसे नहीं होता; इसीसे लोकमें भी स्त्रीके अनुरागी स्त्रीका चित्र बनाते हैं; इसलिये प्रतिमाके अवलम्बन द्वारा भक्ति विशेष होनेसे विशेष शुभकी प्राप्ति होती है।

फिर कोई कहे—प्रतिमाको देखो, परन्तु पूजनादिक करनेका क्या प्रयोजन है ?

उत्तरः—जैसे—कोई किसी जीवका आकार बनाकर घात करे तो उसे उस

जीवकी हिंसा करने जैसा पाप होता है, व कोई किसीका आकार बनाकर द्वेषबुद्धिसे उसकी बुरी अवस्था करे तो जिसका आकार बनाया उसकी बुरी अवस्था करने जैसा फल होता है। उसी प्रकार अरहन्तका आकार बनाकर धर्मानुरागबुद्धिसे पूजनादि करे तो अरहन्तके पूजनादि करने जैसा शुभ [भाव] उत्पन्न होता है तथा वैसा ही फल होता है। अति अनुराग होनेपर प्रत्यक्ष दर्शन न होनेसे आकार बनाकर पूजनादि करते हैं। इस धर्मानुरागसे महापुण्य होता है।

तथा ऐसा कुतर्क करते हैं कि—जिसके जिस वस्तुका त्याग हो उसके आगे उस वस्तुका रखना हास्य करना है; इसलिये चन्दनादि द्वारा अरहन्तकी पूजन युक्त नहीं है।

समाधान—मुनिपद लेते ही स ं परिग्रहका त्याग किया था, केवलज्ञान होनेके पश्चात् तीर्थंकरदेवके समवशरणादि बनाये, छत्र-चँवरादि किये, सो हास्य किया या भक्ति की ? हास्य किया तो इन्द्र महापापी हुआ; सो बनता नहीं है। भक्तिकी तो पूजनादिकमें भी भक्ति ही करते हैं। छद्मस्थके आगे त्याग की हुई वस्तुका रखना हास्य करना है, क्योंकि उसके विक्षिप्तता हो आती है। केवलीके व प्रतिमाके आगे अनुरागसे उत्तम वस्तु रखनेका दोष नहीं है; उनके विक्षिप्तता नहीं होती। धर्मानुरागसे जीवका भला होता है।

फिर वे कहते हैं—प्रतिमा बनानेमें, चैत्यालयादि करानेमें, पूजनादि करानेमें हिंसा होती है, और धर्म अहिंसा है; इसलिये हिंसा करके धर्म माननेसे महापाप होता है; इसलिये हम इन कार्योंका निषेध करते हैं ?

उत्तरः—उन्हींके शास्त्रमें ऐसा वचन है—

सुचा जाणइ कल्लाणं सुचा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणए सुच्चा जं सेय तं समायर ॥ १ ॥

यहाँ कल्याण, पाप और उभय—यह तीनों शास्त्र सुनकर जाने, ऐसा कहा है। सो उभय तो पाप और कल्याण मिलनेसे होगा, सो ऐसे कार्यका भी होना ठहरा। वहाँ पूछते हैं—केवल धर्मसे तो उभय हलका है ही, और केवल पापसे उभय बुरा है या भला है ? यदि बुरा है तो इसमें तो कुछ कल्याणका अंश मिला है, पापसे बुरा कैसे कहें ? भला है, तो केवल पापको छोड़कर ऐसे कार्य करना ठहरा। तथा युक्तिसे भी ऐसा ही सम्भव है। कोई त्यागी होकर मन्दिरादिक नहीं बनवाता है व सामायिकादिक निरवद्य कार्योंमें प्रवर्त्तता है; तो उन्हें छोड़कर प्रतिमादि कराना व पूजनादि

करना उचित नहीं है। परन्तु कोई अपने रहनेके लिये मकान बनाये, उससे तो चैत्यालयादि करानेवाला हीन नहीं है। हिंसा तो हुई, परन्तु उसके तो लोभ पापानुरागकी वृद्धि हुई और इसके लोभ छूटकर धर्मानुराग हुआ। तथा कोई व्यापारादि कार्य करे, उससे तो पूजनादि कार्य करना हीन नहीं है। वहाँ तो हिंसादि बहुत होते हैं, लोभादि बढ़ता है, पापहीकी प्रवृत्ति है। यहाँ हिंसादिक भी किंचित् होते हैं, लोभादिक घटते हैं और धर्मानुराग बढ़ता है।—इस प्रकार जो त्यागी न हों, अपने धनको पापमें खर्चते हों, उन्हें चैत्यालयादि बनवाना योग्य है। और जो निरवद्य सामायिकादि कार्योंमें उपयोगको न लगा सकें उनको पूजनादि करनेका निषेध नहीं है।

फिर तुम कहोगे—निरवद्य सामायिकादि कार्य ही क्यों न करें? धर्ममें काल लगाना, वहाँ ऐसे कार्य किसलिये करें?

उत्तरः—यदि शरीर द्वारा पाप छोड़ने पर ही निरवद्यपना हो, तो ऐसा ही करें, परन्तु परिणामोंमें पाप छूटने पर निरवद्यपना होता है। सो बिना अवलम्बन सामायिकादिमें जिसके परिणाम न लगें वह पूजनादि द्वारा वहाँ अपना उपयोग लगाता है। वहाँ नानाप्रकारके आलम्बन द्वारा उपयोग लग जाता है। यदि वहाँ उपयोगको न लगाये तो पाप कार्योंमें उपयोग भटकेगा और उससे बुरा होगा; इसलिये वहाँ प्रवृत्ति करना युक्त है। तुम कहते हो कि—"धर्मके अर्थ हिंसा करनेसे तो महापाप होता है, अन्यत्र हिंसा करनेसे थोड़ा पाप होता है;" सो प्रथम तो यह सिद्धान्तका वचन नहीं है और युक्तिसे भी नहीं मिलता; क्योंकि ऐसा माननेसे तो—इन्द्र जन्मकल्याणकमें बहुत जलसे अभिषेक करता है, समवशरणमें देव पुष्पवृष्टि करना, चँवर ढालना इत्यादि कार्य करते हैं सो वे महापापी हुए। यदि तुम कहोगे—उनका ऐसा ही व्यवहार है, तो क्रियाका फल तो हुए बिना रहता नहीं है। यदि पाप है तो इन्द्रादिक तो सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसा कार्य किसलिये करेंगे? और धर्म है तो किसलिये निषेध करते हो? भला तुम्हींसे पूछते हैं—तीर्थंकरकी वन्दनाको राजादिक गये, साधुकी वन्दनाको दूर भी जाते हैं, सिद्धान्त सुनने आदि कार्य करनेके लिये गमनादि करते हैं वहाँ मार्गमें हिंसा हुई। तथा साधर्मियोंको भोजन कराते हैं, साधुका मरण होनेपर उसका संस्कार करते हैं, साधु होनेपर उत्सव करते हैं इत्यादि प्रवृत्ति अब भी देखी जाती है; सो यहाँ भी हिंसा होती है; परन्तु यह कार्य तो धर्मके ही अर्थ हैं, अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। यदि यहाँ महापाप होता है, तो पूर्वकालमें ऐसे कार्य किये उनका निषेध करो। और अब भी गृहस्थ ऐसा कार्य करते हैं, उनका त्याग करो। तथा यदि धर्म होता है तो

धर्मके अर्थ हिंसामें महापाप बतलाकर किसलिये भ्रममें डालते हो? इसलिये इस प्रकार मानना युक्त है—कि जैसे थोड़ा धन ठगाने पर बहुत धनका लाभ हो तो वह कार्य करना योग्य है, उसी प्रकार थोड़े हिंसादिक पाप होनेपर बहुत धर्म उत्पन्न हो तो वह कार्य करना योग्य है। यदि थोड़े धनके लोभसे कार्य बिगाड़े तो मूर्ख है; उसी प्रकार थोड़ी हिंसाके भयसे बड़ा धर्म छोड़े तो पापी ही होता है। तथा कोई बहुत धन ठगाये और थोड़ा धन उत्पन्न करे, व उत्पन्न नहीं करे तो वह मूर्ख है; उसी प्रकार बहुत हिंसादि द्वारा बहुत पाप उत्पन्न करे और भक्ति आदि धर्ममें थोड़ा प्रवर्ते व नहीं प्रवर्ते, तो वह पापी ही होता है। तथा जिस प्रकार बिना ठगाये ही धनका लाभ होनेपर ठगाये तो मूर्ख है; उसी प्रकार निरवद्य धर्मरूप उपयोग होनेपर सावद्यधर्ममें उपयोग लगाना योग्य नहीं है। इस प्रकार अपने परिणामोंकी अवस्था देखकर भला हो वह करना, परन्तु एकान्त पक्ष कार्यकारी नहीं है। तथा अहिंसा ही केवल धर्मका अङ्ग नहीं है; रागादिकोंका घटना धर्मका मुख्य अङ्ग है। इसलिये जिस प्रकार परिणामोंमें रागादिक घटें वह कार्य करना।

तथा गृहस्थोंको अणुव्रतादिकके साधन हुए बिना ही सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रोषध आदि क्रियाओंका मुख्य आचरण कराते हैं। परन्तु सामायिक तो रागद्वेषरहित साम्यभाव होनेपर होती है, पाठ मात्र पढ़नेसे व उठना-बैठना करनेसे ही तो होती नहीं है। फिर कहोगे—अन्य कार्य करता उससे तो भला है? सो सत्य, परन्तु सामायिक पाठमें प्रतिज्ञा तो ऐसी करता है कि—मन-वचन-काय द्वारा सावद्यको न करूँगा, न कराऊँगा; परन्तु मनमें तो विकल्प होता ही रहता है; और वचन-कायमें भी कदाचित् अन्यथा प्रवृत्ति होती है वहाँ प्रतिज्ञाभंग होती है। सो प्रतिज्ञाभंग करनेसे तो न करना भला है; क्योंकि प्रतिज्ञाभंगका महापाप है।

फिर हम पूछते हैं—कोई प्रतिज्ञा भी नहीं करता और भाषापाठ पढ़ता है, उसका अर्थ जानकर उसमें उपयोग रखता है। कोई प्रतिज्ञा करे उसे तो भलीभाँति पालता नहीं है और प्राकृतादिकके पाठ पढ़ता है; उसके अर्थका अपनेको ज्ञान नहीं है, बिना अर्थ जाने वहाँ उपयोग नहीं रहता तब उपयोग अन्यत्र भटकता है। ऐसे इन दोनोंमें विशेष धर्मात्मा कौन? यदि पहलेको कहोगे, तो ऐसा ही उपदेश क्यों नहीं देते? तथा दूसरेको कहोगे तो प्रतिज्ञाभंगका पाप हुआ व परिणामोंके अनुसार धर्मात्मापना नहीं ठहरा; परन्तु पाठादि करनेके अनुसार ठहरा। इसलिये अपना उपयोग जिस प्रकार निर्मल हो वह कार्य करना। सध सके वह प्रतिज्ञा करना। जिसका अर्थ जानें वह पाठ पढ़ना। पद्धति द्वारा नाम रखानेमें लाभ नहीं है।

तथा प्रतिक्रमण नाम पूर्व दोष निराकरण करनेका है; परन्तु "मिच्छामि दुक्कड़" इतना कहनेहीसे तो दुष्कृत मिथ्या नहीं होते; किये हुए दुष्कृत मिथ्या होनेयोग्य परिणाम होनेपर ही दुष्कृत मिथ्या होते हैं; इसलिये पाठ ही कार्यकारी नहीं है। तथा प्रतिक्रमणके पाठमें ऐसा अर्थ है कि—बारह व्रतादिकमें जो दुष्कृत लगे हों वे मिथ्या हों; परन्तु व्रत धारण किये बिना ही उनका प्रतिक्रमण करना कैसे सम्भव है? जिसके उपवास न हो, वह उपवासमें लगे दोषका निराकरण करे तो असम्भवपना होगा। इसलिये यह पाठ पढ़ना किस प्रकार बनता है?

तथा प्रोषधमें भी सामायिकवत् प्रतिज्ञा करके पालन नहीं करते; इसलिये पूर्वोक्त ही दोष है। तथा प्रोषध नाम तो पर्वका है; सो पर्वके दिन भी कितने कालतक पापक्रिया करता है, पश्चात् प्रोषधधारी होता है। जितने काल बने उतने काल साधन करनेका तो दोष नहीं है, परन्तु प्रोषधका नाम करें सो युक्त नहीं है। सम्पूर्ण पर्वमें निरवद्य रहनेपर ही प्रोषध होता है। यदि थोड़े भी कालसे प्रोषध नाम हो तो सामायिकको भी प्रोषध कहो, नहीं तो शास्त्रमें प्रमाण बतलाओ कि—जघन्य प्रोषधका इतना काल है। यह तो बड़ा नाम रखकर लोगोंको भ्रममें डालनेका प्रयोजन भासित होता है।

तथा आखड़ी लेनेका पाठ तो अन्य कोई पढ़ता है, अंगीकार अन्य करता है। परन्तु पाठमें तो "मेरे त्याग है" ऐसा वचन है; इसलिये जो त्याग करे उसीको पाठ पढ़ना चाहिये। यदि पाठ न आये तो भाषाहीसे कहे; परन्तु पद्धतिके अर्थ यह रीति है। तथा प्रतिज्ञा ग्रहण करने-करानेकी तो मुख्यता है और यथाविधि पालनेकी शिथिलता है, व भाव निर्मल होनेका विवेक नहीं है। आर्त्तपरिणामोंसे व लोभादिकसे भी उपवासादि करके वहाँ धर्म मानता है; परन्तु फल तो परिणामोंसे होता है। इत्यादि अनेक कल्पित बातें करते हैं, सो जैनधर्ममें सम्भव नहीं हैं। इस प्रकार यह जैनमें श्वेताम्बर मत है, वह भी देवादिकका व तत्त्वोंका व मोक्षमार्गादिका अन्यथा निरूपण करता है; इसलिये मिथ्यादर्शनादिकका पोषक है सो त्याज्य है। सच्चे जिनधर्मका स्वरूप आगे कहते हैं; उसके द्वारा मोक्षमार्गमें प्रवर्तना योग्य है। वहाँ प्रवर्त्तनेसे तुम्हारा कल्याण होगा।

इति श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक शास्त्रमें अन्यमत निरूपक
पाँचवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

★

छठवाँ अधिकार

कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का प्रतिषेध

दोहा

मिथ्या देवादिक भजें हो है मिथ्याभाव।
तज तिनकों सांचे भजो, यह हित हेतु उपाव ॥ १ ॥

अर्थः—अनादिसे जीवोंके मिथ्यादर्शनादिकभाव पाये जाते हैं, उनकी पुष्टताको कारण कुदेव-कुगुरु-कुधर्म सेवन है; उसका त्याग होनेपर मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति होती है; इसलिये इनका निरूपण करते हैं।

[कुदेवका निरूपण और उनके श्रद्धानादिकका निषेध]

वहाँ जो हितके कर्त्ता नहीं हैं और उन्हें भ्रमसे हितका कर्त्ता जानकर सेवन करें सो कुदेव हैं। उनका सेवन तीन प्रकारके प्रयोजनसहित करते हैं। कहीं तो मोक्षका प्रयोजन है; कहीं परलोकका प्रयोजन है, और कहीं इस लोकका प्रयोजन है; सो यह प्रयोजन तो सिद्ध नहीं होते, कुछ विशेष हानि होती है; इसलिये उनका सेवन मिथ्याभाव है; वह बतलाते हैं:—

अन्य मतोंमें जिनके सेवनसे मुक्तिका होना कहा है, उन्हें कितने ही जीव मोक्षके अर्थ सेवन करते हैं, परन्तु मोक्ष होता नहीं है। उनका वर्णन पहले अन्यमत अधिकारमें कहा ही है। तथा अन्यमतमें कहे देवोंको कितने ही—"परलोकमें सुख होगा दुःख नहीं होगा"—ऐसे प्रयोजनसहित सेवन करते हैं। सो ऐसी सिद्धि तो पुण्य उपजाने और पाप न उपजानेसे होती है; परन्तु आप तो पाप उपजाता है और कहता है ईश्वर हमारा भला करेगा, तो वहाँ अन्याय ठहरा; क्योंकि किसीको पापका फल दे, किसीको न दे ऐसा तो है नहीं। जैसे अपने परिणाम करेगा वैसा ही फल पायेगा,

ईश्वर किसीका बुरा-भला करनेवाला नहीं है। तथा उन देवोंका सेवन करते हुए उन देवोंका तो नाम देते हैं और अन्य जीवोंकी हिंसा करते हैं तथा भोजन, नृत्यादि द्वारा अपनी इन्द्रियोंका विषय पोषण करते हैं; सो पाप परिणामोंका फल तो लगे विना रहेगा नहीं। हिंसा, विषय-कषायोंको सब पाप कहते हैं और पापका फल भी सब बुरा ही मानते हैं; तथा कुदेवोंके सेवनमें हिंसा-विषयादिकहीका अधिकार है; इसलिये कुदेवोंके सेवनसे परलोकमें भला नहीं होता।

तथा बहुतसे जीव इस पर्यायसम्बन्धी, शत्रुनाशादिक व रोगादिक मिटाने; धनादिककी व पुत्रादिककी प्राप्ति इत्यादि दुःख मिटाने व सुख प्राप्त करनेके अनेक प्रयोजनसहित कुदेवादिका सेवन करते हैं; हनुमानादिकको पूजते हैं; देवियोंको पूजते हैं; गनगौर, सांझी आदि बनाकर पूजते हैं; चौथ, शीतला, दहाड़ी आदिको पूजते हैं; भूत-प्रेत, पितर, व्यन्तरादिकको पूजते हैं; सूर्य-चन्द्रमा, शनिश्चरादि ज्योतिषियोंको पूजते हैं; पीर-पैगम्बरादिको पूजते हैं, गाय घोड़ा आदि तिर्यंचोंको पूजते हैं; अग्नि-जलादिकको पूजते हैं, शस्त्रादिकको पूजते हैं; अधिक क्या कहें, रोड़ा इत्यादिकको भी पूजते हैं। सो इस प्रकार कुदेवादिका सेवन मिथ्यादृष्टिसे होता है; क्योंकि प्रथम तो जिनका सेवन करता है वे कितने ही तो कल्पनामात्र देव हैं; इसलिये उनका सेवन कार्यकारी कैसे होगा? तथा कितने ही व्यंतरादिक हैं, सो वे किसीका भला-बुरा करनेको समर्थ नहीं हैं। यदि वे ही समर्थ होंगे तो वे ही कर्त्ता ठहरेंगे; परन्तु उनके करनेसे कुछ होता दिखायी नहीं देता; प्रसन्न होकर धनादिक नहीं दे सकते और द्वेषी होकर बुरा नहीं कर सकते।

यहाँ कोई कहे—दुःख देते तो देखे जाते हैं, माननेसे दुःख देना रोक देते हैं?

उत्तरः—इसके पापका उदय हो, तब उनके ऐसी ही कुतूहलबुद्धि होती है, उससे वे चेष्टा करते हैं, चेष्टा करनेसे यह दुःखी होता है। तथा वे कुतूहलसे कुछ कहें और यह उनका कहा हुआ न करे, तो वे चेष्टा करते रुक जाते हैं; तथा इसे शिथिल जानकर कुतूहल करते रहते हैं। यदि इसके पुण्यका उदय हो तो कुछ कर नहीं सकते। ऐसा भी देखा जाता है—कोई जीव उनको नहीं पूजते, व उनकी निन्दा करते हैं व वे भी उससे द्वेष करते हैं, परन्तु उसे दुःख नहीं देसकते। ऐसा भी कहते देखे जाते हैं कि—अमुक हमको नहीं मानता, परन्तु उसपर हमारा कुछ वश नहीं चलता। इसलिये व्यंतरादिक कुछ करनेमें समर्थ नहीं हैं; इसके पुण्य-पापहीसे सुख-दुःख होता है; उनके मानने-पूजनेसे उलटा रोग लगता है, कुछ कार्य सिद्धि नहीं होती। तथा ऐसा जानना—

जो कल्पित देव हैं उनका भी कहीं अतिशय, चमत्कार देखा जाता है, वह व्यंतरादिक द्वारा किया होता है। कोई पूर्व पर्यायमें उनका सेवक था, पश्चात् मरकर व्यंतरादि हुआ, वहीं किसी निमित्तसे ऐसी बुद्धि हुई, तब वह लोकमें उनको सेवन करनेकी प्रवृत्ति करानेके अर्थ कोई चमत्कार दिखाता है। जगत भोला; किंचित् चमत्कार देखकर उस कार्यमें लग जाता है। जिस प्रकार— जिन प्रतिमादिकका भी अतिशय होना सुनते व देखते हैं सो जिनकृत नहीं है, जैनी व्यन्तरादिक होते हैं। उसी प्रकार कुदेवोंका कोई चमत्कार होता है, वह उनके अनुचर व्यन्तरादिक द्वारा किया होता है ऐसा जानना। तथा अन्य-मतमें परमेश्वरने भक्तोंको सहाय की व प्रत्यक्ष दर्शन दिये इत्यादि कहते हैं; वहाँ कितनी ही तो कल्पित बातें कही हैं। कितने ही उनके अनुचर व्यन्तरादिक द्वारा किये गये कार्योंको परमेश्वरके किये कहते हैं। यदि परमेश्वरके किये हों तो परमेश्वर तो त्रिकालज्ञ है; सर्वप्रकार समर्थ है; भक्तको दुःख किसलिये होने देगा? तथा आज भी देखते हैं कि— म्लेच्छ आकर भक्तोंको उपद्रव करते हैं, धर्म विध्वंस करते हैं, मूर्तिको विघ्न करते हैं। यदि परमेश्वरको ऐसे कार्योंका ज्ञान न हो, तो सर्वज्ञपना नहीं रहेगा। जाननेके पश्चात् भी सहाय न करे तो भक्तवत्सलता गई और सामर्थ्यहीन हुआ। तथा साक्षीभूत रहता है तो पहले भक्तोंकी सहाय की कहते हैं वह झूठ है; क्योंकि उसकी तो एकसी वृत्ति है। फिर यदि कहोगे— वैसी भक्ति नहीं है; तो म्लेच्छोंसे तो भले हैं, और मूर्ति आदि तो उसी-की स्थापना थी, उसे तो विघ्न नहीं होने देना था? तथा म्लेच्छ-पापियोंका उदय होता है सो परमेश्वरका किया है या नहीं? यदि परमेश्वरका किया है, तो निन्दकोंको सुखी करता है, भक्तोंको दुःख देनेवाले पैदा करता है, वहाँ भक्तवत्सलपना कैसे रहा? और परमेश्वरका किया नहीं होता, तो परमेश्वर सामर्थ्यहीन हुआ; इसलिये परमेश्वरकृत कार्य नहीं है। कोई अनुचर व्यन्तरादिक ही चमत्कार दिखलाता है—ऐसा ही निश्चय करना।

यहाँ कोई पूछे कि—कोई व्यन्तर अपना प्रभुत्व कहता है, अप्रत्यक्षको बतला देता है, कोई कुस्थान निवासादिक बतलाकर अपनी हीनता कहता है; पूछते हैं सो नहीं बतलाता; भ्रमरूप वचन कहता है, औरोंको अन्यथा परिणमित करता है, दुःख देता है—इत्यादि विचित्रता किस प्रकार है?

उत्तरः—व्यन्तरोंमें प्रभुत्वकी अधिकता–हीनता तो है, परन्तु जो कुस्थानमें निवासादिक बतलाकर हीनता दिखलाते हैं वह तो कुतूहलसे वचन कहते हैं। व्यन्तर

बालककी भाँति कुतूहल करते रहते हैं। जिस प्रकार बालक कुतूहल द्वारा अपनेको हीन दिखलाता है, चिढ़ाता है, गाली सुनता है, ऊँचे स्वरसे रोता है, बादमें हँसने लग जाता है, उसी प्रकार व्यन्तर चेष्टा करते हैं। यदि कुस्थानहीके निवासी हों तो उत्तमस्थानमें आते हैं, वहाँ किसके लानेसे आते हैं? अपने आप आते हैं तो अपनी शक्ति होनेपर कुस्थानमें किसलिये रहते हैं? इसलिये इनका ठिकाना तो जहाँ उत्पन्न होते हैं वहाँ इस पृथ्वीके नीचे व ऊपर है सो मनोज्ञ है। कुतूहलके लिये जो चाहें सो कहते हैं। तथा यदि इनको पीड़ा होती हो तो रोते-रोते हँसने कैसे लग जाते हैं? इतना है कि—मंत्रादिककी अचिंत्यशक्ति है, सो किसी सच्चे मन्त्रके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो तो उसके किंचित् गमनादि नहीं हो सकते, व किंचित् दुःख उत्पन्न होता है, व कोई प्रबल उसे मना करे तब रह जाता है व आप ही रह जाता है;—इत्यादि मन्त्रकी शक्ति है, परन्तु जलाना आदि नहीं होता। मन्त्रवाले जलाया कहते हैं; वह फिर प्रगट होजाता है, क्योंकि वैक्रियिक शरीरका जलाना आदि सम्भव नहीं है। तथा व्यन्तरोंके अवधिज्ञान किसीको अल्प क्षेत्र-काल जाननेका है, किसीको बहुत है। वहाँ उनके इच्छा हो और अपनेको ज्ञान बहुत हो तो अप्रत्यक्षको पूछने पर उसका उत्तर देते हैं तथा अल्प ज्ञान हो तो अन्य महत् ज्ञानीसे पूछ आकर जवाब देते हैं। तथा अपनेको अल्प ज्ञान हो व इच्छा न हो तो पूछनेपर उसका उत्तर नहीं देते ऐसा जानना। तथा अल्पज्ञानवाले व्यन्तरादिकको उत्पन्न होनेके पश्चात् कितने काल ही पूर्वजन्मका ज्ञान होसकता है, फिर उसका स्मरणमात्र रहता है, इसलिये वहाँ इच्छा द्वारा आप कुछ चेष्टा करें तो करते हैं, पूर्व जन्मकी बातें कहते हैं; कोई अन्य बात पूछे तो अवधिज्ञान तो थोड़ा है, बिना जाने किस प्रकार कहें? तथा जिसका उत्तर आप न दे सकें व इच्छा न हो, वहाँ मान-कुतूहलादिकसे उत्तर नहीं देते व झूठ बोलते हैं ऐसा जानना। तथा देवोंमें ऐसी शक्ति है कि—अपने व अन्यके शरीरको व पुद्गलस्कंधको जैसी इच्छा हो तदनुसार परिणमित करते हैं; इसलिये नानाआकारादिरूप आप होते हैं व अन्य नाना चरित्र दिखाते हैं। अन्य जीवके शरीरको रोगादियुक्त करते हैं। यहाँ इतना है कि—अपने शरीरको व अन्य पुद्गल स्कन्धोंको जितनी शक्ति हो उतने ही परिणमित कर सकते हैं; इसलिये सर्वकार्य करनेकी शक्ति नहीं है। तथा अन्य जीवके शरीरादिको उसके पुण्य-पापके अनुसार परिणमित कर सकते हैं। उसके पुण्यका उदय हो तो आप रोगादिरूप परिणमित नहीं कर सकता, और पाप उदय हो तो उसका इष्ट कार्य नहीं कर सकता। इस प्रकार व्यन्तरादिककी शक्ति जानना।

यहाँ कोई कहे—इतनी शक्ति जिनमें पायी जाये उनके मानने-पूजनेमें क्या दोष ?

उत्तरः—अपने पापका उदय होनेसे सुख नहीं दे सकते, पुण्यका उदय होनेसे दुःख नहीं दे सकते; तथा उनको पूजनेसे कोई पुण्यबन्ध नहीं होता; रागादिककी वृद्धि होनेसे पाप ही होता है; इसलिये उनका मानना-पूजना कार्यकारी नहीं है, बुरा करनेवाला है। तथा व्यन्तरादिक मनवाते हैं—पुजवाते हैं, वह कुतूहल करते हैं; कुछ विशेष प्रयोजन नहीं रखते। जो उनको माने-पूजे, उसीसे कुतूहल करते रहते हैं; जो नहीं मानते-पूजते उनसे कुछ नहीं कहते। यदि उनको प्रयोजन ही हो, तो न मानने-पूजनेवालेको बहुत दुःखी करें, परन्तु जिनके न मानने-पूजनेका निश्चय है, उससे कुछ भी कहते दिखायी नहीं देते। तथा प्रयोजन तो क्षुधादिककी पीड़ा हो तब हो, परन्तु वह तो उनके व्यक्त होती नहीं है। यदि हो तो उनके अर्थ नैवेद्यादिक देते हैं, उसे ग्रहण क्यों नहीं करते ? व औरोंको भोजनादि करानेको ही क्यों कहते हैं ? इसलिये उनके कुतूहलमात्र क्रिया है। अपनेमें उनके कुतूहलका स्थान होनेपर दुःख होगा, हीनता होगी, इसलिये उनको मानना-पूजना योग्य नहीं है।

तथा कोई पूछे कि व्यन्तर ऐसा कहते हैं—गया आदिमें पिण्डदान करो तो हमारी गति होगी, हम फिर नहीं आयेंगे। सो क्या है ?

उत्तरः—जीवोंके पूर्वभवका संस्कार तो रहता ही है। व्यन्तरोंको भी पूर्वभवके स्मरणादिसे विशेष संस्कार है; इसलिये पूर्वभवमें ऐसी ही वासना थी; गयादिकमें पिण्डदानादि करनेपर गति होती है इसलिये ऐसे कार्य करनेको कहते हैं। यदि मुसलमान आदि मरकर व्यन्तर होते हैं, वे तो ऐसा नहीं कहते, वे तो अपने संस्काररूप ही वचन कहते हैं; इसलिये सर्व व्यन्तरोंकी गति उसी प्रकार होती हो तो सभी समान प्रार्थना करें; परन्तु ऐसा नहीं है, ऐसा जानना। इस प्रकार व्यन्तरादिकका स्वरूप जानना।

[सूर्य-चन्द्रमादि ग्रहपूजा प्रतिषेध]

तथा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रहादिक ज्योतिषी हैं, उनको पूजते हैं वह भी भ्रम है। सूर्यादिकको परमेश्वरका अंश मानकर पूजते हैं, परन्तु उसके तो एक प्रकाशकी ही अधिकता भासित होती है; सो प्रकाशवान् तो अन्य रत्नादिक भी होते हैं; अन्य कोई ऐसा लक्षण नहीं है जिससे उसे परमेश्वरका अंश मानें। तथा चन्द्रमादिकको धनादिककी प्राप्तिके अर्थ पूजते हैं; परन्तु उनके पूजनेसे ही धन होता हो तो सर्व दरिद्री इस कार्यको

करें, इसलिये यह मिथ्याभाव हैं। तथा ज्योतिषके विचारसे बुरे ग्रहादिक आनेपर उनको पूजनादि करते हैं, उसके अर्थ दानादिक देते हैं; सो जिस प्रकार हिरनादिक स्वयमेव गमनादिक करते हैं, और पुरुषके दायें-बायें आनेपर सुख-दुःख होनेके आगामी ज्ञानको कारण होते हैं, कुछ सुख-दुःख देनेको समर्थ नहीं हैं; उसी प्रकार ग्रहादिक स्वयमेव गमनादि करते हैं, और प्राणीके यथासम्भव योगको प्राप्त होनेपर सुख-दुःख होनेके आगामी ज्ञानको कारण होते हैं, कुछ सुख-दुःख देनेको समर्थ नहीं हैं। कोई तो उनका पूजनादि करते हैं उनके भी इष्ट नहीं होता, कोई नहीं करता उसके भी इष्ट होता है; इसलिये उनका पूजनादि करना मिथ्याभाव है।

यहाँ कोई कहे—देना तो पुण्य है सो भला ही है?

उत्तरः—धर्मके अर्थ देना पुण्य है; यह तो दुःखके भयसे व सुखके लोभसे देते हैं, इसलिये पाप ही है। इत्यादि अनेक प्रकारसे ज्योतिषी देवोंको पूजते हैं सो मिथ्या है।

तथा देवी-दहाड़ी आदि हैं, वे कितनी ही तो व्यन्तरी व ज्योतिषिनी हैं, उनका अन्यथा स्वरूप मानकर पूजनादि करते हैं। कितनी ही कल्पित हैं, सो उनकी कल्पना करके पूजनादि करते हैं। इस प्रकार व्यन्तरादिकके पूजनेका निषेध किया।

यहाँ कोई कहे—क्षेत्रपाल, दहाड़ी, पद्मावती आदि देवी यक्ष-यक्षिणी आदि जो जिनमतका अनुसरण करते हैं उनके पूजनादि करनेमें तो दोष नहीं है?

उत्तरः—जिनमतमें संयम धारण करनेसे पूज्यपना होता है; और देवोंके संयम होता ही नहीं। तथा इनको सम्यक्त्वी मानकर पूजते हैं सो भवनत्रिकमें सम्यक्त्वकी भी मुख्यता नहीं है। यदि सम्यक्त्वसे ही पूजते हैं तो सर्वार्थसिद्धिके देव, लौकांतिक देव उन्हें ही क्यों न पूजें? फिर कहोगे—इनके जिनभक्ति विशेष है; सो भक्तिकी विशेषता सौधर्म इन्द्रके भी है, वह सम्यग्दृष्टि भी है; उसे छोड़कर इन्हें किसलिये पूजें? फिर यदि कहोगे—जिस प्रकार राजाके प्रतिहारादिक हैं, उसी प्रकार तीर्थंकरके क्षेत्रपालादिक हैं, परन्तु समवसरणादिमें इनका अधिकार नहीं है; यह तो झूठी मान्यता है। तथा जिस प्रकार प्रतिहारादिकके मिलाने पर राजासे मिलते हैं, उसी प्रकार यह तीर्थंकरसे नहीं मिलाते। वहाँ तो जिसके भक्ति हो वही तीर्थंकरके दर्शनादिक करता है, कुछ किसीके आधीन नहीं है। तथा देखो अज्ञानता! आयुधादि सहित रौद्रस्वरूप है जिनका, उनकी गा-गाकर भक्ति करते हैं। सो जिनमतमें भी रौद्ररूप पूज्य हुआ तो यह भी जिनमतके ही

समान हुआ । तीव्र मिथ्यात्वभावसे जिनमतमें भी ऐसी विपरीत प्रवृत्तिका मानना होता है । इस प्रकार क्षेत्रपालादिकको भी पूजना योग्य नहीं है ।

[गाय, सर्पादिककी पूजाका निराकरण]

तथा गाय, सर्पादि तिर्यंच हैं वे प्रत्यक्ष ही अपनेसे हीन भासित होते हैं; उनका तिरस्कारादि कर सकते हैं; इनकी निंद्यदशा प्रत्यक्ष देखी जाती है । तथा वृक्ष, अग्नि, जलादिक स्थावर हैं, वे तिर्यंचोंसे भी अत्यन्त हीन अवस्थाको प्राप्त देखे जाते हैं; तथा शस्त्र, दवात आदि अचेतन हैं, वे सर्वशक्तिसे हीन प्रत्यक्ष भासित होते हैं; पूज्यपनेका उपचार भी सम्भव नहीं है; इसलिये इनका पूजना महा मिथ्याभाव है । इनको पूजनेसे प्रत्यक्ष व अनुमान द्वारा कुछ भी फल प्राप्ति भासित नहीं होती; इसलिये इनको पूजना योग्य नहीं है । इस प्रकार सर्व ही कुदेवोंको पूजना-मानना निषिद्ध है । देखो तो मिथ्यात्वकी महिमा ! लोकमें तो अपनेसे नीचेको नमन करनेमें अपनेको निंद्य मानते हैं, और मोहित होकर रोड़ों तकको पूजते हुए भी निंद्यपना नहीं मानते । तथा लोकमें तो जिससे प्रयोजन सिद्ध होता जाने, उसीकी सेवा करते हैं और मोहित होकर "कुदेवोंसे मेरा प्रयोजन कैसे सिद्ध होगा।"—ऐसा बिना विचारे ही कुदेवोंका सेवन करते हैं । तथा कुदेवोंका सेवन करते हुए हजारों विघ्न होते हैं उन्हें तो गिनता नहीं है और किसी पुण्यके उदयसे इष्टकार्य होजाये तो कहता है—इसके सेवनसे यह कार्य हुआ । तथा कुदेवादिकका सेवन किये बिना जो इष्ट कार्य हों, उन्हें तो गिनता नहीं है और कोई अनिष्ट हो जाये तो कहता है—इसका सेवन नहीं किया इसलिये अनिष्ट हुआ । इतना नहीं विचारता कि—इन्हींके आधीन इष्ट-अनिष्ट करना हो तो जो पूजते हैं उनके इष्ट होगा, नहीं पूजते उनके अनिष्ट होगा; परन्तु ऐसा तो दिखायी नहीं देता । जिस प्रकार किसीके शीतलाको बहुत मानने पर भी पुत्रादि मरते देखे जाते हैं, किसीके बिना मानेभी जीते देखे जाते हैं; इसलिये शीतलाका मानना किंचित् कार्यकारी नहीं है । इसी प्रकार सर्व कुदेवोंका मानना किंचित् कार्यकारी नहीं है ।

यहाँ कोई कहे—कार्यकारी नहीं है तो न हो, उनके माननेसे कुछ बिगाड़ भी तो नहीं होता ?

उत्तर:—यदि बिगाड़ न हो, तो हम किसलिये निषेध करें ? परन्तु एक तो मिथ्यात्वादि दृढ़ होनेसे मोक्षमार्ग दुर्लभ होजाता है; यह बड़ा बिगाड़ है । और एक पाप-

बन्ध होनेसे आगामी दुःख पाते हैं, यह विगाड़ है।

यहाँ पूछे कि—मिथ्यात्वादिभाव तो अतत्त्व-श्रद्धानादि होनेपर होते हैं और पापबन्ध खोटे (-बुरे) कार्य करनेसे होता है; सो उनके माननेसे मिथ्यात्वादिक व पापबन्ध किस प्रकार होंगे?

उत्तरः—प्रथम तो परद्रव्योंको इष्ट-अनिष्ट मानना ही मिथ्या है; क्योंकि कोई द्रव्य किसीका मित्र-शत्रु है नहीं; तथा जो इष्ट-अनिष्ट पदार्थ पाये जाते हैं उसका कारण पुण्य-पाप है; इसलिये जैसे पुण्यबन्ध हो, पापबन्ध न हो वह करना। तथा यदि कर्मउदयका भी निश्चय न हो, और इष्ट-अनिष्टके बाह्य कारणोंके संयोग-वियोगका उपाय करे, परन्तु कुदेवको माननेसे इष्ट-अनिष्ट बुद्धि दूर नहीं होती, केवल वृद्धिको प्राप्त होती है; तथा उससे पुण्यबंध भी नहीं होता, पापबन्ध होता है। तथा कुदेव किसीको धनादिक देते या छुड़ा लेते नहीं देखे जाते, इसलिये वे बाह्यकारण भी नहीं हैं। इनकी मान्यता किस अर्थ की जाती है? जब अत्यन्त भ्रमबुद्धि हो, जीवादि तत्त्वोंके श्रद्धान-ज्ञानका अंश भी न हो, और रागद्वेषकी अति तीव्रता हो तब जो कारण नहीं हैं उन्हें भी इष्ट-अनिष्टका कारण मानते हैं, तब कुदेवोंकी मान्यता होती है। ऐसे तीव्र मिथ्यात्वादि भाव होनेपर मोक्षमार्ग अति दुर्लभ होजाता है।

[कुगुरुका निरूपण और उसके श्रद्धानादिकका निषेध]

आगे कुगुरुके श्रद्धानादिकका निषेध करते हैं:—

जो जीव विषय-कषायादि अधर्मरूप तो परिणमित होते हैं, और मानादिकसे अपनेको धर्मात्मा मनाते हैं, धर्मात्माके योग्य नमस्कारादि क्रिया कराते हैं अथवा किंचित् धर्मका कोई अंग धारण करके बड़े धर्मात्मा कहलाते हैं, बड़े धर्मात्मा योग्य क्रिया कराते हैं;—इस प्रकार धर्मका आश्रय करके अपनेको बड़ा मनवाते हैं, वे सब कुगुरु जानना; क्योंकि धर्म पद्धतिमें तो विषय-कषायादि छूटनेपर जैसे धर्मको धारण करे वैसा ही अपना पद मानना योग्य है।

[कुल अपेक्षा गुरुपनेका निषेध]

वहाँ कितने ही तो कुल द्वारा अपनेको गुरु मानते हैं। उनमें कुछ ब्राह्मणादिक तो कहते हैं—हमारा कुल ही ऊँचा है, इसलिये हम सबके गुरु हैं। परन्तु कुलकी उच्चता तो धर्म साधनसे है। यदि उच्चकुलमें उत्पन्न होकर हीन आचरण करे तो उसे उच्च

कैसे मानें ? यदि कुलमें उत्पन्न होनेसे ही उच्चपना रहे, तो मांसभक्षणादि करने पर भी उसे उच्च ही मानो, सो वह बनता नहीं है। भारत ग्रन्थमें भी अनेक ब्राह्मण कहे हैं। वहाँ "जो ब्राह्मण होकर चांडाल कार्य करे, उसे चांडाल ब्राह्मण कहना"—ऐसा कहा है। यदि कुल ही से उच्चपना हो तो ऐसी हीन संज्ञा किसलिये दी है ?

तथा वैष्णवशास्त्रोंमें ऐसा भी कहते हैं—वेदव्यासादिक मछली आदिसे उत्पन्न हुए हैं। वहाँ कुलका अनुक्रम किस प्रकार रहा ? तथा मूल उत्पत्ति तो ब्रह्मासे कहते हैं; इसलिये सबका एक कुल है, भिन्न कुल कैसे रहा ? तथा उच्चकुलकी स्त्रीके नीचकुलके पुरुषसे व नीचकुलकी स्त्रीके उच्चकुलके पुरुषसे संगम होनेसे सन्तति होती देखी जाती है; वहाँ कुलका प्रमाण किस प्रकार रहा ? यदि कदाचित् कहोगे—ऐसा है तो उच्च-नीचकुलके विभाग किसलिये मानते हो ? सो लौकिक कार्योंमें असत्य प्रवृत्ति भी संभव है, धर्मकार्यमें तो असत्यता संभव नहीं है; इसलिये धर्मपद्धतिमें कुल अपेक्षा महन्तपना संभव नहीं है। धर्म साधन ही से महन्तपना होता है। ब्राह्मणादि कुलोंमें महन्तता है सो धर्मप्रवृत्तिसे है; धर्मप्रवृत्तिको छोड़कर हिंसादि पापमें प्रवर्तनेसे महन्तपना किस प्रकार रहेगा ?

तथा कोई कहते हैं कि—हमारे बड़े भक्त हुए हैं, सिद्ध हुए हैं, धर्मात्मा हुए हैं; हम उनकी संततिमें हैं, इसलिये हम गुरु हैं। परन्तु उन बड़ोंके बड़े तो ऐसे उत्तम थे नहीं; यदि उनकी सन्ततिमें उत्तम-कार्य करनेसे उत्तम मानते हो तो उत्तमपुरुषकी सन्ततिमें जो उत्तमकार्य न करे, उसे उत्तम किसलिये मानते हो ? शास्त्रोंमें व लोकमें यह प्रसिद्ध है कि पिता शुभकार्य करके उच्चपद प्राप्त करता है, पुत्र अशुभकार्य करके नीचपदको प्राप्त करता है; पिता अशुभ कार्य करके नीचपदको प्राप्त करता है, पुत्र शुभकार्य करके उच्चपदको प्राप्त करता है। इसलिये बड़ोंकी अपेक्षा महन्त मानना योग्य नहीं है। इस प्रकार कुलद्वारा गुरुपना मानना मिथ्याभाव जानना।

तथा कितने ही पट्ट द्वारा गुरुपना मानते हैं। पूर्वकालमें कोई महन्त पुरुष हुआ हो, उनकी गादीपर जो शिष्य-प्रतिशिष्य होते आये हों, उनमें उस महत्पुरुष जैसे गुण न होने पर भी गुरुपना मानते हैं। यदि ऐसा ही हो तो उस गादीमें कोई परस्त्री-गमनादि महापाप कार्य करेगा वह भी धर्मात्मा होगा, सुगतिको प्राप्त होगा; परन्तु यह सम्भव नहीं है। और वह पापी है तो गादीका अधिकार कहाँ रहा ? जो गुरुपद योग्य कार्य करे वही गुरु है।

तथा कितने ही पहले तो स्त्री आदिके त्यागी थे; बादमें भ्रष्ट होकर विवाहादि कार्य करके गृहस्थ हुए, उनकी सन्तति अपनेको गुरु मानती है; परन्तु भ्रष्ट होनेके बाद गुरुपना किस प्रकार रहा ? अन्य गृहस्थोंके समान यह भी हुए। इतना विशेष हुआ कि—यह भ्रष्ट होकर गृहस्थ हुए; इन्हें मूल गृहस्थधर्मी गुरु कैसे मानें ? तथा कितने ही अन्य तो सर्व पापकार्य करते हैं, एक स्त्रीसे विवाह नहीं करते और इसी अंगद्वारा गुरुपना मानते हैं। परन्तु एक अब्रह्म ही तो पाप नहीं है, हिंसा परिग्रहादिक भी पाप हैं, उन्हें करते हुए धर्मात्मा—गुरु किस प्रकार मानें ? तथा वह धर्मबुद्धिसे विवाहादिकका त्यागी नहीं हुआ है, परन्तु किसी आजीविका व लज्जा आदि प्रयोजनके लिये विवाह नहीं करता। यदि धर्मबुद्धि होती तो हिंसादिक किसलिये बढ़ाता ? तथा जिसके धर्मबुद्धि नहीं है उसके शीलकी भी दृढ़ता नहीं रहती, और विवाह नहीं करता तब परस्त्री गमनादि महा-पाप उत्पन्न करता है। ऐसी क्रिया होनेपर गुरुपना मानना महा भ्रष्टबुद्धि है।

तथा कितने ही किसी प्रकारका भेष धारण करनेसे गुरुपना मानते हैं; परन्तु भेष धारण करनेसे कौनसा धर्म हुआ, कि जिससे धर्मात्मा गुरु मानें ? वहाँ कोई टोपी लगाते हैं, कोई गुदड़ी रखते हैं, कोई चोला पहिनते हैं, कोई चादर ओढ़ते हैं, कोई लाल वस्त्र रखते हैं, कोई श्वेतवस्त्र रखते हैं, कोई भगवा रखते हैं, कोई टाट पहिनते हैं, कोई मृगछाला रखते हैं, कोई राख लगाते हैं—इत्यादि अनेक स्वांग बनाते हैं। परन्तु यदि शीत-उष्णादिक नहीं सहे जाते थे, लज्जा नहीं छूटी थी तो पगड़ी, जामा इत्यादि प्रवृत्ति-रूप वस्त्रादिकका त्याग किसलिये किया ? उनको छोड़कर ऐसे स्वांग बनानेमें धर्मका कौनसा अंग हुआ ? गृहस्थोंको ठगनेके अर्थ ऐसे भेष जानना। यदि गृहस्थ जैसा अपना स्वांग रखे तो गृहस्थ ठगे कैसे जायेंगे ? और इन्हें उनके द्वारा आजीविका व धनादिक व मानादिकका प्रयोजन साधना है। इसलिये ऐसे स्वांग बनाते हैं। भोला जगत उस स्वांगको देखकर ठगाता है और धर्म हुआ मानता है, परन्तु यह भ्रम है। यही कहा है—

> जह कुवि वेस्सारत्तो मुसिज्जमाणो विमण्णए हरिसं।
> तह मिच्छवेसमुसिया गयं पि ण मुणंति धम्म-णिहिं॥ १॥
>
> (उपदेश सिद्धांत रत्नमाला-५)

अर्थः—जैसे कोई वेश्यासक्त पुरुष धनादिकको ठगाते हुए भी हर्ष मानता है, उसी प्रकार मिथ्याभेष द्वारा ठगे गए जीव नष्ट होते हुए धर्म धनको नहीं जानते हैं। भावार्थ—इन मिथ्यावेषवाले जीवोंकी सुश्रुषा आदिसे अपना धर्मधन नष्ट होता है उसका विषाद नहीं है, मिथ्याबुद्धिसे हर्ष करते हैं। वहाँ कोई तो मिथ्याशास्त्रोंमें जो वेष निरूपित

किये हैं उनको धारण करते हैं; परन्तु उन शास्त्रोंके कर्ता पापियोंने सुगमक्रिया करनेसे उच्चपद प्ररूपित करनेमें हमारी मान्यता होगी व अन्य बहुत जीव इस मार्गमें लग जायेंगे, इस अभिप्रायसे मिथ्या उपदेश दिया है। उसकी परम्परासे विचार रहित जीव इतना भी विचार नहीं करते कि—सुगमक्रियासे उच्चपद होना बतलाते हैं सो यहाँ कुछ दगा है। भ्रमसे उनके कहे हुए मार्गमें प्रवर्त्तते हैं। तथा कोई शास्त्रोंमें तो कठिन मार्ग निरूपित किया है वह तो सधेगा नहीं और अपना ऊँचा नाम धराये बिना लोग मानेंगे नहीं; इस अभिप्रायसे यति, मुनि, आचार्य, उपाध्याय, साधु, भट्टारक, संन्यासी, योगी, तपस्वी, नग्न—इत्यादि नाम तो ऊँचा रखते हैं और इनके आचारोंको साध नहीं सकते, इसलिये इच्छानुसार नाना वेष बनाते हैं। तथा कितने ही अपनी इच्छानुसार ही नवीन नाम धारण करते हैं और इच्छानुसार ही वेष बनाते हैं। इस प्रकार अनेक वेष धारण करनेसे गुरुपना मानते हैं, सो यह मिथ्या है।

यहाँ कोई पूछे कि—वेष तो बहुत प्रकारके दिखते हैं, उनमें सच्चे-झूठे वेषकी पहिचान किस प्रकार होगी ?

समाधानः—जिन वेषोंमें विषय-कषायका किंचित् लगाव नहीं है वे वेष सच्चे हैं। वे सच्चे वेष तीन प्रकारके हैं, अन्य सर्व वेष मिथ्या हैं। वही "षट्पाहुड़" में कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है—

एगं जिणस्स रूवं विदियं उक्किट्ठ सावयाणं तु।
अवरट्ठियाग तइयं चउत्थं पुण लिंग दंसणं णत्थि ॥

(दर्शनपाहुड़ १८)

अर्थः—एक तो जिनस्वरूप निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिलिंग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकोंका रूप दशवीं, ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकका लिंग, तीसरा आर्यिकाओंका रूप—यह स्त्रियोंका लिंग—ऐसे यह तीन लिंग तो श्रद्धानपूर्वक हैं तथा चौथा कोई लिंग सम्यग्दर्शनस्वरूप नहीं है। भावार्थ—इन तीन लिंगके अतिरिक्त अन्य लिंगको जो मानता है वह श्रद्धानी नहीं है, मिथ्यादृष्टि है। तथा इन वेषियोंमें कितने ही वेषी अपने वेषकी प्रतीति करानेके अर्थ किंचित् धर्मके अंगको भी पालते हैं। जिस प्रकार खोटा रुपया चलानेवाला उसमें कुछ चाँदीका अंश भी रखता है, उसी प्रकार धर्मका कोई अंग दिखाकर अपना उच्चपद मनाते हैं।

यहाँ कोई कहे कि—जो धर्म साधन किया उसका तो फल होगा ?

उत्तरः—जिस प्रकार उपवासका नाम रखाकर कणमात्र भी भक्षण करे तो पापी है, और एकंत (एकाशन)का नाम रखाकर किंचित् कम भोजन करे तब भी

धर्मात्मा है; उसी प्रकार उच्चपदवीका नाम रखाकर उसमें किंचित् भी अन्यथा प्रवर्ते तो महापापी है; और नीची पदवीका नाम रखाकर किंचित् भी धर्म साधन करे तो धर्मात्मा है; इसलिये धर्मसाधन तो जितना बने उतना ही करना, कुछ दोष नहीं है; परन्तु ऊँचा धर्मातमा नाम रखाकर नीची क्रिया करनेसे तो महापाप ही होता है। वही 'पट पाहुड़' में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—

जह जायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गहदि अत्थेसु।
जइ लेइ अप्प-बहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोयं ॥ १ ॥

(सूत्र पाहुड १८)

अर्थः—मुनिपद है वह यथाजातरूप सदृश है। जैसा जन्म होते हुए था वैसा नग्न है। सो वह मुनि अर्थ यानी धन-वस्त्रादिक वस्तुओं उनमें तिलके तुषमात्र भी ग्रहण नहीं करता। यदि कदाचित् अल्प व बहुत वस्तु ग्रहण करे तो उससे निगोद जाता है। सो यहाँ देखो, गृहस्थपनेमें बहुत परिग्रह रखकर कुछ प्रमाण करे तो भी स्वर्ग-मोक्षका अधिकारी होता है और मुनिपनेमें किंचित् परिग्रह अंगीकार करने पर भी निगोदगामी होता है। इसलिये ऊँचा नाम रखाकर नीची प्रवृत्ति युक्त नहीं है। देखो, हुंडावसर्पिणी कालमें यह कलिकाल वर्त रहा है। इसके दोषसे जिनमतमें मुनिका स्वरूप तो ऐसा है जहाँ बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका लगाव नहीं है, केवल अपने आत्माका आपरूप अनुभवन करते हुए शुभाशुभभावोंसे उदासीन रहते हैं, और अब विषयकषायासक्त जीव मुनिपद धारण करते हैं वहाँ सर्व सावद्यके त्यागी होकर पंच-महाव्रतादि अंगीकार करते हैं; श्वेत-रक्तादि वस्त्रोंको ग्रहण करते हैं, भोजनादिमें लोलुपी होते हैं, अपनी पद्धति बढ़ानेके उद्यमी होते हैं व कितने ही धनादिक भी रखते हैं, हिंसादिक करते हैं व नाना आरम्भ करते हैं। परन्तु अल्प परिग्रह ग्रहण करनेका फल निगोद कहा है, तब ऐसे पापोंका फल तो अनन्त संसार होगा ही होगा। लोगोंकी अज्ञानता तो देखो, कोई एक छोटी भी प्रतिज्ञा भंग करे उसे तो पापी कहते हैं और ऐसी बड़ी प्रतिज्ञा भंग करते देखकर भी उन्हें गुरु मानते हैं, उनका मुनिवत् सन्मानादि करते हैं; सो शास्त्रमें कृत, कारित, अनुमोदनाका फल कहा है, इसलिये उनको भी वैसा ही फल लगता है।

मुनिपद लेनेका क्रम तो यह है—पहले तत्त्वज्ञान होता है, पश्चात् उदासीन परिणाम होते हैं, परिषहादि सहनेकी शक्ति होती है, तब वह स्वयमेव मुनि होना चाहता है और तब श्री गुरु मुनिधर्म अंगीकार कराते हैं। यह कैसी विपरीतता है कि—तत्त्वज्ञानरहित विषयकषायासक्त जीवोंको मायासे व लोभ दिखाकर मुनिपद देना,

पश्चात् अन्यथा प्रवृत्ति कराना, सो यह बड़ा अन्याय है। इस प्रकार कुगुरुका व उनके सेवनका निषेध किया। अब इस कथनको दृढ़ करनेके लिये शास्त्रोंकी साक्षी देते हैं। वहाँ 'उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला' में ऐसा कहा है—

गुरुणो भट्टा जाया सद्दे थुणि ऊण लिंति दाणाइं।
दोण्णवि अमुणियसारा दूसमिसमयम्मि बुड्ढंति ॥ ३१ ॥

कालदोषसे गुरु जो हैं वे तो भाट हुए; भाटवत् शब्द द्वारा दातारकी स्तुति करके दानादि ग्रहण करते हैं। सो इस दुःषमकालमें दोनों ही—दातार व पात्र संसारमें डूबते हैं। तथा वहाँ कहा है—

सप्पे दिट्ठे णासइ लोओ णहि कोवि किंपि अक्खेइ।
जो चयइ कुगुरु सप्पं हा मूढा भणइ तं दुट्ठं ॥ ३६ ॥

अर्थः—सर्प को देखकर कोई भागे, उसे तो लोग कुछ भी नहीं कहते। हाय हाय! देखो तो, जो कुगुरु सर्पको छोड़ते हैं उसे मूढ़लोग दुष्ट कहते हैं, बुरा बोलते हैं।

सप्पो इक्कं मरणं कुगुरु अणंताइ देइ मरणाई।
तो वर सप्पं गहियं मा कुगुरु सेवणं भद्द ॥ ३७ ॥

अहो, सर्प द्वारा तो एकबार मरण होता है और कुगुरु अनन्त मरण देता है—अनन्तबार जन्म-मरण कराता है। इसलिये हे भद्र, सर्पका ग्रहण तो भला और कुगुरुका सेवन भला नहीं है। वहाँ और भी गाथाएँ यह श्रद्धान दृढ़ करनेको कारण बहुत कही हैं सो उस ग्रन्थसे जान लेना। तथा संघपट्टमें ऐसा कहा है—

क्षुत्क्षामः किल कोपि रंकशिशुकः प्रव्रज्य चैत्ये क्वचित्
कृत्वा किंचनपक्षमक्षतकलिः प्राप्तस्तदाचार्यकम्।
चित्रं चैत्यगृहे गृहीयति निजे गच्छे कुटुम्बीयति
स्वं शक्रीयति बालिशीयति बुधान् विश्वं वराकीयति ॥

अर्थः—देखो, क्षुधासे कृश किसी रंकका बालक कहीं चैत्यालयादिमें दीक्षा धारण करके, पापरहित न होता हुआ किसी पदद्वारा आचार्यपदको प्राप्त हुआ। वह चैत्यालयमें अपने गृहवत् प्रवर्तता है, निजगच्छमें कुटुम्बवत् प्रवर्तता है, अपनेको इन्द्रवत् महान् मानता है, ज्ञानियोंको बालकवत् अज्ञानी मानता है, सर्व गृहस्थोंको रंकवत् मानता है; सो यह बड़ा आश्चर्य हुआ है।

तथा "जैर्जातो न च वर्द्धितो न च न च क्रीतो" इत्यादि काव्य है, उसका अर्थ ऐसा है—जिनसे जन्म नहीं हुआ, बढ़ा नहीं है, मोल नहीं लिया है, देनदार नहीं हुआ

है,—इत्यादि कोई प्रकार सम्बन्ध नहीं है और गृहस्थोंको वृषभवत् हांकते हैं; जबरदस्ती दानादिक लेते हैं; सो हाय हाय ! यह जगत् राजासे रहित है, कोई न्याय पूछनेवाला नहीं है। इसी प्रकार वहाँ इस श्रद्धानके पोषक काव्य हैं सो उस ग्रन्थसे जानना।

यहाँ कोई कहता है—यह तो श्वेताम्बरविरचित् उपदेश है उसकी साक्षी किसलिये दी ?

उत्तरः—जैसे—नीचा पुरुष जिसका निषेध करे, उसका उत्तम पुरुषके तो सहज ही निषेध हुआ; उसी प्रकार जिनके वस्त्रादिक उपकरण कहे वे ही जिसका निषेध करें, तब दिगम्बर धर्ममें तो ऐसी विपरीतताका सहज ही निषेध हुआ। तथा दिगम्बर ग्रन्थोंमें भी इस श्रद्धानके पोषक वचन हैं। वहाँ श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत षट्पाहुड़में (दर्शनपाहुड़में) ऐसा कहा है—

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठं जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥ २ ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन है मूल जिसका ऐसा जिनवर द्वारा उपदेशित धर्म है; उसे सुनकर हे कर्णसहित पुरुषो ! यह मानो कि—सम्यक्त्वरहित जीव वंदनायोग्य नहीं है। जो आप कुगुरु है उस कुगुरुके श्रद्धान सहित सम्यक्त्वी कैसे हो सकता है ? बिना सम्यक्त्व अन्य धर्म भी नहीं होता। धर्मके बिना वंदने योग्य कैसे होगा ? फिर कहते हैं—

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठाय।
एदे भट्ठविभट्ठा सेसंपि जणं विणासंति ॥ ८ ॥

जो दर्शनमें भ्रष्ट हैं, ज्ञानमें भ्रष्ट हैं, चारित्र भ्रष्ट हैं, वे जीव भ्रष्टसे भ्रष्ट हैं; और भी जीव जो उनका उपदेश मानते हैं उन जीवोंका नाश करते हैं, बुरा करते हैं। फिर कहते हैं :—

जे दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं।
ते हुंति लुल्लमूया बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥ १२ ॥

जो आप तो सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हैं और सम्यक्त्वधारियोंको अपने पैरों पड़वाना चाहते हैं, वे लूले-गूंगे होते हैं अर्थात् स्थावर होते हैं तथा उनके बोधिकी प्राप्ति महा दुर्लभ होती है।

जेवि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जागारवभएण।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं ॥ १३ ॥
(दर्शनपाहुड़)

जो जानते हुए भी लज्जा, गारव और भयसे उनके पैरों पड़ते हैं उनके भी बोधि अर्थात् सम्यक्त्व नहीं है। कैसे हैं वे जीव ? पापकी अनुमोदना करते हैं। पापियोंका सन्मानादि करनेसे भी उस पापकी अनुमोदनाका फल लगता है। तथा (सूत्रपाहुडमें) कहते हैं—

जस्स परिग्गहगहणं अप्प बहुयं च हवइ लिंगस्स ।
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ णिरायारो ॥ १९ ॥

(–सूत्र पाहुड)

जिस लिंगके थोड़ा व बहुत परिग्रहका अंगीकार हो वह जिनवचनमें निन्दा योग्य है। परिग्रह रहित ही अनगार होता है। तथा (भावपाहुडमें) कहते हैं :—

धम्मम्मि णिप्पिवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो ।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥ ७१ ॥

(भावपाहुड)

अर्थः—जो धर्ममें निरुद्यमी है, दोषोंका घर है, इक्षुफल समान निष्फल है, गुणके आचरणसे रहित है, वह नग्नरूपसे नट-श्रमण है, भांडवत् वेशधारी है। अब, नग्न होनेपर भांडका दृष्टान्त सम्भव है; परिग्रह रखे तो यह दृष्टान्त भी नहीं बनता।

जे पावमोहियमई लिंगं घत्तूण जिणवरिंदाणं ।
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥ ७८ ॥

—(मोक्षपाहुड)

अर्थः—पापसे मोहित हुई है बुद्धि जिनकी, ऐसे जो जीव जिनवरोंका लिंग धारण करके पाप करते हैं वे पापमूर्ति मोक्षमार्गमें भ्रष्ट जानना। तथा ऐसा कहा है—

जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाहीय जायणासीला ।
आधाकम्मम्मिरया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥ ७९ ॥

—(मोक्षपाहुड)

अर्थः—जो पंचप्रकार वस्त्रमें आसक्त हैं, परिग्रहको ग्रहण करनेवाले हैं, याचना-सहित हैं, अधःकर्म दोषोंमें रत हैं उन्हें मोक्षमार्गमें भ्रष्ट जानना। और भी गाथा सूत्र वहाँ उस श्रद्धानको दृढ़ करनेके लिये कहे हैं व वहाँसे जानना। तथा कुन्दकुन्दाचार्यकृत लिंग पाहुड़ है, उसमें मुनि लिंग धारण करके जो हिंसा, आरम्भ, यंत्र-मंत्रादि करते हैं उनका बहुत निषेध किया है। तथा गुणभद्राचार्यकृत आत्मानुशासनमें ऐसा कहा है—

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः ।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥ १९७ ॥

अर्थः—कलिकालमें तपस्वी मृगकी भाँति इधर-उधरसे भयभीत होकर वनसे नगरके समीप वास करते हैं, यह महाखेदकारी कार्य है। यहाँ नगरके समीप ही रहनेका निषेध किया, तो नगरमें रहना तो निषिद्ध हुआ ही।

वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः।
सुस्त्रीकटाक्षलुण्टाकलुप्तवैराग्यसम्पदः ॥ २०० ॥

अर्थः—होनेवाला है अनन्त संसार जिससे ऐसे तपसे गृहस्थपना ही भला है। कैसा है वह तप? प्रभात होते ही स्त्रियोंके कटाक्षरूपी लुटेरों द्वारा जिसकी वैराग्य सम्पदा लुट गई है—ऐसा है। तथा योगीन्द्रदेवकृत परमात्मप्रकाशमें ऐसा कहा है—

चिल्ला चिल्ली पुत्थयहिं, तूसइ मूढ णिभंतु।
एयहिं लज्जइ णाणियउ, बंधहहेउ मुणंतु ॥ २१४ ॥

चेला-चेली और पुस्तकों द्वारा मूढ संतुष्ट होता है; भ्रान्तिरहित ऐसा ज्ञानी उन्हें बन्धका कारण जानता हुआ उनसे लज्जायमान होता है।

केणवि अप्पउ वंचियउ, सिर लुंचि वि छारेण।
सयलु वि संग ण परिहरिय, जिणवरलिंगधरेण ॥ २१६ ॥

किसी जीव द्वारा अपना आत्मा ठगा गया, वह कौन? कि जिस जीवने जिनवरका लिंग धारण किया और राखसे सिरका लोंच किया, परन्तु समस्त परिग्रह नहीं छोड़ा।

जे जिणलिंग धरेवि मुणि इट्ठपरिग्गह लिंति।
छद्दिकरेविणु ते वि जिय, सो पुण छद्दि गिलंति ॥ २१७ ॥

अर्थः—हे जीव! जो मुनि जिनलिंग धारण करके इष्ट परिग्रहको ग्रहण करते हैं वे छर्दि (उल्टी) करके उसी छर्दिका पुनः भक्षण करते हैं अर्थात् निन्दनीय हैं। इत्यादि वहाँ कहते हैं। इस प्रकार शास्त्रोंमें कुगुरुका व उनके आचरणका व उनकी सुश्रूषाका निषेध किया है सो जानना।

तथा जहाँ मुनिको धात्री-दूत आदि छयालीस दोष आहारादिमें कहे हैं वहाँ गृहस्थोंके बालकोंको प्रसन्न करना, समाचार कहना, मंत्र-औषधि-ज्योतिषादि कार्य बतलाना तथा किया-कराया, अनुमोदित भोजन लेना इत्यादि क्रियाओंका निषेध किया है; परन्तु अब कालदोषसे इन्हीं दोषोंको लगाकर आहारादि ग्रहण करते हैं। तथा पार्श्वस्थ, कुशीलादि भ्रष्टाचारी मुनियोंका निषेध किया है, उन्हींके लक्षणोंको धारण करते हैं। इतना विशेष है कि—वे द्रव्यसे तो नग्न रहते हैं यह नाना परिग्रह रखते

हैं। तथा वहाँ मुनियोंके भ्रामरी आदि आहार लेनेकी विधि कही है; परन्तु यह आसक्त होकर, दातारके प्राण पीड़ित करके आहारादिका ग्रहण करते हैं। तथा जो गृहस्थ-धर्ममें भी उचित नहीं है व अन्याय, लोकनिंद्य कार्य करते प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। तथा जिनबिम्ब, शास्त्रादिक सर्वोत्कृष्ट पूज्य उनकी तो अविनय करते हैं और आप उनसे भी महंतता रखकर ऊपर बैठना आदि प्रवृत्तिको धारण करते हैं—इत्यादि अनेक विपरीतताएँ प्रत्यक्ष भासित होती हैं और अपनेको मुनि मानते हैं, मूलगुण आदिके धारी कहलाते हैं। इस प्रकार अपनी महिमा कराते हैं और गृहस्थ भोले उनके द्वारा प्रशंसादिकसे ठगाते हुए धर्मका विचार नहीं करते, उनकी भक्तिमें तत्पर होते हैं; परन्तु बड़े पापको बड़ा धर्म मानना इस मिथ्यात्वका फल कैसे अनन्त संसार नहीं होगा? शास्त्रमें एक जिनवचनको अन्यथा माननेसे महापापी होना कहा है; यहाँ तो जिनवचनकी कुछ बात ही नहीं रखी, तो इसके समान और पाप कौन है?

अब यहाँ, कुयुक्ति द्वारा जो उन कुगुरुओंकी स्थापना करते हैं उनका निराकरण करते हैं। वहाँ वह कहता है—गुरु बिना तो निगुरा कहलायेंगे और वैसे गुरु इस समय दिखते नहीं हैं; इसलिये इन्हींको गुरु मानना?

उत्तरः—निगुरा तो उसका नाम है जो गुरु मानता ही नहीं। तथा जो गुरुको तो माने, परन्तु इस क्षेत्रमें गुरुका लक्षण न देखकर किसीको गुरु न माने तो इस श्रद्धानसे तो निगुरा होता नहीं है। जिस प्रकार नास्तिक तो उसका नाम है जो परमेश्वरको मानता ही नहीं। और जो परमेश्वरको तो माने परन्तु इस क्षेत्रमें परमेश्वरका लक्षण न देखकर किसीको परमेश्वर न माने तो नास्तिक तो होता नहीं है; उसी प्रकार यह जानना।

फिर वह कहता है—जैन शास्त्रोंमें वर्तमानमें केवलीका तो अभाव कहा है, मुनिका तो अभाव नहीं कहा है?

उत्तरः—ऐसा तो कहा नहीं है कि इन देशोंमें सद्भाव रहेगा, परन्तु भरतक्षेत्रमें कहते हैं, सो भरतक्षेत्र तो बहुत बड़ा है; कहीं सद्भाव होगा, इसलिये अभाव नहीं कहा है। यदि तुम रहते हो उसी क्षेत्रमें सद्भाव मानोगे, तो जहाँ ऐसे भी गुरु नहीं मिलेंगे वहाँ जाओगे तब किसको गुरु मानोगे? जिसप्रकार—हंसोंका सद्भाव वर्तमानमें कहा है, परन्तु हंस दिखायी नहीं देते, तो और पक्षियोंको तो हंस माना नहीं जाता। उसीप्रकार वर्तमानमें मुनियोंका सद्भाव कहा है परन्तु मुनि दिखायी नहीं देते, तो औरोंको तो मुनि माना नहीं जा सकता।

फिर वह कहता है—एक अक्षरके दाताको गुरु मानते हैं, तो जो शास्त्र सिखलायें व सुनायें उन्हें गुरु कैसे न मानें ?

उत्तरः—गुरु नाम बड़ेका है। सो जिस प्रकारकी महंतता जिसके सम्भव हो, उसे उस प्रकार गुरुसंज्ञा सम्भव है। जैसे—कुल अपेक्षा माता-पिताको गुरुसंज्ञा है, उसी प्रकार विद्या पढ़ानेवालेको विद्या अपेक्षा गुरुसंज्ञा है। यहाँ तो धर्मका अधिकार है; इसलिये जिसके धर्म अपेक्षा महंतता सम्भवित हो उसे गुरु जानना। परन्तु धर्म नाम चारित्रका है; "*चारित्तं खलु धम्मो" ऐसा शास्त्रमें कहा है; इसलिये चारित्रके धारकको ही गुरुसंज्ञा है। तथा जिस प्रकार भूतादिका नाम भी देव है, तथापि यहाँ देवके श्रद्धानमें अरहन्तदेवका ही ग्रहण है; उसी प्रकार औरोंका भी नाम गुरु है, तथापि यहाँ श्रद्धानमें निर्ग्रन्थका ही ग्रहण है। जैनधर्ममें अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु ऐसा प्रसिद्ध वचन है।

यहाँ प्रश्न है कि—निर्ग्रन्थके सिवा अन्यको गुरु नहीं मानते, सो क्या कारण है ?

उत्तरः—निर्ग्रन्थके सिवा अन्य जीव सर्वप्रकारसे महंतता धारण नहीं करते। जैसे—लोभी शास्त्र व्याख्यान करे वहाँ वह इसे शास्त्र सुनानेसे महंत हुआ और यह उसे धन-वस्त्रादि देनेसे महंत हुआ। यद्यपि बाह्य शास्त्र सुनानेवाला महंत रहता है, तथापि अन्तरङ्ग लोभी होता है इसलिये सर्वथा महंतता नहीं हुई।

यहाँ कोई कहे—निर्ग्रन्थ भी तो आहार लेते हैं ?

उत्तरः—लोभी होकर, दातारकी सुश्रूषा करके दीनतासे आहार नहीं लेते; इसलिये महंतता नहीं घटती। जो लोभी हो वही हीनता प्राप्त करता है। इसी प्रकार अन्य जीव जानना। इसलिये निर्ग्रन्थ ही सर्वप्रकार महंततायुक्त हैं; निर्ग्रन्थके सिवा अन्य जीव सर्वप्रकार गुणवान नहीं है; इसलिये गुणोंकी अपेक्षा महंतता और दोषोंकी अपेक्षा हीनता भासित होती है, तब निःशंक स्तुति नहीं की जा सकती। तथा निर्ग्रन्थके सिवा अन्य जीव जैसा धर्म साधन करते हैं, वैसा व उससे अधिक धर्म साधन गृहस्थ भी कर सकते हैं; वहाँ गुरुसंज्ञा किसको होगी ? इसलिये जो बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ मुनि हैं उन्हींको गुरु जानना।

यहाँ कोई कहे—ऐसे गुरु तो वर्तमानमें यहाँ नहीं हैं, इसलिये जिस प्रकार अरहन्तकी स्थापना प्रतिमा है, उसी प्रकार गुरुओंकी स्थापना यह वेषधारी हैं ?

---

* प्रवचनसार गाथा १-७।

उत्तर:—जिस प्रकार राजाकी स्थापना चित्रादि द्वारा करे तो वह राजाका प्रतिपक्षी नहीं है; और कोई सामान्य मनुष्य अपनेको राजा मनाये तो राजाका प्रतिपक्षी होता है। उसी प्रकार अरहंतादिककी पाषाणादिमें स्थापना बनाये तो उनका प्रतिपक्षी नहीं है, और कोई सामान्य मनुष्य अपनेको मुनि मनाये तो वह मुनियोंका प्रतिपक्षी हुआ। इस प्रकार भी स्थापना होती हो तो अपनेको अरहन्त भी मनाओ! और यदि उनकी स्थापना है तो बाह्यमें तो वैसे ही होना चाहिये; परन्तु वे निर्ग्रन्थ, यह बहुत परिग्रहके धारी,—यह कैसे बनता है?

तथा कोई कहे—अब श्रावक भी तो जैसे सम्भव हैं वैसे नहीं हैं, इसलिये जैसे श्रावक वैसे मुनि?

उत्तर:—श्रावक संज्ञा तो शास्त्रमें सर्व गृहस्थ जैनियोंको है। श्रेणिक भी असंयमी था, उसे उत्तरपुराणमें श्रावकोत्तम कहा है। बारह सभाओंमें श्रावक कहे हैं वहाँ सर्व व्रतधारी नहीं थे। यदि सर्व व्रतधारी होते, तो असंयत मनुष्योंकी अलग संख्या कही जाती, सो नहीं कही है; इसलिये गृहस्थ जैन श्रावक नाम प्राप्त करता है। और मुनिसंज्ञा तो निर्ग्रन्थके सिवा कहीं कही नहीं है। तथा श्रावकके तो आठ मूलगुण कहे हैं, इसलिये मद्य, मांस, मधु, पांच उदम्बरादि फलोंका भक्षण श्रावकोंके है नहीं, इसलिये किसी प्रकारसे श्रावकपना तो सम्भवित भी है; परन्तु मुनिके अट्ठाईस मूलगुण हैं सो वेषियोंके दिखायी ही नहीं देते, इसलिये मुनिपना किसी प्रकार सम्भव नहीं है। तथा गृहस्थ अवस्थामें तो पहले जम्बूकुमारादिकने बहुत हिंसादि कार्य किये सुने जाते हैं; मुनि होकर तो किसीने हिंसादिक कार्य किये नहीं हैं, परिग्रह रखा नहीं है; इसलिये ऐसी युक्ति कार्यकारी नहीं है। देखो, आदिनाथजीके साथ चार हजार राजा दीक्षा लेकर पुनः भ्रष्ट हुए, तब देव उनसे कहने लगे—'जिनलिंगी होकर अन्यथा प्रवर्तोगे तो हम दंड देंगे। जिनलिंग छोड़कर जो तुम्हारी इच्छा हो सो तुम जानो।' इसलिये जिनलिंगी कहलाकर अन्यथा प्रवर्ते, वे तो दंड योग्य हैं; वंदनादि योग्य कैसे होंगे? अब अधिक क्या कहें, जिनमतमें कुवेष धारण करते हैं वे महापाप करते हैं; अन्य जीव जो उनकी सुश्रूषा आदि करते हैं वे भी पापी होते हैं। पद्मपुराणमें यह कथा है कि—श्रेष्ठी धर्मात्मा चारण मुनियोंको भ्रमसे भ्रष्ट जानकर आहार नहीं दिया, तब जो प्रत्यक्ष भ्रष्ट हैं उन्हें दानादिक देना कैसे सम्भव है?

यहाँ कोई कहे—हमारे अन्तरंगमें श्रद्धान तो सत्य है, परन्तु बाह्य लज्जादिसे शिष्टाचार करते हैं; सो फल तो अन्तरंगका होगा?

उत्तरः—'षट्पाहुड'में लज्जादिसे वन्दनादिकका निषेध बतलाया था, वह पहले ही कहा था। कोई जबरदस्ती मस्तक झुकाकर हाथ जुड़वाये, तब तो यह सम्भव है कि हमारा अन्तरङ्ग नहीं था; परन्तु आप ही मानादिकसे नमस्कारादि करे, वहाँ अन्तरङ्ग कैसे न कहें ? जैसे—कोई अन्तरंगमें तो माँसको बुरा जाने, परन्तु राजादिकको भला मनवानेको माँस भक्षण करे तो उसे व्रती कैसे मानें ? उसी प्रकार अन्तरंगमें तो कुगुरु-सेवनको बुरा जाने, परन्तु उनको व लोगोंको भला मनवानेके लिये सेवन करे तो श्रद्धानी कैसे कहें ? इसलिये बाह्यत्याग करने पर ही अन्तरंग त्याग सम्भव है। इसलिये जो श्रद्धानी जीव हैं, उन्हें किसी प्रकारसे भी कुगुरुओंकी सुश्रुषा आदि करना योग्य नहीं है। इस प्रकार कुगुरु सेवनका निषेध किया।

यहाँ कोई कहे—किसी तत्त्वश्रद्धानीको कुगुरुसेवनसे मिथ्यात्व कैसे हुआ ?

उत्तरः—जिस प्रकार शीलवती स्त्री परपुरुषके साथ भर्तारकी भाँति रमण-क्रिया सर्वथा नहीं करती, उसी प्रकार तत्त्वश्रद्धानी पुरुष कुगुरुके साथ सुगुरुकी भाँति नमस्कारादि क्रिया सर्वथा नहीं करता। क्योंकि यह तो जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धानी हुआ है; वहाँ रागादिकका निषेध करनेवाला श्रद्धान करता है, वीतरागभावको श्रेष्ठ मानता है; इसलिये जिसके वीतरागता पायी जाये, उन्हीं गुरुको उत्तम जानकर नमस्कारादि करता है; जिनके रागादिक पाये जायें उन्हें निषिद्ध जानकर कदापि नमस्कारादि नहीं करता।

कोई कहे—जिस प्रकार राजादिकको करता है, उसी प्रकार इनको भी करता है ?

उत्तरः—राजादिक धर्मपद्धतिमें नहीं हैं। गुरुका सेवन तो धर्मपद्धतिमें है, राजादिकका सेवन तो लोभादिकसे होता है; वहाँ चारित्रमोहका ही उदय सम्भव है; परन्तु गुरुके स्थान पर कुगुरुका सेवन किया, वहाँ तत्त्वश्रद्धानके कारण तो गुरु थे, उनसे यह प्रतिकूल हुआ। सो लज्जादिकसे जिसने कारणमें विपरीतता उत्पन्न की उसके कार्यभूत तत्त्वश्रद्धानमें दृढ़ता कैसे सम्भव है ? इसलिये वहाँ दर्शनमोहका उदय सम्भव है। इस प्रकार कुगुरुओंका निरूपण किया।

[कुधर्मका निरूपण और उसके श्रद्धानादिकका निषेध]

अब कुधर्मका निरूपण करते हैं :—

जहाँ हिंसादि पाप उत्पन्न हों व विषयकषायोंकी वृद्धि हो वहाँ धर्म माने, सो कुधर्म जानना। यज्ञादिक क्रियाओंमें महाहिंसादिक उत्पन्न करे, बड़े जीवोंका घात करे और इन्द्रियोंके विषय पोषण करे, उन जीवोंमें दुष्टबुद्धि करके रौद्रध्यानी हो, तीव्र लोभसे औरोंका बुरा करके अपना कोई प्रयोजन साधना चाहे, और ऐसे कार्य करके वहाँ धर्म माने सो कुधर्म है।

तथा तीर्थोंमें व अन्यत्र स्नानादि कार्य करे वहाँ बड़े-छोटे बहुतसे जीवोंकी हिंसा होती है, शरीरको चैन मिलता है, इसलिये विषयपोषण होता है और कामादिक बढ़ते हैं; कुतूहलादिसे वहाँ कषायभाव बढ़ाता है और धर्म मानता है सो यह कुधर्म है।

तथा संक्रान्ति, ग्रहण, व्यतिपातादिकमें दान देता है व बुरे ग्रहादिकके अर्थ दान देता है, पात्र जानकर लोभी पुरुषोंको दान देता है, दान देनेमें सुवर्ण, हस्ती, घोड़ा, तिल आदि वस्तुओंको देता है, परन्तु संक्रान्ति आदि पर्व धर्मरूप नहीं हैं। ज्योतिषीके संचारादिक द्वारा संक्रान्ति आदि होते हैं। तथा दुष्ट ग्रहादिकके अर्थ दिया वहाँ भय, लोभादिककी अधिकता हुई; इसलिये वहाँ दान देनेमें धर्म नहीं है। तथा लोभी पुरुष देने योग्य पात्र नहीं है; क्योंकि लोभी नाना असत्य युक्तियाँ करके ठगते हैं, किंचित् भला नहीं करते। भला तो तब होता है जब इसके दानकी सहायतासे वह धर्म साधन करे; परन्तु वह तो उल्टा पापरूप प्रवर्तता है। पापके सहायकका भला कैसे होगा? यही "रयणसार" शास्त्रमें कहा है—

सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाणं सोहं वा।
लोहीणं दाणं जइ विमाणसोहा सवस्स जाणेह ॥ २६ ॥

अर्थः—सत्पुरुषोंको दान देना कल्पवृक्षोंके फलोंकी शोभासमान है। शोभा भी है और सुखदायक भी है। तथा लोभी पुरुषोंको दान देना होता है सो शव अर्थात् मुर्देकी ठठरीकी शोभा समान जानना। शोभा तो होती है परन्तु मालिकको परम दुःखदायक होती है; इसलिये लोभी पुरुषोंको दान देनेमें धर्म नहीं है। तथा द्रव्य तो ऐसा देना चाहिये जिससे उसके धर्म बढ़े; परन्तु स्वर्ण, हस्ती आदि देनेसे तो हिंसादिक उत्पन्न होते हैं और मान-लोभादिक बढ़ते हैं, उससे महापाप होता है। ऐसी वस्तुओंको देनेवालेके पुण्य कैसे होगा? तथा विषयासक्त जीव रतिदानादिकमें पुण्य ठहराते हैं; परन्तु जहाँ प्रत्यक्ष कुशीलादि पाप हो वहाँ पुण्य कैसे होगा? तथा युक्ति मिलानेको कहते हैं कि—वह स्त्री सन्तोष प्राप्त करती है। सो स्त्री तो विषय सेवन करनेसे सुख

पाती ही है, शीलका उपदेश किसलिये दिया ? रतिकालके अतिरिक्त भी उसके मनोरथ अनुसार न प्रवर्ते तो दु.ख पाती है; सो ऐसी असत्य युक्ति बनाकर विषयपोषण करनेका उपदेश देते हैं। इसी प्रकार दया दान व पात्रदानके सिवा अन्य दान देकर धर्म मानना सर्व कुधर्म है।

तथा व्रतादिक करके वहाँ हिंसादिक व विषयादिक बढ़ाते हैं; परन्तु व्रतादिक तो उन्हें घटानेके अर्थ किये जाते हैं। तथा जहाँ अन्नका तो त्याग करे और कंदमूलादिका भक्षण करे वहाँ हिंसा विशेष हुई—स्वादादिक विषय विशेष हुए। तथा दिनमें तो भोजन करता नहीं है और रात्रिमें भोजन करता है, वहाँ प्रत्यक्ष ही दिन भोजनसे रात्रि भोजनमें विशेष हिंसा भासित होती है, प्रमाद विशेष होता है। तथा व्रतादिक करके नाना श्रृंगार बनाता है, कुतूहल करता है, जुआ आदिरूप प्रवर्तता है इत्यादि पापक्रिया करता है; तथा व्रतादिकका फल लौकिक इष्टकी प्राप्ति, अनिष्टके नाशको चाहता है वहाँ कषायोंकी तीव्रता विशेष हुई। इस प्रकार व्रतादिकसे धर्म मानता है सो कुधर्म है।

तथा कोई भक्ति आदि कार्योंमें हिंसादिक पाप बढ़ाते हैं; गीत-नृत्यगानादिक व इष्ट भोजनादिक व अन्य सामग्रियों द्वारा विषयोंका पोषण करते हैं; कुतूहल प्रमादादिरूप प्रवर्तते हैं वहाँ पाप तो बहुत उत्पन्न करते हैं और धर्मका किंचित् साधन नहीं है। वहाँ धर्म मानते हैं सो सब कुधर्म है।

तथा कितने ही शरीरको तो क्लेश उत्पन्न करते हैं, और वहाँ हिंसादिक उत्पन्न करते हैं व कषायादिरूप प्रवर्तते हैं। जैसे—पंचाग्नि तपते हैं सो अग्निसे बड़े-छोटे जीव जलते हैं, हिंसादिक बढ़ते हैं इसमें धर्म क्या हुआ ? तथा औंधे मुँह झूलते हैं, ऊर्ध्वबाहु रखते हैं, इत्यादि साधन करते हैं वहाँ क्लेश ही होता है, यह कुछ धर्मके अंग नहीं हैं।

तथा पवन साधन करते हैं वहाँ नेती, धोती इत्यादि कार्योंमें जलादिकसे हिंसादिक उत्पन्न होते हैं; कोई चमत्कार उत्पन्न हो तो उससे मानादिक बढ़ते हैं, वहाँ किंचित् धर्मसाधन नहीं है। इत्यादिक क्लेश तो करते हैं, विषयकषाय घटानेका कोई साधन नहीं करते। अन्तरंगमें क्रोध, मान, माया, लोभका अभिप्राय है, वृथा क्लेश करके धर्म मानते हैं, सो कुधर्म है।

तथा कितने ही इस लोकमें दुःख सहन न होनेसे व परलोकमें इष्टकी इच्छा व अपनी पूजा बढ़ानेके अर्थ व किसी क्रोधादिसे आपघात करते हैं। जैसे—पतिवियोगसे अग्निमें जलकर सती कहलाती है, व हिमालयमें गलते हैं, काशीमें करौंत लेते हैं, जीवित मरण लेते हैं—इत्यादि कार्योंसे धर्म मानते हैं; परन्तु आपघातका तो महान पाप है। यदि शरीरादिकसे अनुराग घटा था तो तपश्चरणादि करना था, मर जानेमें कौन धर्मका अंग हुआ? इसलिये आपघात करना कुधर्म है। इसी प्रकार अन्य भी बहुतसे कुधर्मके अंग हैं। कहाँ तक कहें, जहाँ विषयकषाय बढ़ते हों और धर्म मानें सो सब कुधर्म जानना।

देखो, कालका दोष, जैनधर्ममें भी कुधर्मकी प्रवृत्ति हो गई है। जैनमतमें जो धर्म पर्व कहे हैं वहाँ तो विषय-कषाय छोड़कर संयमरूप प्रवर्तना योग्य है। उसे तो ग्रहण नहीं करते और व्रतादिकका नाम धारण करके वहाँ नाना शृंगार बनाते हैं, इष्ट भोजनादि करते हैं, कुतूहलादि करते हैं व कषाय बढ़ानेके कार्य करते हैं, जुआ इत्यादि महान पापरूप प्रवर्तते हैं।

तथा पूजनादि कार्योंमें उपदेश तो यह था कि—"सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ दोषायनालं*" बहुत पुण्य समूहमें पापका अंश दोषके अर्थ नहीं है। इस छल द्वारा पूजा-प्रभावनादि कार्योंमें रात्रिमें दीपकसे, व अनन्तकायादिकके संग्रह द्वारा, व अयत्नाचार प्रवृत्तिसे हिंसादिरूप पाप तो बहुत उत्पन्न करते हैं और स्तुति, भक्ति आदि शुभपरिणामोंमें नहीं प्रवर्तते व थोड़े प्रवर्तते हैं सो वहाँ नुकसान बहुत, नफा थोड़ा या कुछ नहीं। ऐसे कार्य करनेमें तो बुरा ही दिखना होता है।

तथा जिनमन्दिर तो धर्मका ठिकाना है; वहाँ नाना कुकथा करना, सोना इत्यादि प्रमादरूप प्रवर्तते हैं, तथा वहाँ बाग-बाड़ी इत्यादि बनाकर विषय-कषायका पोषण करते हैं। तथा लोभी पुरुषोंको गुरु मानकर दानादिक देते हैं व उनकी असत्य स्तुति करके महंतपना मानते हैं, इत्यादि प्रकारसे विषय-कषायोंको तो बढ़ाते हैं और धर्म मानते हैं; परन्तु जिनधर्म तो वीतराग भावरूप है, उसमें ऐसी विपरीत प्रवृत्ति कालदोषसे ही देखी जाती है। इस प्रकार कुधर्मसेवनका निषेध किया।

---

* पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥ ५८ ॥
(—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र)

[कुधर्म सेवनसे मिथ्यात्वभाव]

अब, इसमें मिथ्यात्वभाव किस प्रकार हुआ सो कहते हैं :—

तत्त्वश्रद्धान करनेमें प्रयोजनभूत तो एक यह है कि—रागादिक छोड़ना। इसी भावका नाम धर्म है। यदि रागादिक भावोंको बढ़ाकर धर्म माने, वहाँ तत्त्वश्रद्धान कैसे रहा ? तथा जिन आज्ञासे प्रतिकूल हुआ। रागादिभाव तो पाप हैं, उन्हें धर्म माना सो यह झूठा श्रद्धान हुआ; इसलिये कुधर्मके सेवनमें मिथ्यात्वभाव है। इस प्रकार कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र सेवनमें मिथ्यात्वभावकी पुष्टि होती जानकर इसका निरूपण किया। यही 'षट्पाहुड़' (मोक्खपाहुड) में कहा है—

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वंदए जो दु।
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो दु ॥ ९२ ॥

अर्थ:—यदि लज्जासे, भयसे, व बड़ाईसे भी कुत्सित् देवको, कुत्सित् धर्मको व कुत्सित् लिंगको वन्दता है तो मिथ्यादृष्टि होता है। इसलिये जो मिथ्यात्वका त्याग करना चाहे, वह पहले कुदेव, कुगुरु, कुधर्मका त्यागी हो। सम्यक्त्वके पच्चीस मलोंके त्यागमें भी अमूढ़ दृष्टिमें व षडायतनमें इन्हींका त्याग कराया है; इसलिये इनका अवश्य त्याग करना। तथा कुदेवादिकके सेवनसे जो मिथ्यात्वभाव होता है सो वह हिंसादिक पापोंसे बड़ा पाप है; इसके फलसे निगोद, नरकादि पर्यायें पायी जाती हैं; वहाँ अनन्तकाल पर्यन्त महा संकट पाया जाता है; सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति महा दुर्लभ हो जाती है। यही षट्पाहुड़में (भावपाहुड़में) कहा है—

कुच्छियधम्मम्मि-रओ, कुच्छिय पासंडि भत्तिसंजुत्तो।
कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छिय गइभायणो होइ ॥ १४० ॥

अर्थ:—जो कुत्सित् धर्ममें रत है, कुत्सित् पाखण्डियोंकी भक्तिसे संयुक्त है, कुत्सित् तपको करता है वह जीव कुत्सित् अर्थात् खोटी गतिको भोगनेवाला होता है। सो हे भव्यो ! किंचित्मात्र लोभसे व भयसे कुदेवादिकका सेवन करके जिससे अनन्तकाल पर्यन्त महादुःख सहना होता है ऐसा मिथ्यात्वभाव करना योग्य नहीं है। जिनधर्ममें यह तो आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया है; इसलिये इस मिथ्यात्वको सप्तव्यसनादिकसे भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है। इसलिये जो पापके फलसे डरते हैं, अपने आत्माको दुःखसमुद्रमें नहीं डुबाना चाहते, वे जीव इस

मिथ्यात्वको अवश्य छोड़ो ! निन्दा-प्रशंसादिकके विचारसे शिथिल होना योग्य नहीं है; क्योंकि नीतिमें भी ऐसा कहा है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वाऽस्तु मरणं तु युगान्तरे वा
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ १ ॥

(नीतिशतक-८४)

कोई निन्दा करता है तो निन्दा करो, स्तुति करता है तो स्तुति करो, लक्ष्मी आओ व जहाँ-तहाँ जाओ, तथा अभी मरण होओ व युगान्तरमें होओ, परन्तु नीतिमें निपुण पुरुष न्यायमार्गसे एक डग भी चलित नहीं होते । ऐसा न्याय विचारकर निन्दा-प्रशंसादिकके भयसे, लोभादिकसे अन्यायरूप मिथ्यात्व प्रवृत्ति करना युक्त नहीं है । अहो ! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, इनके आधारसे धर्म है । इनमें शिथिलता रखनेसे अन्य धर्म किस प्रकार होगा ? इसलिये बहुत कहनेसे क्या ! सर्वथा प्रकारसे कुदेव-कुगुरु-कुधर्मका त्यागी होना योग्य है । कुदेवादिकका त्याग न करनेसे मिथ्यात्वभाव बहुत पुष्ट होता है और वर्तमानमें यहाँ इनकी प्रवृत्ति विशेष पायी जाती है; इसलिये इनका निषेधरूप निरूपण किया है । उसे जानकर मिथ्यात्वभाव छोड़कर अपना कल्याण करो !

इति श्री मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्रमें कुदेव-कुगुरु-कुधर्म निषेध
वर्णनरूप छठवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥६॥

सातवाँ अधिकार

जैन मिथ्यादृष्टिका विवेचन

* दोहा *

इस भवतरुका मूल इक, जानहु मिथ्याभाव ।
ताकौं करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव ॥ १ ॥

अब, जो जीव जैन हैं, जिनआज्ञाको मानते हैं, और उनके भी मिथ्यात्व रहता है उसका वर्णन करते हैं—क्योंकि इस मिथ्यात्ववैरीका अंश भी बुरा है, इसलिये सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य है। वहाँ जिनागममें निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है। उनमें यथार्थका नाम निश्चय है, उपचारका नाम व्यवहार है। इनके स्वरूपको न जानते हुए अन्यथा प्रवर्तते हैं, वही कहते हैं—

[एकान्त निश्चयावलम्बी जैनाभास]

कितने ही जीव निश्चयको न जानते हुए निश्चयाभासके श्रद्धानी होकर अपनेको मोक्षमार्गी मानते हैं; अपने आत्माका सिद्धसमान अनुभव करते हैं, आप प्रत्यक्ष संसारी हैं। भ्रमसे अपनेको सिद्ध मानते हैं वही मिथ्यादृष्टि है। शास्त्रोंमें जो सिद्ध समान आत्माको कहा है वह द्रव्यदृष्टिसे कहा है, पर्याय अपेक्षा सिद्ध समान नहीं है। जैसे—राजा और रंक मनुष्यपनेकी अपेक्षा समान हैं, परन्तु राजापने और रंकपनेकी अपेक्षासे तो समान नहीं हैं। उसी प्रकार सिद्ध और संसारी जीवत्वपनेकी अपेक्षा समान हैं, परन्तु सिद्धपने-और संसारीपनेकी अपेक्षा तो समान नहीं हैं। तथापि ये तो जैसे सिद्ध शुद्ध हैं, वैसा ही अपनेको शुद्ध मानते हैं। परन्तु वह शुद्ध-अशुद्ध अवस्था पर्याय है; इस पर्याय अपेक्षा समानता मानी जाये तो यही मिथ्यादृष्टि है। तथा अपनेको केवलज्ञानादिका सद्भाव मानते हैं, परन्तु अपनेको तो क्षयोपशमरूप मति-श्रुतादि ज्ञानका सद्भाव है, क्षायिक-

भाव तो कर्मका क्षय होनेपर होता है और ये भ्रमसे कर्मका क्षय हुए बिना ही क्षायिक-भाव मानते हैं, सो यही मिथ्यादृष्टि है। शास्त्रमें सर्व जीवोंका केवलज्ञान स्वभाव कहा है वह शक्तिअपेक्षासे कहा है। क्योंकि सर्व जीवोमें केवलज्ञानादिरूप होनेकी शक्ति है; वर्तमान व्यक्तता तो व्यक्त होनेपर ही कही जाती है।

[केवलज्ञान निषेध]

कोई ऐसा मानता है कि आत्माके प्रदेशोंमें तो केवलज्ञान ही है, ऊपर आवरण होनेसे प्रगट नहीं होता, सो यह भ्रम है। यदि केवलज्ञान हो तो वज्रपटलादि आड़े होनेपर भी वस्तुको जानता है; कर्म आड़े आने पर वह कैसे अटकेगा? इसलिये कर्मके निमित्तसे केवलज्ञानका अभाव ही है। यदि इसका सर्वदा सद्भाव रहता तो इसे पारिणामिक भाव कहते, परन्तु यह तो क्षायिकभाव है। सर्वभेद जिसमें गर्भित है ऐसा चैतन्यभाव सो पारिणामिकभाव है। इसकी अनेक अवस्थाएँ मतिज्ञानादिरूप व केवलज्ञानादिरूप हैं, सो यह पारिणामिकभाव नहीं हैं। इसलिये केवलज्ञानका सर्वदा सद्भाव नहीं मानना। तथा शास्त्रोंमें जो सूर्यका दृष्टान्त दिया है उसका इतना ही भाव लेना कि—जैसे मेघपटल होते हुए सूर्यका प्रकाश प्रगट नहीं होता, उसी प्रकार कर्मउदय होते हुए केवलज्ञान नहीं होता। तथा ऐसा भाव नहीं लेना कि—जैसे सूर्यमें प्रकाश रहता है वैसे आत्मामें केवलज्ञान रहता है; क्योंकि दृष्टान्त सर्वप्रकारसे मिलता नहीं है। जैसे—पुद्गलमें वर्ण गुण है, उसकी हरित-पीतादि अवस्थाएँ हैं; सो वर्तमानमें कोई अवस्था होनेपर अन्य अवस्थाका अभाव है। उसी प्रकार आत्मामें चैतन्यगुण है, उसकी मतिज्ञानादिरूप अवस्थाएँ हैं; सो वर्तमानमें कोई अवस्था होनेपर अन्य अवस्थाका अभाव ही है।

तथा, कोई कहे कि—आवरण नाम तो वस्तुको आच्छादित करनेका है, केवलज्ञानका सद्भाव नहीं है तो केवलज्ञानावरण किसलिये कहते हो?

उत्तरः—यहाँ शक्ति है, उसे व्यक्त न होने दे, इस अपेक्षा आवरण कहा है। जैसे—देशचारित्रका अभाव होनेपर शक्ति घातनेकी अपेक्षा अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहा, उसी प्रकार जानना। तथा ऐसा जानना कि—वस्तुमें पर निमित्तसे जो भाव हो उसका नाम औपाधिकभाव है और परनिमित्तके बिना जो भाव हो उसका नाम स्वभावभाव है। जैसे—जलको अग्निका निमित्त होनेपर उष्णपना हुआ वहाँ शीतलपनेका अभाव ही है; परन्तु अग्निका निमित्त मिटने पर शीतलता ही हो जाती है, इसलिये सदा-

काल जलका स्वभाव शीतल कहा जाता है, क्योंकि ऐसी शक्ति सदा पायी जाती है और व्यक्त होनेपर स्वभाव व्यक्त हुआ कहते हैं। कदाचित् व्यक्तरूप होता है। उसी प्रकार आत्माको कर्मका निमित्त होनेपर अन्य रूप हुआ वहाँ केवलज्ञानका अभाव ही है; परन्तु कर्मका निमित्त मिटने पर सर्वदा केवलज्ञान होजाता है; इसलिये सदाकाल आत्माका स्वभाव केवलज्ञान कहा जाता है; क्योंकि ऐसी शक्ति सदा पायी जाती है। व्यक्त होनेपर स्वभाव व्यक्त हुआ कहा जाता है। तथा जैसे—शीतल स्वभावके कारण उष्णजलको शीतल मानकर पानादि करे तो जलना ही होगा; उसी प्रकार केवलज्ञानस्वभावके कारण अशुद्ध आत्माको केवलज्ञानी मानकर अनुभव करे तो दुःखी ही होगा। इस प्रकार जो आत्माका केवलज्ञानादिरूप अनुभव करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं।

तथा रागादिक भाव अपनेको प्रत्यक्ष होनेपर भी भ्रमसे आत्माको रागादि रहित मानते हैं। सो पूछते हैं कि—ये रागादिक तो होते दिखायी देते हैं, ये किस द्रव्यके अस्तित्वमें हैं? यदि शरीर या कर्मरूप पुद्गलके अस्तित्वमें हों तो ये भाव अचेतन या मूर्तिक होंगे। परन्तु ये रागादिक तो प्रत्यक्ष चेतनता सहित अमूर्तिक भाव भासित होते हैं; इसलिये ये भाव आत्माहीके हैं। यही समयसार कलशमें कहा है :—

> कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
> रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः।
> नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
> जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः॥ २०३॥

इसका अर्थ यह है—रागादिरूप भावकर्म है सो किसीके द्वारा नहीं किया गया ऐसा नहीं है, क्योंकि यह कार्यभूत है। तथा जीव और कर्म प्रकृति इन दोनोंका भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि ऐसा हो तो अचेतनकर्मप्रकृतिको भी उस भावकर्मका फल सुख-दुःखका भोगना होगा, सो असंभव है। तथा अकेली कर्म प्रकृतिका भी यह कर्तव्य नहीं है, क्योंकि उसके अचेतनपना प्रगट है; इसलिये इस रागादिकका जीव ही कर्ता है और यह रागादिक जीवहीका कर्म है; क्योंकि भावकर्म तो चेतनाका अनुसारी है, चेतना बिना नहीं होता, और पुद्गल ज्ञाता है नहीं। इस प्रकार रागादिकभाव जीवके अस्तित्वमें हैं। अब, जो रागादिकभावोंका निमित्त कर्महीको मानकर अपनेको रागादिकका अकर्त्ता मानते हैं वे कर्त्ता तो आप हैं, परन्तु आपको निरुद्यमी होकर प्रमादी रहना है, इसलिये कर्महीका दोष ठहराते हैं। सो यह दुःखदायक भ्रम है। ऐसा ही समयसारके कलशमें कहा है—

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥ २२१ ॥

इसका अर्थः—जो जीव रागादिककी उत्पत्तिमें परद्रव्यहीका निमित्तपना मानते हैं, वे जीव शुद्धज्ञानसे रहित हैं अन्धबुद्धि है जिनकी ऐसे होते हुए मोहनदीके पार नहीं उतरते हैं। तथा समयसारके "सर्व विशुद्धज्ञान अधिकार" में जो आत्माको अकर्त्ता मानता है और यह कहता है कि—कर्म ही जगाते-सुलाते हैं, परघात कर्मसे हिंसा है, वेदकर्मसे अब्रह्म है, इसलिये कर्म ही कर्ता है, उस जैनीको सांख्यमती कहा है। जैसे—सांख्यमती आत्माको शुद्धमानकर स्वच्छन्द होता है, उसी प्रकार यह हुआ। तथा इस श्रद्धानसे यह दोष हुआ कि—रागादिकको अपना नहीं जाना, अपनेको अकर्ता माना, तब रागादिक होनेका भय नहीं रहा तथा रागादिकको मिटानेका उपाय करना नहीं रहा; तब स्वच्छन्द होकर खोटे कर्मोंका बन्ध करके अनन्त संसारमें रुलता है।

यहाँ प्रश्न है कि—समयसारमें ही ऐसा कहा है—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः* ।

इसका अर्थ—वर्णादिक अथवा रागादिक भाव हैं वे सभी इस आत्मासे भिन्न हैं। तथा वहाँ रागादिकको पुद्गलमय कहा है। तथा अन्यशास्त्रोंमें भी आत्माको रागादिकसे भिन्न कहा है। सो वह किस प्रकार है?

उत्तरः—रागादिकभाव परद्रव्यके निमित्तसे औपाधिकभाव होते हैं, और यह जीव उन्हें स्वभाव जानता है। जिसे स्वभाव जाने उसे बुरा कैसे मानेगा और उसके नाशका उद्यम किसलिये करेगा? इसलिये यह श्रद्धान भी विपरीत है। उसे छुड़ानेके लिये स्वभावकी अपेक्षा रागादिकको भिन्न कहा है और निमित्तकी मुख्यतासे पुद्गलमय कहा है। जैसे—वैद्य रोग मिटाना चाहता है; यदि शीतकी अधिकता देखता है तब उष्ण औषधि बतलाता है और यदि आतापकी अधिकता देखता है तब शीतल औषधि बतलाता है। उसी प्रकार श्री गुरु रागादिक छुड़ाना चाहते हैं; जो रागादिकको परका मानकर स्वच्छन्द होकर निरुद्यमी होता है, उसे उपादान कारणकी मुख्यतासे रागादिक आत्माके हैं—ऐसा श्रद्धान कराया है; तथा जो रागादिकको अपना स्वभाव मानकर

---

* वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥ ३७ ॥

उनके नाशका उद्यम नहीं करता उसे निमित्त कारणकी मुख्यतासे रागादिक परभाव हैं ऐसा श्रद्धान कराया है। दोनों विपरीत श्रद्धानोंसे रहित होनेपर सत्य श्रद्धान होगा तब ऐसा मानेगा कि—ये रागादिक भाव आत्माका स्वभाव तो नहीं हैं, कर्मके निमित्तसे आत्माके अस्तित्वमें विभाव पर्यायरूपसे उत्पन्न होते हैं, निमित्त मिटने पर इनका नाश होनेसे स्वभावभाव रह जाता है, इसलिये इनके नाशका उद्यम करना।

यहाँ प्रश्न है कि—यदि यह कर्मके निमित्तसे होते हैं तो कर्मका उदय रहेगा तब तक यह विभाव दूर कैसे होंगे ? इसलिये इसका उद्यम करना तो निरर्थक है ?

उत्तरः—एक कार्य होनेमें अनेक कारण चाहिये। उनमें जो कारण बुद्धिपूर्वक हों उन्हें तो उद्यम करके मिलाये, और अबुद्धिपूर्वक कारण स्वयमेव मिलें तब कार्य सिद्धि होती है। जैसे—पुत्र होनेका कारण बुद्धिपूर्वक तो विवाहादि करना है और अबुद्धिपूर्वक भवितव्य है। वहाँ पुत्रका अर्थी विवाहादिका तो उद्यम करे और भवितव्य स्वयमेव हो, तब पुत्र होगा उसी प्रकार विभाव दूर करनेके कारण बुद्धिपूर्वक तो तत्त्वविचारादि हैं और अबुद्धिपूर्वक मोहकर्मके उपशमादिक हैं। सो उसका अर्थी तत्त्वविचारादिकका तो उद्यम करे, और मोहकर्मके उपशमादिक स्वयमेव हों तब रागादिक दूर होते हैं।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि—जैसे विवाहादिक भी भवितव्य आधीन हैं, उसी प्रकार तत्त्वविचारादिक भी कर्मके क्षयोपशमादिकके आधीन हैं; इसलिये उद्यम करना निरर्थक है ?

उत्तरः—ज्ञानावरणका तो क्षयोपशम तत्त्वविचारादिक करने योग्य तेरे हुआ है; इसीलिये उपयोगको वहाँ लगानेका उद्यम कराते हैं। असंज्ञी जीवोंके क्षयोपशम नहीं है, तो उन्हें किसलिये उपदेश दें ?

तब वह कहता है—होनहार हो तो वहाँ उपयोग लगे, बिना होनहार कैसे लगे ?

उत्तरः—यदि ऐसा श्रद्धान है तो सर्वत्र किसी भी कार्यका उद्यम मत कर। तू खान-पान-व्यापारादिकका तो उद्यम करता है और यहाँ होनहार बतलाता है; इससे मालूम होता है कि तेरा अनुराग यहाँ नहीं है; मानादिकसे ऐसी झूठी बातें बनाता है। इस प्रकार जो रागादिक होते हुए आत्माको उनसे रहित मानते हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना।

तथा कर्म-नोकर्मका सम्बन्ध होते हुए आत्माको निर्बंध मानते हैं, सो इनका बन्धन प्रत्यक्ष देखा जाता है। ज्ञानावरणादिकसे ज्ञानादिकका घात देखा जाता है, शरीर द्वारा उसके अनुसार अवस्थाएँ होती देखी जाती हैं, फिर बन्धन कैसे नहीं है? यदि बन्धन न हो तो मोक्षमार्गी इनके नाशका उद्यम किसलिये करे?

यहाँ कोई कहे कि—शास्त्रोंमें आत्माको कर्म-नोकर्मसे भिन्न अबद्ध स्पृष्ट कैसे कहा है?

उत्तरः—सम्बन्ध अनेक प्रकारके हैं। वहाँ तादात्म्यसम्बन्धकी अपेक्षा आत्माको कर्म-नोकर्मसे भिन्न कहा है, क्योंकि द्रव्य पलटकर एक नहीं हो जाते, और इसी अपेक्षासे अबद्धस्पृष्ट कहा है। तथा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धकी अपेक्षा बन्धन है ही; उनके निमित्तसे आत्मा अनेक अवस्थाएँ धारण करता ही है; इसलिये अपनेको सर्वथा निर्बंध मानना मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ कोई कहे कि—हमें तो बन्ध-मुक्तिका विकल्प करना नहीं, क्योंकि शास्त्रमें ऐसा कहा है—

"जो बन्धउ मुक्कउ मुणइ, सो बंधइ णिभंतु।"

अर्थ—जो जीव बँधा और मुक्त हुआ मानता है वह निःसन्देह बँधता है। उससे कहते हैं:—

जो जीव केवल पर्यायदृष्टि होकर बन्धमुक्त अवस्थाहीको मानते हैं, द्रव्य स्वभावका ग्रहण नहीं करते उन्हें ऐसा उपदेश दिया है कि—द्रव्य स्वभावको न जानता हुआ जो जीव बँधा–मुक्त हुआ मानता है वह बँधता है। तथा यदि सर्वथा ही बन्ध–मुक्ति न हो तो यह जीव बँधता है—ऐसा क्यों कहे? तथा बन्धके नाशका–मुक्त होनेका उद्यम किसलिये किया जाये? और किसलिये आत्मानुभव किया जाये? इसलिये द्रव्यदृष्टिसे एकदशा है और पर्याय दृष्टिसे अनेक अवस्थाएँ होती हैं—ऐसा मानना योग्य है। ऐसे ही अनेक प्रकारसे केवल निश्चयनयके अभिप्रायसे विरुद्ध श्रद्धानादिक करता है। जिनवाणीमें तो नाना नयोंकी अपेक्षासे कहीं कैसा, कहीं कैसा निरूपण किया है, यह अपने अभिप्रायसे निश्चयनयकी मुख्यतासे जो कथन किया हो उसीको ग्रहण करके मिथ्यादृष्टिको धारण करता है। तथा जिनवाणीमें तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता होनेपर मोक्षमार्ग कहा है, सो इसके सम्यग्दर्शन-ज्ञानमें सात तत्त्वोंका श्रद्धान और जानना होना चाहिये, सो उनका विचार नहीं है और चारित्रमें रागादिक दूर करना

चाहिये उसका उद्यम नहीं है; एक अपने आत्माके शुद्ध अनुभवनको ही मोक्षमार्ग जानकर सन्तुष्ट हुआ है। उसका अभ्यास करनेको अन्तरंगमें ऐसा चिंतवन करता रहता है कि—मैं सिद्धसमान शुद्ध हूँ, केवलज्ञानादि सहित हूँ, द्रव्यकर्म, नोकर्म रहित हूँ, परमानन्दमय हूँ, जन्म-मरणादि दुःख मेरे नहीं हैं—इत्यादि चिंतवन करता है। सो यहाँ पूछते हैं कि—यह चिंतवन यदि द्रव्यदृष्टिसे करते हो, तो द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध सर्व पर्यायोंका समुदाय है; तुम शुद्ध ही अनुभवन किसलिये करते हो ? और पर्यायदृष्टिसे करते हो तो तुम्हारे तो वर्तमान अशुद्ध पर्याय है, तुम अपनेको शुद्ध कैसे मानते हो ? तथा यदि शक्तिअपेक्षा शुद्ध मानते हो तो, 'मैं ऐसा होने योग्य हूँ'—ऐसा मानो; 'मैं ऐसा हूँ'—ऐसा क्यों मानते हो ? इसलिये अपनेको शुद्धरूप चिंतवन करना भ्रम है। कारण कि—तुमने अपनेको सिद्ध समान माना तो यह संसार अवस्था किसकी है ? और तुम्हारे केवलज्ञानादि हैं तो यह मतिज्ञानादिक किसके हैं ? और द्रव्यकर्म नोकर्म रहित हो, तो ज्ञानादिककी व्यक्तता क्यों नहीं है ? परमानन्दमय हो तो अब कर्तव्य क्या रहा ? जन्म-मरणादि दुःख नहीं हैं, तो दुःखी कैसे होते हो ?—इसलिये अन्य अवस्थामें अन्य अवस्था मानना भ्रम है।

यहाँ कोई कहे कि—शास्त्रमें शुद्ध चिंतवन करनेका उपदेश कैसे दिया है ?

उत्तरः—एक तो द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना है, एक पर्याय अपेक्षा शुद्धपना है। वहाँ द्रव्य अपेक्षा तो परद्रव्यसे भिन्नपना और अपने भावोंसे अभिन्नपना-उसका नाम शुद्धपना है। और पर्याय अपेक्षा औपाधिकभावोंका अभाव होनेका नाम शुद्धपना है। सो शुद्धचिंतवनमें द्रव्यअपेक्षा शुद्धपना ग्रहण किया है। वही समयसार व्याख्यामें कहा है—

एष एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्यते।

(गाथा–६ टीका)

इसका अर्थ यह है कि—आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। सो यही समस्त परद्रव्योंके भावोंसे भिन्नपने द्वारा सेवन किया गया शुद्ध ऐसा कहा जाता है।

तथा वहीं ऐसा कहा है—

*समस्तकारक चक्रप्रक्रियोत्तीर्ण निर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः।

(गाथा–७३ टीका)

---

* आत्मख्यातौ तु 'सकल' इति पाठः प्रतिभाति।

अर्थः—समस्त ही कर्ता, कर्म आदि कारकोंके समूहकी प्रक्रियासे पारंगत ऐसी निर्मल अनुभूति, जो अभेदज्ञान तन्मात्र है, उससे शुद्ध है। इसलिये ऐसा शुद्ध शब्दका अर्थ जानना। तथा इसी प्रकार केवल शब्दका अर्थ जानना—'जो परभावसे भिन्न निःकेवल आप ही'—उसका नाम केवल है। इसी प्रकार अन्य यथार्थ अर्थका अवधारण करना। पर्यायअपेक्षा शुद्धपना माननेसे तथा अपनेको केवली माननेसे महाविपरीतता होती है, इसलिये अपनेको द्रव्य-पर्यायरूप अवलोकन करना। द्रव्यसे सामान्यस्वरूप अवलोकन करना, पर्यायसे अवस्था विशेष अवधारण करना। इसी प्रकार चिंतवन करनेसे सम्यग्दृष्टि होता है, क्योंकि सच्चा अवलोकन किये बिना सम्यग्दृष्टि नाम कैसे प्राप्त करे? तथा मोक्षमार्गमें तो रागादिक मिटानेका श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करना है; वह तो विचार ही नहीं है, अपने शुद्ध अनुभवनसे ही अपनेको सम्यग्दृष्टि मानकर अन्य सर्व साधनोंका निषेध करता है।

[शास्त्राभ्यासकी निरर्थकताका निषेध]

शास्त्राभ्यास करना निरर्थक बतलाता है, द्रव्यादिकके तथा गुणस्थान, मार्गणा, त्रिलोकादिकके विचारको विकल्प ठहराता है, तपश्चरण करनेको वृथा क्लेश करना मानता है, व्रतादिक धारण करनेको बन्धनमें पड़ना ठहराता है, पूजनादि कार्योंको शुभास्रव जानकर हेय प्ररूपित करता है,—इत्यादि सर्व साधनोंको उठाकर प्रमादी होकर परिणमित होता है। यदि शास्त्राभ्यास निरर्थक हो तो मुनियोंके भी तो ध्यान और अध्ययन दो ही कार्य मुख्य हैं। ध्यानमें उपयोग न लगे तब अध्ययनहीमें उपयोगको लगाते हैं, बीचमें अन्य स्थान उपयोग लगाने योग्य नहीं है। तथा शास्त्राभ्यास द्वारा तत्त्वोंको विशेष जाननेसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान निर्मल होता है। तथा वहाँ जब तक उपयोग रहे तब तक कषाय मन्द रहे और आगामी वीतरागभावोंकी वृद्धि हो। ऐसे कार्यको निरर्थक कैसे मानें?

तथा वह कहता है कि—जिनशास्त्रोंमें अध्यात्म उपदेश है उनका अभ्यास करना, अन्य शास्त्रोंके अभ्याससे कोई सिद्धि नहीं है?

उससे कहते हैं—यदि तेरे सच्ची दृष्टि हुई है तो सभी जैन शास्त्र कार्यकारी हैं। वहाँ भी मुख्यतः अध्यात्म शास्त्रोंमें तो आत्मस्वरूपका मुख्य कथन है, सो सम्यग्दृष्टि होनेपर आत्मस्वरूपका निर्णय तो हो चुका, तब तो ज्ञानकी निर्मलताके अर्थ व उपयोगको मंदकषायरूप रखनेके अर्थ अन्य शास्त्रोंका अभ्यास मुख्य चाहिये। तथा आत्मस्वरूप-

का निर्णय हुआ है, उसे स्पष्ट रखनेके अर्थ अध्यात्मशास्त्रोंका भी अभ्यास चाहिये; परन्तु अन्य शास्त्रोंमें अरुचि तो नहीं होना चाहिये। जिसको अन्य शास्त्रोंकी अरुचि है उसे अध्यात्मकी रुचि सच्ची नहीं है। जैसे—जिसके विषयासक्तपना हो, वह विषयासक्त पुरुषोंकी कथा भी रुचिपूर्वक सुने, वा विषयके विशेषको भी जाने वा विषयके आचरणमें जो साधन हों उन्हें भी हितरूप माने, व विषयके स्वरूपको भी पहिचाने, उसी प्रकार जिसके आत्मरुचि हुई हो, वह आत्मरुचिके धारक तीर्थंकरादिके पुराणोंको भी जाने तथा आत्माके विशेष जाननेके लिये गुणस्थानादिकको भी जाने। तथा आत्मआचरणमें जो व्रतादिक साधन हैं उनको भी हितरूप माने। तथा आत्माके स्वरूपको भी पहिचाने। इसलिये चारों ही अनुयोग कार्यकारी हैं। तथा उनका अच्छा ज्ञान होनेके अर्थ शब्द न्यायशास्त्रादिकको भी जानना चाहिये। इसलिये अपनी शक्तिके अनुसार सभीका थोड़ा या बहुत अभ्यास करना योग्य है।

फिर वह कहता है—'पद्मनन्दि पच्चीसी' में ऐसा कहा है कि—आत्मस्वरूपसे निकलकर बाह्य शास्त्रोंमें बुद्धि विचरती है, सो वह बुद्धि व्यभिचारिणी है ?

उत्तरः—यह सत्य कहा है। बुद्धि तो आत्माकी है, उसे छोड़कर परद्रव्य—शास्त्रोंमें अनुरागिनी हुई, उसे व्यभिचारिणी ही कहा जाता है। परन्तु जैसे—स्त्री शीलवती रहे तो योग्य ही है; और न रहा जाये तब उत्तम पुरुषको छोड़कर चांडालादिकका सेवन करनेसे तो अत्यन्त निंदनीय होगी, उसी प्रकार बुद्धि आत्मस्वरूपमें प्रवर्ते तो योग्य ही है, और न रहा जाये तो प्रशस्त शास्त्रादि परद्रव्योंको छोड़कर अप्रशस्त विषयादिमें लगे तो महानिन्दनीय ही होगी। सो मुनियोंकी भी स्वरूपमें बहुत काल बुद्धि नहीं रहती, तो तेरी कैसे रहा करे ? इसलिये शास्त्राभ्यासमें उपयोग लगाना योग्य है।

तथा यदि द्रव्यादिकके और गुणस्थानादिकके विचारको विकल्प ठहराता है, सो विकल्प तो है; परन्तु निर्विकल्प उपयोग न रहे तब इन विकल्पोंको न करे तो अन्य विकल्प होंगे, वे बहुत रागादि गर्भित होते हैं। तथा निर्विकल्पदशा सदा रहती नहीं है; क्योंकि छद्मस्थका उपयोग एकरूप उत्कृष्ट रहे तो अन्तर्मुहूर्त रहता है। तथा तू कहेगा कि—मैं आत्मस्वरूपहीका चितवन अनेक प्रकार किया करूँगा; सो सामान्य चितवनमें तो अनेक प्रकार बनते नहीं हैं, और विशेष करेगा तो द्रव्य-गुण-पर्याय, गुणस्थान, मार्गणा, शुद्ध-अशुद्ध अवस्था इत्यादि विचार होगा। और सुन, केवल आत्मज्ञानहीसे तो

मोक्षमार्ग होना नहीं है। सात तत्त्वोंका श्रद्धान-ज्ञान होनेपर तथा रागादिक दूर करने पर मोक्षमार्ग होगा। सो सात तत्त्वोंके विशेष जाननेको जीव, अजीवके विशेष तथा कर्मके आस्रव, बंधादिकके विशेष अवश्य जानने योग्य हैं, जिनसे सम्यग्दर्शन-ज्ञानकी प्राप्ति हो। और वहाँ पश्चात् रागादिक दूर करना। सो जो रागादिक बढ़ानेके कारण हैं उन्हें छोड़कर जो रागादिक घटानेके कारण हों वहाँ उपयोगको लगाना। सो द्रव्यादिक और गुणस्थानादिकके विचार रागादिक घटानेके कारण हैं। इनमें कोई रागादिकका निमित्त नहीं है। इसलिये सम्यग्दृष्टि होनेके पश्चात् भी वहाँ ही उपयोग लगाना।

फिर वह कहता है—रागादि मिटानेके कारण हों उनमें तो उपयोग लगाना, परन्तु त्रिलोकवर्ती जीवोंकी गति आदिका विचार करना, कर्मके बंध, उदय, सत्तादिके बहुत विशेष जानना तथा त्रिलोकके आकार, प्रमाणादिक जानना—इत्यादि विचार क्या कार्यकारी हैं?

उत्तर:—इनके भी विचार करनेसे रागादिक बढ़ते नहीं हैं, क्योंकि वे ज्ञेय इसको इष्ट-अनिष्टरूप हैं नहीं, इसलिये वर्तमान रागादिकके कारण नहीं हैं। तथा इनको विशेष जाननेसे तत्त्वज्ञान निर्मल हो, इसलिये आगामी रागादिक घटानेको ही कारण हैं, इसलिये कार्यकारी हैं।

फिर वह कहता है—स्वर्ग-नरकादिको जाने वहाँ तो राग-द्वेष होता है?

समाधान:—ज्ञानीके तो ऐसी बुद्धि होती नहीं है, अज्ञानीके होती है। वहाँ पाप छोड़कर पुण्य-कार्यमें लगे वहाँ किंचित् रागादिक घटते ही हैं।

फिर वह कहता है—शास्त्रमें ऐसा उपदेश है कि प्रयोजनभूत थोड़ा ही जानना कार्यकारी है, इसलिये बहुत विकल्प किसलिये करें?

उत्तर:—जो जीव अन्य बहुत जानते हैं और प्रयोजनभूतको नहीं जानते; अथवा जिनकी बहुत जाननेकी शक्ति नहीं है, उन्हें यह उपदेश दिया है। तथा जिसकी बहुत जाननेकी शक्ति हो उससे तो यह नहीं कहा कि बहुत जाननेसे बुरा होगा? जितना बहुत जानेगा उतना प्रयोजनभूत जानना निर्मल होगा। क्योंकि शास्त्रमें ऐसा कहा है—

सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्।

इसका अर्थ यह है—सामान्य शास्त्रसे विशेष बलवान है। विशेषसे ही अच्छी तरह निर्णय होता है, इसलिये विशेष जानना योग्य है। तथा वह तपश्चरणको वृथा

क्लेश ठहराता है; सो मोक्षमार्गी होनेपर तो संसारी जीवोंसे उल्टी परिणति चाहिये। संसारियोंको इष्ट-अनिष्ट सामग्रीसे राग-द्वेष होता है, इसके राग-द्वेष नहीं होना चाहिये। वहाँ राग छोड़नेके अर्थ इष्ट सामग्री भोजनादिकका त्यागी होता है और द्वेष छोड़नेके अर्थ अनिष्ट सामग्री अनशनादिको अंगीकार करता है। स्वाधीनरूपसे ऐसा साधन हो तो पराधीन इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलने पर भी राग-द्वेष न हो। सो होना तो ऐसा ही चाहिये, परन्तु तुझे अनशनादिसे द्वेष हुआ, इसलिये उसे क्लेश ठहराया। जब यह क्लेश हुआ, तब भोजन करना सुख स्वयमेव ठहरा और वहाँ राग आया। सो ऐसी परिणति तो संसारियोंके पायी ही जाती है; तूने मोक्षमार्गी होकर क्या किया?

यदि तू कहेगा कि—कितने ही सम्यग्दृष्टि भी तपश्चरण नहीं करते हैं?

उत्तरः—कारण विशेषसे तप नहीं हो सकता, परन्तु श्रद्धानमें तो तपको भला जानते हैं और उसके साधनका उद्यम रखते हैं। तुझे तो श्रद्धान यह है कि—तप करना क्लेश है। तथा तपका तेरे उद्यम नहीं है इसलिये तुझे सम्यग्दृष्टि कैसे हो?

फिर वह कहता है—शास्त्रमें ऐसा कहा है कि—तप आदिका क्लेश करता है तो करो, ज्ञान बिना सिद्धि नहीं है।

उत्तरः—जो जीव तत्त्वज्ञानसे तो पराङ्मुख हैं, तपहीसे मोक्ष मानते हैं, उनको ऐसा उपदेश दिया है, तत्त्वज्ञानके बिना केवल तपहीसे मोक्षमार्ग नहीं होता। तथा तत्त्वज्ञान होनेपर रागादिक मिटानेके अर्थ तप करनेका तो निषेध है नहीं। यदि निषेध हो तो गणधरादिक तप किसलिये करें? इसलिये अपनी शक्ति अनुसार तप करना योग्य है। तथा वह व्रतादिकको बन्धन मानता है, सो स्वच्छन्दवृत्ति तो अज्ञान अवस्थामें ही थी, ज्ञान प्राप्त करने पर तो परिणतिको रोकता ही है। तथा उस परिणतिको रोकनेके अर्थ बाह्य हिंसादिक कारणोंका त्यागी अवश्य होना चाहिये।

फिर वह कहता है—हमारे परिणाम तो शुद्ध हैं; बाह्य त्याग नहीं किया तो नहीं किया?

उत्तरः—यदि यह हिंसादि कार्य तेरे परिणाम बिना स्वयमेव होते हों तो हम ऐसा मानें। और यदि तू अपने परिणामसे कार्य करता है, तो वहाँ तेरे परिणाम शुद्ध कैसे कहें? विषय-सेवनादि क्रिया अथवा प्रमादरूप गमनादि क्रिया परिणाम बिना कैसे हो? वह क्रिया तो स्वयं उद्यमी होकर तू करता है और वहाँ हिंसादिक होते हैं

उन्हें गिनना नहीं है, परिणाम शुद्ध मानता है। सो ऐसी मान्यतासे तेरे परिणाम अशुद्ध ही रहेंगे।

फिर वह कहता है—परिणामोंको रोकें, बाह्य हिंसादिक भी कम करें, परन्तु प्रतिज्ञा करनेमें बन्धन होता है, इसलिये प्रतिज्ञारूप व्रत अंगीकार नहीं करना ?

समाधान:—जिस कार्यको करनेकी आशा रहे उसकी प्रतिज्ञा नहीं लेते। और आशा रहे उससे राग रहता है। उस रागभावसे बिना कार्य किये भी अविरतिसे कर्मबंध होता रहता है; इसलिये प्रतिज्ञा अवश्य करने योग्य है। तथा कार्य करनेका बंधन हुए बिना परिणाम कैसे रुकेंगे ? प्रयोजन पड़ने पर तद्रूप परिणाम होंगे ही होंगे, तथा बिना प्रयोजन पड़े उसकी आशा रहती है। इसलिये प्रतिज्ञा करना योग्य है।

फिर वह कहता है—न जाने कैसा उदय आये और बादमें प्रतिज्ञा भंग हो, तो महापाप लगता है। इसलिये प्रारब्ध अनुसार कार्य बने सो बनो, प्रतिज्ञाका विकल्प नहीं करना ?

समाधान:—प्रतिज्ञा ग्रहण करते हुए जिसका निर्वाह होता न जाने, वह प्रतिज्ञा तो न करे, प्रतिज्ञा लेते ही यह अभिप्राय रहे कि—प्रयोजन पड़ने पर छोड़ दूँगा, तो वह प्रतिज्ञा क्या कार्यकारी हुई ? प्रतिज्ञा ग्रहण करते हुए तो यह परिणाम है कि मरणान्त होनेपर भी नहीं छोड़ूँगा, तो ऐसी प्रतिज्ञा करना युक्त ही है। बिना प्रतिज्ञा किये अविरत सम्बन्धी बंध नहीं मिटता। तथा आगामी उदयके भयसे प्रतिज्ञा न ली जाये, तो उदयको विचारनेसे सर्व ही कर्तव्यका नाश होता है। जैसे—अपनेको पचता जाने उतना भोजन करे। कदाचित् किसीको भोजनसे अजीर्ण हुआ हो, और उस भयसे भोजन करना छोड़ दे, तो मरण ही होगा। उसी प्रकार अपनेसे निर्वाह होता जाने उतनी प्रतिज्ञा करे। कदाचित् किसीके प्रतिज्ञासे भ्रष्टपना हुआ हो, और उस भयसे प्रतिज्ञा करना छोड़ दे तो असंयम ही होगा। इसलिये जो बन सके वही प्रतिज्ञा लेना योग्य है। तथा प्रारब्ध अनुसार तो कार्य बनता ही है, तू उद्यमी होकर भोजनादि किसलिये करता है ? यदि वहाँ उद्यम करता है तो त्याग करनेका भी उद्यम करना योग्य ही है। जब प्रतिमावत् तेरी दशा हो जायेगी तब हम प्रारब्ध ही मानेंगे, तेरा कर्तव्य नहीं मानेंगे। इसलिये स्वच्छन्द होनेकी युक्ति किसलिये बनाता है ? बने वह प्रतिज्ञा करके व्रत धारण करना योग्य ही है।

[शुभको छोड़कर अशुभमें प्रवर्तना योग्य नहीं है]

तथा वह पूजनादि कार्यको शुभास्रव जानकर हेय मानता है, सो यह सत्य ही है; परन्तु यदि इन कार्योंको छोड़कर शुद्धोपयोगरूप हो तो भला ही है, और विषय-कषायरूप-अशुभरूप प्रवर्ते तो अपना बुरा ही किया। शुभोपयोगसे स्वर्गादि हों अथवा भली वासनासे या भले निमित्तसे कर्मके स्थिति-अनुभाग घट जायें तो सम्यक्त्वादिकी भी प्राप्ति हो जाये। और अशुभोपयोगसे नरक, निगोदादि हों, अथवा बुरी वासनासे या बुरे निमित्तसे कर्मके स्थिति-अनुभाग बढ़ जायें तो सम्यक्त्वादिक महा दुर्लभ हो जायें। तथा शुभोपयोग होनेसे कषाय मन्द होती है और अशुभोपयोग होनेसे तीव्र होती है, सो मंदकषायका कार्य छोड़कर तीव्रकषायका कार्य करना तो ऐसा है जैसे कड़वी वस्तु न खाना और विष खाना। सो यह अज्ञानता है।

फिर वह कहता है—शास्त्रमें शुभ-अशुभको समान कहा है, इसलिये हमें तो विशेष जानना योग्य नहीं है ?

समाधान:—जो जीव शुभोपयोगको मोक्षका कारण मानकर उपादेय मानते हैं और शुद्धोपयोगको नहीं पहिचानते, उन्हें शुभ-अशुभ दोनोंको अशुद्धताकी अपेक्षा व बंध कारणकी अपेक्षा समान बतलाया है। तथा शुभ-अशुभका परस्पर विचार करें तो शुभभावोंमें कषाय मन्द होती है, इसलिये बंध हीन होता है, अशुभभावोंमें कषाय तीव्र होती है इसलिये बंध बहुत होता है।—इस प्रकार विचार करने पर अशुभकी अपेक्षा सिद्धान्तमें शुभको भला भी कहा जाता है। जैसे—रोग तो थोड़ा या बहुत बुरा ही है; परन्तु बहुत रोगकी अपेक्षा थोड़े रोगको भला भी कहते हैं। इसलिये शुद्धोपयोग न हो, तब अशुभसे छूटकर शुभमें प्रवर्तन योग्य है, शुभको छोड़कर अशुभमें प्रवर्तन योग्य नहीं है।

फिर वह कहता है—कामादिक या क्षुधादिक मिटानेको अशुभरूप प्रवृत्ति तो हुए बिना रहती नहीं है, और शुभ प्रवृत्ति इच्छा करके करना पड़ती है, ज्ञानीको इच्छा चाहिये नहीं, इसलिये शुभका उद्यम नहीं करना ?

उत्तर:—शुभप्रवृत्तिमें उपयोग लगनेसे तथा उसके निमित्तसे विरागता बढ़नेसे कामादिक हीन होते हैं और क्षुधादिकमें भी संक्लेश थोड़ा होता है। इसलिये शुभोपयोगका अभ्यास करना। उद्यम करने पर भी यदि कामादिक व क्षुधादिक पीड़ित करते हैं तो उनके अर्थ जिससे थोड़ा पाप लगे वह करना। परन्तु शुभोपयोगको छोड़कर

निःशंक पापरूप प्रवर्तन करना तो योग्य नहीं है। और तू कहता है—ज्ञानीके इच्छा नहीं है और शुभोपयोग इच्छा करनेसे होता है; सो जिस प्रकार कोई पुरुष किंचित्मात्र भी अपना धन देना नहीं चाहता, परन्तु जहाँ बहुत धन जाता जाने वहाँ अपनी इच्छासे थोड़ा धन देनेका उपाय करता है। उसी प्रकार ज्ञानी किंचित्मात्र भी कषायरूप कार्य नहीं करना चाहता; परन्तु जहाँ बहुत कषायरूप अशुभ कार्य होता जाने वहाँ इच्छा करके अल्प कषायरूप शुभ कार्य करनेका उद्यम करता है। इस प्रकार यह बात सिद्ध हुई कि—जहाँ शुद्धोपयोग होता जाने वहाँ तो शुभकार्यका निषेध ही है, और जहाँ अशुभोपयोग होता जाने वहाँ शुभका उपाय करके अंगीकार करना योग्य है।—इस प्रकार अनेक व्यवहारकार्योंका उत्थापन करके जो स्वच्छन्दपनेको स्थापित करता है, उसका निषेध किया।

[केवल निश्चयाभासके अवलम्बी जीवकी प्रवृत्ति]

अब, उसी केवल निश्चयावलम्बी जीवकी प्रवृत्ति बतलाते हैं :—

एक शुद्धात्माको जाननेसे ज्ञानी हो जाते हैं—अन्य कुछ भी नहीं चाहिये,—ऐसा जानकर कभी एकांतमें बैठकर ध्यान मुद्रा धारण करके 'मैं सर्व कर्मोपाधिरहित सिद्धसमान आत्मा हूँ'—इत्यादि विचारसे सन्तुष्ट होता है; परन्तु यह विशेषण किस प्रकार सम्भव है—ऐसा विचार नहीं है। अथवा अचल, अखण्ड, अनुपमादि विशेषण द्वारा आत्माको ध्याता है, सो यह विशेषण अन्य द्रव्योंमें भी सम्भवित हैं। तथा यह विशेषण किस अपेक्षासे हैं सो विचार नहीं है। तथा कदाचित् सोते, बैठते जिस-तिस अवस्थामें ऐसा विचार रखकर अपनेको ज्ञानी मानता है। तथा ज्ञानीके आस्रव-बंध नहीं है—ऐसा आगममें कहा है, इसलिये कदाचित् विषय-कषायरूप होता है, वहाँ बंध होनेका भय नहीं है, स्वच्छन्द हुआ रागादिरूप प्रवर्तता है। सो स्व-परको जाननेका तो चिह्न वैराग्यभाव है। सो समयसारमें कहा है:—

"सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः।" [1]

अर्थः—सम्यग्दृष्टिके नियमसे ज्ञान-वैराग्यशक्ति होती है। फिर कहा है:—

---

1. सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्॥
(समयसार क० १३६)

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोप्याचरन्तु ।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्व शून्याः ÷ ॥१३७॥

अर्थः—स्वयमेव यह मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मेरे कदाचित् बन्ध नहीं है—इस प्रकार ऊँचा फुलाया है मुँह जिन्होंने—ऐसे रागी वैराग्य शक्ति रहित आचरण करते हैं तो करो, तथा पाँच समितिकी सावधानीका अवलम्बन लेते हैं तो लो, परन्तु वे ज्ञानशक्ति विना आज भी पापी ही हैं। यह दोनों आत्मा-अनात्माके ज्ञानरहितपनेसे सम्यक्त्वरहित ही हैं।

फिर पूछते हैं—परको पर जाना तो परद्रव्योंमें रागादि करनेका क्या प्रयोजन रहा ? वहाँ वह कहता है—मोहके उदयसे रागादिक होते हैं। पूर्वकालमें भरतादिक ज्ञानी हुए, उनके भी विषय-कषायरूप कार्य हुआ सुनते हैं ?

उत्तरः—ज्ञानीके भी मोहके उदयसे रागादिक होते हैं यह सत्य है, परन्तु बुद्धिपूर्वक रागादिक नहीं होते। उसका विशेष वर्णन आगे करेंगे। तथा जिसके रागादिक होनेका कुछ विषाद नहीं है, उसके नाशका उपाय भी नहीं है, उसको रागादिक बुरे हैं—ऐसा श्रद्धान भी नहीं सम्भवित होता। और ऐसे श्रद्धान विना सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ? जीवाजीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान करनेका प्रयोजन तो इतना ही श्रद्धान है। तथा भरतादिक सम्यग्दृष्टियोंके विषय-कषायोंकी प्रवृत्ति जैसे होती है वह भी विशेषरूपसे आगे कहेंगे। तू उनके उदाहरणसे स्वच्छन्द होगा तो तुझे तीव्र आस्रव-बन्ध होगा। वही कहा है—

मग्नाः ज्ञाननयैषिणोपि यदि ते स्वच्छन्द मन्दोद्यमाः * ।

अर्थः—ज्ञाननयका अवलोकन करनेवाले भी जो स्वच्छन्द मन्द उद्यमी होते हैं वे संसारमें डूबते हैं। और भी वहाँ "ज्ञानिन कर्म्म न जातु कर्तुमुचितं" इत्यादि कलशमें

÷ समयसार कलशमें "शून्याः" के स्थान पर "रिक्ताः" पाठ है।

* मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये।
मग्नाः ज्ञाननयैषिणोपि यदि ते स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ॥
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं।
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥
(—समयसार कलश—१११)

तथा—"तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनः"—इत्यादि कलशमें स्वच्छन्दी होनेका निषेध किया है। बिना इच्छाके जो कार्य हो वह कर्मबन्धका कारण नहीं है। अभिप्रायसे कर्ता होकर करे और ज्ञाता रहे यह तो बनता नहीं है—इत्यादि निरूपण किया है। इसलिये रागादिकको बुरे—अहितकारी जानकर उनके नाशके अर्थ उद्यम रखना। वहाँ अनुक्रमसे पहले तीव्र रागादि छोड़नेके अर्थ अशुभ कार्य छोड़कर शुभमें लगना, और पश्चात् मन्दरागादि भी छोड़नेके अर्थ शुभको भी छोड़कर शुद्धोपयोगरूप होना।

तथा कितने ही जीव अशुभमें क्लेश मानकर व्यापारादि कार्य व स्त्री सेवनादि कार्योंको भी घटाते हैं, तथा शुभको हेय जानकर शास्त्राभ्यासादि कार्योंमें नहीं प्रवर्तते हैं। वीतरागभावरूप शुद्धोपयोगको प्राप्त हुए नहीं हैं, इसलिये वे जीव अर्थ, काम, धर्म, मोक्षरूप पुरुषार्थसे रहित होते हुए आलसी—निरुद्यमी होते हैं। उनकी निन्दा पंचास्तिकायकी व्याख्यामें की है। उनके लिये दृष्टान्त दिया है कि—जैसे बहुत खीर-शक्कर खाकर पुरुष आलसी होता है व जैसे वृक्ष निरुद्यमी हैं, वैसे वे जीव आलसी—निरुद्यमी हुए हैं।

अब इनसे पूछते हैं कि—तुमने बाह्य तो शुभ-अशुभ कार्योंको घटाया, परन्तु उपयोग तो बिना आलम्बनके रहता नहीं है; तो तुम्हारा उपयोग कहाँ रहता है? सो कहो। यदि वह कहे कि—आत्माका चिंतवन करता है; तो शास्त्रादि द्वारा अनेक प्रकारसे आत्माके विचारको तो तुमने विकल्प ठहराया, और आत्माका कोई विशेषण जाननेमें बहुत काल लगता नहीं है, बारम्बार एकरूप चिंतवनमें छद्मस्थका उपयोग लगता नहीं है, गणधरादिकका भी उपयोग इस प्रकार नहीं रह सकता, इसलिये वे भी शास्त्रादि कार्योंमें प्रवर्तते हैं, तेरा उपयोग गणधरादिकसे भी कैसे शुद्ध हुआ मानें? इसलिये तेरा कहना प्रमाण नहीं है। जैसे कोई व्यापारादिमें निरुद्यमी होकर निठल्ला जैसे-तैसे काल गँवाता है, उसी प्रकार तू धर्ममें निरुद्यमी होकर प्रमाद सहित यों ही काल गँवाता है। कभी कुछ चिंतवन-सा करता है, कभी बातें बनाता है, कभी भोजनादि करता है, परन्तु अपना उपयोग निर्मल करनेके लिये शास्त्राभ्यास, तपश्चरण, भक्ति आदि कार्योंमें नहीं प्रवर्तता। सूना-सा होकर प्रमादी होनेका नाम शुद्धोपयोग ठहराता है। वहाँ क्लेश थोड़ा होनेसे जैसे कोई आलसी बनकर पड़े रहनेमें सुख माने वैसे आनन्द मानता है। अथवा जैसे कोई स्वप्नमें अपनेको राजा मानकर सुखी हो, उसी प्रकार अपनेको भ्रमसे सिद्ध समान शुद्ध मानकर स्वयं ही आनन्दित होता है। अथवा जैसे कहीं रति मानकर सुखी

होता है, उसी प्रकार कुछ विचार करनेमें रति मानकर सुखी होता है, उसे अनुभव जनित आनन्द कहता है। तथा जैसे कहीं अरति मानकर उदास होता है, उसी प्रकार व्यापारादिक, पुत्रादिकको खेदका कारण जानकर उनसे उदास रहता है और उसे वैराग्य मानता है; सो ऐसा ज्ञान-वैराग्य तो कषाय गर्भित है। वीतरागरूप उदासीन दशामें जो निराकुलता होती है, वह सच्चा आनन्द, ज्ञान, वैराग्य ज्ञानी जीवोंके चारित्र-मोहकी हीनता होनेपर प्रगट होता है। तथा वह व्यापारादिक क्लेश छोड़कर यथेष्ट भोजनादि द्वारा सुखी हुआ प्रवर्तता है और वहाँ अपनेको कषायरहित मानता है, परंतु इस प्रकार आनन्दरूप होनेसे तो रौद्रध्यान होता है। जहाँ सुखसामग्रीको छोड़कर दुःखसामग्रीका संयोग होनेपर संक्लेश न हो, राग-द्वेष उत्पन्न न हों, तब निःकषायभाव होता है।—ऐसी भ्रमरूप उनकी प्रवृत्ति पायी जाती है। इस प्रकार जो जीव केवल निश्चयाभासके अवलम्बी हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना। जैसे-वेदान्ती व सांख्यमती जीव केवल शुद्धात्माके श्रद्धानी हैं, उसी प्रकार इन्हें भी जानना। क्योंकि श्रद्धानकी समानताके कारण उनका उपदेश इन्हें इष्ट लगता है, इनका उपदेश उन्हें इष्ट लगता है।

[स्वद्रव्य-परद्रव्यके चिंतवनसे निर्जरा, बंध नहीं है।
रागादिकके घटनेसे निर्जरा और रागादिक होनेसे बंध है]

तथा उन जीवोंको ऐसा श्रद्धान है कि—केवल शुद्धात्माके चिंतवनसे तो संवर-निर्जरा होते हैं व मुक्तात्माके सुखका अंश वहाँ प्रगट होता है। तथा जीवके गुण-स्थानादि अशुद्ध भावोंका और अपने अतिरिक्त अन्य जीव-पुद्गलादिका चितवन करनेसे आस्रव-बन्ध होता है, इसलिये अन्य विचारसे पराङ्मुख रहते हैं। सो यह भी सत्यश्रद्धान नहीं है, क्योंकि शुद्ध स्वद्रव्यका चितवन करो या अन्य चितवन करो; यदि वीतरागतासहित भाव हों तो वहाँ संवर-निर्जरा ही है और जहाँ रागादिरूप भाव हों वहाँ आस्रव-बन्ध ही है। यदि परद्रव्यको जाननेसे ही आस्रव-बन्ध होते हों, तो केवली तो समस्त परद्रव्योंको जानते हैं, इसलिये उनके भी आस्रव-बन्ध होंगे।

फिर वह कहता है कि—छद्मस्थके तो परद्रव्य चितवनसे आस्रव-बन्ध होता है?—सो भी नहीं है, क्योंकि शुक्लध्यानमें भी मुनियोंको छहों द्रव्योंके द्रव्य-गुण-पर्यायोंका चितवन होनेका निरूपण किया है, और अवधि-मनःपर्यय आदिमें परद्रव्यको जाननेहीकी विशेषता होती है। तथा चौथे गुणस्थानमें कोई अपने स्वरूपका चितवन

करता है उसके भी आस्रव बंध अधिक है तथा गुणश्रेणी निर्जरा नहीं है। पाँचवें-छट्ठे गुणस्थानमें आहार विहारादि क्रिया होनेपर परद्रव्य चितवनसे भी आस्रव-बंध थोड़ा है और गुणश्रेणी निर्जरा होती रहती है। इसलिये स्वद्रव्य-परद्रव्यके चितवनसे निर्जरा बन्ध नहीं होते, रागादिक घटनेसे निर्जरा है और रागादिक होनेसे बन्ध है। उसे रागादिके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं है, इसलिये अन्यथा मानता है।

[निर्विकल्प दशा–विचार]

अब वह पूछता है कि—ऐसा है तो निर्विकल्प अनुभवदशामें नय-प्रमाण-निक्षेपादिकके तथा दर्शन-ज्ञानादिकके भी विकल्पोंका निषेध किया है—सो किस प्रकार है ?

उत्तरः—जो जीव इन्हीं विकल्पोंमें लग रहे हैं और अभेदरूप एक आत्माका अनुभव नहीं करते उन्हें ऐसा उपदेश दिया है कि—यह सर्व विकल्प वस्तुका निश्चय करनेमें कारण हैं, वस्तुका निश्चय होनेपर इनका प्रयोजन कुछ नहीं रहता। इसलिये इन विकल्पोंको भी छोड़कर अभेदरूप एक आत्माका अनुभवन करना। इनके विचार-रूप विकल्पोंमें ही फँसा रहना योग्य नहीं है। तथा वस्तुका निश्चय होनेके पश्चात् ऐसा नहीं है कि सामान्यरूप स्वद्रव्यहीका चितवन रहा करे। स्वद्रव्यका तथा परद्रव्यका सामान्यरूप और विशेषरूप जानना होता है, परन्तु वीतरागतासहित होता है, उसीका नाम निर्विकल्पदशा है।

वहाँ वह पूछता है—यहाँ तो बहुत विकल्प हुए, निर्विकल्प संज्ञा कैसे संभव है ?

उत्तरः—निर्विचार होनेका नाम निर्विकल्प नहीं है। क्योंकि छद्मस्थके जानना विचारसहित है; उसका अभाव माननेसे ज्ञानका अभाव होगा और तब जड़-पना हुआ, सो आत्माके होता नहीं है। इसलिये विचार तो रहता है। तथा यदि कहे कि—एक सामान्यका ही विचार रहता है, विशेषका नहीं। तो सामान्यका विचार तो बहुत काल रहता नहीं है व विशेषकी अपेक्षा बिना सामान्यका स्वरूप भासित नहीं होता। तथा यदि कहे कि—अपना ही विचार रहता है, परका नहीं; तो परमें पर-बुद्धि हुए बिना अपनेमें निजबुद्धि कैसे आये ? वहाँ वह कहता है—समयसारमें ऐसा कहा है कि—

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते॥
(कलश-१३०)

अर्थः—भेदज्ञानको तब तक निरंतर भाना, जब तक परसे छूटकर ज्ञान ज्ञानमें स्थित हो। इसलिये भेदविज्ञान छूटनेपर परका जानना मिट जाता है, केवल आपहीको आप जानता रहता है।

यहाँ तो यह कहा है कि—पूर्वकालमें स्व-परको एक जानता था; फिर भिन्न जाननेके लिये भेदज्ञानको तब तक भाना ही योग्य है जब तक ज्ञान पररूपको भिन्न जानकर अपने ज्ञानस्वरूपहीमें निश्चित् हो जाये। पश्चात् भेदविज्ञान करनेका प्रयोजन नहीं रहता; स्वयमेव परको पररूप और आपको आपरूप जानता रहता है। ऐसा नहीं है कि परद्रव्यका जानना ही मिट जाता है। इसलिये परद्रव्यको जानने या स्वद्रव्यके विशेषोंको जाननेका नाम विकल्प नहीं है। तो किस प्रकार है? सो कहते हैं—राग-द्वेषवश किसी ज्ञेयको जाननेमें उपयोग लगाना और किसी ज्ञेयके जाननेसे छुड़ाना—इस प्रकार बारम्बार उपयोगको भ्रमाना—उसका नाम विकल्प है। तथा जहाँ वीतराग-रूप होकर जिसे जानते हैं उसे यथार्थ जानते हैं, अन्य-अन्य ज्ञेयको जाननेके अर्थ उप-योगको भ्रमाते नहीं हैं, वहाँ निर्विकल्पदशा जानना।

यहाँ कोई कहे कि—छद्मस्थका उपयोग तो नाना ज्ञेयोंमें भ्रमता ही भ्रमता है; वहाँ निर्विकल्पता कैसे सम्भव है?

उत्तरः—जितने काल एक जाननेरूप रहे तब तक निर्विकल्प नाम पाता है। सिद्धान्तमें ध्यानका लक्षण ऐसा ही किया है—"एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।"

(तत्त्वार्थ सूत्र ९-२७)

एकका मुख्य चिंतवन हो और अन्य चिन्ता रुक जाये—उसका नाम ध्यान है। सर्वार्थसिद्धि सूत्रकी टीकामें यह विशेष कहा है—यदि सर्व चिंता रुकनेका नाम ध्यान हो, तो अचेतनपना आ जाये। तथा ऐसी भी विवक्षा है कि—सन्तान अपेक्षा नाना ज्ञेयोंका भी जानना होता है, परन्तु जब तक वीतरागता रहे, रागादिसे आप उपयोगको न भ्रमाये तब तक निर्विकल्पदशा कहते हैं।

फिर वह कहता है—ऐसा है तो परद्रव्यसे छुड़ाकर स्वरूपमें उपयोग लगाने-का उपदेश किसलिये दिया है?

समाधानः—जो शुभ-अशुभ भावोंके कारण परद्रव्य हैं, उनमें उपयोग लगनेसे जिनको राग-द्वेष हो आते हैं, और स्वरूप चिंतवन करें तो जिनके राग-द्वेष घटते हैं—

ऐसे निचली अवस्थावाले जीवोंको पूर्वोक्त उपदेश है। जैसे कोई स्त्री विकारभावसे पराये घर जाती थी; उसे मना किया कि पराये घर मत जा, घरमें बैठी रह। तथा जो स्त्री निर्विकार भावसे किसीके घर जाकर यथायोग्य प्रवर्ते तो कुछ दोष है नहीं। उसी प्रकार उपयोगरूप परिणति राग-द्वेषभावसे परद्रव्योंमें प्रवर्तती थी; उसे मना किया कि—परद्रव्योंमें प्रवर्तन मत कर, स्वरूपमें मग्न रह। तथा जो उपयोगरूप परिणति वीतरागभावसे परद्रव्यको जानकर यथा योग्य प्रवर्ते तो कुछ दोष है नहीं।

फिर वह कहता है—ऐसा है तो महामुनि परिग्रहादिक चिंतवनका त्याग किसलिये करते हैं?

समाधान:—जैसे विकाररहित स्त्री कुशीलके कारण पराये घरोंका त्याग करती है, उसी प्रकार वीतराग परिणति राग-द्वेषके कारण परद्रव्योंका त्याग करती है। तथा जो व्यभिचारके कारण नहीं हैं ऐसे पराये घरोंमें जानेका त्याग है नहीं, उसी प्रकार जो राग-द्वेषके कारण नहीं हैं ऐसे परद्रव्योंको जाननेका त्याग है नहीं।

फिर वह कहता है—जैसे, जो स्त्री प्रयोजन जानकर पितादिकके घर जाती है तो जाये, बिना प्रयोजन जिस-तिसके घर जाना तो योग्य नहीं है। उसी प्रकार परिणतिको प्रयोजन जानकर सात तत्त्वोंका विचार करना, बिना प्रयोजन गुणस्थानादिकका विचार करना योग्य नहीं है?

समाधान:—जैसे स्त्री प्रयोजन जानकर पितादिक या मित्रादिकके भी घर जाये, उसी प्रकार परिणति तत्त्वोंके विशेष जाननेके कारण गुणस्थानादिक व कर्मादिकको भी जाने। तथा यहाँ ऐसा जानना कि—जैसे शीलवती स्त्री उद्यमपूर्वक तो विट पुरुषोंके स्थानपर न जाये, यदि परवश वहाँ जाना बन जाये, और वहाँ कुशील सेवन न करे तो स्त्री शीलवती ही है। उसी प्रकार वीतराग परिणति उपाय पूर्वक तो रागादिकके कारण परद्रव्योंमें न लगे, यदि स्वयमेव उनका जानना हो जाये और वहाँ रागादिक न करे तो परिणति शुद्ध ही है। इसलिये मुनियोंको स्त्री आदिके परीषह होनेपर उनको जानते ही नहीं, अपने स्वरूपका ही जानना रहता है—ऐसा मानना मिथ्या है। उनको जानते तो हैं परन्तु रागादिक नहीं करते। इस प्रकार परद्रव्यको जानते हुए भी वीतरागभाव होता है—ऐसा श्रद्धान करना।

तथा वह कहता है—ऐसा है तो शास्त्रमें ऐसा कैसे कहा है कि आत्माका श्रद्धान-ज्ञान-आचरण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है?

समाधानः—अनादिसे परद्रव्यमें आपरूप श्रद्धान-ज्ञान-आचरण था; उसे छुड़ानेके लिये यह उपदेश है। अपनेहीमें आपरूप श्रद्धान-ज्ञान-आचरण होनेसे परद्रव्यमें राग-द्वेषादि परिणति करनेका श्रद्धान व ज्ञान व आचरण मिट जाये तब सम्यग्दर्शनादि होते हैं। यदि परद्रव्यका परद्रव्यरूप श्रद्धानादि करनेसे सम्यग्दर्शनादि न होते हों तो केवलीके भी उनका अभाव हो। जहाँ परद्रव्यको बुरा जानना, निजद्रव्यको भला जानना हो, वहाँ तो रागद्वेष सहज ही हुए। जहाँ आपको आपरूप और परको पररूप यथार्थ जानता रहे, वैसे ही श्रद्धानादिरूप प्रवर्तन करे, तभी सम्यग्दर्शनादि होते हैं—ऐसा जानना। इसलिये बहुत क्या कहें, जिस प्रकारसे रागादि मिटानेका श्रद्धान हो वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकारसे रागादि मिटानेका जानना हो वही जानना सम्यग्ज्ञान है। तथा जिस प्रकारसे रागादि मिटें वही आचरण सम्यक्चारित्र है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है। इस प्रकार निश्चयनयके आभास सहित एकान्त पक्षके धारी जैनाभासोंके मिथ्यात्वका निरूपण किया।

[व्यवहाराभासपक्षके धारक जैनाभास]

अब, व्यवहाराभासपक्षके धारक जैनाभासोंके मिथ्यात्वका निरूपण करते हैं—जिनागममें जहाँ व्यवहारकी मुख्यतासे उपदेश है, उसे मानकर बाह्यसाधनादिकहीका श्रद्धानादिक करते हैं उनके सर्व धर्मके अंग अन्यथारूप होकर मिथ्याभावको प्राप्त होते हैं—सो विशेष कहते हैं। यहाँ ऐसा जान लेना कि व्यवहारधर्मकी प्रवृत्तिसे पुण्यबन्ध होता है, इसलिये पापप्रवृत्तिकी अपेक्षा तो इसका निषेध है नहीं; परन्तु यहाँ जो जीव व्यवहार प्रवृत्तिहीसे सन्तुष्ट होकर सच्चे मोक्षमार्गमें उद्यमी नहीं होते हैं उन्हें मोक्षमार्गमें सन्मुख करनेके लिये उस शुभरूप मिथ्याप्रवृत्तिका भी निषेधरूप निरूपण करते हैं। यह जो कथन करते हैं उसे सुनकर यदि शुभप्रवृत्ति छोड़ अशुभमें प्रवृत्ति करोगे, तब तो तुम्हारा बुरा होगा, और यदि यथार्थ श्रद्धान करके मोक्षमार्गमें प्रवर्तन करोगे तो तुम्हारा भला होगा। जैसे कोई रोगी निर्गुण औषधिका निषेध सुनकर औषधि साधनको छोड़कर कुपथ्यकरे तो वह मरेगा, उसमें वैद्यका कुछ दोष नहीं है। उसी प्रकार कोई संसारी पुण्यरूप धर्मका निषेध सुनकर धर्मसाधन छोड़ विषय कषायरूप प्रवर्तन करेगा तो वही नरकादिमें दुःख पायेगा। उपदेशदाताका तो दोष है नहीं। उपदेश देनेवालेका अभिप्राय तो असत्य श्रद्धानादि छुड़ाकर मोक्षमार्गमें लगानेका जानना। सो ऐसे अभिप्रायसे यहाँ निरूपण करते हैं।

[कुल अपेक्षा धर्म-विचार]

वहाँ कोई जीव तो कुलक्रमसे ही जैनी हैं, जैनधर्मका स्वरूप जानते नहीं, परन्तु कुलमें जैसी प्रवृत्ति चली आयी है वैसे प्रवर्तते हैं। वहाँ जिस प्रकार अन्यमती अपने कुलधर्ममें प्रवर्तते हैं उसी प्रकार यह प्रवर्तते हैं। यदि कुलक्रमहीसे धर्म हो तो मुसलमान आदि सभी धर्मात्मा हो जायें। जैनधर्मकी विशेषता क्या रही? वही कहा है—

> लोयम्मि रायणीई णायं ण कुलक्कम्मि कइयावि।
> किं पुण तिलोय पहुणो जिणंदधम्माहिगारम्मि ॥ १ ॥
>
> (उप० सि० र० गा० ७)

अर्थः—लोकमें यह राजनीति है कि कदाचित् कुलक्रमसे न्याय नहीं होता है। जिसका कुल चोर हो, उसे चोरी करते पकड़लें तो उसका कुलक्रम जानकर छोड़ते नहीं हैं, दण्ड ही देते हैं। तो त्रिलोकप्रभु जिनेन्द्रदेवके धर्मके अधिकारमें क्या कुल-क्रमानुसार न्याय संभव है? तथा यदि पिता दरिद्री हो और आप धनवान हो, तब वहाँ तो कुलक्रमका विचार करके आप दरिद्री रहता ही नहीं, तो धर्ममें कुलका क्या प्रयोजन है? तथा पिता नरकमें जाये और पुत्र मोक्ष जाता है, वहाँ कुलक्रम कैसे रहा? यदि कुलपर दृष्टि हो तो पुत्र भी नरकगामी होना चाहिये। इसलिये धर्ममें कुलक्रमका कुछ भी प्रयोजन नहीं है। शास्त्रोंका अर्थ विचारकर यदि कालदोषसे जिन-धर्ममें भी पापी पुरुषों द्वारा कुदेव-कुगुरु-कुधर्म सेवनादिरूप तथा विषयकषाय पोष-णादिरूप विपरीत प्रवृत्ति चलायी गई हो, तो उसका त्याग करके जिनआज्ञानुसार प्रवर्तन करना योग्य है।

यहाँ कोई कहे कि—परम्परा छोड़कर नवीन मार्गमें प्रवर्तन करना योग्य नहीं है। उससे कहते हैं—

यदि अपनी बुद्धिसे नवीन मार्ग पकड़े तो योग्य नहीं है। जो परम्परा अनादि-निधन जैनधर्मका स्वरूप शास्त्रोंमें लिखा है, उसकी प्रवृत्ति मिटाकर पापी पुरुषोंने बीचमें अन्यथा प्रवृत्ति चलायी हो, उसे परम्परा मार्ग कैसे कहा जा सकता है? तथा उसे छोड़कर पुरातन जैन शास्त्रोंमें जैसा धर्म लिखा था, वैसे प्रवर्तन करे तो उसे नवीन मार्ग कैसे कहा जा सकता है? तथा यदि कुलमें जैसी जिनदेवकी आज्ञा है, उसी प्रकार धर्मकी प्रवृत्ति है तो अपनेको भी वैसे ही प्रवर्तन करना योग्य है; परन्तु उसे कुलाचार

न जान धर्म जानकर, उसके स्वरूप, फलादिकका निश्चय करके अंगीकार करना। जो सच्चे भी धर्मको कुलाचार जानकर प्रवर्तता है तो उसे धर्मात्मा नहीं कहते; क्योंकि सर्व कुलके उस आचरणको छोड़ दें तो आप भी छोड़ देगा। तथा वह जो आचरण करता है सो कुलके भयसे करता है, कुछ धर्म बुद्धिसे नहीं करता, इसलिये वह धर्मात्मा नहीं है। इसलिये विवाहादि कुलसम्बन्धी कार्योंमें तो कुलक्रमका विचार करना, परन्तु धर्म सम्बन्धी कार्यमें कुलका विचार नहीं करना। जैसा धर्म मार्ग सच्चा है उसी प्रकार प्रवर्तन करना योग्य है।

[परीक्षारहित आज्ञानुसारी जैनत्वका प्रतिषेध]

तथा कितने ही आज्ञानुसारी जैनी होते हैं। जैसी शास्त्रमें आज्ञा है उस प्रकार मानते हैं, परन्तु आज्ञाकी परीक्षा करते नहीं। यदि आज्ञा ही मानना धर्म हो तो सर्व मतवाले अपने-अपने शास्त्रकी आज्ञा मानकर धर्मात्मा होजायें इसलिये परीक्षा करके जिनवचनकी सत्यता पहिचानकर जिनआज्ञा मानना योग्य है। विना परीक्षा किये सत्य-असत्यका निर्णय कैसे हो? और विना निर्णय किये जिस प्रकार अन्यमती अपने शास्त्रोंकी आज्ञा मानते हैं उसी प्रकार इसने जैनशास्त्रोंकी आज्ञा मानी। यह तो पक्षसे आज्ञा मानना है।

कोई कहे कि—शास्त्रमें दसप्रकारके सम्यक्त्वमें आज्ञा सम्यक्त्व कहा है व आज्ञाविचय धर्मध्यानका भेद कहा है व निःशंकित अंगमें जिनवचनमें संशयका निषेध किया है, वह किस प्रकार है?

समाधान:—शास्त्रोंमें कितने ही कथन तो ऐसे हैं जिनकी प्रत्यक्ष–अनुमानादि द्वारा परीक्षा कर सकते हैं, तथा कई कथन ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष–अनुमानादि गोचर नहीं हैं, इसलिये आज्ञाहीसे प्रमाण होते हैं। वहाँ नाना शास्त्रोंमें जो कथन समान हों उनकी तो परीक्षा करनेका प्रयोजन ही नहीं है; परन्तु जो कथन परस्पर विरुद्ध हों उनमेंसे जो कथन प्रत्यक्ष–अनुमानादि गोचर हों उनकी तो परीक्षा करना। वहाँ जिन-शास्त्रोंके कथनकी प्रमाणता ठहरे, उन शास्त्रोंमें जो प्रत्यक्ष–अनुमानगोचर नहीं हैं—ऐसे कथन किये हों, उनकी भी प्रमाणता करना। तथा जिन शास्त्रोंके कथनकी प्रमाणता न ठहरे उनके सर्व ही कथनकी अप्रमाणता मानना।

वहाँ कोई कहे कि—परीक्षा करने पर कोई कथन किसी शास्त्रमें प्रमाण भासित हो, तथा कोई कथन किसी शास्त्रमें प्रमाण भासित हो, तब क्या करें?

समाधानः—जो आप्त-भासित शास्त्र हैं, उनमें कोई भी कथन प्रमाण विरुद्ध नहीं होते। क्योंकि या तो जानपना ही न हो, अथवा रागद्वेष हों तब असत्य कहें, सो आप्त ऐसे होते नहीं, तूने परीक्षा भलेप्रकार नहीं की, इसलिये भ्रम है।

फिर वह कहता है—छद्मस्थसे अन्यथा परीक्षा हो जाये, तो वह क्या करे ?

समाधानः—सच्ची-झूठी दोनों वस्तुओंको कसनेसे और प्रमाद छोड़कर परीक्षा करनेसे तो सच्ची ही परीक्षा होती है। जहाँ पक्षपातके कारण भलेप्रकार परीक्षा न करे, वहीं अन्यथा परीक्षा होती है।

तथा वह कहता है कि—शास्त्रोंमें परस्पर विरुद्ध कथन तो बहुत हैं, किन-किनकी परीक्षा की जाये ?

समाधानः—मोक्षमार्गमें देव-गुरु-धर्म, जीवादितत्त्व व बन्ध-मोक्षमार्ग प्रयोजनभूत हैं, सो इनकी परीक्षा कर लेना। जिन शास्त्रोंमें यह सच्चे कहे हों उनकी सर्व आज्ञा मानना, जिनमें यह अन्यथा प्ररूपित किये हों उनकी आज्ञा नहीं मानना। जैसे—लोकमें जो पुरुष प्रयोजनभूत कार्योंमें झूठ न बोले, वह प्रयोजनरहित कार्योंमें कैसे झूठ बोलेगा ? उसी प्रकार जिस शास्त्रमें प्रयोजनभूत देवादिकका स्वरूप अन्यथा नहीं कहा, उसमें प्रयोजनरहित द्वीप-समुद्रादिकका कथन अन्यथा कैसे होगा ? क्योंकि देवादिकका कथन अन्यथा करनेसे वक्ताके विषय-कषायका पोषण होता है।

प्रश्नः—देवादिकका अन्यथा कथन तो विषय-कषायवश किया, परन्तु उन्हीं शास्त्रोंमें अन्य कथन अन्यथा किसलिये किये ?

समाधानः—यदि एक ही कथन अन्यथा करे तो उसका अन्यथापना शीघ्र प्रगट हो जायेगा और भिन्न पद्धति ठहरेगी नहीं; इसलिये बहुत कथन अन्यथा करनेसे भिन्न पद्धति ठहरेगी। वहाँ तुच्छ बुद्धि भ्रममें पड़ जाते हैं कि—यह भी मत है, यह भी मत है। इसलिये प्रयोजनभूतका अन्यथापना मिलाने अर्थ अप्रयोजनभूत कथन भी अन्यथा बहुत किये हैं। तथा प्रतीति करानेके अर्थ कोई-कोई सच्चे कथन भी किये हैं। परन्तु जो चतुर हो सो भ्रममें नहीं पड़ता। प्रयोजनभूत कथनकी परीक्षा करके जहाँ सत्य भासित हो, उस मतकी सर्व आज्ञा माने। सो परीक्षा करने पर जैनमत ही सत्य भासित होता है—अन्य नहीं; क्योंकि इसके वक्ता सर्वज्ञ-वीतराग हैं, वे झूठ किसलिये कहेंगे ? इस प्रकार जिनआज्ञा माननेसे जो सच्चा श्रद्धान हो, उसका नाम आज्ञा-सम्यक्त्व है। और वहाँ एकाग्र चिन्तवन होनेसे उसीका नाम आज्ञाविचय धर्मध्यान

है। यदि ऐसा न मानें और बिना परीक्षा किये ही आज्ञा माननेसे सम्यक्त्व व धर्मध्यान हो जाये, तो जो द्रव्यलिंगी आज्ञा मानकर मुनि हुए, आज्ञानुसार साधन द्वारा ग्रैवेयक पर्यंत जाते हैं, उनके मिथ्यादृष्टिपना कैसे रहा ? इसलिये कुछ परीक्षा करके आज्ञा मानने पर ही सम्यक्त्व व धर्मध्यान होता है। लोकमें भी किसी प्रकार परीक्षा होनेपर ही पुरुषकी प्रतीति करते हैं।

तथा तूने कहा कि—जिनवचनमें संशय करनेसे सम्यक्त्वके शंका नामक दोष होता है; सो "न जाने यह किस प्रकार है"—ऐसा मानकर निर्णय न करे वहाँ शंका नामक दोष होता है। तथा यदि निर्णय करनेका विचार करते ही सम्यक्त्वमें दोष लगता हो तो अष्टसहस्रीमें आज्ञाप्रधानसे परीक्षाप्रधानको उत्तम किसलिये कहा ? पृच्छना आदि स्वाध्यायके अंग कैसे कहे ? प्रमाण-नयसे पदार्थोंका निर्णय करनेका उपदेश किसलिये दिया ? इसलिये परीक्षा करके आज्ञा मानना योग्य है। तथा कितने ही पापी पुरुषोंने अपने कल्पित कथन किये हैं और उन्हें जिनवचन ठहराया है, उन्हें जैनमतके शास्त्र जानकर प्रमाण नहीं करना। वहाँ भी प्रमाणादिकसे परीक्षा करके, व परस्पर शास्त्रोंसे विधि मिलाकर, व इस प्रकार सम्भव है या नहीं—ऐसा विचार करके विरुद्ध अर्थको मिथ्या ही जानना। जैसे किसी ठगने स्वयं पत्र लिखकर उसमें लिखनेवालेका नाम किसी साहूकारका रखा; उस नामके भ्रमसे धनको ठगाये तो दरिद्री होगा। उसी प्रकार पापी लोगोंने स्वयं ग्रन्थादि बनाकर वहाँ कर्त्ताका नाम जिन, गणधर आचार्योंका रखा। उस नामके भ्रमसे झूठा श्रद्धान करे, तो मिथ्यादृष्टि ही होगा।

तथा वह कहता है—गोम्मटसार* में ऐसा कहा है कि—सम्यग्दृष्टि जीव अज्ञानी गुरुके निमित्तसे झूठ भी श्रद्धान करे, तो आज्ञा माननेसे सम्यग्दृष्टि ही है।—सो यह कथन कैसे किया ?

उत्तरः—जो प्रत्यक्ष-अनुमानादिगोचर नहीं हैं, और सूक्ष्मपनेसे जिनका निर्णय नहीं हो सकता उनकी अपेक्षा यह कथन है; परन्तु मूलभूत-देव-गुरु-धर्मादि तथा तत्त्वादिकका अन्यथा श्रद्धान होनेपर तो सर्वथा सम्यक्त्व रहता नहीं है—यह निश्चय करना। इसलिये बिना परीक्षा किये केवल आज्ञा ही द्वारा जो जैनी हैं उन्हें भी मिथ्यादृष्टि जानना। तथा कितने ही परीक्षा करके भी जैनी होते हैं, परन्तु मूल परीक्षा

---

* सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥ २७ ॥ (जीवकाण्ड)

नहीं करते। दया, शील, तप, संयमादि क्रियाओं द्वारा, व पूजा, प्रभावनादि कार्योंसे, व अतिशय चमत्कारादिसे व जिनधर्मसे इष्ट प्राप्ति होनेके कारण जिनमतको उत्तम जानकर, प्रीतिवंत होकर जैनी होते हैं। सो अन्यमतोंमें भी ये कार्य तो पाये जाते हैं; इसलिये इन लक्षणोंमें तो अतिव्याप्ति पाया जाता है।

कोई कहे—जैसे जिनधर्ममें ये कार्य हैं, वैसे अन्यमतोंमें नहीं पाये जाते, इसलिये अतिव्याप्ति नहीं है?

समाधानः—यह तो सत्य है, ऐसा ही है। परन्तु जैसे तू दयादिक मानता है उसी प्रकार तो वे भी निरूपण करते हैं। पर जीवोंकी रक्षाको दया तू कहता है, वही वे कहते हैं। इसी प्रकार अन्य जानना।

फिर वह कहता है—उनके ठीक नहीं है; क्योंकि कभी दया प्ररूपित करते हैं, कभी हिंसा प्ररूपित करते हैं?

उत्तरः—वहाँ दयादिकका अंशमात्र तो आया; इसलिये अतिव्याप्तिपना इन लक्षणोंके पाया जाता है। इनके द्वारा सच्ची परीक्षा होती नहीं। तो कैसे होती है? जिनधर्ममें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको मोक्षमार्ग कहा है। वहाँ सच्चे देवादिक व जीवादिकका श्रद्धान करनेसे सम्यक्त्व होता है, व उनको जाननेसे सम्यग्ज्ञान होता है व वास्तवमें रागादिक मिटने पर सम्यक्चारित्र होता है। सो इनके स्वरूपका जैसा जिनमतमें निरूपण किया है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं किया, तथा जैनीके सिवा अन्यमती ऐसा कार्य कर नहीं सकते। इसलिये यह जिनमतका सच्चा लक्षण है। इस लक्षणको पहिचानकर जो परीक्षा करते हैं वे ही श्रद्धानी हैं। इसके सिवा जो अन्य प्रकारसे परीक्षा करते हैं वे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।

तथा कितने ही संगतिसे जैनधर्म धारण करते हैं, कितने ही महान पुरुषको जिनधर्ममें प्रवर्तता देख आप भी प्रवर्तते हैं, कितने ही देखादेखी जिनधर्मकी शुद्ध या अशुद्ध क्रियाओंमें प्रवर्तते हैं।—इत्यादि अनेक प्रकारके जीव आप विचारकर जिनधर्मका रहस्य नहीं पहिचानते और जैनी नाम धारण करते हैं—वे सब मिथ्यादृष्टि ही जानना। इतना तो है कि जिनमतमें पापकी प्रवृत्ति विशेष नहीं हो सकती और पुण्यके निमित्त बहुत हैं, तथा सच्चे मोक्षमार्गके कारण भी वहाँ बने रहते हैं। इसलिये जो कुलादिसे भी जैनी हैं, वे भी औरोंसे तो भले ही हैं।

[आजीविकादि प्रयोजनार्थ धर्म साधनका प्रतिषेध]

तथा जो जीव कपटसे आजीविकाके अर्थ, व बड़ाईके अर्थ, व कुछ विषयकषाय-सम्बन्धी प्रयोजन विचारकर जैनी होते हैं, वे तो पापी ही हैं। अति तीव्र कषाय होनेपर ऐसी बुद्धि आती है। उनका सुलझना भी कठिन है। जैनधर्मका सेवन तो संसार नाशके लिये किया जाता है; जो उसके द्वारा सांसारिक प्रयोजन साधना चाहते हैं वे बड़ा अन्याय करते हैं। इसलिये वे तो मिथ्यादृष्टि हैं ही।

यहाँ कोई कहे—हिंसादि द्वारा जिन कार्योंको करते हैं, वही कार्य धर्म साधन द्वारा सिद्ध किये जायें तो बुरा क्या हुआ? दोनों प्रयोजन सिद्ध होते हैं?

उससे कहते हैं—पापकार्य और धर्मकार्यका एक साधन करनेसे पाप ही होता है। जैसे—कोई धर्मका साधन चैत्यालय बनवाये और उसीको स्त्री सेवनादि पापोंका भी साधन करे तो पाप ही होगा। हिंसादि द्वारा भोगादिकके हेतु अलग मकान बनवाता है तो बनवाये; परन्तु चैत्यालयमें भोगादि करना योग्य नहीं है। उसी प्रकार धर्मका साधन पूजा, शास्त्रादिक कार्य हैं, उन्हींको आजीविकादि पापका भी साधन बनाये तो पापी ही होगा। हिंसादिसे आजीविकादिके अर्थ व्यापारादि करता है तो करे, परन्तु पूजादि कार्योंमें तो आजीविकादिका प्रयोजन विचारना योग्य नहीं है।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो मुनि भी धर्मसाधन कर परघर भोजन करते हैं तथा साधर्मी साधर्मीका उपकार करते-कराते हैं सो कैसे बनेगा?

उत्तरः—वे आप तो कुछ आजीविकादिका प्रयोजन विचार कर धर्म साधन नहीं करते। उन्हें धर्मात्मा जानकर कितने ही स्वयमेव भोजन उपकारादि करते हैं, तब तो कोई दोष है नहीं। तथा यदि आप ही भोजनादिकका प्रयोजन विचारकर धर्म साधता है तो पापी है ही। जो विरागी होकर मुनिपना अंगीकार करते हैं उनको भोजनादिकका प्रयोजन नहीं है। शरीरकी स्थितिके अर्थ स्वयमेव भोजनादि कोई दे तो लेते हैं, नहीं तो समता रखते हैं—संक्लेशरूप नहीं होते। तथा अपने हितके अर्थ धर्म साधते हैं। उपकार करवानेका अभिप्राय नहीं है, और आपके जिसका त्याग नहीं है वैसा उपकार कराते हैं। कोई साधर्मी स्वयमेव उपकार करता है तो करे, और यदि न करे तो उन्हें कुछ संक्लेश होता नहीं।—सो ऐसा तो योग्य है। परन्तु आप ही आजीविकादिका प्रयोजन विचारकर बाह्यधर्मका साधन करे, जहाँ भोजनादिक उपकार कोई न करे वहाँ संक्लेश करे, याचना करे, उपाय करे, अथवा धर्मसाधनमें शिथिल हो

जावे, तो उसे पापी ही जानना। इस प्रकार सांसारिक प्रयोजनसहित जो धर्म साधते हैं वे पापी भी हैं और मिथ्यादृष्टि तो हैं ही। इस प्रकार जिनमतवाले भी मिथ्यादृष्टि जानना। अब, इनके धर्मका साधन कैसे पाया जाता है सो विशेष बतलाते हैं:—

वहाँ कितने ही जीव कुल प्रवृत्तिसे अथवा देखादेखी लोभादिके अभिप्रायसे धर्म साधते हैं, उनके तो धर्मदृष्टि नहीं है। यदि भक्ति करते हैं तो चित्त तो कहीं है, दृष्टि घूमती रहती है और मुखसे पाठादि करते हैं व नमस्कारादि करते हैं; परन्तु यह ठीक नहीं है। मैं कौन हूँ, किसकी स्तुति करता हूँ, किस प्रयोजनके अर्थ स्तुति करता हूँ, पाठमें क्या अर्थ है, सो कुछ पता नहीं है। तथा कदाचित् कुदेवादिककी भी सेवा करने लग जाता है; वहाँ सुदेव-गुरु-शास्त्रादि व कुदेव-गुरु-शास्त्रादिकी विशेष पहिचान नहीं है। तथा यदि दान देता है तो पात्र-अपात्रके विचार रहित जैसे अपनी प्रशंसा हो वैसे दान देता है। तथा तप करता है तो भूखा रहकर महंतपना हो वह कार्य करता है; परिणामोंकी पहिचान नहीं है। तथा व्रतादिक धारण करता है तो वहाँ बाह्य क्रिया पर दृष्टि है; सो भी कोई सच्ची क्रिया करता है कोई झूठी करता है और जो अन्तरंग रागादिभाव पाये जाते हैं उनका विचार ही नहीं है तथा बाह्यमें भी रागादिके पोषणका साधन करता है। तथा पूजा-प्रभावनादि कार्य करता है तो वहाँ जिस प्रकार लोकमें बड़ाई हो, व विषय-कषायका पोषण हो उस प्रकार कार्य करता है। तथा बहुत हिंसादिक उत्पन्न करता है। सो यह कार्य तो अपने तथा अन्य जीवोंके परिणाम सुधारनेके अर्थ कहे हैं। तथा वहाँ किंचित् हिंसादिक भी उत्पन्न होते हैं; परन्तु जिसमें थोड़ा अपराध हो और गुण अधिक हो वह कार्य करना कहा है। सो परिणामोंकी तो पहिचान नहीं है, और यहाँ अपराध कितना लगता है, गुण कितना होता है—ऐसे नफा-टोटेका ज्ञान नहीं है व विधि-अविधिका ज्ञान नहीं है। तथा शास्त्राभ्यास करता है तो वहाँ पद्धतिरूप प्रवर्तता है—यदि बाँचता है तो औरोंको सुना देता है, यदि पढ़ता है तो आप पढ़ जाता है, सुनता है तो जो कहते हैं वह सुन लेता है, परन्तु जो शास्त्राभ्यासका प्रयोजन है उसे आप अन्तरंगमें नहीं अवधारण करता।—इत्यादि धर्म कार्योंके मर्मको नहीं पहिचानना। कितने तो—जिस प्रकार कुलमें कहे प्रवर्तते हैं उसी प्रकार हमें भी करना, अथवा दूसरे करते हैं वैसा हमें भी करना, व ऐसा करनेसे हमारे लोभादिककी सिद्धि होगी—इत्यादि विचाररहित अभूतार्थधर्मको साधते हैं।

तथा कितने ही जीव ऐसे होते हैं जिनके कुछ तो कुलादिरूप बुद्धि है, कुछ धर्मबुद्धि भी है, इसलिये पूर्वोक्त प्रकार भी धर्मका साधन करते हैं और कुछ आगे कहते

हैं उस प्रकारसे अपने परिणामोंको भी सुधारते हैं—मिश्रपना पाया जाता है। तथा कितने ही धर्मबुद्धिसे धर्म साधते हैं, परन्तु निश्चयधर्मको नहीं जानते, इसलिये अभूतार्थ-रूप धर्मको साधते हैं। वहाँ व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको मोक्षमार्ग जानकर उनका साधन करते हैं। वहाँ शास्त्रमें देव-गुरु-धर्मकी प्रतीति करनेसे सम्यक्त्व होना कहा है। ऐसी आज्ञा मानकर अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु, जैनशास्त्रके अतिरिक्त औरोंको नमस्कारादि करनेका त्याग किया है परन्तु उनके गुण-अवगुणकी परीक्षा नहीं करते; अथवा परीक्षा भी करते हैं तो तत्त्वज्ञानपूर्वक सच्ची परीक्षा नहीं करते, बाह्यलक्षणों द्वारा परीक्षा करते हैं।—ऐसी प्रतीतिसे सुदेव-गुरु-शास्त्रोंकी भक्तिमें प्रवर्तते हैं।

[अरहन्तभक्तिका अन्यथा रूप]

वहाँ अरहन्तदेव हैं, इन्द्रादि द्वारा पूज्य हैं, अनेक अतिशयसहित हैं, क्षुधादि दोष रहित हैं, शरीरकी सुन्दरताको धारण करते हैं, स्त्री संगमादि रहित हैं, दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश देते हैं, केवलज्ञान द्वारा लोकालोकको जानते हैं, काम-क्रोधादिक नष्ट किये हैं—इत्यादि विशेषण कहे हैं। वहाँ इनमेंसे कितने ही विशेषण पुद्गलाश्रित हैं और कितने ही जीवाश्रित हैं उनको भिन्न-भिन्न नहीं पहिचानते। जिस प्रकार कोई असमान-जातीय मनुष्यादि पर्यायोंमें जीव-पुद्गलके विशेषणोंको भिन्न न जानकर मिथ्यादृष्टि धारण करता है, उसी प्रकार यह भी असमानजातीय अरहन्तपर्यायमें जीव-पुद्गलके विशेषणोंको भिन्न न जानकर मिथ्यादृष्टि धारण करता है। तथा जो बाह्य विशेषण हैं उन्हें तो जानकर उनके द्वारा अरहन्तदेवको महंतपना विशेष मानता है, और जो जीवके विशेषण हैं उन्हें यथावत् न जानकर उनके द्वारा अरहन्तदेवको महंतपना आज्ञानुसार मानता है अथवा अन्यथा मानता है। क्योंकि यथावत् जीवके विशेषण जाने तो मिथ्यादृष्टि न रहे।

तथा उन अरहन्तोंको स्वर्ग-मोक्षदाता, दीनदयाल, अधमउधारक, पतितपावन मानता है; सो जैसे अन्यमती कर्तृत्वबुद्धिसे ईश्वरको मानता है उसी प्रकार यह अरहन्तको मानता है। ऐसा नहीं जानता कि—फल तो अपने परिणामोंका लगता है, अरहन्त उनको निमित्तमात्र हैं, इसलिये उपचार द्वारा वे विशेषण सम्भव होते हैं। अपने परिणाम शुद्ध हुए बिना अरहन्त ही स्वर्ग-मोक्षादिके दाता नहीं हैं। तथा अरहन्तादिकके नामादिकसे श्वानादिकने स्वर्ग प्राप्त किया, वहाँ नामादिकका ही अतिशय मानता है, परन्तु बिना परिणामके नाम लेनेवालेको भी स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती तब सुननेवालेको

कैसे होगी ? श्वानादिकको नाम सुननेके निमित्तसे कोई मंदकषायरूप भाव हुए हैं उनका फल स्वर्ग हुआ है; उपचारसे नामहीकी मुख्यता की है।

तथा अरहंतादिकके नाम-पूजनादिकसे अनिष्ट सामग्रीका नाश तथा इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति मानकर रोगादि मिटानेके अर्थ व धनादिककी प्राप्तिके अर्थ नाम लेता है व पूजनादि करता है। सो इष्ट-अनिष्टका कारण तो पूर्वकर्मका उदय है। अरहंत तो कर्ता हैं नहीं, अरहंतादिकको भक्तिरूप शुभोपयोग परिणामोंसे पूर्वपापके संक्रमणादि हो जाते हैं। इसलिये उपचारसे अनिष्टके नाशका व इष्टकी प्राप्तिका कारण अरहंतादिककी भक्ति कही जाती है; परन्तु जो जीव प्रथमसे ही सांसारिक प्रयोजनसहित भक्ति करता है उसके तो पापहीका अभिप्राय हुआ। कांक्षा, विचिकित्सारूप भाव हुए उनसे पूर्व पापके संक्रमणादि कैसे होंगे ? इसलिये उसका कार्य सिद्ध नहीं हुआ।

तथा कितने ही जीव भक्तिको मुक्तिका कारण जानकर वहाँ अति अनुरागी होकर प्रवर्तते हैं, वह तो अन्यमती जैसे भक्तिसे मुक्ति मानते हैं वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ। परन्तु भक्ति तो रागरूप है और रागसे बन्ध है, इसलिये मोक्षका कारण नहीं है। जब रागका उदय आता है, तब भक्ति न करे तो पापानुराग हो, इसलिये अशुभराग छोड़नेके लिये ज्ञानी भक्तिमें प्रवर्तते हैं और मोक्षमार्गको बाह्य निमित्तमात्र भी जानते हैं, परन्तु यहाँ ही उपादेयपना मानकर सन्तुष्ट नहीं होते, शुद्धोपयोगके उद्यमी रहते हैं। वही पंचास्तिकाय व्याख्यामें कहा है:—

इयं भक्तिः केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। तीव्ररागज्वरविनोदार्थमस्थानराग-निषेधार्थं क्वचित् ज्ञानिनोऽपि भवति ॥१

अर्थः—यह भक्ति केवल भक्ति ही है प्रधान जिसके ऐसे अज्ञानी जीवके होती है। तथा तीव्ररागज्वर मिटानेके अर्थ या कुस्थानके रागका निषेध करनेके अर्थ कदाचित् ज्ञानीके भी होती है।

यहाँ यह पूछना है—ऐसा है तो ज्ञानीसे अज्ञानीके भक्तिकी अधिकता होती होगी ?

उत्तरः—यथार्थताकी अपेक्षा तो ज्ञानीके सच्ची भक्ति है अज्ञानीके नहीं है। और रागभावकी अपेक्षा अज्ञानीके श्रद्धानमें भी उसे मुक्तिका कारण जाननेसे अति अनु-

---

१ अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानराग-निषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति। (पंचास्ति० गा० १३६ टीका)

राग है; ज्ञानीके श्रद्धानमें शुभबन्धका कारण जाननेसे वैसा अनुराग नहीं है। बाह्यमें कदाचित् ज्ञानीको अनुराग बहुत होता है, कभी अज्ञानीको होता है—ऐसा जानना।—इस प्रकार देव भक्तिका स्वरूप बतलाया।

[गुरुभक्तिका अन्यथारूप]

अब, गुरु भक्ति उसके कैसी होती है सो कहते हैं :—

कितने ही जीव आज्ञानुसारी हैं। वे तो—यह जैनके साधु हैं, हमारे गुरु हैं, इसलिये इनकी भक्ति करनी—ऐसा विचार कर उनकी भक्ति करते हैं। और कितने ही जीव परीक्षा भी करते हैं। वहाँ यह मुनि दया पालते हैं, शील पालते हैं, धनादि नहीं रखते, उपवासादि तप करते हैं, क्षुधादि परीषह सहते हैं, किसीसे क्रोधादि नहीं करते हैं, उपदेश देकर औरोंको धर्ममें लगाते हैं,—इत्यादि गुणोंका विचार कर उनमें भक्ति-भाव करते हैं। परन्तु ऐसे गुण तो परमहंसादिक अन्यमतियोंमें तथा जैनी मिथ्यादृष्टियोंमें भी पाये जाते हैं; इसलिये इनमें अतिव्याप्तिपना है। इनके द्वारा सच्ची परीक्षा नहीं होती। तथा जिन गुणोंका विचार करते हैं उनमें कितने ही जीवाश्रित हैं, कितने ही पुद्गलाश्रित हैं; उनके विशेष न जानते हुए असमानजातीय मुनिपर्यायमें एकत्वबुद्धिसे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्ग वह ही मुनियोंका सच्चा लक्षण है, उसे नहीं पहिचानते। क्योंकि यह पहिचान हो जाये तो मिथ्या-दृष्टि रहते नहीं। इस प्रकार यदि मुनियोंका सच्चा स्वरूप ही नहीं जानेंगे तो सच्ची भक्ति कैसे होगी? पुण्यबन्धके कारणभूत शुभक्रियारूप गुणोंको पहिचानकर उनकी सेवासे अपना भला होना जानकर उनमें अनुरागी होकर भक्ति करते हैं।—इस प्रकार गुरु भक्तिका स्वरूप कहा।

[शास्त्रभक्तिका अन्यथारूप]

अब, शास्त्र भक्तिका स्वरूप कहते हैं :—

कितने ही जीव तो यह केवली भगवानकी वाणी है, इसलिये केवलीके पूज्यपनेके कारण यह भी पूज्य है—ऐसा जानकर भक्ति करते हैं। तथा कितने ही इस प्रकार परीक्षा करते हैं कि—इन शास्त्रोंमें विरागता, दया, क्षमा, शील, संतोषादिकका निरूपण है इसलिये यह उत्कृष्ट हैं—ऐसा जानकर भक्ति करते हैं। सो ऐसा कथन तो अन्य शास्त्र वेदांतादिकमें भी पाया जाता है। तथा इन शास्त्रोंमें त्रिलोकादिकका

गम्भीर निरूपण है, इसलिये उत्कृष्टता जानकर भक्ति करते हैं। परन्तु यहाँ अनुमानादिकका तो प्रवेश है नहीं, इसलिये सत्य-असत्यका निर्णय करके महिमा कैसे जानें? इसलिये इसप्रकार सच्ची परीक्षा नहीं होती। यहाँ तो अनेकान्तरूप सच्चे जीवादि-तत्त्वोंका निरूपण है और सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग दिखलाया है। उसीसे जैनशास्त्रोंकी उत्कृष्टता है, उसे नहीं पहिचानते। क्योंकि यह पहिचान हो जावे तो मिथ्यादृष्टि रहती नहीं। इस प्रकार शास्त्रभक्तिका स्वरूप कहा।

इस प्रकार इसको देव-गुरु-शास्त्रकी प्रतीति हुई, इसलिये व्यवहारसम्यक्त्व हुआ मानता है। परन्तु उनका सच्चा स्वरूप भासित नहीं हुआ है; इसलिये प्रतीति भी सच्ची नहीं हुई है। सच्ची प्रतीतिके बिना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती; इसलिये मिथ्यादृष्टि ही है। तथा शास्त्रमें "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" (तत्त्वार्थसूत्र १-२) ऐसा वचन कहा है, इसलिये शास्त्रोंमें जैसे जीवादि तत्त्व लिखे हैं, वैसे आप सीख लेता है और वहाँ उपयोग लगाता है; औरोंको उपदेश देता है, परन्तु उन तत्त्वोंका भाव भासित नहीं होता, और यहाँ उस वस्तुके भावहीका नाम तत्त्व कहा है। सो भाव भासित हुए बिना तत्त्वार्थ श्रद्धान कैसे होगा? भाव भासना क्या है? सो कहते हैं—

स्वरूपको पहिचाने उसका नाम भाव भासना है। शिवभूति* मुनि जीवादिकका नाम नहीं जानते थे, और "तुषमाषभिन्न" ऐसा रटने लगे। सो यह सिद्धान्तका शब्द था नहीं, परन्तु स्व-परके भावरूप ध्यान किया, इसलिये केवली हुए। और ग्यारहअंगके पाठी जीवादि तत्त्वोंके विशेष भेद जानते हैं, परन्तु भाव भासित नहीं होता, इसलिये मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। अब, इसके तत्त्वश्रद्धान किस प्रकार होता है सो कहते हैं—

[जीव-अजीव तत्त्वका अन्यथा रूप]

जिन शास्त्रोंसे जीवके त्रस-स्थावरादिरूप, तथा गुणस्थान-मार्गणादिरूप भेदोंका जानता है; अजीवके पुद्गलादि भेदोंको तथा उनके वर्णादि विशेषोंको जानता है; परन्तु अध्यात्म-शास्त्रोंमें भेदविज्ञानको कारणभूत व वीतरागदशा होनेको कारणभूत जैसा निरूपण किया है वैसा नहीं जानता। तथा किसी प्रसंगवश उसी प्रकार जानना होजाये, तब शास्त्रानुसार जान तो लेता है परंतु अपनेको आपरूप जानकर परका अंश भी अपनेमें न मिलाना और अपना अंश भी परमें न मिलाना—ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता है। जैसे—अन्य मिथ्यादृष्टि निर्धार बिना पर्यायबुद्धिसे जानपनेमें व वर्णादिमें अहंबुद्धि धारण करते हैं, उसी प्रकार यह भी आत्माश्रित ज्ञानादिमें तथा शरीराश्रित उपदेश, उपवासादिक्रियाओंमें अपनत्व मानता है। तथा कभी शास्त्रानुसार सच्ची बात भी बनाता है, परन्तु अंतरंग निर्धाररूप श्रद्धान नहीं है। इसलिये जिस प्रकार मतवाला माताको माता भी कहे तो वह सयाना नहीं है; उसी प्रकार इसे सम्यक्त्वी नहीं कहते। तथा जैसे किसी औरकी ही बातें कर रहा हो उस प्रकारसे आत्माका कथन करता है, परन्तु यह आत्मा मैं हूँ—ऐसा भाव भासित नहीं होता। तथा जैसे किसी औरको औरसे भिन्न बतलाता हो, उस प्रकार आत्मा और शरीरकी भिन्नता प्ररूपित करता है; परन्तु मैं इन शरीरादिकसे भिन्न हूँ—ऐसा भाव भासित नहीं होता। तथा पर्यायमें जीव-पुद्गलके परस्पर निमित्तसे अनेक क्रियाएँ होती हैं, उन्हें दोनों द्रव्योंके मिलापसे उत्पन्न हुई जानता है; यह जीवकी क्रिया है उसका पुद्गल निमित्त है, यह पुद्गलकी क्रिया है उसका जीव निमित्त है—ऐसा भिन्न-भिन्न भाव भासित नहीं होता। इत्यादि भाव भासित हुए बिना उसे जीव-अजीवका सच्चा श्रद्धानी नहीं कहते; क्योंकि जीव-अजीवको जाननेका तो यह ही प्रयोजन था, वह हुआ नहीं।

---

* तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ॥ भावपाहुड-५३॥

[आस्रवतत्त्वका अन्यथा रूप]

तथा आस्रवतत्त्वमें जो हिंसादिरूप पापास्रव हैं उन्हें हेय जानता है; अहिंसादिरूप पुण्यास्रव हैं उन्हें उपादेय मानता है। परन्तु यह तो दोनों ही कर्मबंधके कारण हैं, इनमें उपादेयपना मानना वही मिथ्यादृष्टि है। वही समयसारके बंधाधिकारमें कहा है*—

सर्व जीवोंके जीवन-मरण, सुख-दुःख अपने कर्मके निमित्तसे होते हैं। जहाँ अन्य जीव अन्य जीवके इन कार्योंका कर्ता हो, वही मिथ्याध्यवसाय बंधका कारण है। वहाँ अन्य जीवोंको जिलानेका अथवा सुखी करनेका अध्यवसाय हो वह तो पुण्यबंधका कारण है, और मारनेका अथवा दुःखी करनेका अध्यवसाय हो वह पापबंधका कारण है।—इस प्रकार अहिंसावत् सत्यादिक तो पुण्यबंधके कारण हैं और हिंसावत् असत्यादिक पापबंधके कारण हैं। ये सर्व मिथ्याध्यवसाय हैं, वे त्याज्य हैं। इसलिये हिंसादिवत् अहिंसादिकको भी बंधका कारण जानकर हेय ही मानना। हिंसामें मारनेकी बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु पूर्ण हुए बिना मरता नहीं है, यह अपनी द्वेषपरिणतिसे आप ही पाप बांधता है। अहिंसामें रक्षा करनेकी बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु अवशेष हुए बिना वह जीता नहीं है, यह अपनी प्रशस्त रागपरिणतिसे आप ही पुण्य बांधता है।—इस प्रकार यह दोनों हेय हैं; जहाँ वीतराग होकर दृष्टाज्ञातारूप प्रवर्ते वहाँ निर्बंध है सो उपादेय है। सो ऐसी दशा न हो तब तक प्रशस्त रागरूप प्रवर्तन करो, परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि—यह भी बन्धका कारण है—हेय है; श्रद्धानमें इसे मोक्षमार्ग जाने तो मिथ्यादृष्टि ही होता है।

तथा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये आस्रवके भेद हैं, उन्हें बाह्यरूप तो मानता है परन्तु अंतरंग इन भावोंकी जातिको नहीं पहिचानता। वहाँ अन्य देवादिके सेवनरूप गृहीतमिथ्यात्वको मिथ्यात्व जानता है, परन्तु अनादि अगृहीतमिथ्यात्व है उसे नहीं पहिचानता। तथा बाह्य त्रस-स्थावरकी हिंसा तथा इन्द्रिय-मनके विषयोंमें प्रवृत्ति

उसको अविरति जानता है; हिंसामें प्रमाद परिणति मूल है और विषय सेवनमें अभिलाषा मूल है, उसका अवलोकन नहीं करता। तथा बाह्य क्रोधादि करना उसको कषाय जानता है, अभिप्रायमें रागद्वेष बस रहे हैं उनको नहीं पहिचानता। तथा बाह्य चेष्टा हो उसे योग जानता है, शक्तिभूत योगोंको नहीं जानता।—इस प्रकार आस्रवोंका स्वरूप अन्यथा जानता है।

तथा राग-द्वेष-मोहरूप जो आस्रवभाव हैं, उनका तो नाश करनेकी चिन्ता नहीं है और बाह्यक्रिया अथवा बाह्यनिमित्त मिटानेका उपाय रखता है, सो उनके मिटानेसे आस्रव नहीं मिटता। द्रव्यलिंगी मुनि अन्यदेवादिककी सेवा नहीं करता, हिंसा या विषयोंमें नहीं प्रवर्तता, क्रोधादि नहीं करता, मन-वचन-कायको रोकता है, तथापि उसके मिथ्यात्वादि चारों आस्रव पाये जाते हैं। तथा कपटसे भी वे कार्य नहीं करता है, कपटसे करे तो ग्रैवेयक पर्यंत कैसे पहुँचे? इसलिये जो अंतरंग अभिप्रायमें मिथ्यात्वादिरूप रागादिभाव हैं वे ही आस्रव हैं। उन्हें नहीं पहिचानता इसलिये इसके आस्रवतत्त्वका भी सत्य श्रद्धान नहीं है।

[बन्धतत्त्वका अन्यथा रूप]

तथा बंधतत्त्वमें जो अशुभभावोंसे नरकादिरूप पापका बंध हो उसे तो बुरा जानता है और शुभभावोंसे देवादिरूप पुण्यका बंध हो उसे भला जानता है। परन्तु सभी जीवोंके दुःख सामग्रीमें द्वेष और सुखसामग्रीमें राग पाया जाता है, सो इसके भी राग-द्वेष करनेका श्रद्धान हुआ। जैसा इस पर्याय सम्बन्धी सुख-दुःख सामग्रीमें राग-द्वेष करना है वैसा ही आगामी पर्याय सम्बन्धी सुख-दुःख सामग्रीमें राग-द्वेष करना है। तथा शुभ-अशुभभावोंसे पुण्य-पापका विशेष तो अघातिकर्मोंमें होता है, परन्तु अघातिकर्म आत्मगुणके घातक नहीं हैं। तथा शुभ-अशुभभावोंमें घातिकर्मोंका तो निरंतर बंध होता है, वे सर्व पापरूप ही हैं और वही आत्मगुणके घातक हैं। इसलिये अशुद्धभावोंसे कर्मबंध होता है, उसमें भला-बुरा जानना वही मिथ्या श्रद्धान है। सो ऐसे श्रद्धानसे बंधका भी उसे सत्य श्रद्धान नहीं है।

[संवर तत्त्वका अन्यथा रूप]

तथा संवर तत्त्वमें अहिंसादिरूप शुभास्रवभावोंको संवर जानता है। परन्तु एक ही कारणसे पुण्यबंध भी माने और संवर भी माने वह नहीं हो सकता।

प्रश्नः—मुनियोंके एक कालमें एक भाव होता है, वहाँ उनके बंध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होते हैं, सो किस प्रकार है ?

समाधानः—वह भाव मिश्ररूप है। कुछ वीतराग हुआ है कुछ सराग रहा है। जो अंश वीतराग हुए उनसे संवर है और जो अंश सराग रहे उनसे बंध है। सो एक भावसे तो दो कार्य बनते हैं, परन्तु एक प्रशस्तरागहीसे पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। मिश्रभावमें भी यह सरागता है, यह विरागता है—ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टिहीके होती है। इसलिये अवशेष सरागताको हेयरूप श्रद्धा करता है। मिथ्यादृष्टिके ऐसी पहिचान नहीं है, इसलिये सरागभावमें संवरके भ्रमसे प्रशस्त रागरूप कार्योंको उपादेयरूप श्रद्धा करता है। तथा सिद्धान्तमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र—इनके द्वारा संवर होता है ऐसा कहा* है, सो इनकी भी यथार्थ श्रद्धा नहीं करता। किस प्रकार ? सो कहते हैं:—

बाह्य मन, वचन, कायकी चेष्टा मिटाये, पाप-चिंतवन न करे, मौन धारण करे, गमनादि न करे, उसे वह गुप्ति मानता है। सो यहाँ तो मनमें भक्ति आदिरूप प्रशस्तरागसे नानाविकल्प होते हैं, वचन-कायकी चेष्टा स्वयंने रोक रखी है, वहाँ शुभप्रवृत्ति है, और प्रवृत्तिमें गुप्तिपना बनता नहीं है; इसलिये वीतरागभाव होनेपर जहाँ मन-वचन-कायकी चेष्टा न हो वही सच्ची गुप्ति है।

तथा पर जीवोंकी रक्षाके अर्थ यत्नाचार प्रवृत्ति उसको समिति मानता है। सो हिंसाके परिणामोंसे तो पाप होता है और रक्षाके परिणामोंसे संवर कहोगे तो पुण्यबन्धका कारण कौन ठहरेगा ? तथा एषणासमितिमें दोष टालता है वहाँ रक्षाका प्रयोजन है नहीं, इसलिये रक्षाहीके अर्थ समिति नहीं है। तो समिति कैसे होती है ? मुनियोंके किंचित् राग होनेपर गमनादिक्रिया होती है, वहाँ उन क्रियाओंमें अतिआसक्तताके अभावसे प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती। तथा अन्य जीवोंको दुःखी करके अपना गमनादि प्रयोजन नहीं साधते, इसलिये स्वयमेव ही दया पलती है। इस प्रकार सच्ची समिति है।

तथा बन्धादिकके भयसे अथवा स्वर्ग-मोक्षकी इच्छासे क्रोधादि नहीं करते, परन्तु वहाँ क्रोधादि करनेका अभिप्राय तो मिटा नहीं है। जैसे—कोई राजादिकके

---

* स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः।

(तत्त्वार्थ सूत्र ९-२)

भयसे अथवा महंतपनेके लोभसे परस्त्रीका सेवन नहीं करता, तो उसे त्यागी नहीं कहते। वैसे ही यह क्रोधादिकका त्यागी नहीं है। तो कैसे त्यागी होता है?—पदार्थ अनिष्ट-इष्ट भासित होनेसे क्रोधादिक होते हैं; जब तत्त्वज्ञानके अभ्याससे कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, तब स्वयमेव ही क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते, तब सच्चा धर्म होता है।

तथा अनित्यादि चिंतवनसे शरीरादिकको बुरा जान, हितकारी न जानकर उनसे उदास होना उसका नाम अनुप्रेक्षा कहता है। सो यह तो जैसे कोई मित्र था तब उससे राग था और पश्चात् उसके अवगुण देखकर उदासीन हुआ; उसी प्रकार शरीरादिकसे राग था, पश्चात् अनित्यादि अवगुण अवलोककर उदासीन हुआ; परन्तु ऐसी उदासीनता तो द्वेषरूप है। अपना और शरीरादिकका जहाँ-जैसा स्वभाव है वैसा पहिचानकर, भ्रमको मिटाकर, भला जानकर राग नहीं करना और बुरा जानकर द्वेष नहीं करना।—ऐसी सच्ची उदासीनताके अर्थ यथार्थ अनित्यत्वादिकका चिंतवन करना ही सच्ची अनुप्रेक्षा है।

तथा क्षुधादिक होनेपर उनके नाशका उपाय नहीं करना, उसे परीषह सहना कहता है। सो उपाय तो नहीं किया और अंतरंगमें क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलनेपर दुःखी हुआ, रति आदिका कारण मिलनेपर सुखी हुआ; तो वे दुःख-सुखरूप परिणाम हैं, वही आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान हैं। ऐसे भावोंसे संवर कैसे हो? इसलिये दुःखका कारण मिलनेपर दुःखी न हो और सुखका कारण मिलनेपर सुखी न हो, ज्ञेयरूपसे उनका जाननेवाला ही रहे, वही सच्चा परीषहसहन है।

तथा हिंसादि सावद्य योगके त्यागको चारित्र मानता है, वहाँ महाव्रतादिरूप शुभयोगको उपादेयपनेसे ग्राह्य मानता है। परन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें आस्रव पदार्थका निरूपण करते हुए महाव्रत-अणुव्रतको भी आस्रवरूप कहा है। वे उपादेय कैसे हो? तथा आस्रव तो बन्धका साधक है और चारित्र मोक्षका साधक है; इसलिये महाव्रतादिरूप आस्रवभावोंको चारित्रपना संभव नहीं होता; सकल कषायरहित जो उदासीनभाव उसीका नाम चारित्र है। जो चारित्रमोहके देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयसे महामन्द प्रशस्त राग होता है, वह चारित्रका मल है। उसे छूटता न जानकर उसका त्याग नहीं करते, सावद्ययोगका ही त्याग करते हैं। परन्तु जैसे कोई पुरुष कन्दमूलादि बहुत दोषवाली हरितकायका त्याग करता है और कितनी ही हरितकायोंका भक्षण करता है, परन्तु उसे धर्म नहीं मानता।

उसी प्रकार मुनि हिंसादि तीव्रकषायरूप भावोंका त्याग करते हैं और किसी ही मन्द-कषायरूप महाव्रतादिका पालन करते हैं, परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो चारित्रके तेरह भेदोंमें महाव्रतादि कैसे कहे हैं?

समाधानः—वह व्यवहारचारित्र कहा है, और व्यवहार नाम उपचारका है। सो महाव्रतादि होनेपर ही वीतराग चारित्र होता है—ऐसा सम्बन्ध जानकर महाव्रता-दिमें चारित्रका उपचार किया है; निश्चयसे निःकषायभाव है, वही सच्चा चारित्र है। इस प्रकार संवरके कारणोंको अन्यथा जानते हुए संवरका सच्चा श्रद्धानी नहीं होता।

[निर्जरातत्त्वका अन्यथा रूप]

तथा यह अनशनादि तपसे निर्जरा मानता है; परन्तु केवल बाह्य तप ही करनेसे तो निर्जरा होती नहीं है। बाह्य तप तो शुद्धोपयोग बढ़ानेके अर्थ करते हैं। शुद्धो-पयोग निर्जराका कारण है इसलिये उपचारसे तपको भी निर्जराका कारण कहा है। यदि बाह्य दुःख सहना ही निर्जराका कारण हो तो तिर्यंचादि भी भूख-तृषादि सहते हैं।

तब वह कहता है—वे तो पराधीनतासे सहते हैं; स्वाधीनतासे धर्मबुद्धिपूर्वक उपवासादिरूप तप करे, उसके निर्जरा होती है।

समाधानः—धर्मबुद्धिसे बाह्य उपवासादि तो किये, और वहाँ उपयोग अशुभ, शुभ, शुद्धरूप जैसा परिणमित हो वैसा परिणमो। यदि बहुत उपवासादि करनेसे बहुत निर्जरा हो, थोड़े करनेसे थोड़ी निर्जरा हो; ऐसा नियम ठहरे, तब तो उपवासादिक ही मुख्य निर्जराका कारण ठहरेगा; सो तो बनता नहीं। परिणाम दुष्ट होनेपर उपवासा-दिकसे निर्जरा होना कैसे संभव है? यदि ऐसा कहें कि—जैसा अशुभ, शुभ, शुद्धरूप उपयोग परिणमित हो उसके अनुसार बन्ध-निर्जरा है, तो उपवासादि तप मुख्य निर्जरा-का कारण कैसे रहा? अशुभ-शुभपरिणाम बन्धके कारण ठहरे, शुद्धपरिणाम निर्जराके कारण ठहरे।

प्रश्नः—तत्त्वार्थसूत्रमें "तपसा निर्जरा च" (९-३) ऐसा कैसे कहा है?

समाधानः—शास्त्रमें "इच्छानिरोधस्तपः" ऐसा कहा है, इच्छाको रोकना उसका नाम तप है। सो शुभ-अशुभ इच्छा मिटने पर उपयोग शुद्ध हो, वहाँ निर्जरा होती है। इसलिये तपसे निर्जरा कही है।

यहाँ कहता है—आहारादिरूप अशुभकी तो इच्छा दूर होनेपर ही तप होता है। परन्तु उपवासादिक व प्रायश्चित्तादिक शुभ कार्य हैं उनकी इच्छा तो रहती है।

समाधान:—ज्ञानीजनोंको उपवासादिककी इच्छा नहीं है, एक शुद्धोपयोगकी इच्छा है; उपवासादि करनेसे शुद्धोपयोग बढ़ता है, इसलिये उपवासादि करते हैं। तथा यदि उपवासादिकसे शरीर या परिणामोंकी शिथिलताके कारण शुद्धोपयोगको शिथिल होता जानें तो वहाँ आहारादिक ग्रहण करते हैं। यदि उपवासादिकहीसे सिद्धि हो तो अजितनाथ आदि तेईस तीर्थंकर दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यों धारण करते? उनकी तो शक्ति भी बहुत थी। परन्तु जैसे परिणाम हुए वैसे बाह्य साधन द्वारा एक वीतराग शुद्धोपयोगका अभ्यास किया।

प्रश्न:—यदि ऐसा है तो अनशनादिकको तप संज्ञा कैसे हुई?

समाधान:—उन्हें बाह्यतप कहा है। सो बाह्यका अर्थ यह है कि—"बाहरसे औरोंको दिखायी दे कि यह तपस्वी है," परन्तु आप तो फल जैसे अंतरंग परिणाम होंगे; वैसा ही पायेगा। क्योंकि परिणामशून्य शरीरकी क्रिया फलदाता नहीं है।

यहाँ फिर प्रश्न है कि—शास्त्रमें तो अकाम-निर्जरा कही है। वहाँ बिना इच्छाके भूख-प्यास आदि सहनेसे निर्जरा होती है, तो फिर उपवासादि द्वारा कष्ट सहनेसे कैसे निर्जरा न हो?

समाधान:—अकाम निर्जरामें भी बाह्य निमित्त तो बिना इच्छाके भूख-प्यासका सहन करना हुआ है, और वहाँ मन्दकषायरूप भाव हो तो पापकी निर्जरा होती है, देवादि पुण्यका बन्ध होता है। परन्तु यदि तीव्रकषाय होनेपर भी कष्ट सहनेसे पुण्य बन्ध होता हो, तो सर्व तिर्यंचादिक देव ही हों, सो बनता नहीं है। उसी प्रकार इच्छा पूर्वक उपवासादि करनेसे वहाँ भूख-प्यासादि कष्ट सहते हैं; सो यह बाह्य निमित्त है परन्तु वहाँ जैसा परिणाम हो वैसा फल पाता है। जैसे अन्नको प्राण कहा उसी प्रकार। तथा इस प्रकार बाह्यसाधन होनेसे अंतरंग तपकी वृद्धि होती है इसलिये उपचारसे इनको तप कहा है; परन्तु यदि बाह्यतप तो करे और अन्तरंग तप न हो तो उपचारसे भी उसे तपसंज्ञा नहीं है। कहा भी है कि—

कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥

जहाँ कषाय, विषय और आहारका त्याग किया जाता है उसे उपवास जानना। ऐसेको श्री गुरु लंघन कहते हैं।

यहाँ कहेगा—यदि ऐसा है तो हम उपवासादि नहीं करेंगे ?

उससे कहते हैं—उपदेश तो ऊँचा चढ़नेको दिया जाता है; तू उल्टा नीचे गिरेगा तो हम क्या करेंगे ? यदि तू मानादिकसे उपवासादि करता है तो कर या मत कर; कुछ सिद्धि नहीं है। और यदि धर्मबुद्धिसे आहारादिकका अनुराग छोड़ता है तो जितना राग छूटा उतना ही छूटा; परन्तु इसीको तप जानकर इससे निर्जरा मानकर सन्तुष्ट मत हो। तथा अंतरंग तपोंमें प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूप जो क्रियाएँ, उनमें बाह्य प्रवर्तन उसे तो बाह्यतपवत् ही जानना। जैसे अनशनादि बाह्य क्रिया हैं उसी प्रकार यह भी बाह्य क्रिया है; इसलिये प्रायश्चित्तादि बाह्यसाधन अंतरंग तप नहीं हैं। ऐसा बाह्यप्रवर्तन होनेपर जो अंतरंग परिणामोंकी शुद्धता हो उसका नाम अंतरंग तप जानना। वहाँ भी इतना विशेष है कि बहुत शुद्धता होनेपर शुद्धोपयोगरूप परिणति होती है वहाँ तो निर्जरा ही है, बंध नहीं होता। और अल्प शुद्धता होनेपर शुभोपयोगका भी अंश रहता है; इसलिये जितनी शुद्धता हुई उससे तो निर्जरा है और जितना शुभभाव है उससे बंध है। ऐसा मिश्रभाव युगपत् होता है, वहाँ बन्ध और निर्जरा दोनों होते हैं।

यहाँ कोई कहे कि—शुभभावोंसे पापकी निर्जरा होती है; पुण्यका बन्ध होता है; परन्तु शुद्धभावोंसे दोनोंकी निर्जरा होती है—ऐसा क्यों नहीं कहते ?

उत्तरः—मोक्षमार्गमें स्थितिका तो घटना सभी प्रकृतियोंका होता है; वहाँ पुण्य-पापका विशेष है ही नहीं। और अनुभागका घटना पुण्यप्रकृतियोंमें शुद्धोपयोगसे भी नहीं होता। ऊपर-ऊपर पुण्यप्रकृतियोंके अनुभागका तीव्र बन्ध-उदय होता है और पापप्रकृतियोंके परमाणु पलटकर शुभप्रकृतिरूप होते हैं—ऐसा संक्रमण शुभ तथा शुद्ध दोनों भाव होनेपर होता है; इसलिये पूर्वोक्त नियम संभव नहीं है, विशुद्धताहीके अनुसार नियम सम्भव है। देखो, चतुर्थगुणस्थानवाला शास्त्राभ्यास, आत्मचिन्तवन आदि कार्य करे—वहाँ भी निर्जरा नहीं, बन्ध भी बहुत होता है।

निर्जरा होती है। सो इसके प्रगट स्वरूपका आगे निरूपण करेंगे वहाँसे जानना। इस प्रकार अनशनादि क्रियाको तपसंज्ञा उपचारसे जानना। इसीसे इसे व्यवहार तप कहा है। व्यवहार और उपचारका एक अर्थ है। तथा ऐसे साधनसे जो वीतरागभावरूप विशुद्धता हो वह सच्चा तप निर्जराका कारण जानना। यहाँ दृष्टान्त है—जैसे धनको व अन्नको प्राण कहा है। सो धनसे अन्न लाकर, उसका भक्षण करके प्राणोंका पोषण किया जाता है इसलिये उपचारसे धन और अन्नको प्राण कहा है। कोई इन्द्रियादिक प्राणोंको न जाने और इन्हींको प्राण जानकर संग्रह करे तो मरणको ही प्राप्त होगा। उसी प्रकार अनशनादिको तथा प्रायश्चित्तादिको तप कहा है, क्योंकि अनशनादि साधनसे प्रायश्चित्तादिरूप प्रवर्तन करके वीतरागभावरूप सत्य तपका पोषण किया जाता है; इसलिये उपचारसे अनशनादिको तथा प्रायश्चित्तादिको तप कहा है। कोई वीतरागभावरूप तपको न जाने और इन्हींको तप जानकर संग्रह करे तो संसारहीमें भ्रमण करेगा। बहुत क्या, इतना समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य नाना विशेष बाह्यसाधनकी अपेक्षा उपचारसे किये हैं, उनको व्यवहारमात्र धर्मसंज्ञा जानना। इस रहस्यको नहीं जानता इसलिये उसके निर्जराका भी सच्चा श्रद्धान नहीं है।

[मोक्षतत्त्वका अन्यथारूप]

तथा सिद्ध होना उसे मोक्ष मानता है। वहाँ जन्म-जरा-मरण-रोग-क्लेशादि दुःख दूर हुए, अनन्तज्ञान द्वारा लोकालोकका जानना हुआ, त्रिलोकपूज्यपना हुआ,—इत्यादि रूपसे उसकी महिमा जानता है। सो सर्व जीवोंके दुःख दूर करनेकी, ज्ञेय जाननेकी तथा पूज्य होनेकी इच्छा है। यदि इन्हींके अर्थ मोक्ष की इच्छा की तो इसके अन्य जीवोंके श्रद्धानसे क्या विशेषता हुई ? तथा इसके ऐसा भी अभिप्राय है कि स्वर्गमें सुख है उससे अनन्तगुना सुख मोक्षमें है। सो इस गुणाकारमें वह स्वर्ग-मोक्ष सुखकी एक जाति जानता है। वहाँ स्वर्गमें तो विषयादि सामग्री जनित सुख होता है, उसकी जाति इसे भासित होती है, परन्तु मोक्षमें विषयादि सामग्री है नहीं, सो वहाँके सुखकी जाति इसे भासित तो नहीं होती परन्तु महान पुरुष स्वर्गसे भी मोक्षको उत्तम कहते हैं इसलिये यह भी उत्तम ही मानता है। जैसे कोई गायनका स्वरूप न पहिचाने, परन्तु सभाके सर्व लोग सराहना करते हैं इसलिये आप भी सराहना करता है। उसी प्रकार यह मोक्षको उत्तम मानता है।

यहाँ वह कहता है—शास्त्रमें भी तो इन्द्रादिकसे अनन्तगुना सुख सिद्धोंके प्ररूपित किया है।

उत्तरः—जैसे तीर्थंकरके शरीरकी प्रभाको सूर्यप्रभासे कोटि गुनी कही, वहाँ उनकी एक जाति नहीं है; परन्तु लोकमें सूर्यप्रभाकी महिमा है, उससे भी अधिक महिमा बतलानेके लिये उपमालंकार करते हैं। उसी प्रकार सिद्धसुखको इन्द्रादिसुखसे अनन्तगुना कहा है; वहाँ उनकी एक जाति नहीं है; परन्तु लोकमें इन्द्रादिसुखकी महिमा है, उससे भी बहुत महिमा बतलानेके लिये उपमालंकार करते हैं।

फिर प्रश्न है कि—वह सिद्धसुख और इन्द्रादिसुखकी एक जाति जानता है—ऐसा निश्चय तुमने कैसे किया ?

समाधानः—जिस धर्मसाधनका फल स्वर्ग मानता है उस धर्मसाधनहीका फल मोक्ष मानता है। कोई जीव इन्द्रादि पद प्राप्त करे, कोई मोक्ष प्राप्त करे, वहाँ उन दोनोंको एक जातिके धर्मका फल हुआ मानता है। ऐसा तो मानता है कि—जिसके साधन थोड़ा होता है वह इन्द्रादिपद प्राप्त करता है; जिसके सम्पूर्ण साधन हो वह मोक्ष प्राप्त करता है; परन्तु वहाँ धर्मकी जाति एक जानता है। सो जो कारणकी एक जाति जाने, उसे कार्यकी भी एक जातिका श्रद्धान अवश्य हो; क्योंकि कारणविशेष होनेपर ही कार्यविशेष होता है। इसलिये हमने यह निश्चय किया कि उसके अभिप्रायमें इन्द्रादिसुख और सिद्धसुखकी एक जातिका श्रद्धान है। तथा कर्मनिमित्तसे आत्माके औपाधिक भाव थे, उनका अभाव होनेपर आप शुद्ध स्वभावरूप केवल आत्मा हुआ। जैसे परमाणु स्कन्धसे पृथक् होनेपर शुद्ध होता है, उसी प्रकार यह कर्मादिकसे भिन्न होकर शुद्ध होता है। विशेष इतना कि—वह दोनों अवस्थामें दुःखी-सुखी नहीं है; परन्तु आत्मा अशुद्ध अवस्थामें दुःखी था, अब उसका अभाव होनेसे निराकुल लक्षण अनन्तसुखकी प्राप्ति हुई। तथा इन्द्रादिकके जो सुख है वह कषायभावोंसे आकुलतारूप है सो वह परमार्थसे दुःख ही है; इसलिये उसकी और इसकी एक जाति नहीं है। तथा स्वर्गसुखका कारण प्रशस्त राग है और मोक्षसुखका कारण वीतरागभाव है, इसलिये कारणमें भी विशेष है। परन्तु ऐसा भाव इसे भासित नहीं होता, इसलिये मोक्षका भी इसको सच्चा श्रद्धान नहीं है। इस प्रकार इसके सच्चा तत्त्वश्रद्धान नहीं है। इसीलिये समयसारमें कहा है कि—अभव्यको तत्त्वश्रद्धान होनेपर भी मिथ्यादर्शन ही रहता है। तथा प्रवचनसारमें कहा है कि—आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान कार्यकारी नहीं है।

तथा व्यवहारदृष्टिसे सम्यग्दर्शनके आठ अंग कहे हैं उनको यह पालता है; पच्चीस दोष कहे हैं उनको टालता है; संवेगादिक गुण कहे हैं उनको धारण करता है। परन्तु जैसे बीज बोए बिना खेतके सब साधन करने पर भी अन्न नहीं होता, उसी प्रकार सच्चा तत्त्वश्रद्धान हुए बिना सम्यक्त्व नहीं होता। पंचास्तिकाय व्याख्यामें जहाँ अन्तमें व्यवहाराभासवालेका वर्णन किया है वहाँ ऐसा ही कथन किया है। इस प्रकार इसको सम्यग्दर्शनके अर्थ साधन करने पर भी सम्यग्दर्शन नहीं होता।

[सम्यग्ज्ञानका अन्यथारूप]

अब, शास्त्रमें सम्यग्ज्ञानके अर्थ शास्त्राभ्यास करनेसे सम्यग्ज्ञान होना कहा है। इसलिये यह शास्त्राभ्यासमें तत्पर रहता है। वहाँ सीखना, सिखाना, याद करना, बाँचना, पढ़ना आदि क्रियाओंमें तो उपयोगको रमाता है, परन्तु उसके प्रयोजन पर दृष्टि नहीं है। इस उपदेशमें मुझे कार्यकारी क्या है, सो अभिप्राय नहीं है, स्वयं, शास्त्राभ्यास करके औरोंको सम्बोधन देनेका अभिप्राय रखता है, और बहुतसे जीव उपदेश मानें वहाँ सन्तुष्ट होता है, परन्तु ज्ञानाभ्यास तो अपने लिये किया जाता है और अवसर पाकर परका भी भला होता हो तो परका भी भला करे। तथा कोई उपदेश न सुने तो मत सुनो, स्वयं क्यों विषाद करें? शास्त्रार्थका भाव जानकर अपना भला करना। तथा शास्त्राभ्यासमें भी कितने ही तो व्याकरण, न्याय, काव्य आदि शास्त्रोंका बहुत अभ्यास करते हैं परन्तु वे तो लोकमें पांडित्य प्रगट करनेके कारण हैं; उनमें आत्महितका निरूपण तो है नहीं। इनका तो प्रयोजन इतना ही है कि—अपनी बुद्धि बहुत हो तो थोड़ा-बहुत इनका अभ्यास करके पश्चात् आत्महितके साधक शास्त्रोंका अभ्यास करना। यदि बुद्धि थोड़ी हो तो आत्महितके साधक सुगम शास्त्रोंका ही अभ्यास करे। ऐसा नहीं करना कि व्याकरणादिका ही अभ्यास करते-करते आयु पूर्ण हो जाये और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति न बने।

यहाँ कोई कहे—ऐसा है तो व्याकरणादिका अभ्यास नहीं करना चाहिये?

उससे कहते हैं कि—उनके अभ्यासके बिना महान् ग्रन्थोंका अर्थ खुलता नहीं है, इसलिये उनका भी अभ्यास करना योग्य है।

फिर प्रश्न है कि—महान् ग्रन्थ ऐसे क्यों बनाये जिनका अर्थ व्याकरणादिके बिना न खुले? भाषा द्वारा सुगमरूप हितोपदेश क्यों नहीं लिखा? उनके कुछ प्रयोजन तो था नहीं।

समाधानः—भाषामें भी प्राकृत, संस्कृतादिकके ही शब्द हैं, परन्तु अपभ्रंश सहित हैं। तथा देश-देशमें भाषा अन्य-अन्य प्रकार है, तो महंत पुरुष शास्त्रोंमें अपभ्रंश शब्द कैसे लिखते? बालक तोतला बोले परन्तु बड़े तो नहीं बोलते। तथा एक देशकी भाषारूप शास्त्र दूसरे देशमें जाये, तो वहाँ उसका अर्थ कैसे भासित होगा? इसलिये प्राकृत, संस्कृतादि शुद्ध शब्दरूप ग्रन्थ रचे हैं। तथा व्याकरणके बिना शब्दका अर्थ यथावत् भासित नहीं होता; न्यायके बिना लक्षण, परीक्षा आदि यथावत् नहीं हो सकते—इत्यादि वचन द्वारा वस्तुके स्वरूपका निर्णय व्याकरणादि बिना भलीभाँति न होता जानकर उनकी आम्नाय अनुसार कथन किया है। भाषामें भी उनकी थोड़ी-बहुत आम्नाय आने पर ही उपदेश हो सकता है, परन्तु उनकी बहुत आम्नायसे भली भाँति निर्णय हो सकता है।

फिर कहोगे कि—ऐसा है तो अब भाषारूप ग्रन्थ किसलिये बनाते हैं?

समाधानः—कालदोषसे जीवोंकी मन्दबुद्धि जानकर किन्हीं जीवोंके जितना ज्ञान होगा उतना ही होगा—ऐसा अभिप्राय विचारकर भाषाग्रंथ रचते हैं; इसलिये जो जीव व्याकरणादिका अभ्यास न कर सकें उन्हें ऐसे ग्रंथों द्वारा ही अभ्यास करना। तथा जो जीव शब्दोंकी नाना युक्तियों सहित अर्थ करनेके लिये ही व्याकरणका अवगाहन करते हैं, वादादि करके महंत होनेके लिये न्यायका अवगाहन करते हैं और चतुराई प्रगट करनेके लिये काव्यका अवगाहन करते हैं;—इत्यादि लौकिक प्रयोजन सहित इनका अभ्यास करते हैं वे धर्मात्मा नहीं हैं। इनका बन सके उतना थोड़ा-बहुत अभ्यास करके आत्महितके अर्थ जो तत्त्वादिकका निर्णय करते हैं वही धर्मात्मा-पण्डित जानना।

तथा कितने ही जीव पुण्य-पापादिक फलके निरूपक पुराणादि शास्त्रोंका, पुण्य-पापक्रियाके निरूपक आचारादि शास्त्रोंका तथा गुणस्थान-मार्गणा, कर्मप्रकृति, त्रिलोकादिके निरूपक करणानुयोगके शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं; परन्तु यदि आप इनका प्रयोजन नहीं विचारते, तब तो तोते जैसा ही पढ़ना हुआ। और यदि इनका प्रयोजन विचारते हैं तो वहाँ पापको बुरा जानना, पुण्यको भला जानना, गुणस्थानादिकका स्वरूप जान लेना, तथा जितना इनका अभ्यास करेंगे उतना हमारा भला है—इत्यादि प्रयोजनका विचार किया है, सो इससे इतना तो होगा कि—नरकादि नहीं होंगे, स्वर्गादिक होंगे, परन्तु मोक्षमार्गकी तो प्राप्ति नहीं होगी।

प्रथम सच्चा तत्त्वज्ञान हो, वहाँ फिर पुण्य-पापके फलको संसार जाने, शुद्धोपयोगसे मोक्ष माने, गुणस्थानादिरूप जीवका व्यवहार निरूपण जाने इत्यादि ज्योंका त्यों श्रद्धान करता हुआ इनका अभ्यास करे तो सम्यग्ज्ञान हो। सो तत्त्वज्ञानके कारण अध्यात्मरूप द्रव्यानुयोगके शास्त्र हैं, और कितने ही जीव उन शास्त्रोंका भी अभ्यास करते हैं, परन्तु वहाँ जैसा लिखा है वैसा निर्णय स्वयं करके आपको आपरूप, परको पररूप और आस्रवादिकका आस्रवादिरूप श्रद्धान नहीं करते। मुखसे तो यथावत् निरूपण ऐसा भी करें जिसके उपदेशसे अन्य जीव सम्यग्दृष्टि हो जायें, परन्तु जैसे कोई लड़का स्त्रीका स्वांग बनाकर ऐसा गाना गाये जिसे सुनकर अन्य पुरुष-स्त्री कामरूप हो जायें। परन्तु वह तो जैसा सीखा वैसा कहता है, उसे कुछ भाव भासित नहीं होता, इसलिये स्वयं कामासक्त नहीं होता। उसी प्रकार यह जैसा लिखा है वैसा उपदेश देता है, परन्तु स्वयं अनुभव नहीं करता। यदि स्वयंको श्रद्धान हुआ होता तो अन्यतत्त्वका अंश अन्यतत्त्वमें न मिलाता; परन्तु इसका ठिकाना नहीं है इसलिये सम्यग्ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार यह ग्यारह अंग तक पढ़े, तथापि सिद्धि नहीं होती। सो समयसारादिमें मिथ्यादृष्टिको ग्यारह अंगोंका ज्ञान होना लिखा है।

यहाँ कोई कहे कि—ज्ञान तो इतना होता है, परन्तु जैसा अभव्यसेनको श्रद्धानरहित ज्ञान हुआ वैसा होता है।

समाधानः—वह तो पापी था, जिसे हिंसादिकी प्रवृत्तिका भय नहीं था। परन्तु जो जीव ग्रैवेयक आदिमें जाता है, उसके ऐसा ज्ञान होता है, वह तो श्रद्धान-रहित नहीं है; उसके तो ऐसा ही श्रद्धान है कि—यह ग्रन्थ सच्चे हैं, परन्तु तत्त्वश्रद्धान सच्चा नहीं हुआ। समयसारमें एक ही जीवके धर्मका श्रद्धान, ग्यारह अंगका ज्ञान और महाव्रतादिकका पालन करना लिखा है। प्रवचनसारमें ऐसा लिखा है कि—आगमज्ञान ऐसा हुआ जिसके द्वारा सर्वपदार्थोंको हस्तामलकवत् जानता है। यह भी जानता है कि इनका जाननेवाला मैं हूँ; परन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ.—इस प्रकार स्वयंको परद्रव्यसे भिन्न केवल चैतन्यद्रव्य अनुभव नहीं करता। इसलिये आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान भी कार्यकारी नहीं है। इस प्रकार यह सम्यग्ज्ञानके अर्थ जैन शास्त्रोंका अभ्यास करता है, तथापि इसके सम्यग्ज्ञान नहीं है।

[सम्यक्चारित्रका अन्यथारूप]

तथा इनके सम्यक्चारित्रके अर्थ कैसी प्रवृत्ति है सो कहते हैं—बाह्यक्रिया पर तो इनकी दृष्टि है और परिणाम सुधरने-बिगड़नेका विचार नहीं है। और यदि

परिणामोंका भी विचार हो तो जैसे अपने परिणाम होते दिखायी दें उन्हीं पर दृष्टि रहती है; परन्तु उन परिणामोंकी परम्पराका विचार करने पर अभिप्रायमें जो वासना है उसका विचार नहीं करते। और फल लगता है सो अभिप्रायमें जो वासना है उसका लगता है। इसका विशेष व्याख्यान आगे करेंगे। वहाँ स्वरूप भलीभाँति भासित होगा।

ऐसी पहिचानके बिना बाह्य आचरणका ही उद्यम है। वहाँ कितने ही जीव तो कुलक्रमसे अथवा देखादेखी या क्रोध, मान, माया, लोभादिकसे आचरण करते हैं, उनके तो धर्मबुद्धि ही नहीं है, सम्यक्चारित्र कहाँसे हो? उन जीवोंमें कोई तो भोले हैं व कोई कषायी हैं; सो अज्ञानभाव व कषाय होनेपर सम्यक्चारित्र नहीं होता। तथा कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि—जाननेमें क्या है, कुछ करेंगे तो फल लगेगा।—ऐसा विचारकर व्रत-तप आदि क्रियाहीके उद्यमी रहते हैं और तत्त्वज्ञानका उपाय नहीं करते। सो तत्त्वज्ञानके बिना महाव्रतादिका आचरण भी मिथ्याचारित्र ही नाम पाता है और तत्त्वज्ञान होनेपर कुछ भी व्रतादिक नहीं हैं तथापि असंयतसम्यग्दृष्टि नाम पाता है। इसलिये पहले तत्त्वज्ञानका उपाय करना, पश्चात् कषाय घटानेके लिये बाह्यसाधन करना। वही योगीन्द्रदेवकृत *श्रावकाचारमें कहा है—

"दंसणभूमिहं बाहिरा, जिय वयरुक्ख ण हुंति।"

अर्थः—इस सम्यग्दर्शन भूमिका बिना हे जीव, व्रतरूपी वृक्ष नहीं होते। अर्थात् जिन जीवोंके तत्त्वज्ञान नहीं है वे यथार्थ आचरण नहीं आचरते। वही विशेष बतलाते हैं—

कितने ही जीव पहले तो बड़ी प्रतिज्ञा धारण कर बैठते हैं, परन्तु अन्तरंगमें विषय-कषाय वासना मिटी नहीं है इसलिये जैसे-तैसे प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं। वहाँ उस प्रतिज्ञासे परिणाम दुःखी होते हैं। जैसे कोई बहुत उपवास कर बैठता है और पश्चात् पीड़ासे दुःखी हुआ रोगीकी भाँति काल गँवाता है, धर्म साधन नहीं करता; तो प्रथम ही सधती जाने उतनी ही प्रतिज्ञा क्यों न ले? दुःखी होनेमें आर्तध्यान हो, उसका फल अच्छा कैसे लगेगा? अथवा उस प्रतिज्ञाका दुःख नहीं सहा जाता तब उसके बदले विषय पोषणके लिये अन्य उपाय करता है। जैसे—तृषा लगे तब पानी तो न पिये और अन्य शीतल उपचार अनेक प्रकार करे; व घृत तो छोड़े

---

* सावयधम्म दोहा-५७।

और अन्य स्निग्ध वस्तुका उपाय करके भक्षण करे।—इसी प्रकार अन्य जानना। यदि परीषह नहीं सहे जाते थे, विषयवासना नहीं छूटी थी, तो ऐसी प्रतिज्ञा किसलिये की? सुगम विषय छोड़कर पश्चात् विषम विषयोंका उपाय करना पड़े ऐसा कार्य क्यों करें वहाँ तो उलटा रागभाव तीव्र होता है। अथवा प्रतिज्ञामें दुःख हो तब परिणाम लगानेके लिये कोई आलम्बन विचारता है। जैसे—उपवास करके फिर क्रीड़ा करता है; कितने ही पापी जुआ आदि कुव्यसनोंमें लग जाते हैं अथवा सो रहना चाहते हैं। ऐसा जानते हैं कि किसी प्रकार काल पूरा करना। इसी प्रकार अन्य प्रतिज्ञामें जानना।

अथवा कितने ही पापी ऐसे भी हैं कि—पहले प्रतिज्ञा करते हैं, बादमें उससे दुःखी हों तब प्रतिज्ञा छोड़ देते हैं। प्रतिज्ञा लेना-छोड़ना उनको खेलमात्र है; सो प्रतिज्ञा भंग करनेका महापाप है; इससे तो प्रतिज्ञा न लेना ही भला है। इस प्रकार पहले तो निर्विचार होकर प्रतिज्ञा करते हैं और पश्चात् ऐसी दशा होती है। जैनधर्ममें प्रतिज्ञा न लेनेका दण्ड तो है नहीं; जैनधर्ममें तो ऐसा उपदेश है कि पहले तो तत्त्वज्ञानी हो; फिर जिसका त्याग करे उसका दोष पहिचाने; त्याग करनेमें जो गुण हो उसे जाने; फिर अपने परिणामोंको ठीक करे; वर्तमान परिणामोंहीके भरोसे प्रतिज्ञा न कर बैठे; भविष्यमें निर्वाह होता जाने तो प्रतिज्ञा करे; तथा शरीरकी शक्ति व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिकका विचार करे।—इस प्रकार विचार करके फिर प्रतिज्ञा करनी। वह भी ऐसी करनी जिसके प्रतिज्ञाके प्रति निरादरभाव न हो, परिणाम चढ़ते रहें। ऐसी जैनधर्मकी आम्नाय है।

यहाँ कोई कहे कि—चांडालादिकने प्रतिज्ञा की, उनके इतना विचार कहाँ होता है?

समाधानः—मरणपर्यन्त कष्ट हो तो हो, परन्तु प्रतिज्ञा नहीं छोड़ना—ऐसा विचार करके वे प्रतिज्ञा करते हैं; प्रतिज्ञाके प्रति निरादरपना नहीं होता। और सम्यग्दृष्टि जो प्रतिज्ञा करते हैं सो तत्त्वज्ञानादिपूर्वक ही करते हैं। तथा जिनके अन्तरंग विरक्तता नहीं हुई और बाह्यप्रतिज्ञा धारण करते हैं, वे प्रतिज्ञाके पहले और बादमें जिसकी प्रतिज्ञा करें उसमें अति आसक्त होकर लगते हैं। जैसे—उपवासके धारणे-पारणेके भोजनमें अति लोभी होकर गरिष्ठादि भोजन करते हैं, शीघ्रता बहुत करते हैं। जैसे—जलको रोक रखा था, जब वह छूटा तभी बहुत प्रवाह चलने लगा।

उसी प्रकार प्रतिज्ञा द्वारा विषयप्रवृत्ति रोक रखी थी, अंतरंग आसक्ति बढ़ती गई, और प्रतिज्ञा पूर्ण होते ही अत्यन्त विषयप्रवृत्ति होने लगी; सो प्रतिज्ञाके कालमें विषयवासना मिटी नहीं; आगे-पीछे उसके बदले अधिक राग किया; सो फल तो रागभाव मिटनेसे होगा, इसलिये जितनी विरक्ति हुई हो उतनी ही प्रतिज्ञा करना। महामुनि भी थोड़ी प्रतिज्ञा करके फिर आहारादिमें उछटि (कमी) करते हैं। और बड़ी प्रतिज्ञा करते हैं तो अपनी शक्ति देखकर करते हैं। जिस प्रकार परिणाम चढ़ते रहें वैसा करते हैं। प्रमाद भी न हो और आकुलता भी उत्पन्न न हो—ऐसी प्रवृत्ति कार्यकारी जानना। तथा जिनको धर्म पर दृष्टि नहीं है वे कभी तो बड़ा धर्म आचरते हैं, कभी अधिक स्वच्छन्द होकर प्रवर्तते हैं। जैसे किसी धर्म पर्वमें तो बहुत उपवासादि करते हैं, किसी धर्मपर्वमें बारम्बार भोजनादि करते हैं। यदि धर्मबुद्धि हो तो यथायोग्य सर्व धर्मपर्वोंमें यथायोग्य संयमादि धारण करें। तथा कभी तो किसी धर्मकार्यमें बहुत धन खर्च करते हैं और कभी कोई धर्मकार्य आ पहुँचा हो, तब भी वहाँ थोड़ा भी धन खर्च नहीं करते। सो धर्मबुद्धि हो तो यथाशक्ति यथायोग्य सभी धर्मकार्योंमें धन खर्चते रहें।—इसी प्रकार अन्य जानना।

तथा जिनके सच्चा धर्मसाधन नहीं है वे कोई क्रिया तो बहुत बड़ी अंगीकार करते हैं, तथा कोई हीन क्रिया करते हैं। जैसे धनादिकका तो त्याग किया और अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र इत्यादि विषयोंमें विशेष प्रवर्तते हैं। तथा कोई जामा पहिनना, स्त्री सेवन करना इत्यादि कार्योंका तो त्याग करके धर्मात्मापना प्रगट करते हैं, और पश्चात् खोटे व्यापारादि कार्य करते हैं, लोकनिंद्य पापक्रियाओंमें प्रवर्तते हैं। —इसी प्रकार कोई क्रिया अति उच्च तथा कोई क्रिया अति नीची करते हैं। वहाँ लोकनिंद्य होकर धर्मकी हँसी कराते हैं कि—देखो, अमुक धर्मात्मा ऐसे कार्य करता है। जैसे कोई पुरुष एक वस्त्र तो अति उत्तम पहिने और एक वस्त्र अति हीन पहिने तो हँसी ही होती है, उसी प्रकार यह भी हँसीको प्राप्त होता है। सच्चे धर्मकी तो यह आम्नाय है कि—जितने अपने रागादि दूर हुए हों उसके अनुसार जिस पदमें जो धर्म क्रिया सम्भव हो वह सब अंगीकार करे। यदि अल्प रागादि मिटे हों तो निचले पदमें ही प्रवर्तन करे, परन्तु उच्चपद धारण करके नीची क्रिया न करे।

यहाँ प्रश्न है कि—स्त्री सेवनादिका त्याग ऊपरकी प्रतिमामें कहा है, इसलिये निचली अवस्थावाला उसका त्याग करे या नहीं ?

समाधानः—निचली अवस्थावाला उनका सर्वथा त्याग नहीं कर सकता; कोई दोष लगता है; इसलिये ऊपरकी प्रतिमामें त्याग कहा है। निचली अवस्थामें जिस प्रकारका त्याग सम्भव हो, वैसा निचली अवस्थावाला भी करे; परन्तु जिस निचली अवस्थामें जो कार्य सम्भव ही नहीं है उसका करना तो कषायभावोंसे ही होता है। जैसे—कोई सप्तव्यसनका सेवन करता हो, और स्वस्त्रीका त्याग करे, तो कैसे हो सकता है? यद्यपि स्वस्त्रीका त्याग करना धर्म है, तथापि पहले सप्तव्यसनका त्याग हो तभी स्वस्त्रीका त्याग करना योग्य है। इसी प्रकार अन्य जानना।

तथा सर्व प्रकारसे धर्मको न जानता हो, ऐसा जीव किसी धर्मके अंगको मुख्य करके अन्य धर्मोंको गौण करता है। जैसे—कई जीव दया-धर्मको मुख्य करके पूजा-प्रभावनादि कार्यका उत्थापन करते हैं; कितने ही पूजा-प्रभावनादि धर्मको मुख्य करके हिंसादिकका भय नहीं रखते; कितने ही तपकी मुख्यतासे आर्तध्यानादिक करके भी उपवासादि करते हैं तथा अपनेको तपस्वी मानकर निःशंक क्रोधादि करते हैं; कितने ही दानकी मुख्यतासे बहुत पाप करके भी धन उपार्जन करके दान देते हैं, कितने ही आरम्भ-त्यागकी मुख्यतासे याचना आदि करते हैं, *इत्यादि प्रकारसे किसी धर्मको मुख्य करके अन्य धर्मको नहीं गिनते तथा उसके आश्रयसे पापका आचरण करते हैं। उनका यह कार्य ऐसा हुआ जैसे—अविवेकी व्यापारीको किसी व्यापारमें नफेके अर्थ अन्य प्रकारसे बहुत टोटा पड़ता है। चाहिये तो ऐसा कि—जैसे व्यापारीका प्रयोजन नफा है, सर्व विचार कर जैसे नफा बहुत हो वैसा करे; उसी प्रकार ज्ञानीका प्रयोजन वीतरागभाव है, सर्व विचार कर जैसे वीतरागभाव बहुत हो वैसा करे; क्योंकि मूलधर्म वीतरागभाव है। इसी प्रकार अविवेकी जीव अन्यथा धर्म अंगीकार करते हैं, उनके तो सम्यक्चारित्रका आभास भी नहीं होता।

तथा कितने ही जीव अणुव्रत-महाव्रतादिरूप यथार्थ आचरण करते हैं और आचरणके अनुसार ही परिणाम हैं, कोई माया-लोभादिकका अभिप्राय नहीं है; इन्हें धर्म जानकर मोक्षके अर्थ उनका साधन करते हैं, किन्हीं स्वर्गादिकके भोगोंकी भी इच्छा नहीं रखते, परन्तु तत्त्वज्ञान पहले नहीं हुआ, इसलिये आप तो जानते हैं कि मैं मोक्षका साधन कर रहा हूँ, परन्तु जो मोक्षका साधन है उसे जानते भी नहीं; केवल स्वर्गादिकहीका साधन करते हैं। कोई मिसरीको अमृत जानकर भक्षण करे तो उससे

* यहाँ पं० टोडरमलजीकी हस्तलिखित प्रतिके हासियेमें निम्न प्रकार नोंध लिखी हुई है—यहाँ स्नानादि शौचधर्मका कथन तथा लौकिक कार्य आएँ धर्म छोड़ी तहाँ लगि जाय तिनिका कथन लिखना है।

अमृतका गुण तो नहीं होता; अपनी प्रतीतिके अनुसार फल नहीं होता; फल तो जैसा साधन करे वैसा ही लगता है। शास्त्रमें ऐसा कहा है कि—चारित्रमें 'सम्यक्' पद है, वह अज्ञानपूर्वक आचरणकी निवृत्तिके अर्थ है; इसलिये प्रथम तत्त्वज्ञान हो और पश्चात् चारित्र हो सो सम्यक्चारित्र नाम पाता है। जैसे कोई किसान बीज तो बोये नहीं और अन्य साधन करे तो अन्न प्राप्ति कैसे हो? घास-फूस ही होगा। उसी प्रकार अज्ञानी तत्त्वज्ञानका तो अभ्यास करे नहीं और अन्य साधन करे तो मोक्ष प्राप्ति कैसे हो? देवपद आदि ही होंगे। वहाँ कितने ही जीव तो ऐसे हैं जो तत्त्वादिकके भली भाँति नाम भी नहीं जानते, केवल व्रतादिकमें ही प्रवर्तते हैं। कितने ही जीव ऐसे हैं जो पूर्वोक्त प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञानका अयथार्थ साधन करके व्रतादिमें प्रवर्तते हैं। यद्यपि वे व्रतादिकका यथार्थ आचरण करते हैं तथापि यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान बिना सर्व आचरण मिथ्याचारित्र ही है। यही समयसार कलशमें कहा है—

> क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
> क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
> साक्षान्मोक्षमिदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
> ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१४२॥

अर्थः—मोक्षसे पराङ्मुख ऐसे अति दुस्तर पंचाग्नि तपनादि कार्यों द्वारा आप ही क्लेश करते हैं तो करो, तथा अन्य कितने ही जीव महाव्रत और तपके भारसे चिरकालपर्यन्त क्षीण होते हुए क्लेश करते हैं तो करो; परन्तु यह साक्षात् मोक्षस्वरूप सर्व रोगरहित पद, जो अपने आप अनुभवमें आये ऐसा ज्ञानस्वभाव, वह तो ज्ञानगुणके बिना अन्य किसी भी प्रकारसे प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं है।

तथा पंचास्तिकायमें जहाँ अंतमें व्यवहाराभासीका कथन किया है वहाँ तेरह प्रकारका चारित्र होनेपर भी उसका मोक्षमार्गमें निषेध किया है। तथा प्रवचनसारमें आत्मज्ञानशून्य संयमभावको अकार्यकारी कहा है। तथा इन्हीं ग्रन्थोंमें व अन्य परमात्मप्रकाशादि शास्त्रोंमें इस प्रयोजनके लिये जहाँ-तहाँ निरूपण है। इसलिये पहले तत्त्वज्ञान होनेपर ही आचरण कार्यकारी है।

यहाँ कोई जाने कि—बाह्यमें तो अणुव्रत-महाव्रतादि साधते हैं परन्तु अन्तरंग परिणाम नहीं हैं और स्वर्गादिककी वांछासे साधते हैं। सो इस प्रकार साधनेसे तो पापबंध होता है। द्रव्यलिंगी मुनि अन्तिम ग्रैवेयक तक जाते हैं और पंचपरावर्तनोंमें

इकतीस सागर पर्यन्त देवायुकी प्राप्ति अनन्तवार होना लिखा है; सो ऐसे उच्चपद तो तभी प्राप्त करे जब अन्तरंग परिणामपूर्वक महाव्रत पाले, महामन्दकषायी हो, इस लोक-परलोकके भोगादिककी चाह न हो, केवल धर्मबुद्धिसे मोक्षाभिलाषी हुआ साधन साधे। इसलिये द्रव्यलिंगीके स्थूल तो अन्यथापना है नहीं, सूक्ष्म अन्यथापना है सो सम्यग्दृष्टिको भासित होता है। अब इनके धर्मसाधन कैसे है और उसमें अन्यथापना कैसे है ? सो कहते हैं—

प्रथम तो संसारमें नरकादिके दुःख जानकर व स्वर्गादिमें भी जन्म-मरणादिके दुःख जानकर, संसारसे उदास होकर मोक्षको चाहते हैं। सो इन दुःखोंको तो दुःख सभी जानते हैं। इन्द्र-अहमिन्द्रादिक विषयानुरागसे इन्द्रियजनित सुख भोगते हैं, उसे भी दुःख जानकर निराकुल सुखअवस्थाको पहिचानकर मोक्षको चाहते हैं वे ही सम्यग्दृष्टि जानना। तथा विषय सुखादिकका फल नरकादिक है, शरीर अशुचि, विनाशीक है—पोषण योग्य नहीं है, कुटुम्बादिक स्वार्थके सगे हैं,—इत्यादि परद्रव्योंका दोष विचारकर उनका तो त्याग करते हैं और व्रतादिकका फल स्वर्ग-मोक्ष है, तपश्चरणादि पवित्र अविनाशी फलके दाता हैं, उनके द्वारा शरीरका शोषण करने योग्य है, देव-गुरु-शास्त्रादि हितकारी हैं इत्यादि परद्रव्योंके गुणोंका विचार करके उन्हींको अंगीकार करते हैं। इत्यादि प्रकारसे किसी परद्रव्यको बुरा जानकर अनिष्टरूप श्रद्धान करते हैं, किसी परद्रव्यको भला जानकर इष्ट श्रद्धान करते हैं। सो परद्रव्योंमें इष्ट-अनिष्टरूप श्रद्धान सो मिथ्या है। तथा इसी श्रद्धानसे इनके उदासीनता भी द्वेषबुद्धिरूप होती है; क्योंकि किसीको बुरा जानना उसीका नाम द्वेष है।

कोई कहेगा—सम्यग्दृष्टि भी तो बुरा जानकर परद्रव्यका त्याग करते हैं।

समाधानः—सम्यग्दृष्टि परद्रव्योंको बुरा नहीं जानते अपने रागभावको बुरा जानते हैं। आप रागभावको छोड़ते हैं इसलिये उसके कारणका भी त्याग होता है। वस्तुका विचार करनेसे कोई परद्रव्य तो बुरा-भला है नहीं।

कोई कहेगा—निमित्तमात्र तो है ?

उत्तरः—परद्रव्य कोई जबरन् तो बिगाड़ता नहीं है; अपने भाव बिगड़े तब वह भी बाह्य निमित्त है। तथा उसके निमित्त बिना भी भाव बिगड़ते हैं, इसलिये नियमरूपसे निमित्त भी नहीं है। इस प्रकार परद्रव्यका तो दोष देखना मिथ्याभाव है। रागादिभाव ही बुरे हैं परन्तु इसके ऐसी समझ नहीं है। यह परद्रव्योंका दोष देखकर

ही चावल मानकर संग्रह करे तो वृथा खेदखिन्न ही होगा। वैसे चारित्र दो प्रकारका है—एक सराग है, एक वीतराग है। वहाँ ऐसा जानना कि—जो राग है वह चारित्रका स्वरूप नहीं है, चारित्रमें दोष है। तथा कितने ही ज्ञानी प्रशस्त-राग सहित चारित्र धारण करते हैं; उन्हें देखकर कोई अज्ञानी प्रशस्त रागको ही चारित्र मानकर संग्रह करे तो वृथा खेदखिन्न ही होगा।

यहाँ कोई कहेगा कि—पापक्रिया करनेसे तीव्र रागादिक होते थे, अब इन क्रियाओंको करने पर मन्द राग हुआ; इसलिये जितने अंशोंमें रागभाव कम हुआ उतने अंशोंमें तो चारित्र कहो। जितने अंशोंमें राग रहा उतने अंशोंमें राग कहो।—इस प्रकार उसके सराग चारित्र सम्भव है।

समाधानः—यदि तत्त्वज्ञानपूर्वक ऐसा हो, तब तो तुम कहते हो उसी प्रकार है। तत्त्वज्ञानके विना उत्कट (उग्र) आचरण होनेपर भी असंयम नाम ही पाता है; क्योंकि रागभाव करनेका अभिप्राय नहीं मिटता। वही बतलाते हैं:—

द्रव्यलिंगी मुनि राज्यादिकको छोड़कर निर्ग्रन्थ होता है, अट्ठाईस मूल गुणोंका पालन करता है, उग्रसे उग्र अनशनादि बहुत तप करता है, क्षुधादिक बाईस परिषह सहता है, शरीरके खंड-खंड होनेपर भी व्यग्र नहीं होता, व्रतभंगके अनेक कारण मिलने पर भी दृढ़ रहता है, किसीसे क्रोध नहीं करता, ऐसे साधनोंका मान नहीं करता, ऐसे साधनोंमें कोई कपट नहीं है, इन साधनों द्वारा इस लोक-परलोकके विषयसुखको नहीं चाहता;—ऐसी उसकी दशा हुई है। यदि ऐसी दशा न हो तो ग्रैवेयक पर्यन्त कैसे पहुँचे ? परन्तु उसे मिथ्यादृष्टि असंयमी ही शास्त्रमें कहा है। उसका कारण यह है कि—उसके तत्त्वोंका श्रद्धान-ज्ञान सच्चा नहीं हुआ है। पहले वर्णन किया उस प्रकार तत्त्वोंका श्रद्धान-ज्ञान हुआ है; उसी अभिप्रायसे सर्व साधन करता है; परन्तु उन साधनोंके अभिप्रायकी परम्पराका विचार करने पर कषायोंका अभिप्राय आता है। किस प्रकार ?—सो सुनो—यह पापके कारण रागादिकको तो हेय जानकर छोड़ता है, परन्तु पुण्यके कारण प्रशस्तरागको उपादेय मानता है; उसकी वृद्धिका उपाय करता है। सो प्रशस्त राग भी तो कषाय है। कषायको उपादेय माना तब कषाय करनेका ही श्रद्धान रहा। अप्रशस्त परद्रव्योंसे द्वेष करके प्रशस्त परद्रव्योंमें राग करनेका अभिप्राय हुआ, कुछ परद्रव्योंमें साम्यभावरूप अभिप्राय नहीं हुआ।

यहाँ प्रश्न है कि—सम्यग्दृष्टि भी तो प्रशस्त रागका उपाय रखता है।

उत्तर:—जैसे किसीका बहुत दण्ड होता था, वह थोड़ा दण्ड देनेका उपाय रखता है, थोड़ा दण्ड देकर हर्ष भी मानता है, परन्तु श्रद्धानमें दण्ड देना अनिष्ट ही मानता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिके पापरूप बहुत कषाय होता था, सो वह पुण्यरूप थोड़ा कषाय करनेका उपाय रखता है, थोड़ा कषाय होनेपर हर्ष भी मानता है, परन्तु श्रद्धानमें कषायको हेय ही मानता है। तथा जैसे—कोई कमाईका कारण जानकर व्यापारादिका उपाय रखता है, उपाय बन जाने पर हर्ष मानता है, उसी प्रकार द्रव्यलिंगी मोक्षका कारण जानकर प्रशस्तरागका उपाय रखता है, उपाय बन जाने पर हर्ष मानता है।—इस प्रकार प्रशस्तरागके उपायमें और हर्षमें समानता होनेपर भी सम्यग्दृष्टिके तो दण्ड समान और मिथ्यादृष्टिके व्यापार समान श्रद्धान पाया जाता है। इसलिये अभिप्रायमें विशेष हुआ।

तथा इसके परीषह–तपश्चरणादिकके निमित्तसे दुःख हो, उसका इलाज तो नहीं करता, परन्तु दुःखका वेदन करता है, सो दुःखका वेदन करना कषाय ही है। जहाँ वीतरागता होती है वहाँ तो जैसे अन्य ज्ञेयको जानता है उसी प्रकार दुःखके कारण ज्ञेयको जानता है, सो ऐसी दशा इसकी होती नहीं है। तथा उनको सहता है वह भी कषायके अभिप्रायरूप विचारसे सहता है। वह विचार ऐसा होता है कि—परवशतासे नरकादि गतिमें बहुत दुःख सहन किये, यह परीषहादिका दुःख तो थोड़ा है। इसको स्ववश सहनेसे स्वर्ग-मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है। यदि इनको न सहें और विषयसुखका सेवन करें तो नरकादिककी प्राप्ति होगी, वहाँ बहुत दुःख होगा।—इत्यादि विचारसे परीषहोंमें अनिष्टबुद्धि रहती है। केवल नरकादिकके भयसे तथा सुखके लोभसे उन्हें सहन करता है; सो यह सब कषायभाव ही हैं। तथा ऐसा विचार होता है कि—जो कर्म बाँधे थे वे भोगे बिना नहीं छूटते; इसलिये मुझे सहने पड़े। सो ऐसे विचारसे कर्मफल चेतनारूप प्रवर्तता है। तथा पर्यायदृष्टिसे जो परीषहादिरूप अवस्था होती है उसे अपनेको हुई मानता है, द्रव्यदृष्टिसे अपनी और शरीरादिककी अवस्थाको भिन्न नहीं पहिचानता। इसी प्रकार नानाप्रकारके व्यवहार विचारसे परीषहादिक सहन करता है।

तथा उसने राज्यादिक विषयसामग्रीका त्याग किया है और इष्ट भोजनादिकका त्याग करता रहता है; वह तो जैसे कोई दाहज्वरवाला वायु होनेके भयसे शीतलवस्तु सेवनका त्याग करता है; परन्तु जब तक शीतलवस्तुका सेवन रुचता है तब तक उसके दाहका अभाव नहीं कहा जाता। उसी प्रकार राग सहित जीव नरकादिकके भयसे विषयसेवनका त्याग करता है, परन्तु जब तक विषयसेवन रुचता है तब तक उसके

रागका अभाव नहीं कहा जाता। तथा जैसे—अमृतका आस्वादी देवको अन्य भोजन स्वयमेव नहीं रुचता, उसी प्रकार स्वरसका आस्वादन करके विषयसेवनकी अरुचि इसके नहीं हुई है। इस प्रकार फलादिककी अपेक्षा परीषह सहनादिको सुखका कारण जानता है और विषयसेवनादिको दुःखका कारण जानता है। तथा तत्काल परीषह सहनादिकसे दुःख होना मानता है और विषयसेवनादिकसे सुख मानता है; तथा जिनसे सुख-दुःखका होना माना जाये उनमें इष्ट-अनिष्टबुद्धिसे राग-द्वेषरूप अभिप्रायका अभाव नहीं होता, और जहाँ राग-द्वेष हैं वहाँ चारित्र नहीं होता। इसलिये यह द्रव्यलिंगी विषयसेवन छोड़कर तपश्चरणादि करता है तथापि असंयमी ही है। सिद्धान्तमें असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टिसे भी इसे हीन कहा है; क्योंकि उनके चौथा-पाँचवाँ गुणस्थान है और इसके पहला ही गुणस्थान है।

यहाँ कोई कहे कि—असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टिके कषायोंकी प्रवृत्ति विशेष है और द्रव्यलिंगी मुनिके थोड़ी है, इसीसे असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि तो सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त ही जाते हैं और द्रव्यलिंगी अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त जाता है। इसलिये भावलिंगी मुनिसे तो द्रव्यलिंगीको हीन कहो, उसे असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टिसे हीन कैसे कहा जाय?

समाधानः—असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टिके कषायोंकी प्रवृत्ति तो है, परन्तु श्रद्धानमें किसी भी कषायके करनेका अभिप्राय नहीं है। तथा द्रव्यलिंगीके शुभकषाय करनेका अभिप्राय पाया जाता है, श्रद्धानमें उन्हें भला जानता है; इसलिये श्रद्धानकी अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टिसे भी इसके अधिक कषाय है। तथा द्रव्यलिंगीके योगोंकी प्रवृत्ति शुभरूप बहुत होती है और अघातिकर्मोंमें पुण्य-पापबंधका विशेष शुभ-अशुभ योगोंके अनुसार है, इसलिये वह अंतिम ग्रैवेयकपर्यन्त पहुँचता है; परन्तु वह कुछ कार्यकारी नहीं है, क्योंकि अघातिया कर्म आत्मगुणके घातक नहीं हैं, उनके उदयसे उच्च-नीचपद प्राप्त किये तो क्या हुआ? वे तो बाह्य संयोगमात्र संसारदशाके स्वाँग हैं, आप तो आत्मा है, इसलिये आत्मगुणके घातक जो घातियाकर्म हैं उनकी हीनता कार्यकारी है। उन घातिया कर्मोंका बंध बाह्यप्रवृत्तिके अनुसार नहीं है, अंतरंग कषाय-शक्तिके अनुसार है; इसीलिये द्रव्यलिंगीकी अपेक्षा असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टिके घातिकर्मोंका बंध थोड़ा है। द्रव्यलिंगीके तो सर्व घातिकर्मोंका बंध बहुत स्थिति-अनुभाग सहित होता है, और असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी आदि

कर्मोंका तो बन्ध है ही नहीं, अवशेषोंका बन्ध होता है वह अल्प स्थिति-अनुभाग सहित होता है। तथा द्रव्यलिंगीके कदापि गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती, सम्यग्दृष्टिके कदाचित् होती है और देश व सकल संयम होनेपर निरन्तर होती है। इसीसे यह मोक्षमार्गी हुआ है। इसलिये द्रव्यलिंगी मुनिको शास्त्रमें असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टिसे हीन कहा है। समयसार शास्त्रमें द्रव्यलिंगी मुनिकी हीनता गाथा, टीका और कलशोंमें प्रगट की है। तथा पंचास्तिकाय टीकामें जहाँ केवल व्यवहारावलम्बीका कथन किया है वहाँ व्यवहार पंचाचार होनेपर भी उसकी हीनता ही प्रगट की है। तथा प्रवचनसारमें संसारतत्त्व द्रव्यलिंगीको कहा है। परमात्मप्रकाशादि अन्य शास्त्रोंमें भी इस व्याख्यानको स्पष्ट किया है। द्रव्यलिंगीके जो जप, तप, शील, संयमादि क्रियाएँ पायी जाती हैं उन्हें भी इन शास्त्रोंमें जहाँ-तहाँ अकार्यकारी बतलाया है, सो वहाँ देख लेना। यहाँ ग्रन्थ बढ़ जानेके भयसे नहीं लिखते हैं। इस प्रकार केवल व्यवहाराभासके अवलम्बी मिथ्यादृष्टियोंका निरूपण किया।

[निश्चय-व्यवहारनयाभासावलम्बीका स्वरूप]

अब, जो निश्चय-व्यवहार दोनों नयोंके आभासका अवलम्बन लेते हैं—ऐसे मिथ्यादृष्टियोंका निरूपण करते हैं:—

जो जीव ऐसा मानते हैं कि—जिनमतमें निश्चय-व्यवहार दोनों नय कहे हैं, इसलिये हमें उन दोनोंका अंगीकार करना चाहिये।—ऐसा विचार कर जैसा केवल निश्चयाभासके अवलम्बियोंका कथन किया था, वैसे तो निश्चयका अंगीकार करते हैं और जैसे केवल व्यवहाराभासके अवलम्बियोंका कथन किया था वैसे व्यवहारका अंगीकार करते हैं। यद्यपि इस प्रकार अंगीकार करनेमें दोनों नयोंके परस्पर विरोध है, तथापि करें क्या? सच्चा तो दोनों नयोंका स्वरूप भासित हुआ नहीं और जिनमतमें दो नय कहे हैं, उनमेंसे किसीको छोड़ा भी नहीं जाता; इसलिये भ्रमसहित दोनोंका साधन साधते हैं, वे जीव भी मिथ्यादृष्टि जानना।

अब इनकी प्रवृत्तिका विशेष बतलाते हैं—अन्तरंगमें आपने तो निर्धार करके यथावत् निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्गको पहिचाना नहीं, जिन आज्ञा मानकर निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग दो प्रकार मानते हैं। सो मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्गका निरूपण दो प्रकार है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्गको मोक्षमार्ग निरूपित किया जाय सो निश्चय मोक्षमार्ग है और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं परन्तु मोक्षमार्गका निमित्त है व सहचारी

है उसे उपचारसे मोक्षमार्ग कहा जाय सो व्यवहारमोक्षमार्ग है; क्योंकि निश्चयव्यवहारका सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार-इसलिये निरूपण-अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना। [किन्तु] एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहारमोक्षमार्ग है—इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। तथा निश्चय-व्यवहार दोनोंको उपादेय मानता है वह भी भ्रम है, क्योंकि निश्चय-व्यवहारका स्वरूप तो परस्पर विरोधसहित है। कारण कि समयसारमें ऐसा कहा है—

"ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिऊण सुद्धणउ* ।" ११ ॥

अर्थः—व्यवहार अभूतार्थ है, सत्यस्वरूपका निरूपण नहीं करता; किसी अपेक्षा उपचारसे अन्यथा निरूपण करता है। तथा शुद्धनय जो निश्चय है वह भूतार्थ है, जैसा वस्तुका स्वरूप है, वैसा निरूपण करता है।—इस प्रकार इन दोनोंका स्वरूप तो विरुद्धता सहित है।

तथा तू ऐसा मानता है कि—सिद्धसमान शुद्ध आत्माका अनुभवन सो निश्चय, और व्रत, शील, संयमादिरूप प्रवृत्ति सो व्यवहार; सो तेरा ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि किसी द्रव्यभावका नाम निश्चय और किसीका नाम व्यवहार—ऐसा नहीं है। एक ही द्रव्यके भावको उस स्वरूप ही निरूपण करना सो निश्चयनय है, उपचारसे उस द्रव्यके भावको अन्यद्रव्यके भावस्वरूप निरूपण करना सो व्यवहार है। जैसे—मिट्टीके घड़ेको मिट्टीका घड़ा निरूपित किया जाय सो निश्चय और घृतसयोगके उपचारसे उसीको घृतका घड़ा कहा जाय सो व्यवहार। ऐसे ही अन्यत्र जानना। इसलिये तू किसीको निश्चय माने और किसी को व्यवहार माने वह भ्रम है। तथा तेरे माननेमें भी निश्चय-व्यवहारको परस्पर विरोध आया। यदि तू अपनेको सिद्धसमान शुद्ध मानता है तो व्रतादिक किसलिये करता है? यदि व्रतादिकके साधन द्वारा सिद्ध होना चाहता है तो वर्तमानमें शुद्ध आत्माका अनुभवन मिथ्या हुआ। इस प्रकार दोनों नयोंके परस्पर विरोध है; इसलिये दोनों नयोंका उपादेयपना नहीं बनता।

यहाँ प्रश्न है कि—समयसारादिमें शुद्ध आत्माके अनुभवको निश्चय कहा है; व्रत, तप, संयमादिको व्यवहार कहा है—इस प्रकार ही हम मानते हैं?

समाधानः—शुद्ध आत्माका अनुभव सच्चा मोक्षमार्ग है इसलिये उसे निश्चय कहा। यहाँ, स्वभावसे अभिन्न, परभावसे भिन्न—ऐसा शुद्ध शब्दका अर्थ जानना, संसारी

* ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥ ११ ॥

को सिद्ध मानना—ऐसा भ्रमरूप अर्थ शुद्ध शब्दका नहीं जानना। तथा व्रत, तप आदि मोक्षमार्ग हैं नहीं, निमित्तादिककी अपेक्षा उपचारसे इनको मोक्षमार्ग कहते हैं, इसलिये इन्हें व्यवहार कहा है।—इस प्रकार भूतार्थ-अभूतार्थ मोक्षमार्गपनेसे इनको निश्चय-व्यवहार कहा है; सो ऐसा ही मानना। परन्तु यह दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं, इन दोनोंको उपादेय मानना वह तो मिथ्याबुद्धि ही है।

वहाँ वह कहता है कि—श्रद्धान तो निश्चयका रखते हैं और प्रवृत्ति व्यवहार-रूप रखते हैं,—इस प्रकार हम दोनोंको अंगीकार करते हैं। सो ऐसा भी नहीं बनता; क्योंकि निश्चयका निश्चयरूप और व्यवहारका व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है। एक ही नयका श्रद्धान होनेसे एकान्त मिथ्यात्व होता है। तथा प्रवृत्तिमें नयका प्रयोजन ही नहीं है। प्रवृत्ति तो द्रव्यकी परिणति है; वहां जिस द्रव्यकी परिणति हो उसको उसीकी प्ररूपित करे सो निश्चयनय, और उसहीको अन्य द्रव्यकी प्ररूपित करे सो व्यव-हारनय;—ऐसे अभिप्रायानुसार प्ररूपणसे उस प्रवृत्तिमें दोनों नय बनते हैं; कुछ प्रवृत्ति ही तो नयरूप है नहीं; इसलिये इस प्रकार भी दोनों नयोंका ग्रहण मानना मिथ्या है। तो क्या करें? सो कहते हैं:—

निश्चयनयसे जो निरूपण किया हो उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना और व्यवहारनयसे जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना। यही समयसार में कहा है:—

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यग् निश्चयमेकमेव परमं निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम्॥

(—कलश १७३)

अर्थ:—क्योंकि सर्व ही हिंसादि व अहिंसादिमें अध्यवसाय हैं सो समस्त ही छोड़ना—ऐसा जिनदेवोंने कहा है। इसलिये मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यव-हार है सो सर्व ही छुड़ाया है। सन्त पुरुष एक परम निश्चयहीको भले प्रकार निष्क-म्परूप से अंगीकार करके शुद्धज्ञानघनरूप निज महिमामें स्थिति क्यों नहीं करते?

भावार्थ:—यहाँ व्यवहारका तो त्याग कराया है, इसलिये निश्चयको अंगी-कार करके निजमहिमारूप प्रवर्तना युक्त है। तथा षट्पाहुड़में कहा है—

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥

(मोक्षपाहुड़-गाथा ३१)

अर्थः—जो व्यवहारमें सोता है वह योगी अपने कार्यमें जागता है। तथा जो व्यवहारमें जागता है वह अपने कार्यमें सोता है। इसलिये व्यवहारनयका श्रद्धान छोड़कर निश्चयनयका श्रद्धान करना योग्य है। व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको व उनके भावोंको व कारणकार्यादिकको किसीको किसीमें मिलाकर निरूपण करता है। सो ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है, इसलिये उसका त्याग करना। तथा निश्चयनय उन्हींको यथावत् निरूपण करता है, किसीको किसीमें नहीं मिलाता है। सो ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, इसलिये उसका श्रद्धान करना।

यहाँ प्रश्न है कि—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?

समाधानः—जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ ऐसे ही है"—ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे "ऐसे है नहीं, निमित्तादिकी अपेक्षा उपचार किया है"—ऐसा जानना। इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। तथा दोनों नयोंके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर ऐसे भी है, ऐसे भी है—इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनों नयोंका ग्रहण करना नहीं कहा है।

फिर प्रश्न है कि—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है, तो उसका उपदेश जिन-मार्गमें किसलिये दिया ?—एक निश्चयनयहीका निरूपण करना था।

समाधानः—ऐसा ही तर्क समयसारमें किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ ८ ॥

अर्थः—जिस प्रकार अनार्य अर्थात् म्लेच्छको म्लेच्छभाषा बिना अर्थ ग्रहण करानेमें कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश अशक्य है; इसलिये व्यवहारका उपदेश है।

तथा इसी सूत्रकी व्याख्यामें ऐसा कहा है कि—'व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः'[*]।

---

[*] एवं म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयोऽथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद्व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः। (समयसार गाथा ८ की आत्मख्याति टीका)

इसका अर्थ है—इस निश्चयको अंगीकार करानेके लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं, परन्तु व्यवहारनय है सो अंगीकार करने योग्य नहीं है।

प्रश्नः—व्यवहार बिना निश्चयका उपदेश कैसे नहीं होगा? और व्यवहार-नय कैसे अंगीकार नहीं करना? सो कहिए।

समाधानः—निश्चयनयसे तो आत्मा परद्रव्योंसे भिन्न, स्वभावोंसे अभिन्न स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसे जो नहीं पहिचानते, उनसे इसी प्रकार कहते रहें तब तो वे समझ नहीं पायें। इसलिये उनको व्यवहारनयसे शरीरादिक परद्रव्योंकी सापेक्षता द्वारा नर-नारक-पृथ्वीकायादिरूप जीवके विशेष किये तब मनुष्य जीव है, नारकी जीव है, इत्यादि प्रकार सहित उन्हें जीवकी पहिचान हुई। अथवा अभेद वस्तुमें भेद उत्पन्न करके ज्ञान-दर्शनादि गुण-पर्यायरूप जीवके विशेष किये, तब जाननेवाला जीव है, देखनेवाला जीव है—इत्यादि प्रकारसहित उनको जीवकी पहिचान हुई। तथा निश्चय-से वीतरागभाव मोक्षमार्ग है; उसे जो नहीं पहिचानते उनको ऐसे ही कहते रहें तो वे समझ नहीं पायें। तब उनको व्यवहारनयसे, तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक परद्रव्यके निमित्त मिटनेकी सापेक्षता द्वारा व्रत, शील, संयमादिरूप वीतरागभावके विशेष बतलाये तब उन्हें वीतरागभावकी पहिचान हुई। इसी प्रकार अन्यत्र भी व्यवहार बिना निश्चयके उपदेशका न होना जानना।

तथा यहाँ व्यवहारसे नर-नारकादि पर्यायहीको जीव कहा, सो पर्यायहीको जीव नहीं मान लेना। पर्याय तो जीव-पुद्गलके संयोगरूप है। वहाँ निश्चयसे जीव-द्रव्य भिन्न है, उसहीको जीव मानना। जीवके संयोगसे शरीरादिकको भी उपचारसे जीव कहा, सो कथनमात्र ही है, परमार्थसे शरीरादिक जीव होते नहीं—ऐसा ही श्रद्धान करना। तथा अभेद आत्मामें ज्ञान-दर्शनादि भेद किये, सो उन्हें भेदरूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि भेद तो समझानेके अर्थ किये हैं; निश्चयसे आत्मा अभेद ही है; उसहीको जीव वस्तु मानना। संज्ञा-संख्यादिसे भेद कहे सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थ-से भिन्न-भिन्न हैं नहीं,—ऐसा ही श्रद्धान करना। तथा परद्रव्यका निमित्त मिटनेकी अपेक्षासे व्रत-शील-संयमादिकको मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हींको मोक्षमार्ग नहीं मान लेना; क्योंकि परद्रव्यका ग्रहण-त्याग आत्माके हो तो आत्मा परद्रव्यका कर्ता-हर्त्ता हो जाये; परन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्यके आधीन है नहीं; इसलिये आत्मा अपने भाव रागादिक हैं उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है, इसलिये निश्चयसे वीतराग भाव ही

मोक्षमार्ग है। वीतरागभावोंके और व्रतादिकके कदाचित् कार्य-कारणपना है, इसलिये व्रतादिकको मोक्षमार्ग कहे सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थसे बाह्यक्रिया मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसा ही श्रद्धान करना। इसी प्रकार अन्यत्र भी व्यवहारनयका अंगीकार नहीं करना ऐसा जान लेना।

यहाँ प्रश्न है कि—व्यवहारनय परको उपदेशमें ही कार्यकारी है या अपना भी प्रयोजन साधता है?

समाधानः—आप भी जब तक निश्चयनयसे प्ररूपित वस्तुको न पहिचाने तब तक व्यवहारमार्गसे वस्तुका निश्चय करे; इसलिये निचली दशामें अपनेको भी व्यवहारनय कार्यकारी है; परन्तु व्यवहारको उपचारमात्र मानकर उसके द्वारा वस्तुको ठीक प्रकार समझे तब तो कार्यकारी हो; परन्तु यदि निश्चयवत् व्यवहारको भी सत्यभूत मानकर 'वस्तु इस प्रकार ही है'—ऐसा श्रद्धान करे तो उलटा अकार्यकारी होजाये। यही पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥ ७ ॥

अर्थः—मुनिराज अज्ञानीको समझानेके लिये असत्यार्थ जो व्यवहारनय उसका उपदेश देते हैं। जो केवल व्यवहारहीको जानता है उसे उपदेश ही देना योग्य नहीं है। तथा जैसे कोई सच्चे सिंहको न जाने उसे बिलाव ही सिंह है, उसी प्रकार जो निश्चयको नहीं जाने उसके व्यवहार ही निश्चयपनेको प्राप्त होता है।

यहाँ कोई निर्विचारी पुरुष ऐसा कहे कि—तुम व्यवहारको असत्यार्थ—हेय कहते हो, तो हम व्रत, शील, संयमादिक व्यवहारकार्य किसलिये करें?—सबको छोड़ देंगे।

उससे कहते हैं कि—कुछ व्रत, शील, संयमादिकका नाम व्यवहार नहीं है; इनको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है, उसे छोड़ दे। और ऐसा श्रद्धान कर कि इनको तो बाह्य सहकारी जानकर उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है, यह तो परद्रव्याश्रित हैं; तथा सच्चा मोक्षमार्ग वीतरागभाव है, वह स्वद्रव्याश्रित है।—इस प्रकार व्यवहारको असत्यार्थ—हेय जानना। व्रतादिकको छोड़नेसे तो व्यवहारका हेयपना होता नहीं है।

फिर हम पूछते हैं कि—व्रतादिकको छोड़कर क्या करेगा ? यदि हिंसादिरूप प्रवर्तेगा तो वहाँ तो मोक्षमार्गका उपचार भी संभव नहीं है; वहाँ प्रवर्तनेसे क्या भला होगा ? नरकादि प्राप्त करेगा। इसलिये ऐसा करना तो निर्विचारीपना है। तथा व्रतादिकरूप परिणतिको मिटाकर केवल वीतराग उदासीनभावरूप होना बने तो अच्छा ही है; वह निचलीदशामें हो नहीं सकता; इसलिये व्रतादि साधन छोड़कर स्वच्छन्द होना योग्य नहीं है। इसप्रकार श्रद्धानमें निश्चयको, प्रवृत्तिमें व्यवहारको उपादेय मानना वह भी मिथ्याभाव ही है।

तथा यह जीव दोनों नयोंका अंगीकार करनेके अर्थ कदाचित् अपनेको शुद्ध सिद्धसमान रागादिरहित केवलज्ञानादिसहित आत्मा अनुभवता है, ध्यानमुद्रा धारण करके ऐसे विचारोंमें लगता है; सो ऐसा आप नहीं है, परन्तु भ्रमसे 'निश्चयसे मैं ऐसा ही हूँ'—ऐसा मानकर सन्तुष्ट होता है। तथा कदाचित् वचन द्वारा निरूपण ऐसा ही करता है। परन्तु निश्चय तो यथावत् वस्तुको प्ररूपित करता है। प्रत्यक्ष आप जैसा नहीं है वैसा अपनेको माने तो निश्चयनाम कैसे पाये ? जैसा केवल निश्चयाभासवाले जीवके अयथार्थपना पहले कहा था उसी प्रकार इसके जानना।

अथवा यह ऐसा मानता है कि—इस नयसे आत्मा ऐसा है, इस नयसे ऐसा है। सो आत्मा तो जैसा है वैसा ही है, परंतु उसमें नय द्वारा निरूपण करनेका जो अभिप्राय है उसे नहीं पहिचानता। जैसे—आत्मा निश्चयसे तो सिद्धसमान केवलज्ञानादि सहित, द्रव्य-कर्म-नोकर्म-भावकर्म रहित है, और व्यवहारनयसे संसारी मतिज्ञानादि सहित तथा द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म सहित है—ऐसा मानता है; सो एक आत्माके ऐसे दो स्वरूप तो होते नहीं हैं; जिस भावहीका सहितपना उस भावहीका रहितपना एक वस्तुमें कैसे सम्भव हो ? इसलिये ऐसा मानना भ्रम है। तो किस प्रकार है ? जैसे—राजा और रंक मनुष्यपनेकी अपेक्षा समान हैं, उसी प्रकार सिद्ध और संसारीको जीवत्वपनेकी अपेक्षा समान कहा है; केवलज्ञानादिकी अपेक्षा समानता मानी जाय, सो तो है नहीं; संसारीके निश्चयसे मति-ज्ञानादिक ही हैं, सिद्धके केवलज्ञान है। इतना विशेष है कि—संसारीके मतिज्ञानादिक कर्मके निमित्तसे हैं, इसलिये स्वभाव अपेक्षा संसारीमें केवल-ज्ञानकी शक्ति कही जाये तो दोष नहीं है जैसे रंक मनुष्यमें राजा होनेकी शक्ति पायी जाती है, उसी प्रकार यह शक्ति जानना। तथा द्रव्यकर्म-नोकर्म पुद्गलसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये निश्चयसे संसारीके भी इनका भिन्नपना है, परन्तु सिद्धकी भाँति इनका कारणकार्य अपेक्षा सम्बन्ध भी न माने तो भ्रम ही है। तथा भावकर्म आत्माका

भाव है सो निश्चयसे आत्माहीका है, परन्तु कर्मके निमित्तसे होता है इसलिये व्यवहारसे कर्मका कहा जाता है। तथा सिद्धकी भाँति संसारीके भी रागादिक न मानना, उन्हें कर्महीका मानना वह भी भ्रम है। इस प्रकार नयोंद्वारा एक ही वस्तुको एक भाव-अपेक्षा 'ऐसा भी मानना और ऐसा भी मानना,' वह तो मिथ्याबुद्धि है; परन्तु भिन्न-भिन्न भावोंकी अपेक्षा नयोंकी प्ररूपणा है—ऐसा मानकर यथासम्भव वस्तुको मानना सो सच्चा श्रद्धान है। इसलिये मिथ्यादृष्टि अनेकान्तरूप वस्तुको मानता है, परन्तु यथार्थ भावको पहिचानकर नहीं मान सकता—ऐसा जानना।

तथा इस जीवके व्रत, शील, संयमादिकका अंगीकार पाया जाता है, सो व्यवहारसे 'यह भी मोक्षके कारण हैं'—ऐसा मानकर उन्हें उपादेय मानता है; सो जैसे पहले केवल व्यवहारावलम्बी जीवके अयथार्थपना कहा था वैसे ही इसके भी अयथार्थपना जानना। तथा यह ऐसा भी मानता है कि—यथायोग्य व्रतादि क्रिया तो करने योग्य है; परन्तु इसमें ममत्व नहीं करना। सो जिसका आप कर्त्ता हो, उसमें ममत्व कैसे नहीं किया जाय? आप कर्त्ता नहीं है तो 'मुझको करने योग्य है'—ऐसा भाव कैसे किया? और यदि कर्त्ता है तो वह अपना कर्म हुआ, तब कर्त्ता कर्म सम्बन्ध स्वयमेव ही हुआ; सो ऐसी मान्यता तो भ्रम है। तो कैसे है? बाह्य व्रतादिक हैं वे तो शरीरादि परद्रव्यके आश्रित हैं, परद्रव्यका आप कर्ता है नहीं, इसलिये उसमें कर्तृत्वबुद्धि भी नहीं करना और वहाँ ममत्व भी नहीं करना। तथा व्रतादिकमें ग्रहण-त्यागरूप अपना शुभोपयोग हो, वह अपने आश्रित है; उसका आप कर्ता है, इसलिये उसमें कर्तृत्वबुद्धि भी मानना और वहाँ ममत्व भी करना। परंतु इस शुभोपयोगको बंधका ही कारण जानना, मोक्षका कारण नहीं जानना, क्योंकि बंध और मोक्षके तो प्रतिपक्षीपना है; इसलिये एक ही भाव पुण्यबंधका भी कारण हो और मोक्षका भी कारण हो—ऐसा मानना भ्रम है। इसलिये व्रत-अव्रत दोनों विकल्परहित जहाँ परद्रव्यके ग्रहण-त्यागका कुछ प्रयोजन नहीं है—ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग वही मोक्षमार्ग है। तथा निचली दशामें कितने ही जीवोंके शुभोपयोग और शुद्धोपयोगका युक्तपना पाया जाता है; इसलिये उपचारसे व्रतादिक शुभोपयोगको मोक्षमार्ग कहा है, वस्तुका विचार करनेपर शुभोपयोग मोक्षका घातक ही है; क्योंकि बंधका कारण वह ही मोक्षका घातक है—ऐसा श्रद्धान करना। इस प्रकार शुद्धोपयोगहीको उपादेय मानकर उसका उपाय करना और शुभोपयोग-अशुभोपयोगको हेय जानकर उनके त्यागका उपाय करना; जहाँ शुद्धोपयोग न हो सके वहाँ अशुभोपयोगको छोड़कर शुभमें ही प्रवर्तन करना, क्योंकि शुभोपयोगकी अपेक्षा अशुभोपयोगमें अशुद्-

ताकी अधिकता है। तथा शुद्धोपयोग हो तब तो परद्रव्यका साक्षीभूत ही रहता है, वहाँ तो कुछ परद्रव्यका प्रयोजन ही नहीं है। शुभोपयोग हो वहाँ बाह्य व्रतादिककी प्रवृत्ति होती है और अशुभोपयोग हो वहाँ बाह्य अव्रतादिककी प्रवृत्ति होती है; क्योंकि अशुद्धोपयोगके और परद्रव्यकी प्रवृत्तिके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पाया जाता है। तथा पहले अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग हो, फिर शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग हो—ऐसी क्रम-परिपाटी है।

तथा कोई ऐसा माने कि—शुभोपयोग है सो शुद्धोपयोगका कारण है; सो जैसे अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग होता है, वैसे शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग होता है। ऐसा ही कार्यकारणपना हो, तो शुभोपयोगका कारण अशुभोपयोग ठहरे। अथवा द्रव्यलिंगीके शुभोपयोग तो उत्कृष्ट होता है, शुद्धोपयोग होता ही नहीं; इसलिये परमार्थसे इनके कारण-कार्यपना है नहीं। जैसे—रोगीको बहुत रोग था, पश्चात् अल्प रोग रहा, तो वह अल्प रोग तो निरोग होनेका कारण है नहीं। इतना है कि—अल्प रोग रहनेपर निरोग होनेका उपाय करे तो हो जाये; परन्तु यदि अल्प रोगको ही भला जानकर उसको रखनेका यत्न करे तो निरोग कैसे हो? उसीप्रकार कषायीके तीव्रकषायरूप अशुभोपयोग था, पश्चात् मन्दकषायरूप शुभोपयोग हुआ; तो वह शुभोपयोग तो निःकषाय शुद्धोपयोग होनेका कारण है नहीं, इतना है कि—शुभोपयोग होनेपर शुद्धोपयोगका यत्न करे तो हो जाये। परन्तु यदि शुभोपयोगकोही भला जानकर उसका साधन किया करे तो शुद्धोपयोग कैसे हो? इसलिये मिथ्यादृष्टिका शुभोपयोग तो शुद्धोपयोगका कारण है नहीं, सम्यग्दृष्टिको शुभोपयोग होनेपर निकट शुद्धोपयोग प्राप्त हो,—ऐसो मुख्यतासे कहीं शुभोपयोगको शुद्धोपयोगका करण भी कहते हैं—ऐसा जानना।

तथा यह जीव अपनेको निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्गका साधक मानता है। वहाँ पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माको शुद्ध माना सो तो सम्यग्दर्शन हुआ, वैसा ही जाना सम्यग्ज्ञान हुआ; वैसा ही विचारमें प्रवर्तन किया सो सम्यक् चारित्र हुआ। इस प्रकार तो अपनेको निश्चयरत्नत्रय हुआ मानता है, परन्तु मैं प्रत्यक्ष अशुद्ध, सो शुद्ध कैसे मानता-जानता-विचारता हूँ,—इत्यादि विवेक रहित भ्रमसे संतुष्ट होता है। तथा अरहंतादिके सिवा अन्य देवादिकको नहीं मानता, व जैन शास्त्रानुसार जीवादिकके भेद सीख लिये हैं उन्हींको मानता है औरोंको नहीं मानता, वह तो सम्यग्दर्शन हुआ; तथा जैनशास्त्रोंके अभ्यासमें बहुत प्रवर्तता है सो सम्यग्ज्ञान हुआ, तथा व्रतादिरूप क्रियाओंमें

प्रवर्तता है सो सम्यक्चारित्र हुआ।—इस प्रकार अपनेको व्यवहाररत्नत्रय हुआ मानता है। परन्तु व्यवहार तो उपचारका नाम है; सो उपचार भी तो तब बनता है जब सत्यभूत निश्चयरत्नत्रयके कारणादिक हों। जिस प्रकार निश्चयरत्नत्रय सध जाये उसी प्रकार इन्हें साधे तो व्यवहारपना भी सम्भव हो। परन्तु इसे तो सत्यभूत निश्चयरत्नत्रय की पहिचान ही हुई नहीं, तो यह इस प्रकार कैसे साध सकेगा ? आज्ञानुसारी हुआ देखा-देखी साधन करता है। इसलिये इसके निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं हुआ। निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्गका आगे निरूपण करेंगे, उसका साधन होनेपर ही मोक्षमार्ग होगा।

—इस प्रकार यह जीव निश्चयाभासको मानता-जानता है; परन्तु व्यवहार-साधनको भी भला जानता है, इसलिये स्वच्छन्द होकर अशुभरूप नहीं प्रवर्तता है। व्रतादिक शुभोपयोगरूप प्रवर्तता है इसलिये अंतिम ग्रैवेयक पर्यन्त पदको प्राप्त करता है। तथा यदि निश्चयाभासकी प्रबलतासे अशुभरूप प्रवृत्ति होजाये तो कुगतिमें भी गमन होता है। परिणामोंके अनुसार फल प्राप्त करता है; परन्तु संसारका ही भोक्ता रहता है; सच्चा मोक्षमार्ग पाए बिना सिद्धपदको नहीं प्राप्त करता है। इस प्रकार निश्चयाभास-व्यवहाराभास दोनोंके अवलम्बी मिथ्यादृष्टियोंका निरूपण किया।

[सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि]

अब, सम्यक्त्वके सन्मुख जो मिथ्यादृष्टि हैं उनका निरूपण करते हैं:—

कोई मन्दकषायादिका कारण पाकर ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षयोपशम हुआ, जिससे तत्त्वविचार करनेकी शक्ति हुई, तथा मोह मन्द हुआ, जिससे तत्त्वविचारमें उद्यम हुआ और बाह्य निमित्त देव, गुरु, शास्त्रादिकका हुआ, उनसे सच्चे उपदेशका लाभ हुआ। वहाँ अपने प्रयोजनभूत मोक्षमार्गके, देव-गुरु-धर्मादिकके, जीवादितत्त्वोंके तथा निज-परके और अपनेको अहितकारी-हितकारी भावोंके,—इत्यादिके उपदेशसे सावधान होकर ऐसा विचार किया कि—अहो, मुझे तो इन बातोंकी खबर ही नहीं, मैं भ्रमसे भूलकर प्राप्त पर्यायहीमें तन्मय हुआ; परन्तु इस पर्यायकी तो थोड़े ही कालकी स्थिति है, तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं, इसलिये मुझे इन बातोंको बराबर समझना चाहिये; क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है। ऐसा विचारकर जो उपदेश सुना उसके निर्धार करनेका उद्यम किया। वहाँ उद्देश, लक्षणनिर्देश और परीक्षाद्वारा उनका निर्धार होता है, इसलिये पहले तो उनके नाम सीखे, वह उद्देश हुआ। फिर उनके लक्षण जाने, फिर ऐसा सम्भवित है कि नहीं—ऐसे विचार सहित परीक्षा करने लगे।

वहाँ नाम सीख लेना और लक्षण जान लेना यह दोनों तो उपदेशके अनुसार होते हैं; जैसा उपदेश दिया हो वैसा याद कर लेना; तथा परीक्षा करनेमें अपना विवेक चाहिये; सो विवेकपूर्वक एकान्तमें अपने उपयोगमें विचार करे कि—जैसा उपदेश दिया वैसे ही है या अन्यथा है ? वहाँ अनुमानादि प्रमाणसे बराबर समझे। अथवा उपदेश तो ऐसा है, और ऐसा न मानें तो ऐसा होगा। सो इनमें प्रबल युक्ति कौन है और निर्बल युक्ति कौन है ? जो प्रबल भासित हो उसे सत्य जाने, तथा यदि उपदेशसे अन्यथा सत्य भासित हो, अथवा उसमें सन्देह रहे, निर्धार न हो, तो जो विशेषज्ञ हों उनसे पूछे, और वे उत्तर दें उसका विचार करे। इसी प्रकार जबतक निर्धार न हो तबतक प्रश्न-उत्तर करे। अथवा समानबुद्धिके धारक हों उनसे अपना विचार जैसा हुआ हो वैसा कहे और प्रश्न-उत्तर द्वारा परस्पर चर्चा करे। तथा जो प्रश्नोत्तरमें निरूपण हुआ हो उसका एकान्तमें विचार करे। इसी प्रकार जब तक अपने अन्तरंगमें जैसा उपदेश दिया था वैसा ही निर्णय होकर भाव भासित न हो तब तक इसी प्रकार उद्यम किया करे।

तथा अन्यमतियों द्वारा जो कल्पित तत्त्वोंका उपदेश दिया गया है, उससे जैन उपदेश अन्यथा भासित हो व सन्देह हो, तब भी पूर्वोक्त प्रकारसे उद्यम करे।—ऐसा उद्यम करनेपर जैसा जिनदेवका उपदेश है वैसा ही सत्य है, मुझे भी इसी प्रकार भासित होता है—ऐसा निर्णय होता है; क्योंकि जिनदेव अन्यथावादी हैं नहीं।

यहाँ कोई कहे कि—जिनदेव यदि अन्यथावादी नहीं हैं तो जैसा उनका उपदेश है वैसा ही श्रद्धान कर लें, परीक्षा किसलिये करें ?

समाधानः—परीक्षा किये बिना यह तो मानना हो सकता है कि—जिनदेवने ऐसा कहा है सो सत्य है; परन्तु उनका भाव अपनेको भासित नहीं होगा। तथा भाव भासित हुए बिना निर्मल श्रद्धान नहीं होता; क्योंकि जिसकी किसीके वचनहीसे प्रतीति की जाय उसकी अन्यके वचनसे अन्यथा भी प्रतीति हो जाय; इसलिये शक्तिअपेक्षा वचनसे की गई प्रतीति अप्रतीतिवत् है। तथा जिसका भाव भासित हुआ हो, उसे अनेक प्रकारसे भी अन्यथा नहीं मानता, इसलिये भाव भासित होनेपर जो प्रतीति होती है वही सच्ची प्रतीति है। यहाँ यदि कहोगे कि—पुरुषकी प्रमाणतासे वचनकी प्रमाणता की जाती है, तो पुरुषकी भी प्रमाणता स्वयमेव तो नहीं होती; उसके कुछ वचनोंकी परीक्षा पहले करली जाये, तब पुरुषकी प्रमाणता होती है।

प्रश्नः—उपदेश तो अनेक प्रकारके हैं, किस-किसकी परीक्षा करें ?

समाधान:—उपदेशमें कोई उपादेय, कोई हेय तथा कोई ज्ञेयतत्त्वोंका निरूपण किया जाता है; वहाँ उपादेय—हेय तत्त्वोंकी तो परीक्षा कर लेना; क्योंकि इनमें अन्यथा-पना होनेसे अपना बुरा होता है। उपादेयको हेय मान लें तो बुरा होगा, हेयको उपादेय मानलें तो बुरा होगा ।

फिर वह कहेगा—स्वयं परीक्षा न की और जिनवचनहीसे उपादेयको उपादेय जानें तथा हेयको हेय जानें तो इसमें कैसे बुरा होगा ?

समाधान:—अर्थका भाव भासित हुए विना वचनका अभिप्राय नहीं पहिचाना जाता। यह तो मानलें कि—मैं जिनवचनानुसार मानता हूँ; परन्तु भाव भासित हुए विना अन्यथापना होजाये। लोकमें भी नौकरको किसी कार्यके लिये भेजते हैं; वहाँ यदि वह उस कार्यका भाव जानता हो तो कार्यको सुधारेगा, यदि भाव भासित नहीं होगा तो कहीं चूक हो जायेगा, इसलिये भाव भासित होनेके अर्थ हेय-उपादेय तत्त्वोंकी परीक्षा अवश्य करना चाहिये।

फिर वह कहता है—यदि परीक्षा अन्यथा होजाये तो क्या करें ?

समाधान:—जिनवचन और अपनी परीक्षामें समानता हो, तब तो जानें कि सत्य परीक्षा हुई है। जबतक ऐसा न हो तबतक जैसे कोई हिसाब करता है और उसकी विधि न मिले तबतक अपनी चूकको ढूंढता है; उसी प्रकार यह अपनी परीक्षामें विचार किया करे। तथा जो ज्ञेयतत्त्व हैं उनकी परीक्षा होसके तो परीक्षा करे, नहीं तो यह अनुमान करे कि—जो हेय-उपादेय तत्त्व ही अन्यथा नहीं कहे, तो ज्ञेयतत्त्वोंको अन्यथा किसलिये कहेंगे ?

जैसे—कोई प्रयोजनरूप कार्योंमें भी झूठ नहीं बोलता, वह अप्रयोजन झूठ क्यों बोलेगा ? इसलिये ज्ञेयतत्त्वोंका स्वरूप परीक्षा द्वारा भी अथवा आज्ञासे जाने। यदि उनका यथार्थ भाव भासित न हो तो भी दोष नहीं है। इसीलिये जैनशास्त्रोंमें जहाँ तत्त्वा-दिकका निरूपण किया, वहाँ तो हेतु, युक्ति आदि द्वारा जिस प्रकार उसे अनुमानादिसे प्रतीति आये उसी प्रकार कथन किया है। तथा त्रिलोक, गुणस्थान, मार्गणा, पुराणा-दिकके कथन आज्ञानुसार किये हैं; इसलिये हेयोपादेय तत्त्वोंकी परीक्षा करना योग्य है। वहाँ जीवादिक द्रव्यों व तत्त्वोंको तथा स्व-परको पहिचानना। तथा त्यागने योग्य मिथ्यात्व-रागादिक और ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिकका स्वरूप पहिचानना। तथा निमित्त-नैमित्तिकादिक जैसे हैं, वैसे पहिचानना।—इत्यादि मोक्षमार्गमें जिनके जाननेसे

प्रवृत्ति होती है उन्हें अवश्य जानना। सो इनकी तो परीक्षा करना। सामान्यरूपसे किसी हेतु-युक्ति द्वारा इनको जानना, व प्रमाण-नय द्वारा जानना, व निर्देश-स्वामित्वादिसे और सत्-संख्यादिसे इनके विशेष जानना। जैसी बुद्धि हो—जैसा निमित्त बने, उसी प्रकार इनको सामान्य-विशेषरूपसे पहिचानना। तथा इस जाननेमें उपकारी गुणस्थान–मार्गणादिक व पुराणादिक व व्रतादिक-क्रियादिकका भी जानना योग्य है। यहाँ जिनकी परीक्षा हो सके उनकी परीक्षा करना, न हो सके उनकी आज्ञानुसार जानकारी करना।

इस प्रकार इस जाननेके अर्थ कभी स्वयं ही विचार करता है, कभी शास्त्र पढ़ता है, कभी सुनता है, कभी अभ्यास करता है, कभी प्रश्नोत्तर करता है,—इत्यादिरूप प्रवर्तता है। अपना कार्य करनेका इसको हर्ष बहुत है इसलिये अंतरंग प्रीतिसे उसका साधन करता है। **इस प्रकार साधन करते हुए** जब तक सच्चा तत्त्वश्रद्धान न हो, 'यह इसी प्रकार है'—**ऐसी प्रतीति सहित जीवादितत्त्वोंका स्वरूप आपको भासित न हो, जैसे पर्यायमें अहंबुद्धि है, वैसे केवल आत्मामें अहंबुद्धि न आये, हित-अहितरूप अपने भावोंको न पहिचाने, तब तक सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि है; यह जीव थोड़े ही कालमें सम्यक्त्वको प्राप्त होगा;** इसी भवमें या अन्य पर्यायमें सम्यक्त्वको प्राप्त करेगा। इस भवमें अभ्यास करके परलोकमें तिर्यंचादि गतिमें भी जाये तो वहाँ संस्कारके बलसे देव-गुरु-शास्त्रके निमित्त बिना भी सम्यक्त्व हो जाये; क्योंकि ऐसे अभ्यासके बलसे मिथ्यात्वकर्मका अनुभाग हीन होता है। जहाँ उसका उदय न हो वहीं सम्यक्त्व हो जाता है। मूलकारण यही है। देवादिकका तो बाह्य निमित्त है, सो मुख्यतासे तो इनके निमित्तसे ही सम्यक्त्व होता है। तारतम्यसे पूर्व अभ्यास–संस्कारसे वर्तमानमें इनका निमित्त न हो, तो भी सम्यक्त्व होसकता है। सिद्धान्तमें "तन्निसर्गादधिगमाद्वा" (तत्त्वार्थसूत्र १-३) ऐसा सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि—वह सम्यग्दर्शन निसर्ग अथवा अधिगमसे होता है। वहाँ देवादिक बाह्यनिमित्तके बिना हो उसे निसर्गसे हुआ कहते हैं; देवादिकके निमित्तसे हो, उसे अधिगमसे हुआ कहते हैं। देखो, तत्त्वविचारकी महिमा! तत्त्वविचाररहित देवादिककी प्रतीति करे, बहुत शास्त्रोंका अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होनेका अधिकार नहीं, और तत्त्वविचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्वका अधिकारी होता है। तथा किसी जीवको तत्त्वविचार होनेके पहले कोई कारण पाकर देवादिककी प्रतीति हो, व व्रत-तपका अंगीकार हो, पश्चात् तत्त्वविचार करे; परन्तु सम्यक्त्वका अधिकारी तत्त्वविचार होने पर ही होता है।

तथा किसीको तत्त्वविचार होनेके पश्चात् तत्त्वप्रतीति न होनेसे सम्यक्त्व तो नहीं हुआ और व्यवहारधर्मकी प्रतीति–रुचि होगई, इसलिये देवादिककी प्रतीति करता है व व्रत-तपको अंगीकार करता है। किसीको देवादिककी प्रतीति और सम्यक्त्व युगपत् होते हैं तथा व्रत-तप सम्यक्त्वके साथ भी होते हैं और पहले–पीछे भी होते हैं। देवादिककी प्रतीतिका तो नियम है, उसके बिना सम्यक्त्व नहीं होता; व्रतादिकका नियम है नहीं। बहुत जीव तो पहले सम्यक्त्व हो पश्चात् ही व्रतादिकको धारण करते हैं, किन्हीं को युगपत् भी हो जाते हैं। इस प्रकार यह तत्त्वविचारवाला जीव सम्यक्त्वका अधिकारी है; परन्तु उसके सम्यक्त्व हो ही हो ऐसा नियम नहीं है; क्योंकि शास्त्रमें सम्यक्त्व होनेसे पूर्व पंचलब्धियोंका होना कहा है।—

[पाँच लब्धियोंका स्वरूप]

क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करण। वहाँ जिसके होनेपर तत्त्व-विचार हो सके—ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षयोपशम हो अर्थात् उदयकालको प्राप्त सर्वघाती स्पर्द्धकोंके निषेकोंके उदयका अभाव सो क्षय, तथा अनागतकालमें उदय आने योग्य उन्हींका सत्तारूप रहना सो उपशम; ऐसी देशघाती स्पर्द्धकोंके उदय सहित कर्मोंकी अवस्था उसका नाम क्षयोपशम है; उसकी प्राप्ति सो क्षयोपशमलब्धि है।

तथा मोहका मन्द उदय आनेसे मन्दकषायरूप भाव हों कि जहाँ तत्त्वविचार हो सके सो विशुद्धलब्धि है।

तथा जिनदेवके उपदिष्ट तत्त्वका धारण हो, विचार हो सो देशनालब्धि है। जहाँ नरकादिमें उपदेशका निमित्त न हो वहाँ वह पूर्व संस्कारसे होती है।

तथा कर्मोंकी पूर्व सत्ता अंतः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह जाये और नवीन बंध अंतः कोड़ाकोड़ी प्रमाण उसके संख्यातवें भागमात्र हो, वह भी उस लब्धिकालसे लगाकर क्रमशः घटता जाये और कितनी ही पापप्रकृतियोंका बंध क्रमशः मिटता जाये—इत्यादि योग्य अवस्थाका होना सो प्रायोग्यलब्धि है। सो ये चारों लब्धियाँ भव्य या अभव्यके होती हैं।—ये चार लब्धियाँ होनेके बाद सम्यक्त्व हो तो हो, न हो तो नहीं भी हो—ऐसा 'लब्धिसार' में कहा है।* इसलिये उस तत्त्वविचारवालेको सम्यक्त्व होनेका नियम नहीं है। जैसे—किसीको हितकी शिक्षा दी, उसे जानकर वह विचार करे कि—यह जो शिक्षा दी सो कैसे है? पश्चात् विचार करनेपर उसको 'ऐसे ही है'—ऐसी उस शिक्षाकी

* लब्धिसार-3

प्रतीति हो जाये; अथवा अन्यथा विचार हो या अन्य विचारमें लगकर उस शिक्षाका निर्धार न करे तो प्रतीति नहीं भी हो; उसी प्रकार श्रीगुरुने तत्त्वोपदेश दिया, उसे जानकर विचार करे कि यह उपदेश दिया सो किस प्रकार है ? पश्चात् विचार करने पर उसको 'ऐसा ही है'—ऐसी प्रतीति हो जाये; अथवा अन्यथा विचार हो, या अन्य विचारमें लगकर उस उपदेशका निर्धार न करे तो प्रतीति नहीं भी हो। सो मूलकारण मिथ्यात्वकर्म है; उसका उदय मिटे तो प्रतीति हो जाये, न मिटे तो नहीं हो;—ऐसा नियम है। उसका उद्यम तो तत्त्वविचार करना मात्र ही है।

तथा पांचवीं करणलब्धि होनेपर सम्यक्त्व हो ही हो—ऐसा नियम है। सो जिसके पहले कही हुई चार लब्धियां तो हुई हों और अंतर्मुहूर्त पश्चात् जिसके सम्यक्त्व होना हो उसी जीवके करणलब्धि होती है। सो इस करणलब्धिवालेके बुद्धिपूर्वक तो इतना ही उद्यम होता है कि—उस तत्त्वविचारमें उपयोगको तद्रूप होकर लगाये, उससे समय-समय परिणाम निर्मल होते जाते हैं। जैसे किसीके शिक्षाका विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे उसको शीघ्र ही उसकी प्रतीति हो जायेगी; उसी प्रकार तत्त्वोपदेशका विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे उसको शीघ्र ही उसका श्रद्धान हो जायेगा। तथा इन परिणामोंका तारतम्य केवलज्ञान द्वारा देखा, उसका निरूपण करणानुयोगमें किया है। इस करणलब्धिके तीन भेद हैं—अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। इनका विशेष व्याख्यान तो लब्धिसार शास्त्रमें किया है वहाँसे जानना। यहाँ संक्षेपमें कहते हैं:—

त्रिकालवर्ती सर्व करणलब्धिवाले जीवोंके परिणामोंकी अपेक्षा ये तीन नाम हैं; वहाँ करण नाम तो परिणामका है। जहाँ पहले और पिछले समयोंके परिणाम समान हों सो अधःकरण है।* जैसे किसी जीवके परिणाम उस करणके पहले समयमें अल्प विशुद्धतासहित हुए, पश्चात् समय समय अनन्तगुनी विशुद्धतासे बढ़ते गये, तथा उसके द्वितीय-तृतीय आदि समयोंमें जैसे परिणाम हों, वैसे किन्हीं अन्य जीवोंके प्रथम समयमें ही हों और उनके उससे समय समय अनन्तगुनी विशुद्धतासे बढ़ते हों।—इस प्रकार अधःप्रवृत्तिकरण जानना।

तथा जिसमें पहले और पिछले समयोंके परिणाम समान न हों, अपूर्व ही हों वह अपूर्वकरण है। जैसे कि—उस करणके परिणाम जैसे पहले समयमें हों वैसे

---

* लब्धिसार-३५ वीं गाथा।

किसी भी जीवके द्वितीयादि समयोंमें नहीं होते, बढ़ते ही होते हैं; तथा यहाँ अधःकरणवत् जिन जीवोंके करणका पहला समय ही हो, उन अनेक जीवोंके परिणाम परस्परसमान भी होते हैं और अधिक-हीन विशुद्धता सहित भी होते हैं; परन्तु यहाँ इतना विशेष हुआ कि—इसकी उत्कृष्टतासे भी द्वितीयादि समयवालेके जघन्य परिणाम भी अनन्तगुनी विशुद्धता सहित ही होते हैं। इसी प्रकार जिन्हें करण प्रारम्भ किये द्वितीयादि समय हुए हों उनके उस समयवालोंके परिणाम तो परस्पर समान या असमान होते हैं, परन्तु ऊपरके समयवालोंके परिणाम उस समय समान सर्वथा नहीं होते, अपूर्व ही होते हैं। इस प्रकार अपूर्वकरण* जानना। तथा जिसमें समान समयवर्ती जीवोंके परिणाम समान ही होते हैं, निवृत्ति अर्थात् परस्पर भेद उससे रहित होते हैं। जैसे उस करणके पहले समयमें सर्व जीवोंके परिणाम परस्पर समान ही होते हैं, उसी प्रकार द्वितीयादि समयोंमें परस्पर समानता जानना। तथा प्रथमादि समयवालोंसे द्वितीयादि समयवालोंके अनन्तगुनी विशुद्धता सहित होते हैं। इस प्रकार अनिवृत्तिकरण+ जानना—इस प्रकार ये तीन करण जानना। वहाँ पहले अंतर्मुहूर्त कालपर्यंत अधःकरण होता है, वहाँ चार आवश्यक होते हैं:—समय समय अनन्तगुनी विशुद्धता होती है; तथा एक (-एक) अंतर्मुहूर्तसे नवीन बंधकी स्थिति घटती जाती है, सो स्थितिबंधापसरण है, तथा प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग समय समय अनन्तगुना बढ़ता है और अप्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभागबन्ध समय समय अनंतवेंभाग होता है—इस प्रकार चार आवश्यक होते हैं। वहाँ पश्चात् अपूर्वकरण होता है। उसका काल अधःकरणके कालके संख्यातवें भाग है। उसमें ये आवश्यक और होते हैं। एक-एक अंतर्मुहूर्तसे सत्ताभूत पूर्वकर्मकी स्थिति थी, उसको घटाता है सो स्थितिकाण्डकघात है; तथा उससे छोटे एक-एक अन्तर्मुहूर्तसे पूर्वकर्मके अनुभागको घटाता है सो अनुभागकाण्डकघात है। तथा गुणश्रेणीके कालमें क्रमशः

---

* समए समए भिण्णा भावा तम्हा अपुव्वकरणो हु ॥ लब्धिसार-३६ ॥
जम्हा उवरिमभावा हेट्ठिमभावेहिं णत्थि सरिसत्तं ।
तम्हा विदियं करणं अपुव्वकरणेत्ति णिद्दिट्ठं ॥ लब्धि०-५१ ॥

करणं परिणामो अपुव्वाणि च ताणि करणाणि च अपुव्वकरणाणि, असमाणपरिणामा त्ति जं उत्तं होदि ॥ धवला १-१-८-४ ॥

\+ एगसमए वट्टंताणं जीवाणं परिणामेहि ण विज्जदे णियट्टी णिवित्ती जत्थ ते अणियट्टीपरिणामा । धवला १-१-८-४ ।

एकम्हि कालसमये संठाणादीहिं जह णिवट्टंति । ण णिवट्टंति तहा वि य परिणामेहिं मिहो जेहिं ॥ गो० जीव० ५६ ॥

असंख्यातगुने प्रमाणसहित कर्मोंको निर्जराके योग्य करता है सो गुणश्रेणी निर्जरा है। तथा गुणसंक्रमण यहाँ नहीं होता, परन्तु अन्यत्र अपूर्वकरण हो वहाँ होता है। इस प्रकार अपूर्वकरण होनेके पश्चात् अनिवृत्तिकरण होता है। उसका काल अपूर्वकरणके भी संख्यातवें भाग है। उसमें पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल जानेके बाद अन्तरकरण* करता है, जो अनिवृत्तिकरणके काल पश्चात् उदय आने योग्य ऐसे मिथ्यात्वकर्मके मुहूर्त्तमात्र निषेक उनका अभाव करता है; उन परमाणुओंको अन्य स्थिति-रूप परिणमित करता है। तथा अन्तरकरण करनेके पश्चात् उपशमकरण करता है। अन्तरकरण द्वारा अभावरूप किये निषेकोंके ऊपरवाले जो मिथ्यात्वके निषेक हैं उनको उदय आनेके अयोग्य बनाता है। इत्यादिक क्रिया द्वारा अनिवृत्ति करणके अन्तसमयके अनन्तर जिन निषेकोंका अभाव किया था, उनका काल आये, तब निषेकोंके बिना उदय किसका आयेगा? इसलिये मिथ्यात्वका उदय न होनेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। अनादि मिथ्यादृष्टिके सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीयकी सत्ता नहीं है, इसलिये वह एक मिथ्यात्वकर्मका ही उपशम करके उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। तथा कोई जीव सम्यक्त्व पाकर फिर भ्रष्ट होता है उसकी दशा भी अनादि मिथ्यादृष्टि जैसी होजाती है।

यहाँ प्रश्न है कि—परीक्षा करके तत्त्वश्रद्धान किया था, उसका अभाव कैसे हो?

समाधानः—जैसे किसी पुरुषको शिक्षा दी। उसकी परीक्षा द्वारा उसे 'ऐसे ही है'—ऐसी प्रतीति भी आयी थी; पश्चात् किसी प्रकारसे अन्यथा विचार हुआ, इसलिये उस शिक्षामें सन्देह हुआ कि—इस प्रकार है या इस प्रकार? अथवा 'न जाने किस प्रकार है?' अथवा उस शिक्षाको झूठ जानकर उससे विपरीतता हुई तब उसे अप्रतीति हुई और उसके उस शिक्षाकी प्रतीतिका अभाव होगया। अथवा पहले तो अन्यथा प्रतीति थी ही, बीचमें शिक्षाके विचारसे यथार्थ प्रतीति हुई थी;

---

* किमंतरकरणं णाम? विवक्खियकम्माणं हेट्ठिमोवरिमट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झे अन्तोमुहुत्तमेत्ताणं ट्ठिदीणं परिणामविसेसेण णिसेगाणमभावीकरण मंतरकरणमिदि भण्णदे॥ (जयधवला, अ० प० ९५३)

अर्थः—अन्तरकरणका क्या स्वरूप है? उत्तरः—विवक्षितकर्मोंकी अधस्तन और उपरिम स्थितियोंको छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थितियोंके निषेकोंका परिणाम विशेषके द्वारा अभाव करनेको अन्तरकरण कहते हैं।

परन्तु उस शिक्षाका विचार किये बहुत काल हो गया, तब उसे भूलकर जैसी पहले अन्यथा प्रतीति थी वैसी ही स्वयमेव हो गई। तब उस शिक्षाकी प्रतीतिका अभाव हो जाता है। अथवा यथार्थ प्रतीति पहले तो की; पश्चात् न तो कोई अन्यथा विचार किया, न बहुत काल हुआ, परन्तु वैसे ही कर्मोदयसे होनहारके अनुसार स्वयमेव ही उस प्रतीतिका अभाव होकर अन्यथापना हुआ। ऐसे अनेक प्रकारसे उस शिक्षाकी यथार्थ प्रतीतिका अभाव होता है। उसीप्रकार जीवको जिनदेवका तत्त्वादिरूप उपदेश हुआ; उसकी परीक्षा करके उसे 'ऐसे ही है'—ऐसा श्रद्धान हुआ; पश्चात् जैसे पहले कहे थे वैसे अनेक प्रकारसे उस यथार्थ श्रद्धानका अभाव होता है। यह कथन स्थूलरूपसे बतलाया है; तारतम्यसे तो केवलज्ञानमें भासित होता है कि—'इस समय श्रद्धान है और इस समय नहीं है, क्योंकि यहाँ मूलकारण मिथ्यात्व कर्म है। उसका उदय हो तब तो अन्य विचारादि कारण मिलें या न मिलें, स्वयमेव सम्यक् श्रद्धानका अभाव होता है। और उसका उदय न हो तब अन्य कारण मिलें या न मिलें, स्वयमेव सम्यक् श्रद्धान हो जाता है। सो ऐसी अन्तरंग समय-समय सम्बन्धी सूक्ष्मदशाका जानना छद्मस्थको नहीं होता इसलिये इसे अपनी मिथ्या-सम्यक् श्रद्धानरूप अवस्थाके तारतम्यका निश्चय नहीं हो सकता; केवलज्ञानमें भासित होता है।—इस अपेक्षा गुणस्थानोंका पलटना शास्त्रमें कहा है।

—इसप्रकार जो सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हो उसे सादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं; उसके भी पुनः सम्यक्त्वकी प्राप्तिमें पूर्वोक्त पाँच लब्धियाँ होती हैं। विशेष इतना कि—यहाँ किसी जीवके दर्शनमोहकी तीन प्रकृतियोंकी सत्ता होती है, सो तीनोंका उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्वी होता है। अथवा किसीके सम्यक्त्व मोहनीयका उदय आता है, दो प्रकृतियोंका उदय नहीं होता, वह क्षयोपशम सम्यक्त्वी होता है। उसके गुणश्रेणी आदि क्रिया नहीं होती तथा अनिवृत्तिकरण नहीं होता। तथा किसीको मिश्रमोहनीयका उदय आता है, दो प्रकृतियोंका उदय नहीं होता, वह मिश्रगुणस्थानको प्राप्त होता है, उसके करण नहीं होते।—इसप्रकार सादि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व छूटने पर दशा होती है। क्षायिक सम्यक्त्वको वेदक सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त करता है, इसलिये उसका कथन यहाँ नहीं किया है। इसप्रकार सादि मिथ्यादृष्टिका जघन्य तो मध्यम अन्तर्मुहूर्तमात्र, उत्कृष्ट किंचित् न्यून अर्द्ध पुद्गलपरावर्तनमात्र काल जानना। देखो, परिणामोंकी विचित्रता! कोई जीव तो ग्यारहवें गुणस्थानमें यथाख्यात चारित्र प्राप्त करके पुनः मिथ्यादृष्टि होकर किंचित् न्यून अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन काल पर्यन्त संसारमें रुलता है और कोई

नित्यनिगोदसे निकलकर मनुष्य होकर मिथ्यात्व छूटनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त करता है। ऐसा जानकर अपने परिणाम विगाड़नेका भय रखना और उनके सुधारनेका उपाय करना।

तथा उस सादि मिथ्यादृष्टिके थोड़े काल मिथ्यात्वका उदय रहे तो बाह्य जैनीपना नष्ट नहीं होता व तत्त्वोंका अश्रद्धान व्यक्त नहीं होता, व विचार किये विना ही व थोड़े विचारहीसे पुनः सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। तथा बहुत काल तक मिथ्यात्वका उदय रहे तो जैसी अनादि मिथ्यादृष्टिकी दशा होती है वैसी इसकी भी दशा होती है। गृहीत मिथ्यात्वको भी वह ग्रहण करता है और निगोदादिमें भी रुलता है। इसका कोई प्रमाण नहीं है।

तथा कोई जीव सम्यक्त्वसे भ्रष्ट होकर सासादन होता है और वहाँ जघन्य एक समय उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल रहता है। उसके परिणामकी दशा वचन द्वारा कहनेमें नहीं आती। सूक्ष्मकाल मात्र किसी जातिके केवलज्ञानगम्य परिणाम होते हैं। वहाँ अनन्तानुबन्धीका तो उदय होता है, मिथ्यात्वका उदय नहीं होता। सो आगम प्रमाणसे उसका स्वरूप जानना।

तथा कोई जीव सम्यक्त्वसे भ्रष्ट होकर मिश्रगुणस्थानको प्राप्त होता है। वहाँ मिश्रमोहनीयका उदय होता है, इसका काल मध्यम अन्तर्मुहूर्तमात्र है। सो इसका भी काल थोड़ा है, इसलिये इसके भी परिणाम केवलज्ञानगम्य हैं। यहाँ इतना भासित होता है कि—जैसे किसीको शिक्षा दी; उसे वह कुछ सत्य और कुछ असत्य एक ही कालमें माने; उसीप्रकार तत्त्वोंका श्रद्धान-अश्रद्धान एक ही कालमें हो वह मिश्रदशा है।

कितने ही कहते हैं—'हमें तो जिनदेव तथा अन्य देव सर्व ही वंदन करने योग्य हैं'—इत्यादि मिश्र श्रद्धानको मिश्रगुणस्थान कहते हैं। सो ऐसा नहीं है; यह तो प्रत्यक्ष मिथ्यात्वदशा है। व्यवहाररूप देवादिकका श्रद्धान होनेपर भी मिथ्यात्व रहता है, तब इसके तो देव-कुदेवका कुछ निर्णय ही नहीं है, इसलिये इसके तो यह विनय मिथ्यात्व प्रगट है—ऐसा जानना।

इसप्रकार सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टियोंका कथन किया; प्रसंग पाकर अन्य भी कथन किया है। इसप्रकार जैनमतवाले मिथ्यादृष्टियोंके स्वरूपका निरूपण किया। यहाँ नानाप्रकारके मिथ्यादृष्टियोंका कथन किया है। उसका प्रयोजन यह जानना कि—उन प्रकारोंको पहिचानकर अपनेमें ऐसा दोष हो तो उसे दूर करके सम्यक्श्रद्धानी होना, औरोंके ही ऐसे दोष देख-देखकर कषायी नहीं होना; क्योंकि

अपना भला-बुरा तो अपने परिणामोंसे है। औरोंको तो रुचिवान देखें तो कुछ उपदेश देकर उनका भी भला करें। इसलिये अपने परिणाम सुधारनेका उपाय करना योग्य है; सर्व प्रकारके मिथ्यात्वभाव छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है; क्योंकि संसारका मूल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वके समान अन्य पाप नहीं है। एक मिथ्यात्व और उसके साथ अनन्तानुबन्धीका अभाव होनेपर इकतालीस प्रकृतियोंका तो बन्ध ही मिट जाता है, स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी सागरकी रह जाती है, अनुभाग थोड़ा ही रह जाता है, शीघ्र ही मोक्षपदको प्राप्त करता है। तथा मिथ्यात्वका सद्भाव रहने पर अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्षमार्ग नहीं होता। इसलिये जिस-तिस उपायसे सर्वप्रकार मिथ्यात्वका नाश करना योग्य है।

इति मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्रमें जैनमतवाले मिथ्यादृष्टियोंका
निरूपण जिसमें हुआ ऐसा [सातवाँ] अधिकार
सम्पूर्ण हुआ ॥७॥

आठवाँ अधिकार

उपदेशका स्वरूप

अब मिथ्यादृष्टि जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देकर उनका उपकार करना यही उत्तम उपकार है। तीर्थंकर, गणधरादिक भी ऐसा ही उपकार करते हैं; इसलिये इस शास्त्रमें भी उन्हींके उपदेशानुसार उपदेश देते हैं। वहाँ उपदेशका स्वरूप जाननेके अर्थ कुछ व्याख्यान करते हैं; क्योंकि उपदेशको यथावत् न पहिचाने तो अन्यथा मानकर विपरीत प्रवर्तन करे। इसलिये उपदेशका स्वरूप कहते हैं—

जिनमतमें उपदेश चार अनुयोगके द्वारा दिया है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, यह चार अनुयोग हैं। वहाँ तीर्थंकर–चक्रवर्ती आदि महान पुरुषोंके चरित्रका जिसमें निरूपण किया हो वह [1]प्रथमानुयोग है। तथा गुणस्थान-मार्गणादिरूप जीवका व कर्मोंका व त्रिलोकादिकका जिसमें निरूपण हो वह [2]करणानुयोग है। तथा गृहस्थ-मुनिके धर्म आचरण करनेका जिसमें निरूपण हो वह [3]चरणानुयोग है। तथा षट्द्रव्य, सप्ततत्त्वादिकका व स्व-परभेद विज्ञानादिकका जिसमें निरूपण हो वह [4]द्रव्यानुयोग है। अब इनका प्रयोजन कहते हैं:—

[प्रथमानुयोगका प्रयोजन]

प्रथमानुयोगमें तो संसारकी विचित्रता, पुण्य-पापका फल, महंत पुरुषोंकी प्रवृत्ति इत्यादि निरूपणसे जीवोंको धर्ममें लगाया है। जो जीव तुच्छबुद्धि हों वे भी उससे धर्मसन्मुख होते हैं, क्योंकि वे जीव सूक्ष्म निरूपणको नहीं पहिचानते, लौकिक कथाओंको जानते हैं, वहाँ उनका उपयोग लगता है। तथा प्रथमानुयोगमें लौकिक प्रवृत्तिरूप ही निरूपण होनेसे उसे वे भलीभाँति समझ जाते हैं। तथा लोकमें

---

१. रत्नकरण्ड २–२; २. रत्नकरण्ड २–३; ३. रत्नकरण्ड २–४; ४. रत्नकरण्ड २–५।

तो राजादिककी कथाओंमें पापका पोषण होता है। यहाँ महंत पुरुष-राजादिककी कथाएँ तो हैं, परन्तु प्रयोजन जहाँ-तहाँ पापको छुड़ाकर धर्ममें लगानेका प्रगट करते हैं; इसलिये वे जीव कथाओंके लालचसे तो उन्हें पढ़ते–सुनते हैं और फिर पापको बुरा, धर्मको भला जानकर धर्ममें रुचिवंत होते हैं। इसप्रकार तुच्छबुद्धियोंको समझानेके लिये यह अनुयोग है। 'प्रथम' अर्थात् 'अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि', उनके अर्थ जो अनुयोग सो प्रथमानुयोग है। ऐसा अर्थ गोम्मटसारकी *टीकामें किया है। तथा जिन जीवोंके तत्त्वज्ञान हुआ हो, पश्चात् इस प्रथमानुयोगको पढ़ें–सुनें तो उन्हें यह उसके उदाहरणरूप भासित होता है। जैसे—जीव अनादिनिधन है, शरीरादिक संयोगी पदार्थ हैं, ऐसा यह जानता था। तथा पुराणोंमें जीवोंके भवान्तर निरूपित किये हैं, वे उस जाननेके उदाहरण हुए। तथा शुभ-अशुभ-शुद्धोपयोगको जानता था, व उनके फलको जानता था। पुराणोंमें उन उपयोगोंकी प्रवृत्ति और उनका फल जीवके हुआ सो निरूपण किया है; वही उस जाननेका उदाहरण हुआ। इसीप्रकार अन्य जानना। यहाँ उदाहरणका अर्थ यह है कि—जिसप्रकार जानता था, उसीप्रकार वहाँ किसी जीवके अवस्था हुई, इसलिये यह उस जाननेकी साक्षी हुई। तथा जैसे कोई सुभट है, वह सुभटोंकी प्रशंसा और कायरोंकी निन्दा जिसमें हो ऐसी किन्हीं पुराण-पुरुषोंकी कथा सुननेसे सुभटपनेमें अति उत्साहवान होता है; उसीप्रकार धर्मात्मा है वह धर्मात्माओंकी प्रशंसा और पापियोंकी निन्दा जिसमें हो ऐसे किन्हीं पुराणपुरुषोंकी कथा सुननेसे धर्ममें अति उत्साहवान होता है।—इसप्रकार यह प्रथमानुयोगका प्रयोजन जानना।

[करणानुयोगका प्रयोजन]

तथा करणानुयोगमें जीवोंके व कर्मोंके विशेष तथा त्रिलोकादिककी रचना निरूपित करके जीवोंको धर्ममें लगाया है। जो जीव धर्ममें उपयोग लगाना चाहते हैं वे जीवोंके गुणस्थान-मार्गणा आदि विशेष तथा कर्मोंके कारण-अवस्था-फल किस-किसके कैसे-कैसे पाये जाते हैं इत्यादि विशेष तथा त्रिलोकमें नरक-स्वर्गादिके ठिकाने पहिचान कर पापसे विमुख होकर धर्ममें लगते हैं। तथा ऐसे विचारमें उपयोग रम जाये तब पाप-प्रवृत्ति छूटकर स्वयमेव तत्काल धर्म उत्पन्न होता है; उस अभ्याससे तत्त्वज्ञानकी भी प्राप्ति शीघ्र होती है। तथा ऐसा सूक्ष्म यथार्थ कथन जिनमतमें ही है, अन्यत्र नहीं है; इसप्रकार महिमा जानकर जिनमतका श्रद्धानी होता है। तथा जो जीव तत्त्वज्ञानी

* प्रथमं मिथ्यादृष्टिमव्रतिकमव्युत्पन्नं वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोऽनुयोगोऽधिकारः प्रथमानुयोगः।
(गो० जी० टी० गा० ३६१-६२)

होकर इस करणानुयोगका अभ्यास करते हैं, उन्हें यह उसके विशेषणरूप भासित होता है। जो जीवादिक तत्त्वोंको आप जानता है उन्हींके विशेष करणानुयोगमें किये हैं; वहाँ कितने ही विशेषण तो यथावत् निश्चयरूप हैं, कितने ही उपचारसहित व्यवहाररूप हैं; कितने ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादिकके स्वरूप प्रमाणादिरूप हैं, कितने ही निमित्त आश्रयादि अपेक्षा सहित हैं। इत्यादि अनेक प्रकारके विशेषण निरूपित किये हैं, उन्हें ज्योंका त्यों मानता हुआ उस करणानुयोगका अभ्यास करता है। इस अभ्याससे तत्त्वज्ञान निर्मल होता है। जैसे कोई यह तो जानता था कि यह रत्न है, परन्तु उस रत्नके बहुतसे विशेषण जानने पर निर्मल रत्नका पारखी होता है; उसीप्रकार तत्त्वोंको जानता था कि यह जीवादिक हैं, परन्तु उन तत्त्वोंके बहुत विशेष जाने तो निर्मल तत्त्वज्ञान होता है; तत्त्वज्ञान निर्मल होनेपर आप ही विशेष धर्मात्मा होता है। तथा अन्य ठिकाने उपयोगको लगाये तो रागादिककी वृद्धि होती है और छद्मस्थका उपयोग निरन्तर एकाग्र नहीं रहता; इसलिये ज्ञानी इस करणानुयोगके अभ्यासमें उपयोगको लगाता है; उससे केवलज्ञान द्वारा देखे गये पदार्थोंका जानपना इसके होता है; प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षहीका भेद है, भासित होनेमें विरुद्धता नहीं है। इसप्रकार यह करणानुयोगका प्रयोजन जानना। "करण" अर्थात् गणित कार्यके कारणरूप सूत्र, उनका जिसमें "अनुयोग"—अधिकार हो वह करणानुयोग है। इसमें गणित वर्णनकी मुख्यता है—ऐसा जानना।

[चरणानुयोगका प्रयोजन]

अब, चरणानुयोगका प्रयोजन कहते हैं—चरणानुयोगमें नानाप्रकार धर्मके साधन निरूपित करके जीवोंको धर्ममें लगाते हैं। जो जीव हित-अहित को नहीं जानते, हिंसादिक पाप कार्योंमें तत्पर हो रहते हैं; उन्हें जिस-प्रकार पापकार्योंको छोड़कर धर्मकार्योंमें लगें, उसप्रकार उपदेश दिया है; उसे जानकर जो धर्म आचरण करनेको सन्मुख हुए, वे जीव गृहस्थधर्म व मुनिधर्मका विधान सुन-कर आपसे जैसा सधे वैसे धर्म-साधनमें लगते हैं। ऐसे साधनसे कषाय मन्द होती है और उसके फलमें इतना तो होता है कि—कुगतिमें दुःख नहीं पाते किन्तु सुगतिमें सुख प्राप्त करते हैं, तथा ऐसे साधनसे जिनमतका निमित्त बना रहता है, वहाँ तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होना हो तो होजाती है। तथा जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें यह सर्व आचरण अपने वीतरागभावके अनुसार भासित होते हैं। एकदेश व

सर्वदेश वीतरागता होनेपर ऐसी श्रावकदशा–मुनिदशा होती है; क्योंकि इनके निमित्त-नैमित्तिकपना पाया जाता है। ऐसा जानकर श्रावक-मुनिधर्मके विशेष पहिचानकर जैसा अपना वीतरागभाव हुआ हो वैसा अपने योग्य धर्मको साधते हैं। वहाँ जितने अंशमें वीतरागता होती है उसे कार्यकारी जानते हैं, जितने अंशमें राग रहता है उसे हेय जानते हैं। सम्पूर्ण वीतरागताको परमधर्म मानते हैं।—ऐसा चरणानुयोगका प्रयोजन है।

[द्रव्यानुयोगका प्रयोजन]

अब, द्रव्यानुयोगका प्रयोजन कहते हैं—द्रव्यानुयोगमें द्रव्योंका व तत्त्वोंका निरूपण करके जीवोंको धर्ममें लगाते हैं। जो जीव जीवादिक द्रव्योंको व तत्त्वोंको नहीं पहिचानते, आपको–परको भिन्न नहीं जानते, उन्हें हेतु-दृष्टान्त-युक्ति द्वारा व प्रमाण-नयादि द्वारा उनका स्वरूप इस प्रकार दिखाया है जिससे उनको प्रतीति हो जाये। उसके अभ्याससे अनादि अज्ञानता दूर होती है। अन्यमत कल्पित तत्त्वादिक झूठ भासित हों तब जिनमत की प्रतीति हो और उनके भावको पहिचाननेका अभ्यास रखें तो शीघ्र ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जाये। तथा जिनके तत्त्वज्ञान हुआ हो वे जीव द्रव्यानुयोगका अभ्यास करें तो उन्हें अपने श्रद्धानके अनुसार वह सर्व कथन प्रतिभासित होते हैं। जैसे किसीने कोई विद्या सीख ली, परन्तु यदि उसका अभ्यास करता रहे तो वह याद रहती है, न करे तो भूल जाता है। इस प्रकार इसको तत्त्वज्ञान हुआ, परन्तु यदि उसके प्रतिपादक द्रव्यानुयोगका अभ्यास करता रहे तो वह तत्त्वज्ञान रहता है, न करे तो भूल जाता है। अथवा संक्षेपरूपसे तत्त्वज्ञान हुआ था, वह नाना युक्ति-हेतु-दृष्टान्तादि द्वारा स्पष्ट होजाये तो उसमें शिथिलता नहीं होसकती। तथा इस अभ्याससे रागादि घटनेसे शीघ्र मोक्ष सधता है। इस प्रकार द्रव्यानुयोगका प्रयोजन जानना।

अब इन अनुयोगोंमें किस प्रकार व्याख्यान है, सो कहते हैं :—

[प्रथमानुयोगमें व्याख्यानका विधान]

प्रथमानुयोगमें जो मूल कथाएँ हैं, वे तो जैसी हैं वैसी ही निरूपित करते हैं। तथा उनमें प्रसंगोपात् व्याख्यान होता है, वह कोई तो ज्यों का त्यों होता है, कोई ग्रन्थकर्त्ताके विचारानुसार होता है, परन्तु प्रयोजन अन्यथा नहीं होता।

उदाहरण—जैसे, तीर्थंकर देवोंके कल्याणकोंमें इन्द्र आये, यह कथा तो सत्य है। तथा इन्द्रने स्तुति की उसका व्याख्यान किया; सो इन्द्रने तो अन्य प्रकारसे ही स्तुति की

थी और यहाँ ग्रन्थकर्त्ताने अन्य ही प्रकारसे स्तुति करना लिखा है; परन्तु स्तुतिरूप प्रयोजन अन्यथा नहीं हुआ। तथा परस्पर किन्हींके वचनालाप हुआ; वहाँ उनके तो अन्य प्रकार अक्षर निकले थे यहाँ ग्रन्थकर्त्ताने अन्य प्रकार कहे, परन्तु प्रयोजन एक ही दिखलाते हैं। तथा नगर, वन, संग्रामादिकके नामादिक तो यथावत् ही लिखते हैं, और वर्णन हीनाधिक भी प्रयोजनका पोषण करता हुआ निरूपित करते हैं। इत्यादि इसी प्रकार जानना। तथा प्रसंगरूप कथा भी ग्रन्थकर्त्ता अपने विचारानुसार कहते हैं। जैसे—धर्मपरीक्षामें मूर्खोंकी कथा लिखी; सो वही कथा मनोवेगने कही थी ऐसा नियम नहीं है; परन्तु मूर्खपनेका पोषण करनेवाली कोई कथा कही थी ऐसे अभिप्राय-का पोषण करते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

यहाँ कोई कहे—अयथार्थ कहना तो जैन शास्त्रमें सम्भव नहीं है ?

उत्तर:—अन्यथा तो उसका नाम है जो प्रयोजन अन्यका अन्य प्रगट करे। जैसे—किसीसे कहा कि तू ऐसा कहना; उसने वे ही अक्षर तो नहीं कहे, परन्तु उसी प्रयोजन सहित कहे तो उसे मिथ्यावादी नहीं कहते, ऐसा जानना। यदि जैसेका तैसा लिखनेका सम्प्रदाय हो तो किसीने बहुत प्रकारसे वैराग्य चिंतवन किया था, उसका सर्व वर्णन लिखनेसे ग्रन्थ बढ़ जायेगा, तथा कुछ न लिखनेसे उसका भाव भासित नहीं होगा, इसलिये वैराग्यके ठिकाने थोड़ा–बहुत अपने विचारके अनुसार वैराग्यपोषक ही कथन करेंगे, सराग पोषक कथन नहीं करेंगे। वहाँ प्रयोजन अन्यथा नहीं हुआ इसलिये इसे अयथार्थ नहीं कहते। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

तथा प्रथमानुयोगमें जिसकी मुख्यता हो उसीका पोषण करते हैं। जैसे—किसीने उपवास किया, उसका तो फल अल्प था, परन्तु उसे अन्य धर्मपरिणतिकी विशेषता हुई, इसलिये विशेष उच्चपदकी प्राप्ति हुई; वहाँ उसको उपवासहीका फल निरूपित करते हैं। इसी प्रकार अन्य जानना। तथा जिस प्रकार किसीने शीलादिकी प्रतिज्ञा दृढ़ रखी व नमस्कारमन्त्रका स्मरण किया व अन्य धर्म-साधन किया, उसके कष्ट दूर हुए, अतिशय प्रगट हुए; वहाँ उन्हींका वैसा फल नहीं हुआ है, परन्तु अन्य किसी कर्मके उदयसे वैसे कार्य हुए हैं, तथापि उनको उन शीलादिकका ही फल निरूपित करते हैं। उसी प्रकार कोई पाप कार्य किया, उसको उसीका तो वैसा फल नहीं हुआ है, परन्तु अन्य कर्मके उदयसे नीचगतिको प्राप्त हुआ अथवा कष्टादिक हुए, उसे उसी पापकार्यका फल निरूपित करते हैं। इत्यादि इसी प्रकार जानना।

यहाँ कोई कहे—ऐसा झूठा फल दिखलाना तो योग्य नहीं है; ऐसे कथनको प्रमाण कैसे करें ?

समाधानः—जो अज्ञानी जीव बहुत फल दिखाये बिना धर्ममें न लगें व पापसे न डरें, उनका भला करनेके अर्थ ऐसा वर्णन करते हैं। झूठ तो तब हो, जब धर्मके फलको पापका फल बतलायें, पापके फलको धर्मका फल बतलायें, परन्तु ऐसा तो है नहीं। जैसे—दस पुरुष मिलकर कोई कार्य करें, वहाँ उपचारसे एक पुरुषका भी किया कहा जाये तो दोष नहीं है; अथवा जिसके पितादिकने कोई कार्य किया हो, उसे एक जाति अपेक्षा उपचारसे पुत्रादिकका किया कहा जाये तो दोष नहीं है। उसी प्रकार बहुत शुभ व अशुभ कार्यों-का एक फल हुआ, उसे उपचारसे एक शुभ व अशुभकार्यका फल कहा जाये तो दोष नहीं है अथवा अन्य शुभ व अशुभकार्यका फल जो हुआ हो, उसे एक जाति अपेक्षा उपचारसे किसी अन्य ही शुभ व अशुभकार्यका फल कहें तो दोष नहीं है। उपदेशमें कहीं व्यवहार-वर्णन है, कहीं निश्चय वर्णन है। यहाँ उपचाररूप व्यवहारवर्णन किया है, इस प्रकार इसे प्रमाण करते हैं। इसको तारतम्य नहीं मान लेना; तारतम्यका तो करणानुयोगमें निरूपण किया है, सो जानना।

तथा प्रथमानुयोगमें उपचाररूप किसी धर्मका अंग होनेपर सम्पूर्ण धर्म हुआ कहते हैं। जैसे—जिन जीवोंके शंका–कांक्षादिक नहीं हुए, उनको सम्यक्त्व हुआ कहते हैं, परन्तु किसी एक कार्यमें शंका-कांक्षा न करने से ही तो सम्यक्त्व नहीं होता, सम्यक्त्व तो तत्त्वश्रद्धान होनेपर होता है; परन्तु निश्चय सम्यक्त्वका तो व्यवहारसम्यक्त्वमें उपचार किया और व्यवहारसम्यक्त्वके किसी एक अंगमें सम्पूर्ण व्यवहारसम्यक्त्वका उपचार किया;—इस प्रकार उपचार द्वारा सम्यक्त्व हुआ कहते हैं। तथा किसी जैनशास्त्रका एक अंग जाननेपर सम्यग्ज्ञान हुआ कहते हैं, सो संशयादि रहित तत्त्वज्ञान होनेपर सम्यग्ज्ञान होता है, परन्तु यहाँ पूर्ववत् उपचारसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। तथा कोई भला आचरण होनेपर सम्यक्चारित्र हुआ कहते हैं; वहाँ जिसने जैनधर्म अंगीकार किया हो व कोई छोटी-मोटी प्रतिज्ञा ग्रहण की हो, उसे श्रावक कहते हैं, सो श्रावक तो पंचमगुणस्थानवर्ती होनेपर होता है, परन्तु पूर्ववत् उपचारसे इसे श्रावक कहा है। उत्तरपुराणमें श्रेणिकको श्रावकोत्तम कहा है सो वह तो असंयत था; परन्तु जैन था इसलिये कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना। तथा जो सम्यक्त्वरहित मुनिलिंग धारण करे, व द्रव्यसे भी कोई अतिचार लगाता हो, उसे मुनि कहते हैं; सो मुनि तो षष्ठादि गुणस्थानवर्ती होनेपर होता है, परन्तु पूर्ववत् उपचारसे उसे मुनि कहा है। समवसरणसभामें मुनियोंकी संख्या कही, वहाँ सर्व ही

शुद्ध भावलिंगी मुनि नहीं थे, परन्तु मुनिलिंग धारण करनेसे सभीको मुनि कहा। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

तथा प्रथमानुयोगमें कोई धर्मबुद्धिसे अनुचित कार्य करे उसकी भी प्रशंसा करते हैं। जैसे विष्णुकुमारने मुनियोंका उपसर्ग दूर किया सो धर्मानुरागसे किया, परंतु मुनिपद छोड़कर यह कार्य करना योग्य नहीं था; क्योंकि ऐसा कार्य तो गृहस्थधर्ममें सम्भव है, और गृहस्थ धर्मसे मुनिधर्म ऊँचा है; सो ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार किया वह अयोग्य है, परन्तु वात्सल्य अंग की प्रधानतासे विष्णुकुमारजीकी प्रशंसा की है। इस छलसे औरोंको ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार करना योग्य नहीं है। तथा जिस प्रकार ग्वालेने मुनिको अग्निसे तपाया, सो करुणासे यह कार्य किया; परन्तु आये हुए उपसर्गको तो दूर करे, सहज अवस्थामें जो शीतादिकका परीषह होता है, उसे दूर करने पर रति माननेका कारण होता है, और उन्हें रति करना नहीं है, तब उल्टा उपसर्ग होता है। इसीसे विवेकी उनके शीतादिकका उपचार नहीं करते। ग्वाला अविवेकी था, करुणासे यह कार्य किया, इसलिये उसकी प्रशंसा की है, परन्तु इस छलसे औरोंको धर्मपद्धतिमें जो विरुद्ध हो वह कार्य करना योग्य नहीं है। तथा जैसे—वज्रकरण राजाने सिंहोदर राजाको नमन नहीं किया, मुद्रिकामें प्रतिमा रखी; सो बड़े-बड़े सम्यग्दृष्टि राजादिकको नमन करते हैं, उसमें दोष नहीं है; तथा मुद्रिकामें प्रतिमा रखनेमें अविनय होती है, यथावत् विधिसे ऐसी प्रतिमा नहीं होती, इसलिये इस कार्यमें दोष है; परन्तु उसे ऐसा ज्ञान नहीं था, उसे तो धर्मानुरागसे "मैं और को नमन नहीं करूँगा" ऐसी बुद्धि हुई; इसलिये उसकी प्रशंसा की है। परन्तु इस छलसे औरोंको ऐसे कार्य करना योग्य नहीं है। तथा कितने ही पुरुषोंने पुत्रादिककी प्राप्तिके अर्थ अथवा रोग-कष्टादि दूर करनेके अर्थ चैत्यालय पूजनादि कार्य किये, स्तोत्रादि किये, नमस्कारमन्त्र स्मरण किया, परन्तु ऐसा करनेसे तो निःकांक्षितगुणका अभाव होता है, निदानबन्ध नामक आर्त्तध्यान होता है; पापहीका प्रयोजन अंन्तरंगमें है इसलिये पापहीका बन्ध होता है; परन्तु मोहित होकर भी बहुत पापबंधका कारण कुदेवादिका तो पूजनादि नहीं किया, इतना उसका गुण ग्रहण करके उसकी प्रशंसा करते हैं; इस छलसे औरोंको लौकिक कार्योंके अर्थ धर्म साधन करना युक्त नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना। इसी प्रकार प्रथमानुयोगमें अन्य कथन भी हों, उन्हें यथा सम्भव जानकर भ्रमरूप नहीं होना।

अब, करणानुयोगमें किसप्रकार व्याख्यान है सो कहते हैं:—

[करणानुयोगमें व्याख्यानका विधान]

जैसा केवलज्ञान द्वारा जाना वैसा करणानुयोगमें व्याख्यान है। तथा केवलज्ञान द्वारा तो बहुत जाना परन्तु जीवको कार्यकारी जीव-कर्मादिकका व त्रिलोकादिकका ही निरूपण इसमें होता है। तथा उनका भी स्वरूप सर्व निरूपित नहीं हो सकता, इसलिये जिस प्रकार वचनगोचर होकर छद्मस्थके ज्ञानमें उनका कुछ भाव भासित हो, उस प्रकार संकुचित करके निरूपण करते हैं। यहाँ उदाहरण:—जीवके भावोंकी अपेक्षा गुणस्थान कहे हैं, वे भाव अनन्तस्वरूपसहित वचनगोचर नहीं हैं। वहाँ बहुत भावोंकी एक जाति करके चौदह गुणस्थान कहे हैं। तथा जीवको जाननेके अनेक प्रकार हैं, वहाँ मुख्य चौदह मार्गणाका निरूपण किया है। तथा कर्म परमाणु अनंतप्रकार शक्तियुक्त हैं; उनमें बहुतों की एक जाति करके आठ व एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ कही हैं। तथा त्रिलोकमें अनेक रचनाएँ हैं, वहाँ कुछ मुख्य रचनाओंका निरूपण करते हैं। तथा प्रमाणके अनन्त भेद हैं वहाँ संख्यातादि तीन भेद व इनके इक्कीस भेद निरूपित किये हैं। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

तथा करणानुयोगमें यद्यपि वस्तुके क्षेत्र, काल, भावादिक अखंडित हैं, तथापि छद्मस्थको हीनाधिकज्ञान होनेके अर्थ प्रदेश, समय, अविभाग प्रतिच्छेदादिककी कल्पना करके उनका प्रमाण निरूपित करते हैं। तथा एक वस्तुमें भिन्न-भिन्नगुणोंका व पर्यायोंका भेद करके निरूपण करते हैं; तथा जीव-पुद्गलादिक यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि सम्बन्धादिक द्वारा अनेक द्रव्यसे उत्पन्न गति, जाति आदि भेदोंको एक जीवके निरूपित करते हैं; इत्यादि व्याख्यान व्यवहारनयकी प्रधानता सहित जानना; क्योंकि व्यवहारके बिना विशेष नहीं जान सकता। तथा कहीं निश्चयवर्णन भी पाया जाता है। जैसे—जीवादिक द्रव्योंका प्रमाण निरूपण किया, वहाँ भिन्न-भिन्न इतने ही द्रव्य हैं। वह यथासम्भव जान लेना।

तथा करणानुयोगमें जो कथन हैं वे कितने ही तो छद्मस्थके प्रत्यक्ष-अनुमानादिगोचर होते हैं; तथा जो न हों उन्हें आज्ञाप्रमाण द्वारा मानना। जिस प्रकार जीव-पुद्गलके स्थूल बहुत कालस्थायी मनुष्यादि पर्यायें व घटादि पर्यायें निरूपित कीं, उनके तो प्रत्यक्ष अनुमानादि हो सकते हैं, परन्तु प्रति समय सूक्ष्मपरिणमनकी अपेक्षा ज्ञानादिकके व स्निग्ध-रूक्षादिकके अंश निरूपित किये हैं वे आज्ञासे ही प्रमाण होते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

तथा करणानुयोगमें छद्मस्थोंकी प्रवृत्तिके अनुसार वर्णन नहीं किया है, केवलज्ञानगम्य पदार्थोंका निरूपण है। जिस प्रकार कितने ही जीव तो द्रव्यादिकका विचार करते हैं वा व्रतादिक पालते हैं, परन्तु उनके अंतरंग सम्यक्त्वचारित्र शक्ति नहीं है इसलिये उनको मिथ्यादृष्टि-अव्रती कहते हैं। तथा कितने ही जीव द्रव्यादिकके व व्रतादिकके विचार रहित हैं, अन्य कार्योंमें प्रवर्तते हैं व निद्रादि द्वारा निर्विचार हो रहे हैं, परन्तु उनके सम्यक्त्वादि शक्तिका सद्भाव है इसलिये उनको सम्यक्त्वी व व्रती कहते हैं। तथा किसी जीवके कषायों की प्रवृत्ति तो बहुत है और उसके अंतरंग कषायशक्ति थोड़ी है, तो उसे मन्दकषायी कहते हैं। तथा किसी जीवके कषायोंकी प्रवृत्ति तो थोड़ी है और उसके अंतरंग कषायशक्ति बहुत है, तो उसे तीव्रकषायी कहते हैं। जैसे—व्यंतरादिक देव कषायोंसे नगर नाशादि कार्य करते हैं, तथापि उनके थोड़ी कषायशक्तिसे पीतलेश्या कही है। और एकेन्द्रियादिक जीव कषायकार्य करते दिखायी नहीं देते, तथापि उनके बहुत कषायशक्तिसे कृष्णादि लेश्या कही है। तथा सर्वार्थसिद्धिके देव कषायरूप थोड़े प्रवर्तते हैं उनके बहुत कषायशक्तिसे असंयम कहा है और पंचमगुणस्थानी व्यापार अब्रह्मादि कषायकार्यरूप बहुत प्रवर्तते हैं उनके मन्दकषायशक्तिसे देशसंयम कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

तथा किसी जीव को मन-वचन-कायकी चेष्टा थोड़ी होती दिखायी दे, तथापि कर्माकर्षण शक्तिकी अपेक्षा बहुत योग कहा है; किसीके चेष्टा बहुत दिखायी दे, तथापि शक्तिकी हीनतासे अल्प योग कहा है। जैसे—केवली गमनादि क्रियारहित हुए वहाँ भी उनके योग बहुत कहा है। द्वीन्द्रियादिक जीव गमनादि करते हैं, तथापि उनके योग अल्प कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

तथा कहीं जिसकी व्यक्तता कुछ भासित नहीं होती, तथापि सूक्ष्मशक्तिके सद्भावसे उसका वहाँ अस्तित्व कहा है। जैसे—मुनिके अब्रह्म कार्य कुछ नहीं है, तथापि नववें गुणस्थानपर्यन्त मैथुन संज्ञा कही है। अहमिन्द्रोंके दुःखका कारण व्यक्त नहीं है, तथापि कदाचित् असाताका उदय कहा है। नारकियोंके सुखका कारण व्यक्त नहीं है, तथापि कदाचित् साताका उदय कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

तथा करणानुयोग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादिक धर्मका निरूपण कर्म प्रकृतियोंके उपशमादिककी अपेक्षासहित सूक्ष्मशक्ति जैसे पायी जाती है वैसे गुणस्थानादिमें निरूपण करता है व सम्यग्दर्शनादिके विषयभूत जीवादिकोंका भी निरूपण सूक्ष्म

भेदादि सहित करता है। यहाँ कोई करणानुयोगके अनुसार आप उद्यम करे तो हो नहीं सकता; करणानुयोगमें तो यथार्थ पदार्थ बतलानेका मुख्य प्रयोजन है, आचरण करानेकी मुख्यता नहीं है। इसलिये यह तो चरणानुयोगादिकके अनुसार प्रवर्तन करे, उससे जो कार्य होना है वह स्वयमेव ही होता है। जैसे—आप कर्मोंके उपशमादि करना चाहे तो कैसे होंगे ? आप तो तत्त्वादिकका निश्चय करनेका उद्यम करे, उससे स्वयमेव ही उपशमादि सम्यक्त्व होते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र जानना। एक अन्तर्मुहूर्तमें ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर क्रमशः मिथ्यादृष्टि होता है और फिर चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न करता है। सो ऐसे सम्यक्त्वादिके सूक्ष्मभाव बुद्धिगोचर नहीं होते, इसलिये करणानुयोगके अनुसार जैसे का तैसा जान तो ले, परन्तु प्रवृत्ति बुद्धिगोचर जैसे भला हो वैसी करे।

तथा करणानुयोगमें भी कहीं उपदेशकी मुख्यता सहित व्याख्यान होता है, उसे सर्वथा उसी प्रकार नहीं मानना। जैसे—हिंसादिकके उपायको कुमतिज्ञान कहा है; अन्य मतादिकके शास्त्राभ्यास को कुश्रुतज्ञान कहा है, बुरा दिखे, भला न दिखे, उसे विभंगज्ञान कहा है; सो इनको छोड़नेके अर्थ उपदेश द्वारा ऐसा कहा है। तारतम्यसे मिथ्यादृष्टिके सभी ज्ञान कुज्ञान हैं, सम्यग्दृष्टिके सभी ज्ञान सुज्ञान हैं। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

तथा कहीं स्थूल कथन किया हो उसे तारतम्यरूप नहीं जानना। जिस प्रकार व्यास से तीनगुनी परिधि कही जाती है, परन्तु सूक्ष्मतासे कुछ अधिक तीनगुनी होती है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना। तथा कहीं मुख्यता की अपेक्षा व्याख्यान हो उसे सर्वप्रकार नहीं जानना। जैसे—मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवालोंको पाप जीव कहा है, असंयतादिगुणस्थानवालोंको पुण्य जीव कहा है, सो मुख्यपनेसे ऐसा कहा है, तारतम्यसे दोनोंके पाप-पुण्य यथासम्भव पाये जाते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र जानना। ऐसे ही और भी नानाप्रकार पाये जाते हैं; उन्हें यथासम्भव जानना। इस प्रकार करणानुयोगमें व्याख्यानका विधान बतलाया।

अब, चरणानुयोगमें व्याख्यानका विधान बतलाते हैं—

[चरणानुयोगमें व्याख्यानका विधान]

चरणानुयोगमें जिसप्रकार जीवोंके अपनी बुद्धिगोचर धर्मका आचरण हो वैसा उपदेश दिया है। वहाँ धर्म तो निश्चयरूप मोक्षमार्ग है वही है; उसके साधनादिक

उपचारसे धर्म हैं, इसलिये व्यवहारनयकी प्रधानतासे नानाप्रकार उपचार धर्मके भेदादिकोंका इसमें निरूपण किया जाता है; क्योंकि निश्चयधर्ममें तो कुछ ग्रहण-त्यागका विकल्प नहीं है और इसके निचली अवस्थामें विकल्प छूटता नहीं है; इसलिये इस जीवको धर्मविरोधीकार्योंको छुड़ानेका और धर्म साधनादि कार्योंको ग्रहण करानेका उपदेश इसमें है। वह उपदेश दो प्रकारसे दिया जाता है—एकतो व्यवहारहीका उपदेश देते हैं, एक निश्चय सहित व्यवहारका उपदेश देते हैं। वहाँ जिनजीवोंके निश्चयका ज्ञान नहीं है व उपदेश देने पर भी नहीं होता दिखायी देता ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव कुछ धर्मसन्मुख होनेपर उन्हें व्यवहारहीका उपदेश देते हैं। तथा जिन जीवोंको निश्चय-व्यवहारका ज्ञान है व उपदेश देनेपर उनका ज्ञान होता दिखायी देता है—ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव व सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव उनको निश्चय सहित व्यवहारका उपदेश देते हैं; क्योंकि श्री गुरु सर्व जीवोंके उपकारी हैं। सो असंज्ञी जीव तो उपदेश ग्रहण करने योग्य नहीं हैं; उनका तो उपकार इतना ही किया कि—और जीवोंको उनकी दयाका उपदेश दिया। तथा जो जीव कर्म प्रबलतासे निश्चयमोक्षमार्गको प्राप्त नहीं हो सकते, उनका इतना ही उपकार किया कि उन्हें व्यवहार धर्मका उपदेश देकर कुगतिके दुःखोंके कारण पापकार्य छुड़ाकर सुगतिके इन्द्रियसुखोंके कारणरूप पुण्यकार्योंमें लगाया। वहाँ जितने दुःख मिटे उतना ही उपकार हुआ। तथा पापीके तो पापवासना ही रहती है और कुगतिमें जाता है वहाँ धर्मका निमित्त नहीं है, इसलिये परम्परा से दुःख ही प्राप्त करता रहता है। तथा पुण्यवानके धर्मवासना रहती है और सुगतिमें जाता है, वहाँ धर्मके निमित्त प्राप्त होते हैं इसलिये परम्परासे सुखको प्राप्त करता है। अथवा कर्म शक्तिहीन हो जाये तो मोक्षमार्गको भी प्राप्त हो जाता है; इसलिये व्यवहार उपदेश द्वारा पापसे छुड़ाकर पुण्यकार्योंमें लगाते हैं। तथा जो जीव मोक्षमार्गको प्राप्त हुए व प्राप्त होने योग्य हैं, उनका ऐसा उपकार किया कि उनको निश्चय सहित व्यवहारका उपदेश देकर मोक्षमार्गमें प्रवर्तित किया। श्री गुरुतो सर्वका ऐसा ही उपकार करते हैं; परन्तु जिन जीवोंका ऐसा उपकार न बने तो श्री गुरु क्या करें ?—जैसा बना वैसा ही उपकार किया। इसलिये दो प्रकारसे उपदेश देते हैं। वहाँ व्यवहार उपदेशमें तो बाह्य क्रियाओंकी ही प्रधानता है; उनके उपदेशसे जीव पापक्रिया छोड़कर पुण्यक्रियाओंमें प्रवर्तता है, वहाँ क्रियाके अनुसार परिणाम भी तीव्रकषाय छोड़कर कुछ मन्दकषायी होजाते हैं, सो मुख्यरूपसे तो इसी प्रकार है, परन्तु किसीके न हों तो मत होओ, श्री गुरु तो परिणाम सुधारनेके अर्थ बाह्यक्रियाओंका उपदेश देते हैं। तथा निश्चय

सहित व्यवहारके उपदेशमें परिणामोंकी ही प्रधानता है; उसके उपदेशसे तत्त्वज्ञानके अभ्यास द्वारा व वैराग्य भावना द्वारा परिणाम सुधारे वहाँ परिणामके अनुसार बाह्य-क्रिया भी सुधर जाती है। परिणाम सुधरने पर बाह्यक्रिया सुधरती ही है; इसलिये श्री गुरु परिणाम सुधारनेका मुख्य उपदेश देते हैं। इस प्रकार दो प्रकारके उपदेशमें जहाँ व्यवहारका ही उपदेश हो वहाँ सम्यग्दर्शनके अर्थ अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, दया-धर्मको ही मानना, औरको नहीं मानना। तथा जीवादिक तत्त्वोंका व्यवहार स्वरूप कहा है उसका श्रद्धान करना, शंकादि पच्चीस दोष न लगाना, निःशंकितादि अंग व संवेगादिक गुणोंका पालन करना इत्यादि उपदेश देते हैं; तथा सम्यग्ज्ञानके अर्थ जिनमतके शास्त्रोंका अभ्यास करना, अर्थ-व्यंजनादि अंगोंका साधन करना इत्यादि उपदेश देते हैं; तथा सम्यक्चारित्रके अर्थ एकदेश वा सर्वदेश हिंसादि पापोंका त्याग करना, व्रतादि अंगोंका पालन करना इत्यादि उपदेश देते हैं; तथा किसी जीवको विशेष धर्मका साधन न होता जानकर एक आखड़ी आदिकका ही उपदेश देते हैं; जैसे—भीलको कौएका मांस छुड़वाया, ग्वालेको नमस्कारमन्त्र जपनेका उपदेश दिया, गृहस्थको चैत्यालय, पूजा-प्रभावनादि कार्यका उपदेश देते हैं,—इत्यादि जैसा जीव हो उसे वैसा उपदेश देते हैं। तथा जहाँ निश्चयसहित व्यवहारका उपदेश हो, वहाँ सम्यग्दर्शनके अर्थ यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान कराते हैं। उनका जो निश्चयस्वरूप है सो भूतार्थ है, व्यवहार स्वरूप है सो उपचार है—ऐसे श्रद्धानसहित व स्व-परके भेदविज्ञान द्वारा परद्रव्यमें रागादि छोड़नेके प्रयोजनसहित उन तत्त्वोंका श्रद्धान करनेका उपदेश देते हैं। ऐसे श्रद्धानसे अरहन्तादिके सिवा अन्य देवादिक झूठ भासित हों तब स्वयमेव उनका मानना छूट जाता है, उसका भी निरूपण करते हैं। तथा सम्यग्ज्ञानके अर्थ संशयादिरहित उन्हीं तत्त्वोंको उसी प्रकार जाननेका उपदेश देते हैं, उस जाननेको कारण जिनशास्त्रोंका अभ्यास है, इसलिये उस प्रयोजनके अर्थ जिनशास्त्रोंका भी अभ्यास स्वयमेव होता है; उसका निरूपण करते हैं। तथा सम्यक्-चारित्रके अर्थ रागादि दूर करनेका उपदेश देते हैं; वहाँ एकदेश व सर्वदेश तीव्ररागादिकका अभाव होनेपर उनके निमित्तसे जो एकदेश व सर्वदेश पापक्रिया होती थी वह छूटती है, तथा मंदरागसे श्रावक-मुनिके व्रतोंकी प्रवृत्ति होती है और मंदरागका भी अभाव होनेपर शुद्धोपयोगकी प्रवृत्ति होती है, उसका निरूपण करते हैं। तथा यथार्थ श्रद्धान सहित सम्यग्दृष्टियोंके जैसे कोई यथार्थ आखड़ी होती है या भक्ति होती है या पूजा-प्रभावनादि कार्य होते हैं या ध्यानादिक होते हैं उनका उपदेश देते हैं। जिनमतमें जैसा सच्चा परम्परामार्ग है वैसा उपदेश देते हैं। इस तरह दो प्रकारसे चरणानुयोगमें उपदेश जानना॥

तथा चरणानुयोगमें तीव्रकषायोंका कार्य छुड़ाकर मंदकषायरूप कार्य करनेका उपदेश देते हैं। यद्यपि कषाय करना बुरा ही है, तथापि सर्व कषाय न छूटते जानकर जितने कषाय घटें उतना ही भला होगा—ऐसा प्रयोजन वहाँ जानना। जैसे—जिन जीवोंके आरम्भादि करनेकी व मन्दिरादि बनवानेकी, व विषय सेवनकी व क्रोधादि करनेकी इच्छा सर्वथा दूर होती न जानें, उन्हें पूजा-प्रभावनादिक करनेका व चैत्यालयादि बनवानेका व जिनदेवादिकके आगे शोभादिक, नृत्य-गानादिक करनेका व धर्मात्मा पुरुषोंकी सहाय आदि करनेका उपदेश देते हैं; क्योंकि इनमें परम्परा कषायका पोषण नहीं होता। पापकार्योंमें परम्परा कषाय पोषण होता है, इसलिये पापकार्योंसे छुड़ाकर इन कार्योंमें लगाते हैं। तथा थोड़ा-बहुत जितना छूटता जाने उतना पाप कार्य छुड़ाकर उन्हें सम्यक्त्व व अणुव्रतादि पालनेका उपदेश देते हैं; तथा जिन जीवोंके सर्वथा आरम्भादिककी इच्छा दूर हुई है, उनको पूर्वोक्त पूजादिक कार्य व सर्व पापकार्य छुड़ाकर महाव्रतादि क्रियाओंका उपदेश देते हैं। तथा किंचित् रागादिक छूटते न जानकर उन्हें दया, धर्मोपदेश, प्रतिक्रमणादि कार्य करनेका उपदेश देते हैं। जहाँ सर्व राग दूर हुआ हो वहाँ कुछ करनेका कार्य ही नहीं रहा; इसलिये उन्हें कुछ उपदेश ही नहीं है।—ऐसा क्रम जानना।

तथा चरणानुयोगमें कषायी जीवोंको कषाय उत्पन्न करके भी पापको छुड़ाते हैं और धर्ममें लगाते हैं। जैसे—पापका फल नरकादिकके दुःख दिखाकर उनको भय कषाय उत्पन्न करके पापकार्य छुड़वाते हैं, तथा पुण्यके फल स्वर्गादिकके सुख दिखाकर उन्हें लोभ कषाय उत्पन्न करके धर्मकार्योंमें लगाते हैं। तथा यह जीव इन्द्रियविषय, शरीर, पुत्र, धनादिकके अनुरागसे पाप करता है, धर्म पराङ्मुख रहता है, इसलिये इन्द्रियविषयोंको मरण, क्लेशादिके कारण बतलाकर उनमें अरति कषाय कराते हैं। शरीरादिकको अशुचि बतलाकर वहाँ जुगुप्साकषाय कराते हैं, पुत्रादिकको धनादिकके ग्राहक बतलाकर वहाँ द्वेष कराते हैं, तथा धनादिकको मरण, क्लेशादिकका कारण बतलाकर वहाँ अनिष्टबुद्धि कराते हैं। इत्यादि उपायोंसे विषयादिमें तीव्रराग दूर होनेसे उनके पापक्रिया छूटकर धर्ममें प्रवृत्ति होती है। तथा नामस्मरण, स्तुतिकरण, पूजा, दान, शीलादिकसे इसलोकमें दारिद्रय, कष्ट दूर होते हैं, पुत्र-धनादिककी प्राप्ति होती है; —इस प्रकार निरूपण द्वारा उनके लोभ उत्पन्न करके उन धर्मकार्योंमें लगाते हैं। इसी प्रकार अन्य उदाहरण जानना।

यहाँ प्रश्न है कि—कोई कषाय छुड़ाकर कोई कषाय करानेका प्रयोजन क्या ?

समाधान:—जैसे—रोग तो शीतांग भी है और ज्वर भी है; परन्तु किसीका शीतांगसे मरण होता जाने, वहाँ वैद्य उसको ज्वर होनेका उपाय करता है और ज्वर होनेके पश्चात् उसके जीनेकी आशा हो तब बादमें ज्वरको भी मिटानेका उपाय करता है। उसी प्रकार कषाय तो सभी हेय हैं, परन्तु किन्हीं जीवोंके कषायोंसे पापकार्य होता जाने वहाँ श्रीगुरु उनको पुण्यकार्यके कारणभूत कषाय होनेका उपाय करते हैं, पश्चात् उसके सच्ची धर्मबुद्धि हुई जानें, तब बादमें वह कषाय मिटाने का उपाय करते हैं। ऐसा प्रयोजन जानना।

तथा चरणानुयोगमें जैसे जीव पाप छोड़कर धर्ममें लगें वैसे अनेक युक्तियों द्वारा वर्णन करते हैं। वहाँ लौकिक दृष्टान्त, युक्ति, उदाहरण, न्यायप्रवृत्तिके द्वारा समझाते हैं व कहीं अन्यमतके भी उदाहरणादि कहते हैं। जैसे—'सूक्तमुक्तावली' में लक्ष्मीको कमलवासिनी कहा व समुद्रमें विष और लक्ष्मी उत्पन्न हुए उस अपेक्षा उसे विषकी भगिनी कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र कहते हैं। वहाँ कितने ही उदाहरणादि झूठे भी हैं, परन्तु सच्चे प्रयोजनका पोषण करते हैं; इसलिये दोष नहीं है।

यहाँ कोई कहे कि—झूठका तो दोष लगता है ? उसका उत्तर:—यदि झूठ भी है और सच्चे प्रयोजनका पोषण करे तो उसे झूठ नहीं कहते। तथा सच भी है और झूठे प्रयोजनका पोषण करे तो वह झूठ ही है। अलंकार-युक्ति-नामादिकमें वचन अपेक्षा झूठ-सच नहीं है, प्रयोजनकी अपेक्षा झूठ-सच है। जैसे—तुच्छ शोभासहित नगरीको इन्द्रपुरीके समान कहते हैं सो झूठ है, परन्तु शोभाके प्रयोजनका पोषण करता है, इसलिये झूठ नहीं है। तथा "इस नगरीमें छत्रको ही दंड है, अन्यत्र नहीं है"—ऐसा कहा सो झूठ है। अन्यत्रभी दण्ड देना पाया जाता है, परन्तु वहाँ अन्यायवान थोड़े हैं और न्यायवान्को दण्ड नहीं देते, ऐसे प्रयोजनका पोषण करता है, इसलिये झूठ नहीं है। तथा बृहस्पतिका नाम 'सुरगुरु' लिखा है व मंगलका नाम 'कुज' लिखा है सो ऐसे नाम अन्यमत अपेक्षा हैं। इनका अक्षरार्थ है सो झूठा है; परन्तु वह नाम उस पदार्थका अर्थ प्रगट करता है, इसलिये झूठ नहीं है।—इस प्रकार अन्य मतादिकके उदाहरणादि देते हैं सो झूठे हैं, परन्तु उदाहरणादिकका तो श्रद्धान कराना है नहीं, श्रद्धान तो प्रयोजनका कराना है, और प्रयोजन सच्चा है इसलिये दोष नहीं है।

तथा चरणानुयोगमें छद्मस्थकी बुद्धिगोचर स्थूलपनेकी अपेक्षासे लोकप्रवृत्तिकी मुख्यता सहित उपदेश देते हैं; परन्तु केवलज्ञानगोचर सूक्ष्मपनेकी अपेक्षा नहीं देते; क्योंकि उसका आचरण नहीं हो सकता। यहाँ आचरण करानेका प्रयोजन है। जैसे—अणुव्रतीके त्रसहिंसाका त्याग कहा है और उसके स्त्री-सेवनादि क्रियाओंमें त्रसहिंसा होती है। यह भी जानता है कि—जिनवाणीमें यहाँ त्रस कहे हैं, परन्तु इसके त्रस मारनेका अभिप्राय नहीं है और लोकमें जिसका नाम त्रसघात है उसे नहीं करता है; इसलिये उस अपेक्षा उसके त्रसहिंसाका त्याग है। तथा मुनिके स्थावरहिंसाका भी त्याग कहा है, परन्तु मुनि पृथ्वी, जलादिमें गमनादि करते हैं वहाँ सर्वथा त्रसका भी अभाव नहीं है; क्योंकि त्रस जीवोंकी भी अवगाहना इतनी छोटी होती है कि जो दृष्टिगोचर न हो और उनकी स्थिति पृथ्वी, जलादिमें ही है,—ऐसा मुनि जिनवाणीसे जानते हैं व कदाचित् अवधिज्ञानादि द्वारा भी जानते हैं, परन्तु उनके प्रमादसे स्थावर–त्रसहिंसाका अभिप्राय नहीं है। तथा लोकमें भूमि खोदना तथा अप्रासुक जलसे क्रिया करना इत्यादि प्रवृत्तिका नाम स्थावरहिंसा है और स्थूल त्रस जीवोंको पीड़ित करनेका नाम त्रसहिंसा है, उसे नहीं करते, इसलिये मुनिको सर्वथा हिंसाका त्याग कहते हैं। तथा इसी प्रकार असत्य, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रहका त्याग कहा है। केवलज्ञानके जाननेको अपेक्षा तो असत्यवचनयोग वारहवें गुणस्थानपर्यंत कहा है, अदत्तकर्मपरमाणु आदि पर द्रव्यका ग्रहण तेरहवें गुणस्थानपर्यंत है, वेदका उदय नववें गुणस्थान पर्यन्त है, अन्तरंग परिग्रह दसवें गुणस्थानपर्यन्त है, बाह्यपरिग्रह समवसरणादि केवलीके भी होता है, परन्तु (मुनिको) प्रमादसे पापरुप अभिप्राय नहीं है और लोकप्रवृत्तिमें जिन क्रियाओं द्वारा "यह झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवन करता है, परिग्रह रखता है"—इत्यादि नाम पाता है, वे क्रियाएँ इनके नहीं हैं; इसलिये असत्यादिका इनके त्याग कहा जाता है। तथा जिस प्रकार मुनिके मूलगुणोंमें पंचेन्द्रियोंके विषयका त्याग कहा है, परन्तु इन्द्रियोंका जानना तो मिटता नहीं है और विषयोंमें राग द्वेष सर्वथा दूर हुआ हो तो यथाख्यात चारित्र होजाये सो हुआ नहीं है, परन्तु स्थूलरूपसे विषयेच्छाका अभाव हुआ है और बाह्यविषयसामग्री मिलानेकी प्रवृत्ति दूर हुई है इसलिये उनके इन्द्रियविषयका त्याग कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना। तथा व्रती जीव त्याग व आचरण करता है सो चरणानुयोगकी पद्धति अनुसार व लोकप्रवृत्तिके अनुसार त्याग करता है। जैसे—किसीने त्रसहिंसाका त्याग किया, वहाँ चरणानुयोगमें व लोकमें जिसे त्रसहिंसा कहते हैं उसका त्याग किया है, केवलज्ञानादि

द्वारा जो त्रस देखे जाते हैं उनकी हिंसाका त्याग बनता ही नहीं। वहाँ जिस त्रसहिंसा-का त्याग किया, उसरूप मनका विकल्प न करना सो मनसे त्याग है, वचन न बोलना सो वचनसे त्याग है, काय द्वारा नहीं प्रवर्तना सो कायसे त्याग है। इस प्रकार अन्य त्याग व ग्रहण होता है सो ऐसी पद्धति सहित ही होता है ऐसा जानना।

यहाँ प्रश्न है कि—करणानुयोगमें तो केवलज्ञान अपेक्षा तारतम्य कथन है, वहाँ छठवें गुणस्थानमें सर्वथा बारह अविरतियोंका अभाव कहा, सो किस प्रकार कहा ?

उत्तरः—अविरति भी योगकषायमें गर्भित थीं, परन्तु वहाँ भी चरणानुयोगकी अपेक्षा त्यागका अभाव उसहीका नाम अविरति कहा है, इसलिये वहाँ उनका अभाव है। मन अविरतिका अभाव कहा, सो मुनिको मनके विकल्प होते हैं, परन्तु स्वेच्छा-चारी मनकी पापरूप प्रवृत्तिके अभावसे मन अविरतिका अभाव कहा है—ऐसा जानना।

तथा चरणानुयोगमें व्यवहार-लोक प्रवृत्तिकी अपेक्षा ही नामादिक कहते हैं। जिस प्रकार सम्यक्त्वीको पात्र कहा तथा मिथ्यात्वीको अपात्र कहा; सो यहाँ जिसके जिनदेवादिकका श्रद्धान पाया जाये वह तो सम्यक्त्वी, जिसके उनका श्रद्धान नहीं है वह मिथ्यात्वी जानना। क्योंकि दान देना चरणानुयोगमें कहा है, इसलिये चरणानु-योगके ही सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करना। करणानुयोगकी अपेक्षा सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करनेसे वही जीव ग्यारहवें गुणस्थानमें था और वही अन्तर्मुहूर्तमें पहिले गुण-स्थानमें आये, तो वहाँ दातार पात्र-अपात्रका कैसे निर्णय कर सके ? तथा द्रव्यानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करने पर मुनिसंघमें द्रव्यलिंगी भी हैं और भाव-लिंगी भी हैं; सो प्रथम तो उनका ठीक (निर्णय) होना कठिन है, क्योंकि बाह्य प्रवृत्ति समान है, तथा यदि कदाचित् सम्यक्त्वीको किसी चिह्न द्वारा ठीक (निर्णय) हो जाये और वह उसकी भक्ति न करे तो औरोंको संशय होगा कि इसकी भक्ति क्यों नहीं की ?—इस प्रकार उसका मिथ्यादृष्टिपना प्रगट हो तब संघमें विरोध उत्पन्न हो; इसलिये यहाँ व्यवहार सम्यक्त्व-मिथ्यात्वकी अपेक्षा कथन जानना।

यहाँ कोई प्रश्न करे—सम्यक्त्वी तो द्रव्यलिंगीको अपनेसे हीनगुणयुक्त मानता है, उसकी भक्ति कैसे करे ?

समाधानः—व्यवहारधर्मका साधन द्रव्यलिंगीके बहुत है और भक्ति करना भी व्यवहार ही है, इसलिये जैसे—कोई धनवान हो, परन्तु जो कुलमें बड़ा हो उसे कुल अपेक्षा बड़ा जानकर उसका सत्कार करता है; उसी प्रकार आप सम्यक्त्व गुण सहित है, परन्तु जो व्यवहारधर्ममें प्रधान हो उसे व्यवहारधर्मकी अपेक्षा गुणाधिक मानकर उसकी भक्ति करता है, ऐसा जानना। इसी प्रकार जो जीव बहुत उपवासादि करे उसे तपस्वी कहते हैं; यद्यपि कोई ध्यान-अध्ययनादि विशेष करता है वह उत्कृष्ट तपस्वी है तथापि यहाँ चरणानुयोगमें बाह्यतपकी ही प्रधानता है; इसलिये उसीको तपस्वी कहते हैं। इस प्रकार अन्य नामादिक जानना ऐसे ही अन्य अनेक प्रकार सहित चरणानुयोगमें व्याख्यानका विधान जानना।

अब, द्रव्यानुयोगमें व्याख्यानका विधान कहते हैं:—

[द्रव्यानुयोगमें व्याख्यानका विधान]

जीवोंके जीवादि द्रव्योंका यथार्थ श्रद्धान जिस प्रकार हो, उस प्रकार विशेष, युक्ति, हेतु, दृष्टान्तादिकका यहाँ निरूपण करते हैं; क्योंकि इसमें यथार्थ श्रद्धान कराने-का प्रयोजन है। वहाँ यद्यपि जीवादि वस्तु अभेद हैं तथापि उनमें भेदकल्पना द्वारा व्यवहारसे द्रव्य-गुण-पर्यायादिकके भेदोंका निरूपण करते हैं। तथा प्रतीति करानेके अर्थ अनेक युक्तियों द्वारा उपदेश देते हैं अथवा प्रमाण-नय द्वारा उपदेश देते हैं वह भी युक्ति है, तथा वस्तुके अनुमान–प्रत्यभिज्ञानादिक करनेको हेतु–दृष्टान्तादिक देते हैं; इस प्रकार यहाँ वस्तुकी प्रतीति करानेको उपदेश देते हैं। तथा यहाँ मोक्षमार्गका श्रद्धान करानेके अर्थ जीवादि तत्त्वोंका विशेष, युक्ति, हेतु, दृष्टान्तादि द्वारा निरूपण करते हैं; वहाँ स्व-पर भेदविज्ञानादिक जिस प्रकार हों उस प्रकार जीव-अजीवका निर्णय करते हैं। तथा वीतरागभाव जिस प्रकार हो उस प्रकार आस्रवादिकका स्वरूप बतलाते हैं और वहाँ मुख्यरूपसे ज्ञान-वैराग्यके कारण जो आत्मानुभवनादिक उनकी महिमा गाते हैं। तथा द्रव्यानुयोगमें निश्चय अध्यात्म उपदेशकी प्रधानता हो, वहाँ व्यवहारधर्मका भी निषेध करते हैं। जो जीव आत्मानुभवका उपाय नहीं करते और बाह्य क्रियाकाण्डमें मग्न हैं, उनको वहाँसे उदास करके आत्मानुभवनादिमें लगानेको व्रत-शील-संयमादिकका हीनपना प्रगट करते हैं। वहाँ ऐसा नहीं जान लेना कि इनको छोड़कर पापमें लगना; क्योंकि उस उपदेशका प्रयोजन अशुभमें लगानेका नहीं है। शुद्धोपयोगमें लगानेको शुभोपयोगका निषेध करते हैं।

यहाँ कोई कहे कि—अध्यात्मशास्त्रमें पुण्य-पाप समान कहे हैं, इसलिये शुद्धोपयोग हो तो भला ही है, न हो तो पुण्यमें लगो या पापमें लगो ?

उत्तर:—जैसे शूद्र जातिकी अपेक्षा जाट, चांडाल समान कहे हैं, परन्तु चांडालसे जाट कुछ उत्तम है; वह अस्पृश्य है यह स्पृश्य है; उसी प्रकार बन्ध कारणकी अपेक्षा पुण्य-पाप समान हैं परन्तु पापसे पुण्य कुछ भला है; वह तीव्रकषायरूप है यह मन्दकषायरूप है; इसलिये पुण्य छोड़कर पापमें लगना युक्त नहीं है—ऐसा जानना।

तथा जो जीव जिनबिम्ब भक्ति आदि कार्योंमें ही मग्न हैं उनको आत्मश्रद्धानादि करानेको "देहमें देव है, मन्दिरमें नहीं"—इत्यादि उपदेश देते हैं। वहाँ ऐसा नहीं जान लेना कि—भक्ति छोड़कर भोजनादिकसे अपनेको सुखी करना; क्योंकि उस उपदेशका प्रयोजन ऐसा नहीं है। इसी प्रकार अन्य व्यवहारका निषेध वहाँ किया हो उसे जानकर प्रमादी नहीं होना; ऐसा जानना कि—जो केवल व्यवहार साधनमें ही मग्न हैं उनको निश्चयरुचि करानेके अर्थ व्यवहारको हीन बतलाया है। तथा उन्हीं शास्त्रोंमें सम्यग्दृष्टिके विषय-भोगादिकको बंधका कारण नहीं कहा, निर्जराका कारण कहा, परन्तु यहाँ भोगोंका उपादेयपना नहीं जान लेना। वहाँ सम्यग्दृष्टिकी महिमा बतलानेको जो तीव्रबंधके कारण भोगादिक प्रसिद्ध थे उन भोगादिकके होनेपर भी श्रद्धानशक्तिके बलसे मन्द बन्ध होने लगा उसे गिना नहीं और उसी बलसे निर्जरा विशेष होने लगी, इसलिये उपचारसे भोगोंको भी बन्धका कारण नहीं कहा, निर्जराका कारण कहा। विचार करनेपर भोग निर्जराके कारण हों तो उन्हें छोड़कर सम्यग्दृष्टि मुनिपदका ग्रहण किसलिये करे ? यहाँ इस कथनका इतना ही प्रयोजन है कि—देखो, सम्यक्त्वकी महिमा ! जिसके बलसे भोग भी अपने गुणको नहीं कर सकते हैं। इसी प्रकार अन्य भी कथन हों तो उनका यथार्थपना जान लेना।

तथा द्रव्यानुयोगमें भी चरणानुयोगवत् ग्रहण-त्याग करानेका प्रयोजन है; इसलिये छद्मस्थके बुद्धिगोचर परिणामोंकी अपेक्षा ही वहाँ कथन करते हैं। इतना विशेष है कि—चरणानुयोगमें तो बाह्यक्रियाकी मुख्यतासे वर्णन करते हैं, द्रव्यानुयोगमें आत्मपरिणामोंकी मुख्यतासे निरूपण करते हैं, परन्तु करणानुयोगवत् सूक्ष्मवर्णन नहीं करते। उसके उदाहरण देते हैं:—

उपयोगके शुभ, अशुभ, शुद्ध—ऐसे तीन भेद कहे हैं, वहाँ धर्मानुरागरूप परिणाम वह शुभोपयोग, पापानुरागरूप व द्वेषरूप परिणाम वह अशुभोपयोग और रागद्वेषरहित

परिणाम वह शुद्धोपयोग—ऐसा कहा है; सो इस छद्मस्थके बुद्धिगोचर परिणामोंकी अपेक्षा यह कथन है; करणानुयोगमें कषायशक्तिकी अपेक्षा गुणस्थानादिमें संक्लेश-विशुद्ध परिणामोंकी अपेक्षा निरूपण किया है वह विवक्षा यहाँ नहीं है। करणानुयोग-में तो रागादि रहित शुद्धोपयोग यथाख्यातचारित्र होनेपर होता है, वह मोहके नाशसे स्वयमेव होगा; निचली अवस्थावाला शुद्धोपयोगका साधन कैसे करे? तथा द्रव्यानु-योगमें शुद्धोपयोग करनेका ही मुख्य उपदेश है; इसलिये वहाँ छद्मस्थ जिस कालमें बुद्धिगोचर भक्ति आदि व हिंसा आदि कार्यरूप परिणामोंको छोड़कर आत्मानुभवनादि कार्योंमें प्रवर्ते उसकाल उसे शुद्धोपयोगी कहते हैं। यद्यपि यहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्म-रागादिक हैं, तथापि उसकी विवक्षा यहाँ नहीं की, अपनी बुद्धिगोचर रागादिक छोड़ता है इस अपेक्षा उसे शुद्धोपयोगी कहा है। इसी प्रकार स्व-पर श्रद्धानादिक होनेपर सम्य-क्त्वादिक कहे, वह बुद्धिगोचर अपेक्षासे निरूपण है; सूक्ष्म भावोंकी अपेक्षा गुणस्था-नादिमें सम्यक्त्वादिका निरूपण करणानुयोगमें पाया जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना। इसलिये द्रव्यानुयोगके कथनके कथनकी विधि करणानुयोगसे मिलाना चाहे तो कहीं तो मिलती है, कहीं नहीं मिलती। जिस प्रकार यथाख्यातचारित्र होनेपर तो दोनों अपेक्षा शुद्धोपयोग है, परन्तु निचली दशामें द्रव्यानुयोग अपेक्षासे तो कदाचित् शुद्धोपयोग होता है, परन्तु करणानुयोग अपेक्षासे सदाकाल कषाय अंशके सद्भावसे शुद्धोपयोग नहीं है। इसी प्रकार अन्य कथन जान लेना।

तथा द्रव्यानुयोगमें परमतमें कहे हुए तत्त्वादिकको असत्य बतलानेके अर्थ उनका निषेध करते हैं; वहाँ द्वेषबुद्धि नहीं जानना। उनको असत्य बतलाकर सत्य श्रद्धान करानेका प्रयोजन जानना। इसी प्रकार और भी अनेक प्रकारसे द्रव्यानुयोगमें व्याख्यानका विधान है। इस प्रकार चारों अनुयोगके व्याख्यानका विधान कहा। वहाँ किसी ग्रन्थमें एक अनुयोगकी, किसीमें दोकी, किसीमें तीनकी और किसीमें चारोंकी प्रधानता सहित व्याख्यान होता है; सो जहाँ जैसा सम्भव हो वहाँ वैसा समझ लेना।

अब, इन अनुयोगोंमें कैसी पद्धतिकी मुख्यता पायी जाती है सो कहते हैं:—

[अनुयोगोंमें पद्धति विशेष]

प्रथमानुयोगमें तो अलंकार शास्त्रकी वा काव्यादि शास्त्रोंकी पद्धति मुख्य है, क्योंकि अलंकारादिसे मन रंजायमान होता है; सीधी बात कहनेसे ऐसा उपयोग नहीं

लगता जैसा अलंकारादि युक्तिसहित कथनसे उपयोग लगता है। तथा परोक्ष बातको कुछ अधिकतापूर्वक निरूपण किया जाये तो उसका स्वरूप भलीभाँति भासित होता है। तथा करणानुयोगमें गणित आदि शास्त्रोंकी पद्धति मुख्य है, क्योंकि वहाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके प्रमाणादिकका निरूपण करते हैं; सो गणित ग्रन्थोंकी आम्नायसे उसका सुगम जानपना होता है। तथा चरणानुयोगमें सुभाषित नीतिशास्त्रोंकी पद्धति मुख्य है, क्योंकि वहाँ आचरण कराना है, इसलिये लोकप्रवृत्तिके अनुसार नीतिमार्ग बतलानेपर वह आचरण करता है। तथा द्रव्यानुयोगमें न्यायशास्त्रोंकी पद्धति मुख्य है, क्योंकि वहाँ निर्णय करनेका प्रयोजन है और न्यायशास्त्रोंमें निर्णय करनेका मार्ग दिखाया है। इस प्रकार इन अनुयोगोंमें मुख्य पद्धति है। और भी अनेक पद्धतिसहित व्याख्यान इनमें पाये जाते हैं।

यहाँ कोई कहे—अलंकार, गणित, नीति, न्यायका ज्ञान तो पण्डितोंके होता है; तुच्छबुद्धि समझे नहीं, इसलिये सीधा कथन क्यों नहीं किया?

उत्तरः—शास्त्र हैं सो मुख्यरूपसे पण्डितों और चतुरोंके अभ्यास करने योग्य हैं; यदि अलंकारादि आम्नाय सहित कथन हो तो उनका मन लगे; तथा जो तुच्छ-बुद्धि हैं उनको पण्डित समझा दें, और जो नहीं समझ सकें तो उन्हें मुँहसे सीधा ही कथन कहें; परन्तु ग्रन्थोंमें सीधा कथन लिखनेसे विशेषबुद्धि जीव उनके अभ्यासमें विशेष नहीं प्रवर्तें, इसलिये अलंकारादि आम्नाय सहित कथन करते हैं। इस प्रकार इन चार अनुयोगोंका निरूपण किया।

तथा जैनमतमें बहुत शास्त्र तो इन चारों अनुयोगोंमें गर्भित हैं। तथा व्याकरण, न्याय, छन्द, कोषादिक शास्त्र व वैद्यक, ज्योतिष, मन्त्रादि शास्त्र भी जिनमतमें पाये जाते हैं। उनका क्या प्रयोजन है सो सुनो—

[व्याकरण न्यायादि शास्त्रोंका प्रयोजन]

व्याकरण, न्यायादिकका अभ्यास होनेपर अनुयोगरूप शास्त्रोंका अभ्यास हो सकता है; इसलिये व्याकरणादि शास्त्र कहे हैं।

कोई कहे—भाषारूप सीधा निरूपण करते तो व्याकरणादिका क्या प्रयोजन था?

उत्तरः—भाषा तो अपभ्रंशरूप अशुद्धवाणी है, देश-देशमें और-और है; वहाँ महन्त पुरुष शास्त्रोंमें ऐसी रचना कैसे करें? तथा व्याकरण-न्यायादि द्वारा जैसे

यथार्थ सूक्ष्म अर्थका निरूपण होता है वैसा सीधी भाषामें नहीं हो सकता, इसलिये व्याकरणादिकी आम्नायसे वर्णन किया है; सो अपनी बुद्धिके अनुसार थोड़ा-बहुत इनका अभ्यास करके अनुयोगरूप प्रयोजनभूत शास्त्रोंका अभ्यास करना। तथा वैद्यकादि चमत्कारसे जिनमतकी प्रभावना हो व औषधादिकसे उपकार भी बने; अथवा जो जीव लौकिक कार्योंमें अनुरक्त हैं वे वैद्यकादि चमत्कारसे जैनी होकर पश्चात् सच्चा धर्म प्राप्त करके अपना कल्याण करें—इत्यादि प्रयोजन सहित वैद्यकादि शास्त्र कहे हैं। यहाँ इतना है कि—ये भी जैनशास्त्र हैं ऐसा जानकर इनके अभ्यासमें बहुत नहीं लगना। यदि बहुत बुद्धिसे इनका सहज जानना हो और इनको जाननेसे अपने रागादिक विकार बढ़ते न जाने, तो इनका भी जानना होओ; अनुयोगशास्त्रवत् ये शास्त्र बहुत कार्यकारी नहीं हैं; इसलिये इनके अभ्यासका विशेष उद्यम करना योग्य नहीं है।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो गणधरादिकने इनकी रचना किसलिये की ?

उत्तरः—पूर्वोक्त किंचित् प्रयोजन जानकर इनकी रचना की है। जैसे बहुत धनवान कदाचित् अल्प कार्यकारी वस्तुका भी संचय करता है, परन्तु थोड़े धनवाला उन वस्तुओंका संचय करे तो धन तो वहाँ लग जाये, फिर बहुत कार्यकारी वस्तुका संग्रह काहेसे करे ? उसी प्रकार बहुत बुद्धिमान गणधरादिक कथंचित् अल्पकार्यकारी वैद्यकादि शास्त्रोंका भी संचय करते हैं, परन्तु थोड़ा बुद्धिमान उनके अभ्यासमें लगे तो बुद्धि तो वहाँ लग जाये, फिर उत्कृष्ट कार्यकारी शास्त्रोंका अभ्यास कैसे करे ? तथा जैसे—मंदरागी तो पुराणादिमें शृंगारादिका निरूपण करे तथापि विकारी नहीं होता, परन्तु तीव्र रागी वैसे शृंगारादिका निरूपण करे तो पाप ही बांधेगा। उसी प्रकार मंदरागी गणधरादिक हैं वे वैद्यकादि शास्त्रोंका निरूपण करें तथापि विकारी नहीं होते; परन्तु तीव्र रागी उनके अभ्यासमें लग जायें तो रागादिक बढ़ाकर पापकर्मको बांधेंगे—ऐसा जानना। इस प्रकार जैनमतके उपदेशका स्वरूप जानना।

अब इनमें कोई दोष कल्पना करता है, उसका निराकरण करते हैं:—

[प्रथमानुयोगमें दोषकल्पनाका निराकरण]

कितने ही जीव कहते हैं—प्रथमानुयोगमें शृंगारादिक व संग्रामादिकका बहुत कथन करते हैं, उनके निमित्तसे रागादिक बढ़ जाते हैं, इसलिये ऐसा कथन नहीं करना था, व ऐसा कथन सुनना नहीं। उनसे कहते हैं—कथा कहना हो तब तो

सभी अवस्थाओंका कथन करना चाहिये; तथा यदि अलंकारादि द्वारा बढ़ाकर कथन करते हैं सो पण्डितोंके वचन तो युक्ति सहित ही निकलते हैं।

और यदि तुम कहोगे कि—सम्बन्ध मिलानेको सामान्य कथन किया होता, बढ़ाकर कथन किसलिये किया ?

उसका उत्तर यह है कि—परोक्ष कथनको बढ़ाकर कहे बिना उसका स्वरूप भासित नहीं होता। तथा पहले तो भोग-संग्रामादि इस प्रकार किये, पश्चात् सबका त्याग करके मुनि हुए; इत्यादि चमत्कार तभी भासित होंगे जब बढ़ाकर कथन किया जाये। तथा तुम कहते हो—उसके निमित्तसे रागादिक बढ़ जाते हैं; सो जैसे कोई चैत्यालय बनवाये, उसका प्रयोजन तो वहाँ धर्मकार्य करानेका है, और कोई पापी वहाँ पापकार्य करे तो चैत्यालय बनवानेवालेका तो दोष नहीं है। उसी प्रकार श्री गुरुने पुराणादिमें शृंगारादिका वर्णन किया, वहाँ उनका प्रयोजन रागादिक करानेका तो है नहीं; धर्ममें लगानेका प्रयोजन है; परन्तु कोई पापी धर्म न करे और रागादिक ही बढ़ाये तो श्री गुरुका क्या दोष है ?

यदि तू कहे कि—रागादिकका निमित्त हो ऐसा कथन ही नहीं करना था।

उसका उत्तर यह है—सरागी जीवोंका मन केवल वैराग्यकथनमें नहीं लगता; इसलिये जिस प्रकार बालकको बताशेके आश्रयसे औषधि देते हैं, उसी प्रकार सरागीको भोगादि कथनके आश्रयसे धर्ममें रुचि कराते हैं।

यदि तू कहेगा—ऐसा है तो विरागी पुरुषोंको तो ऐसे ग्रन्थोंका अभ्यास करना योग्य नहीं है ?

उसका उत्तर यह है—जिनके अन्तरंगमें रागभाव नहीं हैं, उनको शृंगारादि कथन सुनने पर रागादि उत्पन्न ही नहीं होते। वे जानते हैं कि यहाँ इसी प्रकार कथन करनेकी पद्धति है।

फिर तू कहेगा—जिनको शृंगारादिका कथन सुननेपर रागादि हो आयें, उन्हें तो वैसा कथन सुनना योग्य नहीं है ?

उसका उत्तर यह है—जहाँ धर्महीका तो प्रयोजन है और जहाँ-तहाँ धर्मका पोषण करते हैं—ऐसे जैन पुराणादिकमें प्रसंगवश शृंगारादिकका कथन किया है, उसे सुनकर भी जो बहुत रागी हुआ, तो वह अन्यत्र कहाँ विरागी होगा ? वह तो पुराण सुनना छोड़कर अन्य कार्य भी ऐसे ही करेगा जहाँ बहुत रागादि हों, इसलिये उसको भी

पुराण सुननेसे थोड़ी-बहुत धर्मबुद्धि हो तो हो ! अन्य कार्योंसे तो यह कार्य भला ही है।

तथा कोई कहे—प्रथमानुयोगमें अन्य जीवोंकी कहानियाँ हैं, उनसे अपना क्या प्रयोजन सधता है ?

उससे कहते हैं—जैसे कामी पुरुषोंकी कथा सुननेपर अपनेको भी कामका प्रेम बढ़ता है, उसी प्रकार धर्मात्मा पुरुषोंकी कथा सुनने पर अपनेको धर्मकी प्रीति विशेष होती है; इसलिये प्रथमानुयोगका अभ्यास करना योग्य है।

[करणानुयोगमें दोषकल्पनाका निराकरण]

तथा कितने ही जीव कहते हैं—करणानुयोगमें गुणस्थान, मार्गणादिकका व कर्मप्रकृतियोंका कथन किया व त्रिलोकादिकका कथन किया; सो उन्हें जान लिया कि "यह इस प्रकार है", "यह इस प्रकार है," इसमें अपना कार्य क्या सिद्ध हुआ ? या तो भक्ति करें, या व्रत-दानादि करें, या आत्मानुभवन करें—इनसे अपना भला हो।

उससे कहते हैं—परमेश्वर तो वीतराग हैं; भक्ति करनेसे प्रसन्न होकर कुछ करते नहीं हैं। भक्ति करनेसे कषाय मन्द होती है, उसका स्वयमेव उत्तम फल होता है। सो करणानुयोगके अभ्यासमें उससे भी अधिक मन्द कषाय हो सकती है, इसलिये इसका फल अति उत्तम होता है। तथा व्रत-दानादिक तो कषाय घटानेके बाह्यनिमित्तके साधन हैं और करणानुयोगका अभ्यास करनेपर वहाँ उपयोग लग जाये तब रागादिक दूर होते हैं सो यह अंतरंग-निमित्तका साधन है; इसलिये यह विशेष कार्यकारी है। व्रतादिक धारण करके अध्ययनादि करते हैं। तथा आत्मानुभव सर्वोत्तम कार्य है; परंतु सामान्य अनुभवमें उपयोग टिकता नहीं है, और नहीं टिकता तब अन्य विकल्प होते हैं, वहाँ करणानुयोगका अभ्यास हो तो उस विचारमें उपयोगको लगाता है। यह विचार वर्तमान भी रागादिक घटाता है और आगामी रागादिक घटानेका कारण है, इसलिये यहाँ उपयोग लगाना। जीव कर्मादिकके नानाप्रकारसे भेद जाने, उनमें रागादिक करनेका प्रयोजन नहीं है, इसलिये रागादिक बढ़ते नहीं हैं; वीतराग होनेका प्रयोजन जहाँ-तहाँ प्रगट होता है, इसलिये रागादि मिटानेका कारण है।

यहाँ कोई कहे—कोई कथन तो ऐसा ही है, परन्तु द्वीप-समुद्रादिकके योजनादिका निरूपण किया उनमें क्या सिद्धि है ?

उत्तरः—उनको जानने पर उनमें कुछ इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं होती, इसलिये पूर्वोक्त सिद्धि होती है।

फिर वह कहता है—ऐसा है तो जिनसे कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसे पाषाणादिकको भी जानते हुए वहाँ इष्ट-अनिष्टपना नहीं मानते, इसलिये वह भी कार्यकारी हुआ !

उत्तर:—सरागी जीव रागादि प्रयोजन बिना किसीको जाननेका उद्यम नहीं करता; यदि स्वयमेव उनका जानना हो तो अंतरंग रागादिकके अभिप्रायवश वहाँसे उपयोगको छुड़ाना ही चाहता है। यहाँ उद्यम द्वारा द्वीप-समुद्रादिकको जानता है, वहाँ उपयोग लगाता है; सो रागादि घटने पर ऐसा कार्य होता है। तथा पाषाणादिकमें इस लोकका कोई प्रयोजन भासित होजाये तो रागादिक हो आते हैं और द्वीपादिकमें इस लोक सम्बन्धी कार्य कुछ नहीं है इसलिये रागादिकका कारण नहीं है। यदि स्वर्गादिककी रचना सुनकर वहाँ राग हो, तो परलोक सम्बन्धी होगा; उसका कारण पुण्यको जाने तब पाप छोड़कर पुण्यमें प्रवर्ते इतना ही लाभ होगा; तथा द्वीपादिकको जाननेपर यथावत् रचना भासित हो तब अन्यमतादिकका कहा झूठ भासित होनेसे सत्य श्रद्धानी हो और यथावत् रचना जाननेसे भ्रम मिटने पर उपयोगकी निर्मलता हो, इसलिये यह अभ्यास कार्यकारी है।

तथा कितने ही कहते हैं—करणानुयोगमें कठिनता बहुत है, इसलिये उसके अभ्यासमें खेद होता है।

उनसे कहते हैं—यदि वस्तु शीघ्र जाननेमें आये तो वहाँ उपयोग उलझता नहीं है, तथा जानी हुई वस्तुको बारम्बार जाननेका उत्साह नहीं होता, तब पापकार्योंमें उपयोग लग जाता है; इसलिये अपनी बुद्धि अनुसार कठिनतासे भी जिसका अभ्यास होता जाने उसका अभ्यास करना, तथा जिसका अभ्यास हो ही न सके उसका कैसे करे ? तथा तू कहता है—खेद होता है। परन्तु प्रमादी रहनेमें तो धर्म है नहीं। प्रमादसे सुखी रहें वहाँ तो पाप ही होता है; इसलिये धर्मके अर्थ उद्यम करना ही योग्य है। ऐसा विचार करके करणानुयोगका अभ्यास करना।

[चरणानुयोगमें दोषकल्पनाका निराकरण]

तथा कितने ही जीव ऐसा कहते हैं—चरणानुयोगमें बाह्य व्रतादि साधनका उपदेश है, सो इनसे कुछ सिद्धि नहीं है; अपने परिणाम निर्मल होना चाहिये, बाह्यमें चाहे जैसे प्रवर्तो; इसलिये इस उपदेशसे पराङ्मुख रहते हैं।

उनसे कहते हैं—आत्मपरिणामोंके और बाह्यप्रवृत्तिके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; क्योंकि छद्मस्थके क्रियाएँ परिणाम पूर्वक होती हैं; कदाचित् बिना परिणाम कोई क्रिया होती है, सो परवशतासे होती है; अपने वशसे उद्यम पूर्वक कार्य करें और कहें कि—"परिणाम इसरूप नहीं है," सो यह भ्रम है। अथवा बाह्य पदार्थका आश्रय पाकर परिणाम हो सकते हैं; इसलिये परिणाम मिटानेके अर्थ बाह्य वस्तुका निषेध करना समयसारादिमें कहा है; इसीलिये रागादिभाव घटनेपर अनुक्रमसे बाह्य ऐसे श्रावक–मुनिधर्म होते हैं; अथवा इस प्रकार श्रावक–मुनिधर्म अंगीकार करनेपर पाँचवें-छठवें आदि गुणस्थानोंमें रागादि घटनेरूप परिणामोंकी प्राप्ति होती है—ऐसा निरूपण चरणानुयोगमें किया है। तथा यदि बाह्यसंयमसे कुछ सिद्धि न हो तो सर्वार्थसिद्धिवासी देव सम्यग्दृष्टि बहुत ज्ञानी हैं उनके तो चौथा गुणस्थान होता है और गृहस्थ श्रावक मनुष्योंके पंचमगुणस्थान होता है, सो क्या कारण है? तथा तीर्थंकरादिक गृहस्थपद छोड़कर किसलिये संयम ग्रहण करें? इसलिये यह नियम है कि—बाह्य संयमसाधन बिना परिणाम निर्मल नहीं हो सकते; इसलिये बाह्य साधनका विधान जाननेके लिये चरणानुयोगका अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

[द्रव्यानुयोगमें दोषकल्पनाका निराकरण]

तथा कितने ही जीव कहते हैं कि—द्रव्यानुयोगमें व्रत-संयमादि व्यवहार धर्मका हीनपना प्रगट किया है। सम्यग्दृष्टिके विषय-भोगादिकको निर्जराका कारण कहा है;—इत्यादि कथन सुनकर जीव स्वच्छन्द होकर पुण्य छोड़कर पापमें प्रवर्तेंगे, इसलिये इनका पढ़ना-सुनना योग्य नहीं है। उससे कहते हैं—जैसे गधा मिश्री खाकर मर जाये तो मनुष्य तो मिश्री खाना नहीं छोड़ेंगे, उसी प्रकार विपरीतबुद्धि अध्यात्मग्रन्थ सुनकर स्वच्छन्द होजाये तो विवेकी तो अध्यात्मग्रन्थोंका अभ्यास नहीं छोड़ेंगे। इतना करे कि—जिसे स्वच्छन्द होता जाने, उसे जिस प्रकार वह स्वच्छन्द न हो उस प्रकार उपदेश दे। तथा अध्यात्मग्रन्थोंमें भी स्वच्छन्द होनेका जहाँ-तहाँ निषेध करते हैं, इसलिये जो भली भाँति उनको सुने वह तो स्वच्छन्द होता नहीं; परन्तु एक बात सुनकर अपने अभिप्रायसे कोई स्वच्छन्द हो तो ग्रन्थका तो दोष है नहीं, उस जीवहीका दोष है। तथा यदि झूठे दोषकी कल्पना करके अध्यात्मशास्त्रोंको पढ़ने-सुननेका निषेध करें तो मोक्षमार्गका मूल उपदेश तो वहाँ है; उसका निषेध करनेसे तो मोक्षमार्गका निषेध होता है। जैसे–मेघवर्षा होनेपर बहुतसे जीवोंका कल्याण होता है और किसीको उल्टा नुकसान हो, तो उसकी मुख्यता करके मेघका तो निषेध नहीं करना; उसी प्रकार सभामें

अध्यात्म उपदेश होनेपर बहुतसे जीवोंको मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है, परन्तु किसीके उल्टा पाप प्रवर्ते, तो उसकी मुख्यता करके अध्यात्म शास्त्रोंका तो निषेध नहीं करना। तथा अध्यात्मग्रन्थोंसे कोई स्वच्छन्द हो, सो वह तो पहले भी मिथ्यादृष्टि था, अब भी मिथ्यादृष्टि ही रहा। इतना ही नुकसान होगा कि सुगति न होकर कुगति होगी; परन्तु अध्यात्म उपदेश न होनेपर बहुत जीवोंके मोक्षमार्गकी प्राप्तिका अभाव होता है, और इसमें बहुत जीवोंका बहुत बुरा होता है, इसलिये अध्यात्म उपदेशका निषेध नहीं करना।

तथा कितने ही जीव कहते हैं कि—द्रव्यानुयोगरूप अध्यात्म उपदेश है वह उत्कृष्ट है; सो उच्चदशाको प्राप्त हों उनको कार्यकारी है; निचली दशावालोंको व्रत-संयमादिकका ही उपदेश देना योग्य है।

उनसे कहते हैं—जिनमतमें तो यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है फिर व्रत होते हैं; वह सम्यक्त्व स्व-परका श्रद्धान होनेपर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोगका अभ्यास करने पर होता है; इसलिये प्रथम द्रव्यानुयोगके अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो, पश्चात् चरणानुयोगके अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती हो।—इसप्रकार मुख्यरूपसे तो निचली दशामें ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है; गौणरूपसे जिसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती न जानें उसे पहले किसी व्रतादिकका उपदेश देते हैं; इसलिये ऊँची दशावालोंको अध्यात्म-अभ्यास योग्य है ऐसा जानकर निचली दशावालोंको वहाँसे पराङ्मुख होना योग्य नहीं है।

तथा यदि कहोगे कि—ऊँचे उपदेशका स्वरूप निचली दशावालोंको भासित नहीं होता।

उसका उत्तर यह है—और तो अनेक प्रकारकी चतुराई जानें और यहाँ मूर्खपना प्रगट करें, वह योग्य नहीं है। अभ्यास करनेसे स्वरूप भलीभाँति भासित होता है, अपनी बुद्धि अनुसार थोड़ा-बहुत भासित हो, परन्तु सर्वथा निरुद्यमी होनेका पोषण करें वह तो जिनमार्गका द्वेषी होना है।

तथा यदि कहोगे कि यह काल निकृष्ट है, इसलिये उत्कृष्ट अध्यात्म उपदेशकी मुख्यता नहीं करना।

तो उनसे कहते हैं— यह काल साक्षात् मोक्ष न होनेकी अपेक्षा निकृष्ट है, आत्मानुभवनादिक द्वारा सम्यक्त्वादिक होना इस कालमें मना नहीं है; इसलिये आत्मानुभवनादिकके अर्थ द्रव्यानुयोगका अवश्य अभ्यास करना। वहीं षट्पाहुडमें (मोक्षपाहुडमें) कहा है :—

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाऊण जंति सुरलोए ।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥ ७७ ॥

अर्थः—आज भी त्रिरत्नसे शुद्ध जीव आत्माको ध्याकर स्वर्ग लोकको प्राप्त होते हैं व लौकान्तिकमें देवपना प्राप्त करते हैं; वहाँ से च्युत होकर मोक्ष जाते हैं । *बहुरि...। इसलिये इस कालमें भी द्रव्यानुयोगका उपदेश मुख्य चाहिये ।

कोई कहता है—द्रव्यानुयोगमें अध्यात्म शास्त्र हैं, वहाँ स्व-पर भेदविज्ञानादिकका उपदेश दिया वह तो कार्यकारी भी बहुत है और समझमें भी शीघ्र आता है, परन्तु द्रव्य-गुण-पर्यायादिकका व प्रमाण-नयादिकका व अन्यमतके कहे तत्त्वादिकके निराकरणका कथन किया, सो उनके अभ्याससे विकल्प विशेष होते हैं और वे बहुत प्रयास करने पर जाननेमें आते हैं; इसलिये उनका अभ्यास नहीं करना ।

उनसे कहते हैं—सामान्य जाननेसे विशेष जानना बलवान् है । ज्यों-ज्यों विशेष जानता है त्यों-त्यों वस्तुस्वभाव निर्मल भासित होता है, श्रद्धान दृढ़ होता है, रागादि घटते हैं; इसलिये उस अभ्यासमें प्रवर्त्तना योग्य है ।—इसप्रकार चारों अनुयोगोंमें दोष कल्पना करके अभ्याससे पराङ्मुख होना योग्य नहीं है ।

[व्याकरण न्यायादि शास्त्रोंके अभ्यासके सम्बन्धमें]

तथा व्याकरण-न्यायादिक शास्त्र हैं, उनका भी थोड़ा-बहुत अभ्यास करना; क्योंकि उनके ज्ञान बिना बड़े शास्त्रोंका अर्थ भासित नहीं होता । तथा वस्तुका स्वरूप भी इनकी पद्धति जानने पर जैसा भासित होता है वैसा भाषादिक द्वारा भासित नहीं होता; इसलिये परम्परा कार्यकारी जानकर इनका भी अभ्यास करना, परन्तु इन्हींमें फँस नहीं जाना; इनका कुछ अभ्यास करके प्रयोजनभूत शास्त्रोंके अभ्यासमें प्रवर्तना । तथा वैद्यकादि शास्त्र हैं उनसे मोक्षमार्गमें कुछ प्रयोजन ही नहीं है; इसलिये किसी व्यवहारधर्मके अभिप्रायसे बिना खेदके इनका अभ्यास हो जाये तो उपकारादि करना, पापरूप नहीं प्रवर्त्तना; और इनका अभ्यास न हो तो मत होओ, कुछ बिगाड़ नहीं है । इसप्रकार जिनमतके शास्त्र निर्दोष जानकर उनका उपदेश मानना ।

---

* यहाँ 'बहुरि' के आगे ३-४ पंक्तियोंका स्थान खरड़ा प्रतिमें छोड़ा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि—पण्डित प्रवर श्री टोडरमलजी यहाँ कुछ और भी लिखना चाहते थे, किन्तु लिख नहीं सके ।

[अपेक्षा ज्ञानके अभावसे आगममें दिखायी देनेवाले
परस्पर विरोधका निराकरण]

अब, शास्त्रोंमें अपेक्षादिकको न जाननेसे परस्पर विरोध भासित होता है, उसका निराकरण करते हैं। प्रथमादि अनुयोगोंकी आम्नायके अनुसार जहाँ जिसप्रकार कथन किया हो, वहाँ उसप्रकार जान लेना; अन्य अनुयोगके कथनको अन्य अनुयोगके कथनसे अन्यथा जानकर सन्देह नहीं करना। जैसे—कहीं तो निर्मल सम्यग्दृष्टिके ही शंका, कांक्षा, विचिकित्साका अभाव कहा, कहीं भयका आठवें गुणस्थान पर्यन्त, लोभका दसवें पर्यन्त, जुगुप्साका आठवें पर्यन्त उदय कहा, वहाँ विरुद्ध नहीं जानना। सम्यग्दृष्टिके श्रद्धानपूर्वक तीव्र शंकादिकका अभाव हुआ है अथवा मुख्यतः सम्यग्दृष्टि शंकादि नहीं करता, उस अपेक्षा चरणानुयोगमें सम्यग्दृष्टिके शंकादिकका अभाव कहा है; परन्तु सूक्ष्मशक्तिकी अपेक्षा भयादिकका उदय अष्टमादि गुणस्थान-पर्यन्त पाया जाता है; इसलिये करणानुयोगमें वहाँ तक उनका सद्भाव कहा है,—इसीप्रकार अन्यत्र जानना। पहले अनुयोगोंके उपदेश विधानमें कई उदाहरण कहे हैं, वह जानना अथवा अपनी बुद्धिसे समझ लेना।

तथा एक ही अनुयोगमें विवक्षावश अनेकरूप कथन करते हैं। जैसे—करणानुयोगमें प्रमादोंका सातवें गुणस्थानमें अभाव कहा, वहाँ कषायादिक प्रमादके भेद कहे; तथा वहीं कषायादिकका सद्भाव दसवें आदि गुणस्थान पर्यन्त कहा, वहाँ विरुद्ध नहीं जानना; क्योंकि यहाँ प्रमादोंमें तो जिन शुभाशुभभावोंके अभिप्राय सहित कषायादिक होते हैं उनका ग्रहण है, और सातवें गुणस्थानमें ऐसा अभिप्राय दूर हुआ है, इसलिये उनका वहाँ अभाव कहा है। तथा सूक्ष्मादिभावोंकी अपेक्षा उन्हींका दसवें आदि गुणस्थान पर्यन्त सद्भाव कहा है। तथा चरणानुयोगमें चोरी, परस्त्री आदि सप्तव्यसनका त्याग पहली प्रतिमामें कहा है, तथा वहीं उनका त्याग दूसरी प्रतिमामें कहा है, वहाँ विरुद्ध नहीं जानना; क्योंकि सप्तव्यसनमें तो चोरी आदि कार्य ऐसे ग्रहण किये हैं जिनसे दंडादिक पाता है, लोकमें अति निन्दा होती है। तथा व्रतोंमें ऐसे चोरी आदि त्याग करने योग्य कहे हैं कि जो गृहस्थ धर्मसे विरुद्ध होते हैं व किंचित् लोकनिंद्य होते हैं—ऐसा अर्थ जानना। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा नाना भावोंकी सापेक्षतासे एक ही भावका अन्य-अन्य प्रकारसे निरूपण करते हैं। जैसे—कहीं तो महाव्रतादिकको चारित्रके भेद कहा, कहीं महाव्रतादि होनेपर

भी द्रव्यलिंगीको असंयमी कहा, वहाँ विरुद्ध नहीं जानना; क्योंकि सम्यग्ज्ञान सहित महाव्रतादिक तो चारित्र हैं और अज्ञानपूर्वक व्रतादिक होनेपर भी असंयमी ही है। तथा जिसप्रकार पाँच मिथ्यात्वोंमें भी विनय कहा है और बारह प्रकारके तपोंमें भी विनय कहा है वहाँ विरुद्ध नहीं जानना; क्योंकि जो विनय करने योग्य नहीं हैं उनकी भी विनय करके धर्म मानना वह तो विनय मिथ्यात्व है, और धर्म पद्धतिसे जो विनय करने योग्य हैं उनकी यथा योग्य विनय करना सो विनय तप है। तथा जिसप्रकार कहीं तो अभिमानकी निन्दा की, और कहीं प्रशंसा की वहाँ विरुद्ध नहीं जानना; क्योंकि मान कषायसे अपनेको ऊँचा मनवानेके अर्थ विनयादि न करे, वह अभिमान तो निंद्य ही है और निर्लोभपनेसे दीनता आदि न करे वह अभिमान प्रशंसा योग्य है। तथा जैसे—कहीं चतुराईकी निन्दा की, कहीं प्रशंसा की, वहाँ विरुद्ध नहीं जानना; क्योंकि माया कषायसे किसीको ठगनेके अर्थ चतुराई करें वह तो निंद्य ही है और विवेक सहित यथा सम्भव कार्य करनेमें जो चतुराई हो वह श्लाघ्य ही है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा एक ही भावकी कहीं तो उससे उत्कृष्ट भावकी अपेक्षा निन्दा की हो और कहीं उससे हीन भावकी अपेक्षासे प्रशंसा की हो वहाँ विरुद्ध नहीं जानना। जैसे—किसी शुभक्रियाकी जहाँ निन्दा की हो, वहाँ तो उससे ऊँची शुभक्रिया व शुद्धभावकी अपेक्षा जानना, और जहाँ प्रशंसा की हो वहाँ उससे नीची क्रिया व अशुभक्रियाकी अपेक्षा जानना।—इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा इसीप्रकार किसी जीवकी ऊँचे जीवकी अपेक्षा निन्दा की हो वहाँ सर्वथा निन्दा नहीं जानना और किसीकी नीचे जीवकी अपेक्षा प्रशंसा की हो, तो सर्वथा प्रशंसा नहीं जानना; परन्तु यथासम्भव उसका गुण-दोष जान लेना। इसीप्रकार अन्य व्याख्यान जिस अपेक्षा सहित किये हों उस अपेक्षा उनका अर्थ समझना।

तथा शास्त्रमें एक ही शब्दका कहीं तो कोई अर्थ होता है, कहीं कोई अर्थ होता है; वहाँ प्रकरण पहिचानकर उसका सम्भवित अर्थ जानना। जैसे—मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शन कहा, वहाँ दर्शन शब्दका अर्थ श्रद्धान है और उपयोगवर्णनमें दर्शन शब्दका अर्थ वस्तुका सामान्य स्वरूप ग्रहणमात्र है, तथा इन्द्रियवर्णनमें दर्शन शब्दका अर्थ नेत्र द्वारा देखना मात्र है। तथा जैसे सूक्ष्म और बादरका अर्थ—वस्तुओंके प्रमाणादिक कथनमें छोटे प्रमाणसहित हो उसका नाम सूक्ष्म, और बड़े प्रमाणसहित हो उसका नाम बादर—ऐसा होता है। तथा पुद्गल स्कंधादिके कथनमें इन्द्रियगम्य न हो वह सूक्ष्म,

और इन्द्रियगम्य हो वह बादर—ऐसा अर्थ है। जीवादिकके कथनमें ऋद्धि आदिके निमित्त बिना स्वयमेव न रुके उसका नाम सूक्ष्म और रुके उसका नाम बादर—ऐसा अर्थ है। वस्त्रादिकके कथनमें महीनका नाम सूक्ष्म और मोटेका नाम बादर—ऐसा अर्थ है। तथा प्रत्यक्ष शब्दका अर्थ लोकव्यवहारमें तो इन्द्रिय द्वारा जाननेका नाम प्रत्यक्ष है, प्रमाण भेदोंमें स्पष्ट प्रतिभासका नाम प्रत्यक्ष है, आत्मानुभवनादिमें अपनेमें अवस्था हो उसका नाम प्रत्यक्ष है। तथा जैसे—मिथ्यादृष्टिके अज्ञान कहा, वहाँ सर्वथा ज्ञानका अभाव नहीं जानना, सम्यग्ज्ञानके अभावसे अज्ञान कहा है। तथा जिसप्रकार उदीरणा शब्दका अर्थ जहाँ देवादिकके उदीरणा नहीं कही वहाँ तो अन्य निमित्तसे मरण हो उसका नाम उदीरणा है, और दस करणोंके कथनमें उदीरणाकरण देवायुके भी कहा है, वहाँ ऊपरके निषेकोंका द्रव्य उदयावलीमें दिया जाये उसका नाम उदीरणा है। इसीप्रकार अन्यत्र यथासम्भव अर्थ जानना।

तथा एक ही शब्दके पूर्व शब्द जोड़नेसे अनेक प्रकार अर्थ होते हैं व उसी शब्दके अनेक अर्थ हैं; वहाँ जैसा सम्भव हो वैसा अर्थ जानना। जैसे—'जीते' उसका नाम 'जिन' है; परन्तु धर्म पद्धतिमें कर्म शत्रुको जीते उसका नाम 'जिन' जानना। यहाँ कर्म शत्रु शब्दको पहले जोड़नेसे जो अर्थ होता है वह ग्रहण किया, अन्य नहीं किया। तथा जैसे 'प्राण धारण करे' उसका नाम 'जीव' है। जहाँ जीवन-मरणका व्यवहार अपेक्षा कथन हो वहाँ तो इन्द्रियादि प्राण धारण करे वह जीव है; तथा द्रव्यादिकका निश्चय अपेक्षा निरूपण हो वहाँ चैतन्यप्राणको धारण करे वह जीव है। तथा जैसे समय शब्दके अनेक अर्थ हैं वहाँ आत्माका नाम समय है, सर्व पदार्थका नाम समय है, कालका नाम समय है, समयमात्र कालका नाम समय है, शास्त्रका नाम समय है, मतका नाम समय है। इसप्रकार अनेक अर्थोंमें जैसा जहाँ सम्भव हो वैसा अर्थ वहाँ जान लेना। तथा कहीं तो अर्थ अपेक्षा नामादिक कहते हैं, कहीं रूढ़ि अपेक्षा नामादिक कहते हैं। जहाँ रूढ़ि अपेक्षा नामादिक लिखे हों वहाँ उनका शब्दार्थ ग्रहण नहीं करना; परन्तु उसका जो रूढ़िरूप अर्थ हो वही ग्रहण करना। जैसे—सम्यक्त्वादिको धर्म कहा वहाँ तो यह जीवको उत्तम स्थानमें धारण करता है इसलिये इसका नाम सार्थ है, तथा धर्मद्रव्यका नाम धर्म कहा वहाँ रूढ़ि नाम है, इसका अक्षरार्थ ग्रहण नहीं करना, परन्तु इस नामकी धारक एक वस्तु है ऐसा अर्थ ग्रहण करना। इसीप्रकार अन्यत्र जानना। तथा कहीं शब्दका जो अर्थ होता हो वह तो ग्रहण नहीं करना, परन्तु वहाँ जो प्रयोजनभूत अर्थ हो वह ग्रहण करना। जैसे—कहीं किसीका अभाव कहा हो, और वहाँ किंचित् सद्भाव पाया जाये

उत्तरः—ऊँची पदवी धारण करके उस पदमें सम्भवित नहीं हैं ऐसे नीचे कार्य करे तो प्रतिज्ञा भंगादि होनेसे महादोष लगता है, और नीची पदवीमें वहाँ सम्भवित ऐसे गुण-दोष हों तो हों, वहाँ उसका दोष ग्रहण करना योग्य नहीं है ऐसा जानना।

तथा 'उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला'में कहा है—"आज्ञानुसार उपदेश देनेवालेका क्रोध भी क्षमाका भण्डार है;×" परन्तु यह उपदेश वक्ताको ग्रहण करने योग्य नहीं है। इस उपदेशसे वक्ता क्रोध करता रहे तो उसका बुरा ही होगा। यह उपदेश श्रोताओंके ग्रहण करने योग्य है। कदाचित् वक्ता क्रोध करके भी सच्चा उपदेश दे तो श्रोता गुण ही मानेंगे। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा जैसे—किसीको अति शीतांग रोग हो उसके अर्थ अति उष्ण रसादिक औषधियाँ कही हैं; उन औषधियोंको जिसके दाह हो व तुच्छ शीत हो वह ग्रहण करे तो दुःख ही पायेगा। उसीप्रकार किसीके किसी कार्यकी अति मुख्यता हो, उसके अर्थ उसके निषेधका अति खींचकर उपदेश दिया हो; उसे जिसके उस कार्यकी मुख्यता न हो व थोड़ी मुख्यता हो वह ग्रहण करे तो बुरा ही होगा। यहाँ उदाहरण—जैसे किसीके शास्त्राभ्यासकी अति मुख्यता है और आत्मानुभवका उद्यम ही नहीं है, उसके अर्थ बहुत शास्त्राभ्यासका निषेध किया है। तथा जिसके शास्त्राभ्यास नहीं है व थोड़ा शास्त्राभ्यास है, वह जीव उस उपदेशसे शास्त्राभ्यास छोड़ दे और आत्मानुभवमें उपयोग न रहे तब उसका तो बुरा ही होगा। तथा जैसे किसीके यज्ञ-स्नानादि द्वारा हिंसासे धर्म माननेकी मुख्यता है, उसके अर्थ—"यदि पृथ्वी उलट जाये तब भी हिंसा करनेसे पुण्यफल नहीं होता;"—ऐसा उपदेश दिया है। तथा जो जीव पूजनादि कार्यों द्वारा किंचित् हिंसा लगाता है और बहुत पुण्य उपजाता है, वह जीव इस उपदेशसे पूजनादि कार्य छोड़ दे और हिंसा रहित सामायिकादि धर्ममें उपयोग लगे नहीं तब उसका तो बुरा ही होगा। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा जैसे कोई औषधि गुणकारी है; परन्तु अपनेको जब तक उस औषधिसे हित हो तब तक उसका ग्रहण करे; यदि शीत मिटने पर भी उष्ण औषधिका सेवन करता ही रहे तो उल्टा रोग होगा। उसीप्रकार कोई धर्म कार्य है, परन्तु अपनेको जब

× रोसोवि खमाकोसो सुत्तं भासंत जस्सणधणस्य।
हरसुत्तेण खमावित्र दोस महामोह आवासो ॥ १४ ॥

तक उस धर्म कार्यसे हित हो तबतक उसका ग्रहण करे; यदि उच्च दशा होनेपर निचली दशा सम्बन्धी धर्मके सेवनमें लगे तो उल्टा विकार ही होगा। यहाँ उदाहरण—जैसे पाप मिटानेके अर्थ प्रतिक्रमणादि धर्मकार्य कहे हैं, परन्तु आत्मानुभव होनेपर प्रतिक्रमणादिका विकल्प करे तो उल्टा विकार बढ़ेगा; इसीसे 'समयसार'में प्रतिक्रमणादिकको विष कहा है। तथा जैसे अव्रतीको करने योग्य प्रभावनादि धर्मकार्य कहे हैं, उन्हें व्रती होकर करे तो पाप ही बाँधेगा। व्यापारादि आरम्भ छोड़कर चैत्यालयादि कार्योंका अधिकारी हो यह कैसे बनेगा?—इसीप्रकार अन्यत्र भी जानना।

तथा जैसे—पाकादिक औषधियाँ पुष्टिकारी हैं, परन्तु ज्वरवान् उन्हें ग्रहण करे तो महादोष उत्पन्न हो; उसीप्रकार ऊँचा धर्म बहुत भला है, परन्तु अपने विकारभाव दूर न हों और ऊँचे धर्मका ग्रहण करे तो महान दोष उत्पन्न होगा। यहाँ उदाहरण—जैसे अपना अशुभ विकार भी नहीं छूटा हो और निर्विकल्प दशाको अंगीकार करे तो उल्टा विकार बढ़ेगा; तथा भोजनादि विषयोंमें आसक्त हो और आरम्भ-त्यागादि धर्मको अंगीकार करे तो दोष ही उत्पन्न होगा। तथा जैसे व्यापारादि करनेका विकार तो छूटे नहीं और त्यागके भेषरूप धर्म अंगीकार करे तो महान दोष उत्पन्न होगा। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

इसीप्रकार और भी सच्चे विचारसे उपदेशको यथार्थ जानकर अंगीकार करना। बहुत विस्तार कहाँ तक कहें; अपनेको सम्यग्ज्ञान होनेपर स्वयंहीको यथार्थ भासित होता है। उपदेश तो वचनात्मक है तथा वचन द्वारा अनेक अर्थ युगपत् नहीं कहे जाते; इसलिये उपदेश तो एक ही अर्थकी मुख्यतासहित होता है। तथा जिस अर्थका जहाँ वर्णन है, वहाँ उसीकी मुख्यता है; दूसरे अर्थकी वहीं मुख्यता करे तो दोनों उपदेश दृढ़ नहीं होंगे; इसलिये उपदेशमें एक अर्थको दृढ़ करे, परन्तु सर्व जिनमतका चिह्न स्याद्वाद है, और "स्यात्" पदका अर्थ "कथंचित्" है; इसलिये जो उपदेश हो उसे सर्वथा नहीं जान लेना। उपदेशके अर्थको जानकर वहाँ इतना विचार करना कि—यह उपदेश किसप्रकार है, किस प्रयोजन सहित है, किस जीवको कार्यकारी है?—इत्यादि विचार करके उसका यथार्थ अर्थ ग्रहण करे, पश्चात् अपनी दशा देखे, जो उपदेश जिसप्रकार अपनेको कार्यकारी हो उसे उसीप्रकार आप अंगीकार करे और जो उपदेश जानने योग्य ही हो, तो उसे यथार्थ जान ले। इसप्रकार उपदेशके फलको प्राप्त करे।

यहाँ कोई कहे—जो तुच्छबुद्धि इतना विचार न कर सके वह क्या करे?

उत्तर:—जैसे व्यापारी अपनी बुद्धिके अनुसार जिसमें समझे सो थोड़ा या बहुत व्यापार करे, परन्तु नफा-नुकसानका ज्ञान तो अवश्य होना चाहिये। उसीप्रकार विवेकी अपनी बुद्धिके अनुसार जिसमें समझे सो थोड़े या बहुत उपदेशको ग्रहण करे, परन्तु मुझे यह कार्यकारी है, यह कार्यकारी नहीं है—इतना तो ज्ञान अवश्य होना चाहिये। सो कार्य तो इतना है कि—यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान करके रागादि घटाना। सो यह कार्य अपना सिद्ध हो उसी उपदेशका प्रयोजन ग्रहण करे; विशेष ज्ञान न हो, तो प्रयोजनको तो नहीं भूले, इतनी तो सावधानी अवश्य होना चाहिये। जिसमें अपने हितकी हानि हो, उसप्रकार उपदेशका अर्थ समझना योग्य नहीं है।—इस प्रकार स्याद्वाददृष्टि सहित जैनशास्त्रोंका अभ्यास करनेसे अपना कल्याण होता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे—जहाँ अन्य-अन्य प्रकार सम्भवित हों वहाँ तो स्याद्वाद संभव है; परन्तु एक ही प्रकारसे शास्त्रोंमें परस्पर विरोध भासित हो वहाँ क्या करें ? जैसे प्रथमानुयोगमें एक तीर्थंकरके साथ हजारों मोक्ष गये बतलाये हैं; करणानुयोगमें छह महीना आठ समयमें छह सौ आठ जीव मोक्ष जाते हैं—ऐसा नियम कहा है। प्रथमानुयोगमें ऐसा कथन किया है कि—देव-देवांगना उत्पन्न होकर फिर मरकर साथ ही मनुष्यादि पर्यायोंमें उत्पन्न होते हैं। करणानुयोगमें देवकी आयु सागरोप्रमाण और देवांगनाकी आयु पल्योप्रमाण कही है। इत्यादि विधि कैसे मिलती है ?

उत्तर:—करणानुयोगमें जो कथन है वह तो तारतम्य सहित है, और अन्य अनुयोगोंमें कथन प्रयोजनानुसार है; इसलिये करणानुयोगका कथन तो जिसप्रकार किया है उसीप्रकार है; औरोंके कथनकी जैसे विधि मिले वैसे मिला लेना। हजारों मुनि तीर्थंकरके साथ मोक्ष गये बतलाये, वहाँ यह जानना कि—एक ही कालमें इतने मोक्ष नहीं गये हैं, परन्तु जहाँ तीर्थंकर गमनादि क्रिया मिटाकर स्थिर हुए, वहाँ उनके साथ इतने मुनि तिष्ठे, फिर आगे-पीछे मोक्ष गये। इसप्रकार प्रथमानुयोग और करणानुयोगका विरोध दूर होता है। तथा देव-देवांगना साथ उत्पन्न हुए, फिर देवांगनाने चयकर बीचमें अन्य पर्याय धारण कीं, उनका प्रयोजन न जानकर कथन नहीं किया। फिर वे साथ मनुष्यपर्यायमें उत्पन्न हुए; इसप्रकार विधि मिलानेसे विरोध दूर होता है। इसीप्रकार अन्यत्र विधि मिला लेना।

फिर प्रश्न है कि—इस प्रकारके कथनोंमें भी किसी प्रकार विधि मिलती है, परन्तु कहीं नेमिनाथ स्वामीका सौरीपुरमें, कहीं द्वारावतीमें जन्म कहा, तथा रामचन्द्रा-

दिककी कथा अन्य-अन्य प्रकारसे लिखी है इत्यादि। एकेन्द्रियादिकको कहीं सासादन गुणस्थान लिखा, कहीं नहीं लिखा, इत्यादि इन कथनोंकी विधि किसप्रकार मिलेगी ?

उत्तरः—इसप्रकार विरोध सहित कथन कालदोषसे हुए हैं। इस कालमें प्रत्यक्षज्ञानी व बहुश्रुतोंका तो अभाव हुआ और अल्पबुद्धि ग्रन्थ करनेके अधिकारी हुए; उनको भ्रमसे कोई अर्थ अन्यथा भासित हुआ उसको ऐसे लिखा; अथवा इस कालमें कितने ही जैनमतमें भी कषायी हुए हैं सो उन्होंने कोई कारण पाकर अन्यथा कथन लिखे हैं। इसप्रकार अन्यथा कथन हुए, इसलिये जैनशास्त्रोंमें विरोध भासित होने लगा। जहाँ विरोध भासित हो वहाँ इतना करना कि—यह कथन करनेवाले बहुत प्रामाणिक हैं या यह कथन करनेवाले बहुत प्रामाणिक हैं ? ऐसा विचार करके बड़े आचार्यादिकोंका कहा हुआ कथन प्रमाण करना। तथा जिनमतके बहुत शास्त्र हैं उनकी आम्नाय मिलाना। जो कथन परम्परा आम्नायसे मिलें उस कथनको प्रमाण करना। इसप्रकार विचार करने पर भी सत्य-असत्यका निर्णय न हो सके तो "जैसे केवलीको भासित हुए हैं वैसे प्रमाण हैं" ऐसा मान लेना; क्योंकि देवादिकका व तत्त्वोंका निर्धार हुए बिना तो मोक्षमार्ग होता नहीं है। उनका तो निर्धार भी हो सकता है, इसलिये कोई उनका स्वरूप विरुद्ध कहे तो आपहीको भासित हो जायेगा। तथा अन्य कथनका निर्धार न हो या संशयादि रहें, या अन्यथा भी जानपना हो जाये और केवलीका कहा प्रमाण है—ऐसा श्रद्धान रहे, तो मोक्षमार्गमें विघ्न नहीं है, ऐसा जानना।

यहाँ कोई तर्क करे कि—जैसे नानाप्रकारके कथन जिनमतमें कहे हैं वैसे अन्यमतमें भी कथन पाये जाते हैं। सो अपने मतके कथनका तो तुमने जिस-तिसप्रकार स्थापन किया और अन्यमतमें ऐसे कथनको तुम दोष लगाते हो; यह तो तुम्हें राग-द्वेष है।

समाधानः—कथन तो नानाप्रकारके हों और एक ही प्रयोजनका पोषण करें, तो कोई दोष है नहीं; परन्तु कहीं किसी प्रयोजनका और कहीं किसी प्रयोजनका पोषण करें तो दोष ही है। अब, जिनमतमें तो एक रागादि मिटानेका प्रयोजन है; इसलिये कहीं बहुत रागादि छुड़ाकर थोड़े रागादि करानेके प्रयोजनका पोषण किया है, कहीं सर्व रागादि मिटानेके प्रयोजनका पोषण किया है, परन्तु रागादि बढ़ानेका प्रयोजन कहीं नहीं है, इसलिये जिनमतका सर्व कथन निर्दोष है। और अन्यमतमें कहीं रागादि मिटानेके प्रयोजन सहित कथन करते हैं, कहीं रागादि बढ़ानेके प्रयोजन सहित कथन करते

हैं; इसीप्रकार अन्य भी प्रयोजनकी विरुद्धता सहित कथन करते हैं इसलिये अन्यमतका कथन सदोष है। लोकमें भी एक प्रयोजनका पोषण करनेवाले नाना कथन कहे उसे प्रामाणिक कहा जाता है और अन्य-अन्य प्रयोजनका पोषण करनेवाली बात करे उसे बावला कहते हैं। तथा जिनमतमें नानाप्रकारके कथन हैं सो भिन्न-भिन्न अपेक्षा सहित हैं, वहाँ दोष नहीं है। अन्यमतमें एक ही अपेक्षा सहित अन्य-अन्य कथन करते हैं वहाँ दोष है। जैसे—जिनदेवके वीतरागभाव है और समवसरणादि विभूति भी पायी जाती है, वहाँ विरोध नहीं है। समवसरणादि विभूतिकी रचना इन्द्रादिक करते हैं; उनको उसमें रागादिक नहीं हैं, इसलिये दोनों बातें सम्भवित हैं। और अन्यमतमें ईश्वरको साक्षीभूत वीतराग भी कहते हैं तथा उसीके द्वारा किये गये काम-क्रोधादिभाव निरूपित करते हैं; सो एक आत्माको ही वीतरागपना और काम-क्रोधादि भाव कैसे सम्भवित हैं? इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा कालदोषसे जिनमतमें एक ही प्रकारसे कोई कथन विरुद्ध लिखे हैं, सो यह तुच्छबुद्धियोंकी भूल है, कुछ मतमें दोष नहीं है। वहाँ भी जिनमतका अतिशय इतना है कि—प्रमाणविरुद्ध कथन कोई नहीं कर सकता। कहीं सौरीपुरमें, कहीं द्वारावतीमें नेमिनाथ स्वामीका जन्म लिखा है सो कहीं भी हो, परन्तु नगरमें जन्म होना प्रमाणविरुद्ध नहीं है; आज भी होते दिखायी देते हैं।

तथा अन्यमतमें सर्वज्ञादिक यथार्थ ज्ञानियोंके रचे हुए ग्रन्थ बतलाते हैं, परन्तु उनमें परस्पर विरुद्धता भासित होती है। कहीं तो बालब्रह्मचारीकी प्रशंसा करते हैं, कहीं कहते हैं, "पुत्र बिना गति नहीं होती," सो दोनों सच्चे कैसे हों? ऐसे कथन वहाँ बहुत पाये जाते हैं। तथा उनमें प्रमाणविरुद्ध कथन पाये जाते हैं। जैसे—"मुखमें वीर्य गिरनेसे मछलीके पुत्र हुआ," सो ऐसा इसकालमें किसीके होता दिखायी नहीं देता, और अनुमानसे भी नहीं मिलता। ऐसे कथन भी बहुत पाये जाते हैं। यदि यहाँ सर्वज्ञादिककी भूल मानें तो वे कैसे भूलेंगे? और विरुद्ध कथन माननेमें नहीं आता; इसलिये उनके मतमें दोष ठहराते हैं। ऐसा जानकर एक जिनमतका ही उपदेश ग्रहण करने योग्य है।

वहाँ प्रथमानुयोगादिकका अभ्यास करना। पहले इसका अभ्यास करना, फिर इसका करना ऐसा नियम नहीं है; परन्तु अपने परिणामोंकी अवस्था देखकर जिसके अभ्याससे अपनी धर्ममें प्रवृत्ति हो उसीका अभ्यास करना। अथवा कभी किसी शास्त्रका

अभ्यास करे, कभी किसी शास्त्रका अभ्यास करे। तथा जैसे—रोजनामचेमें तो अनेक रकमें जहाँ-तहाँ लिखी हैं, उनकी खातेमें ठीक खतौनी करे तो लेने-देनेका निश्चय हो, उसीप्रकार शास्त्रोंमें तो अनेक प्रकारका उपदेश जहाँ-तहाँ दिया है, उसे सम्यग्ज्ञानमें यथार्थ प्रयोजनसहित पहिचाने तो हित-अहितका निश्चय हो। इसलिये स्यात्पदकी सापेक्षता सहित सम्यग्ज्ञान द्वारा जो जीव जिनवचनोंमें रमते हैं, वे जीव शीघ्र ही शुद्धात्मस्वरूपको प्राप्त होते हैं। मोक्षमार्गमें पहला उपाय आगमज्ञान कहा है; आगमज्ञान बिना धर्मका साधन नहीं हो सकता; इसलिये तुम्हें भी यथार्थ बुद्धि द्वारा आगमका अभ्यास करना। तुम्हारा कल्याण होगा।

इति श्री मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्रमें उपदेशस्वरूप-
प्रतिपादक आठवाँ अधिकार सम्पूर्ण हुआ।

नवमाँ अधिकार

मोक्षमार्गका स्वरूप

दोहा

शिव उपाय करतें प्रथम, कारन मंगलरूप ।
विघन विनाशक सुखकरन, नमौं शुद्ध शिवभूप ॥ १ ॥

अब, मोक्षमार्गका स्वरूप कहते हैं—प्रथम मोक्षमार्गके प्रतिपक्षी जो मिथ्यादर्शनादिक उनका स्वरूप बतलाया। उन्हें तो दुःखरूप, दुःखका कारण जानकर हेय मानकर उनका त्याग करना; तथा बीचमें उपदेशका स्वरूप बतलाया उसे जानकर उपदेशको यथार्थ समझना। अब, मोक्षके मार्ग जो सम्यग्दर्शनादिक उनका स्वरूप बतलाते हैं। उन्हें सुखरूप, सुखका कारण जानकर उपादेय मानकर अंगीकार करना; क्योंकि आत्माका हित मोक्ष ही है; उसीका उपाय आत्माका कर्त्तव्य है; इसलिये उसीका उपदेश यहाँ देते हैं। वहाँ आत्माका हित मोक्ष ही है, अन्य नहीं, ऐसा निश्चय किसप्रकार होता है सो कहते हैं—

[आत्माका हित मोक्ष ही है]

आत्माके नानाप्रकार गुण-पर्यायरूप अवस्थाएँ पायी जाती हैं; उनमें अन्य तो कोई अवस्था हो, आत्माका कुछ बिगाड़-सुधार नहीं है; एक दुःख-सुख अवस्थासे बिगाड़-सुधार है। यहाँ कुछ हेतु–दृष्टान्त नहीं चाहिये; प्रत्यक्ष ऐसा ही प्रतिभासित होता है। लोकमें जितने आत्मा हैं उनके एक उपाय यह पाया जाता है कि—दुःख न हो, सुख हो; तथा अन्य भी जितने उपाय करते हैं वे सब एक इसी प्रयोजनसहित करते हैं, दूसरा प्रयोजन नहीं है। जिनके 'निमित्तसे' दुःख होता जानें उनको दूर करनेका उपाय करते हैं और जिनके निमित्तसे सुख होता जानें उनके होनेका उपाय करते हैं। तथा संकोच-विस्तार आदि अवस्था भी आत्माके ही होती है व अनेक

परद्रव्योंका भी संयोग मिलता है, परन्तु जिनसे सुख-दुःख होता न जाने, उनके दूर करनेका व होनेका कुछ भी उपाय कोई नहीं करता। सो यहाँ आत्मद्रव्यका ऐसा ही स्वभाव जानना। और तो सर्व अवस्थाओंको सह सकता है एक दुःखको नहीं सह सकता। परवशतासे दुःख हो तो यह क्या करे, उसे भोगता है, परन्तु स्ववशतासे तो किंचित् भी दुःखको सहन नहीं करता। तथा संकोच-विस्तारादि अवस्था जैसी हो वैसी होओ, उसे स्ववशतासे भी भोगता है, वहाँ स्वभावमें तर्क नहीं है। आत्माका ऐसा ही स्वभाव जानना। देखो, दुःखी हो तब सोना चाहता है; वहाँ सोनेमें ज्ञानादिक मन्द हो जाते हैं, परन्तु जड़ सरीखा भी होकर दुःखको दूर करना चाहता है व मरना चाहता है। वहाँ मरनेमें अपना नाश मानता है, परन्तु अपना अस्तित्व खोकर भी दुःख दूर करना चाहता है; इसलिये एक दुःखरूप पर्यायका अभाव करना ही इसका कर्तव्य है। तथा दुःख न हो वही सुख है; क्योंकि आकुलतालक्षणसहित दुःख, उसका अभाव ही निराकुललक्षण सुख है सो यह भी प्रत्यक्ष भासित होता है। बाह्य किसी सामग्रीका संयोग मिलो, जिसके अन्तरंगमें आकुलता है वह दुःखी ही है, जिसके आकुलता नहीं है वह सुखी है। तथा आकुलता होती है वह रागादिक कषायभाव होनेपर होती है, क्योंकि रागादिभावोंसे यह तो द्रव्योंको अन्य प्रकार परिणमित करना चाहे और वे द्रव्य अन्यप्रकार परिणमित हों, तब इसके आकुलता होती है। वहाँ या तो अपने रागादि दूर हों, या आप चाहे उसीप्रकार सर्वद्रव्य परिणमित हों तो आकुलता मिटे; परन्तु सर्वद्रव्य तो इसके आधीन नहीं हैं। कदाचित् कोई द्रव्य जैसी इसकी इच्छा हो उसीप्रकार परिणमित हो, तब भी इसकी आकुलता सर्वथा दूर नहीं होती; सर्व कार्य जैसे यह चाहे वैसे ही हों, अन्यथा न हों, तब यह निराकुल रहे; परन्तु यह तो हो ही नहीं सकता; क्योंकि किसी द्रव्यका परिणमन किसी द्रव्यके आधीन नहीं है; इसलिये अपने रागादिभाव दूर होनेपर निराकुलता हो; सो यह कार्य बन सकता है; क्योंकि रागादिकभाव आत्माके स्वभावभाव तो हैं नहीं, उपाधिकभाव हैं, परनिमित्तसे हुए हैं, और वह निमित्त मोहकर्मका उदय है; उसका अभाव होनेपर सर्व रागादिक विलय हो जायें तब आकुलताका नाश होनेपर दुःख दूर हो, सुखकी प्राप्ति हो। इसलिये मोहकर्मका नाश हितकारी है।

तथा उस आकुलताका सहकारी कारण ज्ञानावरणादिकका उदय है। ज्ञानावरण, दर्शनावरणके उदयसे ज्ञान-दर्शन सम्पूर्ण प्रगट नहीं होते, इसलिये इसको देखने-जाननेकी आकुलता होती है, अथवा यथार्थ सम्पूर्ण वस्तुका स्वभाव नहीं जानता तब रागादिरूप होकर प्रवर्तता है, वहाँ आकुलता होती है।

तथा अंतरायके उदयसे इच्छानुसार दानादि कार्य न बनें, तब आकुलता होती है; उनका उदय है वह मोहका उदय होनेपर आकुलताको सहकारी कारण है; मोहके उदयका नाश होनेपर उनका बल नहीं है; अन्तर्मुहूर्त कालमें अपने आप नाशको प्राप्त होते हैं; परन्तु सहकारी कारण भी दूर हो जाये तब प्रगटरूप निराकुलदशा भासित होती है; वहाँ केवलज्ञानी भगवान अनन्तसुखरूप दशाको प्राप्त कहे जाते हैं।

तथा अघाति कर्मोंके उदयके निमित्तसे शरीरादिकका संयोग होता है, वहाँ मोहकर्मका उदय होनेसे शरीरादिकका संयोग आकुलताको बाह्य सहकारी कारण है। अन्तरंग मोहके उदयसे रागादिक हों और बाह्य अघाति कर्मोंके उदयसे रागादिकको कारण शरीरादिकका संयोग हो तब आकुलता उत्पन्न होती है। तथा मोहके उदयका नाश होनेपर भी अघाति कर्मका उदय रहता है वह कुछ भी आकुलता उत्पन्न नहीं कर सकता; परन्तु पूर्वमें आकुलताका सहकारी कारण था, इसलिये अघाति कर्मका भी नाश आत्माको इष्ट ही है। केवलीको इनके होनेपर भी कुछ दुःख नहीं है, इसलिये इनके नाशका उद्यम भी नहीं है, परन्तु मोहका नाश होनेपर यह कर्म अपने आप थोड़े ही कालमें सर्वनाशको प्राप्त हो जाते हैं। इसप्रकार सर्व कर्मोंका नाश होना आत्माका हित है। तथा सर्व कर्मके नाशहीका नाम मोक्ष है; इसलिये आत्माका हित एक मोक्ष ही है, और कुछ नहीं—ऐसा निश्चय करना।

यहाँ कोई कहे—संसारदशामें पुण्यकर्मका उदय होनेपर भी जीव सुखी होता है; इसलिये केवल मोक्ष ही हित है ऐसा किसलिये कहते हैं ?

[सांसारिक सुख परमार्थतः दुःख ही है]

समाधानः—संसारदशामें सुख तो सर्वथा है ही नहीं; दुःख ही है; परन्तु किसीके कभी बहुत दुःख होता है, किसीके कभी थोड़ा दुःख होता है। सो पूर्वमें बहुत दुःख था व अन्य जीवोंके बहुत दुःख पाया जाता है, उस अपेक्षासे थोड़े दुःखवालेको सुखी कहते हैं; तथा उसी अभिप्रायसे थोड़े दुःखवाला अपनेको सुखी मानता है; परमार्थसे सुख है नहीं। तथा यदि थोड़ा भी दुःख सदाकाल रहता हो तो उसे भी हितरूप ठहरायें; सो वह भी नहीं है। थोड़े काल ही पुण्यका उदय रहता है और वहाँ थोड़ा दुःख होता है, पश्चात् बहुत दुःख हो जाता है; इसलिये संसारअवस्था हितरूप नहीं है। जैसे—किसीको

विषमज्वर है, उसको कभी असाता बहुत होती है, कभी थोड़ी होती है। थोड़ी असाता हो तब वह अपनेको अच्छा मानता है। लोग भी कहते हैं—अच्छा है; परन्तु परमार्थसे जबतक ज्वरका सद्भाव है तबतक अच्छा नहीं है। उसीप्रकार संसारीको मोहका उदय है; उसको कभी आकुलता बहुत होती है, कभी थोड़ी होती है। थोड़ी आकुलता हो तब वह अपनेको सुखी मानता है। लोग भी कहते हैं—सुखी है; परन्तु परमार्थसे जबतक मोहका सद्भाव है तबतक सुख नहीं है। तथा सुनो, संसारदशामें भी आकुलता घटने पर सुख नाम पाता है, आकुलता बढ़ने पर दुःख नाम पाता है; कहीं बाह्य-सामग्रीसे सुख-दुःख नहीं है। जैसे—किसी दरिद्रीके किंचित् धनकी प्राप्ति हुई; वहाँ कुछ आकुलता घटनेसे उसे सुखी कहते हैं और वह भी अपनेको सुखी मानता है; तथा किसी बहुत धनवानको किंचित् धनकी हानि हुई, वहाँ कुछ आकुलता बढ़नेसे उसे दुःखी कहते हैं और वह भी अपनेको दुःखी मानता है। इसीप्रकार सर्वत्र जानना।

तथा आकुलता घटना-बढ़ना भी बाह्य सामग्रीके अनुसार नहीं है। कषाय-भावोंके घटने-बढ़नेके अनुसार है। जैसे—किसीके थोड़ा धन है और उसे सन्तोष है, तो उसे आकुलता थोड़ी है; तथा किसीके बहुत धन है और उसके तृष्णा है, तो उसे आकुलता बहुत है। तथा किसीको किसीने बहुत बुरा कहा और उसे क्रोध नहीं हुआ तो उसको आकुलता नहीं होती, और थोड़ी बातें कहनेसे ही क्रोध हो आये तो उसको आकुलता बहुत होती है। तथा जैसे गायको बछड़ेसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है, परन्तु मोह बहुत है, इसलिये उसकी रक्षा करनेकी बहुत आकुलता होती है; तथा सुभट (योद्धा) के शरीरादिकसे बहुत कार्य सधते हैं, परन्तु रणमें मानादिकके कारण शरीरादिकसे मोह घटजाये, तब मरनेकी भी थोड़ी आकुलता होती है; इसलिये ऐसा जानना कि—संसार अवस्थामें भी आकुलता घटने-बढ़नेसे ही सुख-दुःख माने जाते हैं। तथा आकुलताका घटना-बढ़ना रागादिक कषाय घटने-बढ़नेके अनुसार है। तथा परद्रव्यरूप बाह्यसामग्रीके अनुसार सुख-दुःख नहीं है। कषायसे इसके इच्छा उत्पन्न हो और इसकी इच्छा अनुसार बाह्यसामग्री मिले, तब इसके कुछ कषायका उपशमन होनेसे आकुलता घटती है तब सुख मानता है और इच्छानुसार सामग्री नहीं मिलती तब कषाय बढ़नेसे आकुलता बढ़ती है और दुःख मानता है। सो है तो इसप्रकार, परन्तु यह जानता है कि मुझे परद्रव्यके निमित्तसे सुख-दुःख होते हैं। ऐसा जानना भ्रम ही है। इसलिये यहाँ ऐसा विचार करना कि—संसार अवस्थामें किंचित् कषाय घटनेसे सुख मानते हैं, उसे हित जानते हैं, तो जहाँ सर्वथा कषाय दूर होनेपर व

कषायके कारण दूर होनेपर परम निराकुलता होनेसे अनन्त सुख प्राप्त होता है—ऐसी मोक्षअवस्थाको कैसे हित न मानें ? तथा संसार अवस्थामें उच्चपदको प्राप्त करे तो भी या तो विषयसामग्री मिलानेकी आकुलता होती है, या विषय सेवनकी आकुलता होती है या अपनेको अन्य किसी क्रोधादि कषायसे इच्छा उत्पन्न हो उसे पूर्ण करनेकी आकुलता होती है; कदापि सर्वथा निराकुल नहीं हो सकता; अभिप्रायमें तो अनेक प्रकारकी आकुलता बनी ही रहती है। और कोई आकुलता मिटानेके बाह्य उपाय करे, सो प्रथम तो कार्य सिद्ध नहीं होता, और यदि भवितव्ययोगसे वह कार्य सिद्ध हो जाये तो तत्काल अन्य आकुलता मिटानेके उपायमें लगता है। इसप्रकार आकुलता मिटानेकी आकुलता निरन्तर बनी रहती है। यदि ऐसी आकुलता न रहे तो वह नये-नये विषयसेवनादि कार्योंमें किसलिये प्रवर्तता है ? इसलिये संसार अवस्थामें पुण्यके उदयसे इन्द्र–अहमिन्द्रादि पद प्राप्त करे तो भी निराकुलता नहीं होती, दुःखी ही रहता है। इसलिये संसार अवस्था हितकारी नहीं है।

तथा मोक्षअवस्थामें किसी भी प्रकारकी आकुलता नहीं रही, इसलिये आकुलता मिटानेका उपाय करनेका भी प्रयोजन नहीं है; सदाकाल शांतरससे सुखी रहते हैं, इसलिये मोक्षअवस्था ही हितकारी है। पहले भी संसार अवस्थाके दुःखका और मोक्षअवस्थाके सुखका विशेष वर्णन किया है, वह इसी प्रयोजनके अर्थ किया है। उसे भी विचार कर मोक्षको हितरूप जानकर मोक्षका उपाय करना। सर्व उपदेशका तात्पर्य इतना है।

यहाँ प्रश्न है कि—मोक्षका उपाय काललब्धि आने पर भवितव्यानुसार बनता है या मोहादिके उपशमादि होनेपर बनता है या अपने पुरुषार्थसे उद्यम करने पर बनता है सो कहो। यदि प्रथम दोनों कारण मिलने पर बनता है तो हमें उपदेश किसलिये देते हो ? और पुरुषार्थसे बनता है तो उपदेश सब सुनते हैं, उनमें कोई उपाय कर सकता है कोई नहीं कर सकता, सो कारण क्या ?

[पुरुषार्थसे ही मोक्षप्राप्ति]

समाधानः—एक कार्य होनेमें अनेक कारण मिलते हैं। सो मोक्षका उपाय बनता है वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं, और नहीं बनता वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते। पूर्वोक्त तीन कारण कहे उनमें काललब्धि व होनहार तो कोई

वस्तु नहीं है; जिस कालमें कार्य बनता है वही काललब्धि और जो कार्य हुआ वही होनहार। तथा जो कर्मके उपशमादिक हैं वह पुद्गलकी शक्ति है, उसका आत्मा कर्त्ताहर्त्ता नहीं है। तथा पुरुषार्थसे उद्यम करते हैं सो यह आत्माका कार्य है; इसलिये आत्माको पुरुषार्थसे उद्यम करनेका उपदेश देते हैं। वहाँ यह आत्मा जिस कारणसे कार्यसिद्धि अवश्य हो उस कारणरूप उद्यम करे वहाँ तो अन्य कारण मिलते ही मिलते हैं और कार्यकी भी सिद्धि होती ही होती है। तथा जिस कारणसे कार्यकी सिद्धि हो अथवा नहीं भी हो, उस कारणरूप उद्यम करे वहाँ अन्य कारण मिलें तो कार्यसिद्धि होती है, न मिलें तो सिद्धि नहीं होती। सो जिनमतमें जो मोक्षका उपाय कहा है इससे मोक्ष होता ही होता है; इसलिये जो जीव पुरुषार्थसे जिनेश्वरके उपदेशानुसार मोक्षका उपाय करता है उसके काललब्धि व होनहार भी हुए और कर्मके उपशमादि हुए हैं तो यह ऐसा उपाय करता है; इसलिये जो पुरुषार्थसे मोक्षका उपाय करता है उसको सर्व कारण मिलते हैं—ऐसा निश्चय करना, और उसको अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होती है। तथा जो जीव पुरुषार्थसे मोक्षका उपाय नहीं करता, उसके काललब्धि व होनहार भी नहीं और कर्मके उपशमादि नहीं हुए हैं तो यह उपाय नहीं करता; इसलिये जो पुरुषार्थसे मोक्षका उपाय नहीं करता, उसको कोई कारण नहीं मिलते—ऐसा निश्चय करना, और उसको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। तथा तू कहता है—'उपदेश तो सभी सुनते हैं, कोई मोक्षका उपाय कर सकता है कोई नहीं कर सकता, सो कारण क्या ?' उसका कारण यही है कि—जो उपदेश सुनकर पुरुषार्थ करते हैं, वे मोक्षका उपाय कर सकते हैं, और जो पुरुषार्थ नहीं करते वे मोक्षका उपाय नहीं कर सकते। उपदेश तो शिक्षामात्र है, फल जैसा पुरुषार्थ करे वैसा लगता है।

फिर प्रश्न है कि—द्रव्यलिंगी मुनि मोक्षके अर्थ गृहस्थपना छोड़कर तपश्चरणादि करता है, वहाँ पुरुषार्थ तो किया, कार्य सिद्ध नहीं हुआ; इसलिये पुरुषार्थ करनेसे तो कुछ सिद्धि नहीं है ?

[द्रव्यलिंगीके मोक्षोपयोगी पुरुषार्थका अभाव]

समाधान:—अन्यथा पुरुषार्थसे फल चाहे तो कैसे सिद्धि हो ? तपश्चरणादि व्यवहार साधनमें अनुरागी होकर प्रवर्ते उसका फल शास्त्रमें तो शुभबन्ध कहा है, और यह उससे मोक्ष चाहता है, कैसे होगा ? यह तो भ्रम है।

फिर प्रश्न है कि—भ्रमका भी तो कारण कर्म ही है, पुरुषार्थ क्या करे ?

उत्तरः—सच्चे उपदेशसे निर्णय करने पर भ्रम दूर होता है; परन्तु ऐसा पुरुषार्थ नहीं करता, इसीसे भ्रम रहता है। निर्णय करनेका पुरुषार्थ करे, तो भ्रमका कारण जो मोहकर्म, उसके भी उपशमादि हों तब भ्रम दूर हो जाये; क्योंकि निर्णय करते हुए परिणामोंकी विशुद्धता होती है, उससे मोहके स्थिति-अनुभाग घटते हैं।

फिर प्रश्न है कि—निर्णय करनेमें उपयोग नहीं लगाता, उसका भी तो कारण कर्म है ?

समाधानः—एकेन्द्रियादिकके विचार करनेकी शक्ति नहीं है, उनके तो कर्महीका कारण है, इसके तो ज्ञानावरणादिकके क्षयोपशमसे निर्णय करनेकी शक्ति हुई है; जहाँ उपयोग लगाये उसीका निर्णय हो सकता है; परन्तु यह अन्य निर्णय करनेमें उपयोग लगाता है, यहाँ उपयोग नहीं लगाता। सो यह तो इसीका दोष है, कर्मका तो कुछ प्रयोजन नहीं है।

फिर प्रश्न है कि—सम्यक्त्व-चारित्रका घातक मोह है, उसका अभाव हुए बिना मोक्षका उपाय कैसे बने ?

उत्तरः—तत्त्वनिर्णय करनेमें उपयोग न लगाये वह तो इसीका दोष है। तथा पुरुषार्थसे तत्त्वनिर्णयमें उपयोग लगाये तब स्वयमेव ही मोहका अभाव होनेपर सम्यक्त्वादिरूप मोक्षके उपायका पुरुषार्थ बनता है; इसलिये मुख्यतासे तो तत्त्वनिर्णयमें उपयोग लगानेका पुरुषार्थ करना; तथा उपदेश भी देते हैं सो यही पुरुषार्थ करानेके अर्थ दिया जाता है, तथा इस पुरुषार्थसे मोक्षके उपायका पुरुषार्थ अपनेआप सिद्ध होगा। और तत्त्वनिर्णय न करनेमें किसी कर्मका दोष है नहीं, तेरा ही दोष है, परन्तु तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादिकको लगाता है; सो जिन आज्ञा मानें तो ऐसी अनीति सम्भव नहीं है; तुझे विषयकषायरूप ही रहना है, इसलिये झूठ बोलता है। मोक्षकी सच्ची अभिलाषा हो तो ऐसी युक्ति किसलिये बनाये ? सांसारिक कार्योंमें अपने पुरुषार्थसे सिद्धि न होती जाने, तथापि पुरुषार्थसे उद्यम किया करता है, यहाँ पुरुषार्थ खो बैठा; इसलिये जानते हैं कि मोक्षको देखादेखी उत्कृष्ट कहता है; उसका स्वरूप पहिचानकर उसे हितरूप नहीं जानता। हित जानकर उसका उद्यम बने सो न करे यह असंभव है।

यहाँ प्रश्न है कि—तुमने कहा सो सत्य; परन्तु द्रव्यकर्मके उदयसे भावकर्म होता है, भावकर्मसे द्रव्यकर्मका बन्ध होता है, तथा फिर उसके उदयसे भावकर्म होता है;—इसी प्रकार अनादिसे परम्परा है, तब मोक्षका उपाय कैसे हो ?

[द्रव्यकर्म और भावकर्मकी परम्परामें पुरुषार्थके न होनेका खंडन]

समाधान:—कर्मोंका बन्ध व उदय सदाकाल समान ही होता रहे तब तो ऐसा ही है; परन्तु परिणामोंके निमित्तसे पूर्वबद्ध कर्मके भी उत्कर्षण-अपकर्षण-संक्रमणादि होनेसे उनकी शक्ति हीनाधिक होती है; इसलिये उनका उदय भी मन्द-तीव्र होता है। उनके निमित्तसे नवीन बन्ध भी मन्द-तीव्र होता है; इसलिये संसारी जीवोंको कर्मोदयके निमित्तसे कभी ज्ञानादिक बहुत प्रगट होते हैं, कभी थोड़े प्रगट होते हैं। कभी रागादिक मन्द होते हैं कभी तीव्र होते हैं। इस प्रकार परिवर्तन होता रहता है। वहाँ कदाचित् संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त पर्याय प्राप्त की, तब मन द्वारा विचार करनेकी शक्ति हुई। तथा इसके कभी तीव्र रागादिक होते हैं, कभी मन्द होते हैं; वहाँ रागादिकका तीव्र उदय होनेसे तो विषयकषायादिकके कार्योंमें ही प्रवृत्ति होती है; तथा रागादिकका मन्द उदय होनेसे बाह्य उपदेशादिकका निमित्त बने और स्वयं पुरुषार्थ करके उन उपदेशादिकमें उपयोगको लगाये तो धर्मकार्योंमें प्रवृत्ति हो, और निमित्त न बने व स्वयं पुरुषार्थ न करे तो अन्य कार्योंमें ही प्रवर्ते; परन्तु मन्द रागादिसहित प्रवर्ते। ऐसे अवसरमें उपदेश कार्यकारी है। विचारशक्तिरहित जो एकेन्द्रियादिक हैं, उनके तो उपदेश समझनेका ज्ञान ही नहीं है; और तीव्र रागादिसहित जीवोंका उपयोग उपदेशमें लगता नहीं है; इसलिये जो जीव विचारशक्तिसहित हों, तथा जिनके रागादि मन्द हों उन्हें उपदेशके निमित्तसे धर्मकी प्राप्ति हो जाये तो उनका भला हो; तथा इसी अवसरमें पुरुषार्थ कार्यकारी है। एकेन्द्रियादिक तो धर्मकार्य करनेमें समर्थ ही नहीं हैं, कैसे पुरुषार्थ करें ? और तीव्रकषायी पुरुषार्थ करे तो वह पापहीका करे, धर्मकार्यका पुरुषार्थ हो नहीं सकता; इसलिये जो विचारशक्तिसहित हो और जिसके रागादिक मन्द हों वह जीव पुरुषार्थसे उपदेशादिकके निमित्तसे तत्त्वनिर्णयादिमें उपयोग लगाये तो उसका उपयोग वहाँ लगे और तब उसका भला हो। यदि इस अवसरमें भी तत्त्वनिर्णय करनेका पुरुषार्थ न करे, प्रमादसे काल गँवाये, या तो मन्दरागादि सहित विषयकषायोंके कार्योंमें ही प्रवर्ते या व्यवहारधर्मकार्योंमें प्रवर्ते, तब अवसर तो चला जायेगा और संसारमें ही भ्रमण होगा।

तथा इस अवसरमें जो जीव पुरुषार्थसे तत्त्वनिर्णय करनेमें उपयोग लगानेका अभ्यास रखें, उनके विशुद्धता बढ़ेगी, उससे कर्मोंकी शक्ति हीन होगी, कुछ कालमें अपने आप दर्शनमोहका उपशम होगा, तब तत्त्वोंकी यथावत् प्रतीति आयेगी। सो इसका तो कर्त्तव्य तत्त्वनिर्णयका अभ्यास ही है; इसीसे दर्शनमोहका उपशम तो स्वयमेव होता है; उसमें जीवका कर्त्तव्य कुछ नहीं है। तथा उसके होने पर जीवके स्वयमेव सम्यग्दर्शन होता है और सम्यग्दर्शन होनेपर श्रद्धान तो यह हुआ कि—मैं आत्मा हूँ, मुझे रागादिक नहीं करना; परन्तु चारित्रमोहके उदयसे रागादिक होते हैं। वहाँ तीव्र उदय हो तब तो विषयादिमें प्रवर्तता है और मन्द उदय हो तब अपने पुरुषार्थसे धर्मकार्योंमें व वैराग्यादि भावनामें उपयोगको लगाता है; उसके निमित्तसे चारित्रमोह मन्द होता जाता है;—ऐसा होनेपर देशचारित्र व सकलचारित्र अंगीकार करनेका पुरुषार्थ प्रगट होता है। तथा चारित्रको धारण करके अपने पुरुषार्थसे धर्ममें परिणतिको बढ़ाये वहाँ विशुद्धतासे कर्मकी शक्ति हीन होती है, उससे विशुद्धता बढ़ती है और उससे अधिक कर्मकी शक्ति हीन होती है। इस प्रकार क्रमसे मोहका नाश करे तब सर्वथा परिणाम विशुद्ध होते हैं, उनके द्वारा ज्ञानावरणादिका नाश हो तब केवलज्ञान प्रगट होता है। पश्चात् वहाँ विना उपाय अघाति कर्मका नाश करके शुद्ध सिद्धपदको प्राप्त करता है। इस प्रकार उपदेशका तो निमित्त बने और अपना पुरुषार्थ करे तो कर्मका नाश होता है।

तथा जब कर्मका उदय तीव्र हो तब पुरुषार्थ नहीं होसकता; ऊपरके गुणस्थानोंसे भी गिर जाता है। वहाँ तो जैसी होनहार हो वैसा होता है; परन्तु जहाँ मन्द उदय हो और पुरुषार्थ होसके वहाँ तो प्रमादी नहीं होना—सावधान होकर अपना कार्य करना। जैसे—कोई पुरुष नदीके प्रवाहमें पड़ा बह रहा है; वहाँ पानीका जोर हो तब तो उसका पुरुषार्थ कुछ नहीं, उपदेश भी कार्यकारी नहीं। और पानीका जोर थोड़ा हो तब यदि पुरुषार्थ करके निकले तो निकल आयेगा। उसीको निकलनेकी शिक्षा देते हैं। और न निकले तो धीरे-धीरे बहेगा और फिर पानीका जोर होने पर बहता चला जायेगा। उसी प्रकार जीव संसारमें भ्रमण करता है, वहाँ कर्मोंका तीव्र उदय हो तब तो उसका पुरुषार्थ कुछ नहीं है, उपदेश भी कार्यकारी नहीं, और कर्मका मन्द उदय हो तब पुरुषार्थ करके मोक्षमार्गमें प्रवर्त्तन करे तो मोक्ष प्राप्त कर ले। उसीको मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं। और मोक्षमार्गमें प्रवर्तन नहीं करे तो किंचित् विशुद्धता पाकर फिर तीव्र उदय आने पर निगोदादि पर्यायको प्राप्त करेगा; इसलिये अवसर

चूकना योग्य नहीं है। अब सर्व प्रकारसे अवसर आया है, ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है। इसलिये श्रीगुरु दयालु होकर मोक्षमार्गका उपदेश दें, उसमें भव्यजीवोंको प्रवृत्ति करना। अब, मोक्षमार्गका स्वरूप कहते हैं।

[मोक्षमार्गका स्वरूप]

जिनके निमित्तसे आत्मा अशुद्ध दशाको धारण करके दुःखी हुआ—ऐसे जो मोहादिक कर्म उनका सर्वथा नाश होने पर केवल आत्माकी सर्व प्रकार शुद्ध अवस्थाका होना वह मोक्ष है। उसका जो उपाय—कारण उसे मोक्षमार्ग जानना। वहाँ कारण तो अनेक प्रकारके होते हैं। कोई कारण तो ऐसे होते हैं जिनके हुए बिना तो कार्य नहीं होता और जिनके होने पर कार्य हो या न भी हो; जैसे—मुनिलिंग धारण किये बिना तो मोक्ष नहीं होता; परन्तु मुनिलिंग धारण करने पर मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता। तथा कितने ही कारण ऐसे हैं कि—मुख्यतः तो जिनके होने पर कार्य होता है, परन्तु किसीके बिना हुये भी कार्यसिद्धि होती है। जैसे—अनशनादि बाह्यतपका साधन करनेपर मुख्यतः मोक्ष प्राप्त करते हैं; परन्तु भरतादिकके बाह्य तप किये बिना ही मोक्षकी प्राप्ति हुई। तथा कितने ही कारण ऐसे हैं जिनके होनेपर कार्यसिद्धि होती ही होती है और जिनके न होनेपर सर्वथा कार्यसिद्धि नहीं होती। जैसे—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता होनेपर तो मोक्ष होता ही होता है, और उसके न होनेपर सर्वथा मोक्ष नहीं होता।—ऐसे यह कारण कहे, उनमें अतिशय पूर्वक नियमसे मोक्षका साधक जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रका एकीभाव सो मोक्षमार्ग जानना। इन सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रमें एक भी न हो तो मोक्षमार्ग नहीं होता। वही "सूत्रमें" कहा है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

इस सूत्रकी टीकामें कहा है कि—यहाँ 'मोक्षमार्गः' ऐसा एक वचन कहा उसका अर्थ यह है कि—तीनों मिलनेपर एक मोक्षमार्ग है, अलग-अलग तीन मार्ग नहीं हैं।

यहाँ प्रश्न है कि—असंयत सम्यग्दृष्टिके तो चारित्र नहीं है, उसको मोक्षमार्ग हुआ है या नहीं हुआ है?

समाधानः—मोक्षमार्ग उसके होगा, यह तो नियम हुआ; इसलिये उपचारसे इसके मोक्षमार्ग हुआ भी कहते हैं; परमार्थसे सम्यक्चारित्र होनेपर ही मोक्षमार्ग होता

है। जैसे किसी पुरुषको किसी नगर चलनेका निश्चय हुआ; इसलिये उसको व्यवहारसे ऐसा भी कहते हैं कि "यह उस नगरको चला है;" परमार्थसे मार्गमें गमन करने पर ही चलना होगा। उसी प्रकार असंयतसम्यग्दृष्टिको वीतरागभावरूप मोक्षमार्गका श्रद्धान हुआ, इसलिये उसको उपचारसे मोक्षमार्गी कहते हैं, परमार्थसे वीतरागभावरूप परिणमित होने पर ही मोक्षमार्ग होगा। तथा "प्रवचनसार" में भी तीनोंकी एकाग्रता होने पर ही मोक्षमार्ग कहा है; इसलिये यह जानना कि—तत्त्वश्रद्धान-ज्ञान बिना तो रागादि घटानेसे मोक्षमार्ग नहीं है और रागादि घटाये बिना तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानसे भी मोक्षमार्ग नहीं है। तीनों मिलनेपर साक्षात् मोक्षमार्ग होता है।

[लक्षण और उसके दोष]

अब, इनका निर्देश, लक्षणनिर्देश और परीक्षाद्वारसे निरूपण करते हैं। वहाँ "सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है"—ऐसा नाममात्र कथन वह तो 'निर्देश' जानना। तथा अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असम्भवपनेसे रहित हो और जिससे इनको पहिचाना जाये सो 'लक्षण' जानना; उसका जो निर्देश अर्थात् निरूपण सो 'लक्षणनिर्देश' जानना। वहाँ जिसको पहिचानना हो उसका नाम लक्ष्य है, उसके सिवा औरका नाम अलक्ष्य है। सो लक्ष्य व अलक्ष्य दोनोंमें पाया जाये, ऐसा लक्षण जहाँ कहा जाये वहाँ अतिव्याप्तिपना जानना। जैसे आत्माका लक्षण 'अमूर्त्तत्व' कहा। सो अमूर्तत्वलक्षण लक्ष्य जो आत्मा है उसमें भी पाया जाता है और अलक्ष्य जो आकाशादिक हैं उनमें भी पाया जाता है; इसलिये यह 'अतिव्याप्त' लक्षण है। इसके द्वारा आत्माको पहिचाननेसे आकाशादिक भी आत्मा हो जायेंगे यह दोष लगेगा।

तथा जो किसी लक्ष्यमें तो हो और किसीमें न हो, ऐसे लक्ष्यके एकदेशमें पाया जाये—ऐसा लक्षण जहाँ कहा जाये वहाँ अव्याप्तिपना जानना। जैसे—आत्माका लक्षण केवलज्ञानादिक कहा जाये। सो केवलज्ञान किसी आत्मामें तो पाया जाता है किसीमें नहीं पाया जाता, इसलिये यह "अव्याप्त" लक्षण है; इसके द्वारा आत्माको पहिचाननेसे अल्पज्ञानी आत्मा नहीं होगा; यह दोष लगेगा।

तथा जो लक्ष्यमें पाया ही नहीं जाये—ऐसा लक्षण जहाँ कहा जाये; वहाँ असम्भवपना जानना। जैसे—आत्माका लक्षण जड़पना कहा जाये। सो प्रत्यक्षादि प्रमाणसे यह विरुद्ध है; क्योंकि यह 'असम्भव' लक्षण है; इसके द्वारा आत्मा माननेसे

पुद्गलादिक आत्मा हो जायेंगे, और आत्मा है वह अनात्मा हो जायेगा,—यह दोष लगेगा।

इस प्रकार अतिव्याप्त, अव्याप्त तथा असम्भवी लक्षण हो वह लक्षणाभास है। तथा लक्ष्यमें तो सर्वत्र पाया जाये और अलक्ष्यमें कहीं न पाया जाये वह सच्चा लक्षण है। जैसे—आत्माका स्वरूप चैतन्य है। सो यह लक्षण सर्व ही आत्मामें तो पाया जाता है, अनात्मामें कहीं नहीं पाया जाता, इसलिये यह सच्चा लक्षण है; इसके द्वारा आत्मा माननेसे आत्मा-अनात्माका यथार्थज्ञान होता है, कुछ दोष नहीं लगता। इस प्रकार लक्षणका स्वरूप उदाहरणमात्र कहा। अब सम्यग्दर्शनादिकका सच्चा लक्षण कहते हैं:—

[सम्यग्दर्शनका सच्चा लक्षण]

विपरीताभिनिवेशरहित जीवादिकतत्त्वार्थश्रद्धान वह सम्यग्दर्शनका लक्षण है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष—यह सात तत्त्वार्थ हैं। इनका जो श्रद्धान—ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है";—ऐसा प्रतीति भाव, सो तत्त्वार्थश्रद्धान, तथा विपरीताभिवेश जो अन्यथा अभिप्राय उससे रहित सो सम्यग्दर्शन है। यहाँ विपरीताभिनिवेशके निराकरणके अर्थ 'सम्यक्' पद कहा है, क्योंकि 'सम्यक्' ऐसा शब्द प्रशंसावाचक है, वहाँ श्रद्धानमें विपरीताभिनिवेशका अभाव होने पर ही प्रशंसा सम्भव है—ऐसा जानना।

यहाँ प्रश्न है कि—'तत्त्व' और 'अर्थ' यह दो पद कहे, उनका प्रयोजन क्या?

समाधानः—'तत्' शब्द है सो 'यत्' शब्दकी अपेक्षा सहित है, इसलिये जिसका प्रकरण हो उसे तत् कहा जाता है और जिसका जो भाव अर्थात् स्वरूप सो तत्त्व जानना। कारण कि 'तस्य भावस्तत्त्वं' ऐसा तत्त्व शब्दका समास होता है। तथा जो जाननेमें आये ऐसा 'द्रव्य' व 'गुण-पर्याय' उसका नाम अर्थ है। तथा 'तत्त्वेन अर्थस्तत्त्वार्थः' तत्त्व अर्थात् अपना स्वरूप, उससे सहित पदार्थ उनका श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है। यहाँ यदि तत्त्वश्रद्धान ही कहते तो जिसका यह भाव (तत्त्व) है, उसके श्रद्धान बिना केवल भावहीका श्रद्धान कार्यकारी नहीं है। तथा यदि अर्थश्रद्धान ही कहते तो भावके श्रद्धान बिना पदार्थका श्रद्धान भी कार्यकारी नहीं है। जैसे—किसीको ज्ञान-दर्शनादिक व वर्णादिकका तो श्रद्धान हो— यह जानपना है, यह श्वेतपना है इत्यादि प्रतीति हो, परन्तु ज्ञान-दर्शन आत्माका स्वभाव है, मैं आत्मा हूँ, तथा वर्णादि

पुद्गलका स्वभाव है, पुद्गल मुझसे भिन्न–अलग पदार्थ है—ऐसा पदार्थका श्रद्धान न हो तो भावका श्रद्धान कार्यकारी नहीं है। तथा जैसे 'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा श्रद्धान किया, परन्तु आत्माका स्वरूप जैसा है वैसा श्रद्धान नहीं किया तो भावके श्रद्धान बिना पदार्थ-का भी श्रद्धान कार्यकारी नहीं है; इसलिये तत्त्वसहित अर्थका श्रद्धान होता है सो ही कार्यकारी है। अथवा जीवादिकको तत्त्वसंज्ञा भी है और अर्थ संज्ञा भी है, इसलिये "तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः" जो तत्त्व सो ही अर्थ, उनका श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है। इस अर्थ द्वारा कहीं तत्त्वश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहे और कहीं पदार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहे, वहाँ विरोध नहीं जानना। इस प्रकार 'तत्त्व' और 'अर्थ' दो पद कहनेका प्रयोजन है।

फिर प्रश्न है कि—तत्त्वार्थ तो अनन्त हैं; वे सामान्य अपेक्षासे जीव-अजीवमें सर्व गर्भित हुए; इसलिये दो ही कहना थे या अनन्त कहना थे; आस्रवादिक तो जीव-अजीवहीके विशेष हैं, इनको अलग कहनेका प्रयोजन क्या ?

[तत्त्वार्थ सात ही क्यों ?]

समाधानः—यदि यहाँ पदार्थश्रद्धान करनेका ही प्रयोजन होता तब तो सामान्यसे या विशेषसे जैसे सर्व पदार्थोंका जानना हो, वैसे ही कथन करते; वह तो यहाँ प्रयोजन है नहीं; यहाँ तो मोक्षका प्रयोजन है। सो जिन सामान्य या विशेष भावोंका श्रद्धान करनेसे मोक्ष हो और जिनका श्रद्धान किये विना मोक्ष न हो, उन्हींका यहाँ निरूपण किया है। सो जीव-अजीव यह दो तो बहुत द्रव्योंकी एक जाति अपेक्षा सामान्यरूप तत्त्व कहे। यह दोनों जाति जाननेसे जीवको अपना–परका श्रद्धान हो, तब परसे भिन्न अपनेको जाने, अपने हितके अर्थ मोक्षका उपाय करे, और अपनेसे भिन्न परको जाने तब परद्रव्यसे उदासीन होकर रागादिक त्याग कर मोक्षमार्गमें प्रवर्ते। इस-लिये इन दो जातियोंका श्रद्धान होनेपर ही मोक्ष होता है और दो जातियाँ जाने बिना अपने-परका श्रद्धान न हो तब पर्यायबुद्धिसे सांसारिक प्रयोजनहीका उपाय करता है। परद्रव्यमें रागद्वेषरूप होकर प्रवर्ते, तब मोक्षमार्गमें कैसे प्रवर्ते ? इसलिये इन दो जातियोंका श्रद्धान न होनेपर मोक्ष नहीं होता। इस प्रकार यह दो सामान्य तत्त्व तो अवश्य श्रद्धान करने योग्य कहे हैं। तथा आस्रवादि पाँच कहे, वे जीव-पुद्गलकी पर्याय हैं; इसलिये यह विशेषरूप तत्त्व हैं; सो इन पाँच पर्यायोंको जाननेसे मोक्षका उपाय करनेका श्रद्धान होता है। वहाँ मोक्षको पहिचाने तो उसे हित मानकर उसका उपाय करे, इसलिये मोक्षका श्रद्धान करना।

तथा मोक्षका उपाय संवर-निर्जरा है, सो इनको पहिचाने तो जैसे संवर-निर्जरा हो वैसे प्रवर्ते; इसलिये संवर-निर्जराका श्रद्धान करना। तथा संवर-निर्जरा तो अभाव लक्षण सहित हैं, इसलिये जिनका अभाव करना है उनको पहिचानना चाहिये। जैसे—क्रोधका अभाव होनेपर क्षमा होती है, सो क्रोधको पहिचाने तो उसका अभाव करके क्षमारूप प्रवर्त्तन करे। उसी प्रकार आस्रवका अभाव होनेपर संवर होता है और बंधका एकदेश अभाव होनेपर निर्जरा होती है, सो आस्रव-बन्धको पहिचाने तो उनका नाश करके संवर-निर्जरारूप प्रवर्तन करे; इसलिये आस्रव-बन्धका श्रद्धान करना। इस प्रकार इन पाँच पर्यायोंका श्रद्धान होनेपर ही मोक्षमार्ग होता है, इनको न पहिचाने तो मोक्षको पहिचान बिना उसका उपाय किसलिये करे? संवर-निर्जराको पहिचान बिना उनमें कैसे प्रवर्त्तन करे? आस्रव-बन्धको पहिचान बिना उनका नाश कैसे करे?—इस प्रकार इन पाँच पर्यायोंका श्रद्धान न होने पर मोक्षमार्ग नहीं होता। इस प्रकार यद्यपि तत्त्वार्थ अनन्त हैं, उनका सामान्य-विशेषसे अनेकप्रकार प्ररूपण हो, परन्तु यहाँ एक मोक्षका प्रयोजन है, इसलिये दो तो जातिअपेक्षा सामान्यतत्त्व और पाँच पर्यायरूप विशेषतत्त्व मिलाकर सात ही तत्त्व कहे। इनके यथार्थ श्रद्धानके आधीन मोक्षमार्ग है। इनके सिवा औरोंका श्रद्धान हो या न हो या अन्यथा श्रद्धान हो, किसीके आधीन मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा जानना। तथा कहीं पुण्य-पाप सहित नवपदार्थ कहे हैं, सो पुण्य-पाप आस्रवादिकके ही विशेष हैं, इसलिये सात तत्त्वोंमें गर्भित हुए। अथवा पुण्य-पापका श्रद्धान होने पर पुण्यको मोक्षमार्ग न माने या स्वच्छन्दी होकर पापरूप न प्रवर्ते, इसलिये मोक्षमार्गमें इनका श्रद्धान भी उपकारी जानकर दो तत्त्व विशेषके विशेष मिलाकर नव पदार्थ कहे, तथा समयसारादिमें इनको नवतत्त्व भी कहा है।

फिर प्रश्नः—इनका श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा, सो दर्शन तो सामान्य अवलोकनमात्र और श्रद्धान प्रतीतिमात्र, इनके एकार्थपना किस प्रकार सम्भव है?

उत्तरः—प्रकरणके वशसे धातुका अर्थ अन्यथा होता है। सो यहाँ प्रकरण मोक्षमार्गका है, उसमें 'दर्शन' शब्दका अर्थ सामान्य अवलोकनमात्र नहीं ग्रहण करना; क्योंकि चक्षु-अचक्षु दर्शनसे सामान्य अवलोकन तो सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टिके समान होता है, कुछ इससे मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति नहीं होती। तथा श्रद्धान होता है सो सम्यग्दृष्टिहीके होता है, इससे मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति होती है; इसलिये 'दर्शन' शब्दका अर्थ भी यहाँ श्रद्धानमात्र ही ग्रहण करना।

फिर प्रश्नः—यहाँ विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान करना कहा, सो प्रयोजन क्या ?

समाधानः—अभिनिवेश नाम अभिप्रायका है। सो जैसा तत्त्वार्थश्रद्धानका अभिप्राय है वैसा न हो, अन्यथा अभिप्राय हो, उसका नाम विपरीताभिनिवेश है। तत्त्वार्थ-श्रद्धान करनेका अभिप्राय केवल उनका निश्चय करना मात्र ही नहीं है; वहाँ अभिप्राय ऐसा है कि–जीव-अजीवको पहिचानकर अपनेको तथा परको जैसाका तैसा माने, तथा आस्रवको पहिचान कर उसे हेय माने, तथा बंधको पहिचानकर उसे अहित माने, तथा संवरको पहिचानकर उसे उपादेय माने, तथा निर्जराको पहिचानकर उसे हितका कारण माने, तथा मोक्षको पहिचानकर उसको अपना परमहित माने।—ऐसा तत्त्वार्थश्रद्धानका अभिप्राय है; उससे उलटे अभिप्रायका नाम विपरीताभिनिवेश है। सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान होनेपर इसका अभाव होता है; इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान है सो विपरीताभिनिवेशरहित है—ऐसा यहाँ कहा है।

अथवा किसीके आभासमात्र तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, परन्तु अभिप्रायमें विपरीतपना नहीं छूटता। किसी प्रकारसे पूर्वोक्त अभिप्रायसे अन्यथा अभिप्राय अंतरंगमें पाया जाता है तो उसको सम्यग्दर्शन नहीं होता। जैसे—द्रव्यलिंगी मुनि जिनवचनोंसे तत्त्वोंकी प्रतीति करे, परन्तु शरीराश्रित क्रियाओंमें अहंकार तथा पुण्यास्रवमें उपादेयपना इत्यादि विपरीत अभिप्रायसे मिथ्यादृष्टि हो रहता है; इसलिये जो तत्त्वार्थश्रद्धान विपरीताभिनिवेश रहित है वही सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार विपरीताभिनिवेशरहित जीवादि तत्त्वार्थोंका श्रद्धानपना सो सम्यग्दर्शनका लक्षण है, सम्यग्दर्शन लक्ष्य है। वही तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है—"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" ॥१–२॥ तत्त्वार्थोंका श्रद्धान वही सम्यग्दर्शन है। तथा सर्वार्थसिद्धि नामक सूत्रोंकी टीका है, उसमें तत्त्वादिक पदोंका अर्थ प्रगट लिखा है तथा सात ही तत्त्व कैसे कहे सो प्रयोजन लिखा है, उसके अनुसार यहाँ कुछ कथन किया है ऐसा जानना।

तथा पुरुषार्थसिद्धयुपायमें भी इसी प्रकार कहा है—

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥ २२ ॥

अर्थः—विपरीताभिनिवेशसे रहित जीव-अजीवादि तत्त्वार्थोंका श्रद्धान सदाकाल करना योग्य है। यह श्रद्धान आत्माका स्वरूप है, दर्शनमोह उपाधि दूर होनेपर

प्रगट होता है, इसलिये आत्माका स्वभाव है। चतुर्थादि गुणस्थानमें प्रगट होता है, पश्चात् सिद्ध अवस्थामें भी सदाकाल इसका सद्भाव रहता है—ऐसा जानना।

तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भवदोषका परिहार

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि—तिर्यंचादि तुच्छज्ञानी कितने ही जीव सात-तत्त्वोंका नाम भी नहीं जान सकते, उनके भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति शास्त्रमें कही है; इसलिये तुमने तत्त्वार्थश्रद्धानपना सम्यक्त्वका लक्षण कहा उसमें अव्याप्तिदूषण लगता है।

समाधान:—जीव-अजीवादिकके नामादिक जानो या न जानो या अन्यथा जानो, उनका स्वरूप यथार्थ पहिचानकर श्रद्धान करने पर सम्यक्त्व होता है। वहाँ कोई सामान्यरूपसे स्वरूपको पहिचानकर श्रद्धान करता है, कोई विशेषरूपसे स्वरूपको पहिचानकर श्रद्धान करता है। इसलिये जो तुच्छज्ञानी तिर्यंचादिक सम्यग्दृष्टि हैं वे जीवादिकका नाम भी नहीं जानते, तथापि उनका सामान्यरूपसे स्वरूप पहिचानकर श्रद्धान करते हैं, इसलिये उनके सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। जैसे—कोई तिर्यंच अपना तथा औरोंका नामादिक तो नहीं जानता परन्तु आपहीमें अपनत्व मानता है, औरोंको पर मानता है; उसी प्रकार तुच्छज्ञानी जीव-अजीवका नाम नहीं जानता, परन्तु जो ज्ञानादिस्वरूप आत्मा है उसमें तो अपनत्व मानता है और जो शरीरादि हैं उनको पर मानता है—ऐसा श्रद्धान उसके होता है वही जीव-अजीवका श्रद्धान है। तथा जैसे वही तिर्यंच सुखादिकके नामादिक नहीं जानता है, तथापि सुख अवस्थाको पहिचानकर उसके अर्थ आगामी दुःखके कारणको पहिचानकर उसका त्याग करना चाहता है; तथा जो दुःखका कारण बन रहा है, उसके अभावका उपाय करता है। उसी प्रकार तुच्छज्ञानी मोक्षादिकका नाम नहीं जानता, तथापि सर्वथा सुखरूप मोक्ष-अवस्थाका श्रद्धान करता हुआ उसके अर्थ आगामी बन्धका कारण जो रागादिक आस्रव उसके त्यागरूप संवर करना चाहता है, तथा जो संसार दुःखका कारण है, उसकी शुद्धभावसे निर्जरा करना चाहता है। इसप्रकार आस्रवादिकका उसके श्रद्धान है। इस-प्रकार उसके भी सप्ततत्त्वका श्रद्धान पाया जाता है। यदि ऐसा श्रद्धान न हो, तो रागादि त्यागकर शुद्धभाव करनेकी चाह न हो। वही कहते हैं:—

यदि जीव अजीवकी जाति न जानकर आप-परको न पहिचाने तो परमें रागादिक कैसे न करे? रागादिकको न पहिचाने तो उनका त्याग कैसे करना चाहे? वे रागादिक ही

आस्रव हैं। रागादिकका फल बुरा न जाने तो किसलिये रागादिक छोड़ना चाहे ? उन रागादिकका फल वही बंध है। तथा रागादिरहित परिणामको पहिचानता है तो उसरूप होना चाहता है। उस रागादिरहित परिणामहीका नाम संवर है। तथा पूर्व संसार अवस्थाके कारणकी हानिको पहिचानता है तो उसके अर्थ तपश्चरणादिसे शुद्धभाव करना चाहता है। उस पूर्व संसार अवस्थाका कारण कर्म है उसकी हानि वही निर्जरा है। तथा संसार अवस्थाके अभावको न पहिचाने तो संवर-निर्जरारूप किसलिये प्रवर्ते ? उस संसार अवस्थाका अभाव वही मोक्ष है। इसलिये सातों तत्त्वोंका श्रद्धान होनेपर ही रागादिक छोड़कर शुद्धभाव होनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। यदि इनमें एक भी तत्त्वका श्रद्धान न हो तो ऐसी चाह उत्पन्न नहीं होती। तथा ऐसी चाह तुच्छज्ञानी तिर्यंचादि सम्यग्दृष्टिके होती ही है; इसलिये उसके सात तत्त्वोंका श्रद्धान पाया जाता है ऐसा निश्चय करना। ज्ञानावरणका क्षयोपशम थोड़ा होनेसे विशेषरूपसे तत्त्वोंका ज्ञान न हो, तथापि दर्शनमोहके उपशमादिकसे सामान्यरूपसे तत्त्वश्रद्धानकी शक्ति प्रगट होती है। इस प्रकार इस लक्षणमें अव्याप्ति दूषण नहीं है।

फिर प्रश्न:—जिस कालमें सम्यग्दृष्टि विषयकषायोंके कार्यमें प्रवर्तता है उस कालमें सात तत्त्वोंका विचार ही नहीं है, वहाँ श्रद्धान कैसे सम्भवित है ? और सम्यक्त्व रहता ही है, इसलिये उस लक्षणमें अव्याप्ति दूषण आता है ?

समाधान:—विचार है वह तो उपयोगके आधीन है। जहाँ उपयोग लगे उसीका विचार होता है। तथा श्रद्धान है सो प्रतीतिरूप है; इसलिये अन्यज्ञेयका विचार होनेपर व सोना आदि क्रिया होनेपर तत्त्वोंका विचार नहीं है, तथापि उनकी प्रतीति बनी रहती है, नष्ट नहीं होती; इसलिये उसके सम्यक्त्वका सद्भाव है। जैसे—किसी रोगी मनुष्यको ऐसी प्रतीति है कि—मैं मनुष्य हूँ, तिर्यंचादि नहीं हूँ; मुझे इस कारणसे रोग हुआ है, सो अब कारण मिटाकर रोगको घटाकर निरोग होना। तथा वही मनुष्य अन्य विचारादिरूप प्रवर्तता है, तब उसको ऐसा विचार नहीं होता, परन्तु श्रद्धान ऐसा ही रहा करता है। उसी प्रकार इस आत्माको ऐसी प्रतीति है कि—मैं आत्मा हूँ, पुद्गलादि नहीं हूँ, मेरे आस्रवसे बन्ध हुआ है, सो अब संवर करके, निर्जरा करके मोक्षरूप होना। तथा वही आत्मा अन्य विचारादिरूप प्रवर्तता है, तब उसके ऐसा विचार नहीं होता, परन्तु श्रद्धान ऐसा ही रहा करता है।

फिर प्रश्न है कि—ऐसा श्रद्धान रहता है तो बंध होनेके कारणोंमें कैसे प्रवर्तता है ?

उत्तर:—जैसे वही मनुष्य किसी कारणके वश रोग बढ़नेके कारणोंमें भी प्रवर्त्तता है, व्यापारादिक कार्य व क्रोधादिक कार्य करता है, तथापि उस श्रद्धानका उसके नाश नहीं होता; उसी प्रकार वही आत्मा कर्म उदय निमित्तके वश बन्ध होनेके कारणोंमें भी प्रवर्तता है, विषय सेवनादि कार्य व क्रोधादि कार्य करता है, तथापि उस श्रद्धानका उसके नाश नहीं होता। इसका विशेष निर्णय आगे करेंगे। इस प्रकार सप्त तत्त्वका विचार न होने पर भी श्रद्धानका सद्भाव पाया जाता है, इसलिये वहाँ अव्याप्तिपना नहीं है।

फिर प्रश्न:—उच्च दशामें जहाँ निर्विकल्प आत्मानुभव होता है वहाँ तो सप्त तत्त्वादिकके विकल्पका भी निषेध किया है। सो सम्यक्त्वके लक्षणका निषेध करना कैसे सम्भव है? और वहाँ निषेध सम्भव है तो अव्याप्ति दूषण आया।

उत्तर:—निचली दशामें सप्त तत्त्वोंके विकल्पोंमें उपयोग लगाया, उससे प्रतीतिको दृढ़ किया और विषयादिकसे उपयोग छुड़ाकर रागादि घटाये। तथा कार्य सिद्ध होनेपर कारणोंका भी निषेध करते हैं; इसलिये जहाँ प्रतीति भी दृढ़ हुई और रागादिक दूर हुए, वहाँ उपयोग भ्रमानेका खेद किसलिये करें? इसलिये वहाँ उन विकल्पोंका निषेध किया है। तथा सम्यक्त्वका लक्षण तो प्रतीति ही है; सो प्रतीतिका तो निषेध नहीं किया। यदि प्रतीति छुड़ायी हो तो इस लक्षणका निषेध किया कहा जाये, सो तो है नहीं। सातोंतत्त्वोंकी प्रतीति वहाँ भी बनी रहती है; इसलिये यहाँ अव्याप्तिपना नहीं है।

फिर प्रश्न है कि—छद्मस्थके तो प्रतीति-अप्रतीति कहना सम्भव है, इसलिये वहाँ सप्त तत्त्वोंकी प्रतीति सम्यक्त्वका लक्षण कहा सो हमने माना, परन्तु केवली-सिद्ध भगवानके तो सर्वका जानपना समानरूप है, वहाँ सप्त तत्त्वोंकी प्रतीति कहना सम्भव नहीं है और उनके सम्यक्त्वगुण पाया ही जाता है, इसलिये वहाँ उस लक्षणका अव्याप्तिपना आया?

समाधान:—जैसे छद्मस्थके श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति पायी जाती है, उसी प्रकार केवली-सिद्धभगवानके केवलज्ञानके अनुसार प्रतीति पायी जाती है। जो सप्त-तत्त्वोंका स्वरूप पहले ठीक किया था, वही केवलज्ञान द्वारा जाना; वहाँ प्रतीतिको परमावगाढ़पना हुआ; इसीसे परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा। जो पहले श्रद्धान किया था, उसको झूठ जाना होता तो वहाँ अप्रतीति होती; सो तो जैसा सप्त तत्त्वोंका श्रद्धान

प्रयोजनके अर्थ ऐसा उपाय करता है ? संवर-निर्जराके श्रद्धान बिना रागादिकरहित होकर स्वरूपमें उपयोग लगानेका किसलिये उद्यम रखता है ? आस्रव-बंधके श्रद्धान बिना पूर्व अवस्थाको किसलिये छोड़ता है ? इसलिये आस्रवादिकके श्रद्धानरहित आप-परका श्रद्धान करना संभवित नहीं है। तथा यदि आस्रवादिकके श्रद्धानसहित होता है, तो स्वयमेव ही सातों तत्त्वोंके श्रद्धानका नियम हुआ। तथा केवल आत्माका निश्चय है, सो परका पररूप श्रद्धान हुए बिना आत्माका श्रद्धान नहीं होता, इसलिये अजीवका श्रद्धान होनेपर ही जीवका श्रद्धान होता है। तथा उसके पूर्ववत् आस्रवादिकका भी श्रद्धान होता ही होता है, इसलिये यहाँ भी सातों तत्त्वोंके ही श्रद्धानका नियम जानना। तथा आस्रवादिकके श्रद्धान बिना आप-परका श्रद्धान व केवल आत्माका श्रद्धान सच्चा नहीं होता; क्योंकि आत्मा द्रव्य है, सो तो शुद्ध-अशुद्ध पर्यायसहित है। जैसे—तन्तु अवलोकन बिना पटका अवलोकन नहीं होता, उसी प्रकार शुद्ध-अशुद्ध पर्याय पहिचाने बिना आत्मद्रव्यका श्रद्धान नहीं होता; उस शुद्ध-अशुद्ध अवस्थाकी पहिचान आस्रवादिककी पहिचानसे होती है। तथा आस्रवादिकके श्रद्धान बिना आप-परका श्रद्धान व केवल आत्माका श्रद्धान कार्यकारी भी नहीं है; क्योंकि श्रद्धान करो या न करो, आप है सो आप है ही, पर है सो पर है। तथा आस्रवादिकका श्रद्धान हो तो आस्रव-बंधका अभाव करके संवर-निर्जरारूप उपायसे मोक्षपदको प्राप्त करे। तथा जो आप-परका भी श्रद्धान कराते हैं, सो उसी प्रयोजनके अर्थ कराते हैं; इसलिये आस्रवादिकके श्रद्धानसहित आप-परका जानना व आपका जानना कार्यकारी है।

यहाँ प्रश्न है कि—ऐसा है तो शास्त्रोंमें आप-परके श्रद्धानको व केवल आत्माके श्रद्धानहीको सम्यक्त्व कहा व कार्यकारी कहा; तथा नवतत्त्वकी संतति छोड़कर हमारे एक आत्माही होओ—ऐसा कहा, सो किस प्रकार कहा ?

समाधान:—जिसके सच्चा आप-परका श्रद्धान व आत्माका श्रद्धान हो, उसके सातों तत्त्वोंका श्रद्धान होता ही होता है। तथा जिसके सच्चा सात तत्त्वोंका श्रद्धान हो उसके आप-परका व आत्माका श्रद्धान होता ही होता है—ऐसा परस्पर अविनाभावीपना जानकर आप-परके श्रद्धानको या आत्मश्रद्धानहीको सम्यक्त्व कहा है। तथा इस छलसे कोई सामान्यरूपसे आप-परको जानकर व आत्माको जानकर कृतकृत्यपना माने, तो उसके भ्रम है; क्योंकि ऐसा कहा है—"निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्"। इसका अर्थ यह है कि—विशेष रहित सामान्य है सो गधेके सींग समान है; इसलिये

प्रयोजनभूत आस्रवादिक विशेषों सहित आप-परका व आत्माका श्रद्धान करना योग्य है; अथवा सातों तत्त्वार्थोंके श्रद्धानसे रागादिक मिटानेके अर्थ परद्रव्योंको भिन्न भाता है व अपने आत्माहीको भाता है, उसके प्रयोजनकी सिद्धि होती है; इसलिये मुख्यतासे भेदविज्ञानको व आत्मज्ञानको कार्यकारी कहा है। तथा तत्त्वार्थ-श्रद्धान किये बिना सर्व जानना कार्यकारी नहीं है; क्योंकि प्रयोजन तो रागादिक मिटानेका है, सो आस्रवादिकके श्रद्धान बिना यह प्रयोजन भासित नहीं होता, तब केवल जाननेहीसे मानको बढ़ाता है, रागादिक नहीं छोड़ता, तब उसका कार्य कैसे सिद्ध होगा? तथा नवतत्त्व संततिका छोड़ना कहा है; सो पूर्वमें नवतत्त्वके विचारसे सम्यग्दर्शन हुआ, पश्चात् निर्विकल्प दशा होनेके अर्थ नवतत्त्वोंके भी विकल्प छोड़नेकी चाह की। तथा जिसके पहले ही नवतत्त्वोंका विचार नहीं है, उसको वह विकल्प छोड़नेका क्या प्रयोजन है? अन्य अनेक विकल्प आपके पाये जाते हैं उन्हींका त्याग करो। इस प्रकार आप-परके श्रद्धानमें व आत्मश्रद्धानमें साततत्त्वोंके श्रद्धानकी सापेक्षता पायी जाती है, इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्त्वका लक्षण है।

फिर प्रश्न है कि—कहीं शास्त्रोंमें अरिहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, हिंसारहित धर्मके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है, सो किस प्रकार है?

समाधानः—अरहन्त देवादिकके श्रद्धानसे कुदेवादिकका श्रद्धान दूर होनेके कारण गृहीतमिथ्यात्वका अभाव होता है; उस अपेक्षा इसको सम्यक्त्व कहा है। सर्वथा सम्यक्त्वका लक्षण यह नहीं है; क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहारधर्मके धारक मिथ्यादृष्टियोंके भी ऐसा श्रद्धान होता है। अथवा जैसे अणुव्रत, महाव्रत होनेपर तो देशचारित्र, सकलचारित्र हो या न हो, परन्तु अणुव्रत, महाव्रत हुए बिना देशचारित्र, सकलचारित्र कदाचित् नहीं होता; इसलिये इन व्रतोंको अन्वयरूप कारण जानकर कारणमें कार्यका उपचार करके इनको चारित्र कहा है। उसी प्रकार अरहन्त देवादिकका श्रद्धान होनेपर तो सम्यक्त्व हो या न हो, परन्तु अरहन्तादिकका श्रद्धान हुए बिना तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व कदाचित् नहीं होता; इसलिये अरहन्तादिकके श्रद्धानको अन्वयरूप कारण जानकर कारणमें कार्यका उपचार करके इस श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है। इसीसे इसका नाम व्यवहार सम्यक्त्व है। अथवा जिसके तत्त्वार्थश्रद्धान हो, उसके सच्चे अरहन्तादिकके स्वरूपका श्रद्धान होता ही होता है। तत्त्वार्थश्रद्धान बिना पक्षसे अरहन्तादिकका श्रद्धान करे, परन्तु यथावत् स्वरूपकी पहिचान सहित श्रद्धान नहीं होता। तथा जिसके सच्चे अरहन्तादिकके स्वरूपका श्रद्धान हो, उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही होता है; क्योंकि अरहन्तादिकका स्वरूप पहिचाननेसे जीव-अजीव-आस्रवादिककी

पहिचान होती है। इस प्रकार इनको परस्पर अविनाभावी जानकर कहीं अरहन्तादिकके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है।

यहाँ प्रश्न है कि—नारकादि जीवोंके देव-कुदेवादिकका व्यवहार नहीं है और उनके सम्यक्त्व पाया जाता है; इसलिये सम्यक्त्व होनेपर अरहन्तादिकका श्रद्धान होता ही होता है ऐसा नियम सम्भव नहीं है?

समाधानः—सप्ततत्त्वोंके श्रद्धानमें अरहन्तादिकका श्रद्धान गर्भित है; क्योंकि तत्त्वश्रद्धानमें मोक्षतत्त्वको सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, वह मोक्षतत्त्व तो अरहन्त-सिद्धका लक्षण है। जो लक्षणको उत्कृष्ट माने वह उसके लक्ष्यको उत्कृष्ट माने ही माने; इसलिये उनको भी सर्वोत्कृष्ट माना, औरको नहीं माना, वही देवका श्रद्धान हुआ। तथा मोक्षके कारण संवर-निर्जरा हैं, इसलिये इनको भी उत्कृष्ट मानता है; और संवर-निर्जराके धारक मुख्यतः मुनि हैं; इसलिये मुनिको उत्तम माना, औरको नहीं माना, वही गुरुका श्रद्धान हुआ। तथा रागादिक रहित भावका नाम अहिंसा है, उसीको उपादेय मानते हैं, औरको नहीं मानते, वही धर्मका श्रद्धान हुआ। इस प्रकार तत्त्वश्रद्धानमें गर्भित अरहन्तदेवादिकका श्रद्धान होता है। अथवा जिस निमित्तसे इसके तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, उस निमित्तसे अरहन्तादेवादिकका भी श्रद्धान होता है। इसलिये सम्यक्त्वमें देवादिकके श्रद्धानका नियम है।

फिर प्रश्न है कि—कितने ही जीव अरहन्तादिकका श्रद्धान करते हैं, उनके गुण पहिचानते हैं और उनके तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यक्त्व नहीं होता; इसलिये जिसके सच्चा अरहन्तादिकका श्रद्धान हो, उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही होता है—ऐसा नियम सम्भव नहीं है?

समाधानः—तत्त्वश्रद्धान बिना अरहन्तादिकके छियालीस आदि गुण जानता है वह पर्यायाश्रित गुण जानता है; परन्तु भिन्न-भिन्न जीव–पुद्गलमें जिसप्रकार सम्भव हैं उस प्रकार यथार्थ नहीं पहिचानता, इसलिये सच्चा श्रद्धान भी नहीं होता; क्योंकि जीव-अजीव जाति पहिचाने बिना अरहन्तादिकके आत्माश्रित गुणोंको व शरीराश्रित गुणोंको भिन्न-भिन्न नहीं जानता। यदि जाने तो अपने आत्माको परद्रव्यसे भिन्न कैसे न माने? इसलिये प्रवचनसारमें ऐसा कहा है:—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥ ८० ॥

इसका अर्थ यह है कि—जो अरहन्तको द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्वसे जानता है वह आत्माको जानता है; उसका मोह विलयको प्राप्त होता है; इसलिये जिसके जीवादिक तत्त्वोंका श्रद्धान नहीं है, उसके अरहन्तादिकका भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। तथा मोक्षादिक तत्त्वके श्रद्धान विना अरहन्तादिकका माहात्म्य यथार्थ नहीं जानता। लौकिक अतिशयादिसे अरहन्तका, तपश्चरणादिसे गुरुका और पर जीवोंकी अहिंसादिसे धर्मकी महिमा जानता है, सो यह पराश्रितभाव हैं। तथा आत्माश्रित भावोंसे अरहन्तादिकका स्वरूप तत्त्वश्रद्धान होनेपर ही जाना जाता है; इसलिये जिसके सच्चा अरहंतादिकका श्रद्धान हो उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही होता है—ऐसा नियम जानना। इस प्रकार सम्यक्त्वका लक्षणनिर्देश किया।

यहाँ प्रश्न है कि—सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान व आप-परका श्रद्धान व आत्मश्रद्धान व देवगुरुधर्मका श्रद्धान सम्यक्त्वका लक्षण कहा। तथा इन सर्व लक्षणोंकी परस्पर एकता भी दिखायी सो जानी; परन्तु अन्य-अन्य प्रकार लक्षण कहनेका प्रयोजन क्या ?

उत्तरः—यह चार लक्षण कहे, उनमें सच्ची दृष्टिसे एक लक्षण ग्रहण करनेपर चारों लक्षणोंका ग्रहण होता है। तथापि मुख्य प्रयोजन भिन्न-भिन्न विचारकर अन्य-अन्य प्रकार लक्षण कहे हैं। जहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ तो यह प्रयोजन है कि—इन तत्त्वोंको पहिचाने तो यथार्थ वस्तुके स्वरूपका व अपने हित-अहितका श्रद्धान करे तब मोक्षमार्गमें प्रवर्ते। तथा जहाँ आप-परका भिन्न श्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ तत्त्वार्थश्रद्धानका प्रयोजन जिससे सिद्ध हो उस श्रद्धानको मुख्य लक्षण कहा है। जीव-अजीवके श्रद्धानका प्रयोजन आप-परका भिन्न श्रद्धान करना है। तथा आस्रवादिकके श्रद्धानका प्रयोजन रागादिक छोड़ना है, सो आप-परका भिन्न श्रद्धान होनेपर परद्रव्यमें रागादि न करनेका श्रद्धान होता है। इस प्रकार तत्त्वार्थश्रद्धानका प्रयोजन आप-परके भिन्न श्रद्धानसे सिद्ध होता जानकर इस लक्षणको कहा है। तथा जहाँ आत्मश्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ आप-परके भिन्न श्रद्धानका प्रयोजन इतना ही है कि—आपको आप जानना। आपको आप जानने पर परका भी विकल्प कार्यकारी नहीं है। ऐसे मूलभूत प्रयोजनकी प्रधानता जानकर आत्मश्रद्धानको मुख्य लक्षण कहा है। तथा जहाँ देवगुरुधर्मका श्रद्धान लक्षण कहा है, वहाँ बाह्य साधनकी प्रधानता की है; क्योंकि अरहन्तदेवादिकका श्रद्धान सच्चे तत्त्वार्थश्रद्धानका कारण है और कुदेवादिकका श्रद्धान कल्पित तत्त्वश्रद्धानका कारण है। सो बाह्य कारणकी प्रधानतासे कुदेवा-

दिकका श्रद्धान छुड़ाकर सुदेवादिकका श्रद्धान करानेके अर्थ देवगुरुधर्मके श्रद्धानको मुख्य लक्षण कहा है। इसप्रकार भिन्न-भिन्न प्रयोजनोंकी मुख्यतासे भिन्न-भिन्न लक्षण कहे हैं।

यहाँ प्रश्न है कि—यह चार लक्षण कहे, उनमें यह जीव किस लक्षणको अंगीकार करे ?

समाधानः—मिथ्यात्वकर्मके उपशमादि होनेपर विपरीताभिनिवेशका अभाव होता है। वहाँ चारों लक्षण युगपत् पाये जाते हैं। तथा विचार अपेक्षा मुख्यरूपसे तत्त्वार्थोंका विचार करता है या आप-परका भेदविज्ञान करता है, या आत्मस्वरूपहीका स्मरण करता है, या देवादिकका स्वरूप विचारता है। इस प्रकार ज्ञानमें तो नाना-प्रकार विचार होते हैं, परन्तु श्रद्धानमें सर्वत्र परस्पर सापेक्षपना पाया जाता है। तत्त्वविचार करता है तो भेदविज्ञानादिके अभिप्रायसहित करता है। और भेदविज्ञान करता है तो तत्त्व विचारादिके अभिप्राय सहित करता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी परस्पर सापेक्षपना है; इसलिये सम्यग्दृष्टिके श्रद्धानमें चारों ही लक्षणोंका अंगीकार है। तथा जिसके मिथ्यात्वका उदय है उसके विपरीताभिनिवेश पाया जाता है; उसके यह लक्षण आभासमात्र होते हैं, सच्चे नहीं होते। जिनमतके जीवादिक तत्त्वोंको मानता है, अन्यको नहीं मानता, उनके नाम-भेदादिकको सीखता है,—ऐसा तत्त्वश्रद्धान होता है, परन्तु उनके यथार्थभावका श्रद्धान नहीं होता। तथा आप-परके भिन्नपनेकी बातें करे, चितवन करे, परन्तु जैसे पर्यायमें अहंबुद्धि है और वस्त्रादिकमें परबुद्धि है, वैसे आत्मामें अहंबुद्धि और शरीरादिमें परबुद्धि नहीं होती। तथा आत्माका जिनवचनानु-सार चितवन करे, परन्तु प्रतीतिरूप आपका आपरूप श्रद्धान नहीं करता है। तथा अरहन्तदेवादिकके सिवा अन्य कुदेवादिकको नहीं मानता, परन्तु उनके स्वरूपको यथार्थ पहिचानकर श्रद्धान नहीं करता;—इस प्रकार यह लक्षणाभास मिथ्यादृष्टिके होते हैं। इनमें कोई होता है कोई नहीं होता, वहाँ इनके भिन्नपना भी सम्भवित है। तथा इन लक्षणाभासोंमें इतना विशेष है कि—पहले तो देवादिकका श्रद्धान हो, फिर तत्त्वोंका विचार हो, फिर आप-परका चितवन करे, फिर केवल आत्माका चितवन करे।—इस अनुक्रमसे साधन करे तो परम्परा सच्चे मोक्षमार्गको पाकर कोई जीव सिद्धपदको भी प्राप्त कर ले। तथा इस अनुक्रमका उल्लंघन करके जिसके देवादिककी मान्यताका तो कुछ ठिकाना नहीं है और बुद्धिकी तीव्रतासे तत्त्वविचारादिमें प्रवर्त्तता है इसलिये अपनेको ज्ञानी जानता है; अथवा तत्त्वविचारमें भी उपयोग नहीं लगाता, आप-परका भेद-

विज्ञानी हुआ रहता है; अथवा आप-परका भी ठीक नहीं करता और अपनेको आत्मज्ञानी मानता है। सो यह सब चतुराईकी बातें हैं, मानादिक कषायके साधन हैं; कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं। इसलिये जो जीव अपना भला करना चाहे, उसे जबतक सच्चे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न हो, तबतक इनको भी अनुक्रमहीसे अंगीकार करना। वही कहते हैं:—

पहले तो आज्ञादिसे व किसी परीक्षासे कुदेवादिककी मान्यता छोड़कर अरहन्तदेवादिकका श्रद्धान करना; क्योंकि यह श्रद्धान होनेपर गृहीतमिथ्यात्वका तो अभाव होता है, तथा मोक्षमार्गके विघ्न करनेवाले कुदेवादिकका निमित्त दूर होता है। मोक्षमार्गका सहायक अरहन्तदेवादिकका निमित्त मिलता है। इसलिये पहले देवादिकका श्रद्धान करना; फिर जिनमतमें कहे जीवादिक तत्त्वोंका विचार करना; नाम-लक्षणादि सीखना; क्योंकि इस अभ्याससे तत्त्वार्थ श्रद्धानकी प्राप्ति होती है। फिर आप-परका भिन्नपना जैसे भासित हो वैसे विचार करता रहे; क्योंकि इस अभ्याससे भेदविज्ञान होता है; फिर आपमें अपनत्व माननेके अर्थ स्वरूपका विचार करता रहे; क्योंकि इस अभ्याससे आत्मानुभवकी प्राप्ति होती है। इसप्रकार अनुक्रमसे इनको अंगीकार करके फिर इन्हींमें कभी देवादिकके विचारमें, कभी तत्त्वविचारमें, कभी आप-परके विचारमें, कभी आत्मविचारमें उपयोग लगाये। ऐसे अभ्याससे दर्शनमोह मन्द होता जाये तब कदाचित् सच्चे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। परन्तु ऐसा नियम तो है नहीं; किसी जीवके कोई प्रबल विपरीत कारण बीचमें हो जाये, तो सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं भी होती, परन्तु मुख्यरूपसे बहुत जीवोंके तो इस अनुक्रमसे कार्यसिद्धि होती है; इसलिये इनको इस प्रकार अंगीकार करना। जैसे पुत्रका अर्थी विवाहादि कारणोंको मिलाये, पश्चात् बहुत पुरुषोंके तो पुत्रकी प्राप्ति होती ही है; किसीको न हो तो न हो। इसे तो उपाय करना। उसी प्रकार सम्यक्त्वका अर्थी इन कारणोंको मिलाये, पश्चात् बहुत जीवोंके तो सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती ही है; किसीको न हो तो नहीं भी हो। परन्तु इसे तो अपनेसे बने वह उपाय करना।—इस प्रकार सम्यक्त्वका लक्षणनिर्देश किया।

यहाँ प्रश्न है कि—सम्यक्त्वके लक्षण तो अनेक प्रकार कहे, उनमें तुमने तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणको मुख्य किया सो कारण क्या?

समाधान:—तुच्छबुद्धियोंको अन्य लक्षणमें प्रयोजन प्रगट भासित नहीं होता व भ्रम उत्पन्न होता है। और इस तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणमें प्रगट प्रयोजन भासित होता है, कुछ

भ्रम उत्पन्न नहीं होता, इसलिये इस लक्षणको मुख्य किया है। वही बतलाते हैं:—

देव-गुरु-धर्मके श्रद्धानमें तुच्छबुद्धियोंको यह भासित हो कि—अरहन्तदेवादिकको मानना, औरको नहीं मानना, इतना ही सम्यक्त्व है। वहाँ जीव-अजीवका व बंध-मोक्षके कारण-कार्यका स्वरूप भासित न हो, तब मोक्षमार्ग प्रयोजन की सिद्धि न हो, व जीवादिकका श्रद्धान हुए बिना इसी श्रद्धानमें सन्तुष्ट होकर अपनेको सम्यक्त्वी माने, एक कुदेवादिकसे द्वेष तो रखे, अन्य रागादि छोड़नेका उद्यम न करे,—ऐसा भ्रम उत्पन्न हो। तथा आप-परके श्रद्धानमें तुच्छबुद्धियोंको यह भासित हो कि आप-परका ही जानना कार्यकारी है; इसीसे सम्यक्त्व होता है। वहाँ आस्रवादिकका स्वरूप भासित न हो, तब मोक्षमार्ग प्रयोजनकी सिद्धि न हो व आस्रवादिकका श्रद्धान हुए बिना इतना ही जाननेमें सन्तुष्ट होकर अपनेको सम्यक्त्वी माने, स्वच्छन्द होकर रागादि छोड़नेका उद्यम न करे, ऐसा भ्रम उत्पन्न हो। तथा आत्मश्रद्धानमें तुच्छ बुद्धियोंको यह भासित हो कि आत्माहीका विचार कार्यकारी है, इसीसे सम्यक्त्व होता है। वहाँ जीव-अजीवादिका विशेष व आस्रवादिकका स्वरूप भासित न हो, तब मोक्षमार्ग प्रयोजनको सिद्धि न हो, व जीवादिकके विशेष व आस्रवादिकके स्वरूपका श्रद्धान हुए बिना इतने ही विचारसे अपनेको सम्यक्त्वी माने, स्वच्छन्द होकर रागादि छोड़नेका उद्यम न करे। इसके भी ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है। ऐसा जानकर इन लक्षणोंको मुख्य नहीं किया। तथा तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणमें जीव-अजीवादिकका व आस्रवादिकका श्रद्धान होता है, वहाँ सबका स्वरूप भलीभाँति भासित होता है तब मोक्षमार्गके प्रयोजनकी सिद्धि हो। तथा यह श्रद्धान होनेपर सम्यक्त्वी होता है, परन्तु यह सन्तुष्ट नहीं होता। आस्रवादिकका श्रद्धान होनेसे रागादि छोड़कर मोक्षका उद्यम रखता है। इसके भ्रम उत्पन्न नहीं होता। इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणको मुख्य किया है। अथवा तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणमें तो देवादिकका श्रद्धान व आप-परका श्रद्धान व आत्मश्रद्धान गर्भित होता है, वह तो तुच्छ बुद्धियोंको भी भासित होता है, तथा अन्य लक्षणमें तत्त्वार्थश्रद्धानका गर्भितपना विशेष बुद्धिमान हों उन्हींको भासित होता है, तुच्छ बुद्धियोंको नहीं भासित होता, इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणको मुख्य किया है। अथवा मिथ्यादृष्टिके आभासमात्र यह हों, वहाँ तत्त्वार्थोंका विचार तो शीघ्रतासे विपरीताभिनिवेश दूर करनेको कारण होता है, अन्य लक्षण शीघ्र कारण न हों, व विपरीताभिनिवेशके भी कारण हो जायें। इसलिये यहाँ सर्वप्रकार प्रसिद्ध जानकर विपरीताभिनिवेश रहित जीवादि तत्त्वार्थोंका श्रद्धान सो ही सम्यक्त्वका लक्षण है, ऐसा निर्देश किया। ऐसे लक्षण-

निर्देशका निरूपण किया। ऐसा लक्षण जिस आत्माके स्वभावमें पाया जाता है वही सम्यक्त्वी जानना।

[सम्यक्त्वके भेद और उनका स्वरूप]

अब, इस सम्यक्त्वके भेद बतलाते हैं। वहाँ प्रथम निश्चय-व्यवहारका भेद बतलाते हैं—विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धानरूप आत्माका परिणाम वह तो निश्चय सम्यक्त्व है, क्योंकि यह सत्यार्थ सम्यक्त्वका स्वरूप है। सत्यार्थहीका नाम निश्चय है। तथा विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धानको कारणभूत श्रद्धान सो व्यवहारसम्यक्त्व है। क्योंकि कारणमें कार्यका उपचार किया है, सो उपचारहीका नाम व्यवहार है। वहाँ सम्यग्दृष्टि जीवके देव-गुरु-धर्मादिकका सच्चा श्रद्धान है, उसी निमित्तसे इसके श्रद्धानमें विपरीताभिनिवेशका अभाव है। यहाँ विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान सो तो निश्चय-सम्यक्त्व है और देव-गुरु-धर्मादिकका श्रद्धान है सो व्यवहार सम्यक्त्व है। इस प्रकार एक ही कालमें दोनों सम्यक्त्व पाये जाते हैं। तथा मिथ्यादृष्टि जीवके देव-गुरु-धर्मादिकका श्रद्धान आभासमात्र होता है और इसके श्रद्धानमें विपरीताभिनिवेशका अभाव नहीं होता; इसलिये यहाँ निश्चयसम्यक्त्व तो है नहीं और व्यवहारसम्यक्त्व भी आभासमात्र है; क्योंकि इसके देव-गुरु-धर्मादिकका श्रद्धान है सो विपरीताभिनिवेशके अभावको साक्षात् कारण नहीं हुआ। कारण हुए बिना उपचार सम्भव नहीं है; इसलिये साक्षात् कारण अपेक्षा व्यवहारसम्यक्त्व भी इसके सम्भव नहीं है। अथवा इसके देव-गुरु-धर्मादिकका श्रद्धान नियमरूप होता है सो विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धानको परम्परा कारणभूत है। यद्यपि नियमरूप कारण नहीं है, तथापि मुख्यरूपसे कारण है। तथा कारणमें कार्यका उपचार सम्भव है; इसलिये मुख्यरूप परम्परा कारण अपेक्षा मिथ्यादृष्टिके भी व्यवहार सम्यक्त्व कहा जाता है।

यहाँ प्रश्न है कि—कितने ही शास्त्रोंमें देव-गुरु-धर्मके श्रद्धानको व तत्त्व-श्रद्धानको तो व्यवहारसम्यक्त्व कहा है और आप-परके श्रद्धानको व केवल आत्माके श्रद्धानको निश्चयसम्यक्त्व कहा है सो किस प्रकार है ?

समाधानः—देव-गुरु-धर्मके श्रद्धानमें तो प्रवृत्तिकी मुख्यता है। जो प्रवृत्तिमें अरहन्तादिकको देवादिक माने और को न माने, उसे देवादिकका श्रद्धानी कहा जाता है, और तत्त्वश्रद्धानमें उनके विचारकी मुख्यता है। जो ज्ञानमें जीवादिक तत्त्वों-का विचार करे उसे तत्त्वश्रद्धानी कहते हैं। इस प्रकार मुख्यता पायी जाती है। सो

यह दोनों किसी जीवको सम्यक्त्वके कारण तो होते हैं, परन्तु इनका सद्भाव मिथ्या-दृष्टिके भी सम्भव है; इसलिये इनको व्यवहारसम्यक्त्व कहा है। तथा आप-परके श्रद्धानमें व आत्मश्रद्धानमें विपरीताभिनिवेशरहितपनेकी मुख्यता है। जो आप-परका भेदविज्ञान करे व अपने आत्माका अनुभव करे उसके मुख्यरूपसे विपरीताभिनिवेश नहीं होता; इसलिये भेदविज्ञानीको व आत्मज्ञानीको सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इस प्रकार मुख्यतासे आप-परका श्रद्धान व आत्मश्रद्धान सम्यग्दृष्टिके ही पाया जाता है; इसलिये इनको निश्चय सम्यक्त्व कहा। ऐसा कथन मुख्यताकी अपेक्षा है। तारतम्यरूपसे यह चारों आभासमात्र मिथ्यादृष्टिके होते हैं, सच्चे सम्यग्दृष्टिके होते हैं। वहाँ आभास-मात्र हैं वे तो नियम विना परम्परा कारण हैं और सच्चे हैं सो नियमरूप साक्षात् कारण हैं; इसलिये इनको व्यवहाररूप कहते हैं। इनके निमित्तसे जो विपरीता-भिनिवेश रहित श्रद्धान हुआ सो निश्चयसम्यक्त्व है—ऐसा जानना।

फिर प्रश्नः—कितने ही शास्त्रोंमें लिखा है कि—आत्मा है वही निश्चय-सम्यक्त्व है और सर्व व्यवहार है, सो किस प्रकार है?

समाधानः—विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान हुआ सो आत्माहीका स्वरूप है, वहाँ अभेदबुद्धिसे आत्मा और सम्यक्त्वमें भिन्नता नहीं है; इसलिये निश्चयसे आत्माहीको सम्यक्त्व कहा। अन्य सर्व सम्यक्त्वको निमित्तमात्र हैं व भेद कल्पना करने पर आत्मा और सम्यक्त्वके भिन्नता कही जाती है इसलिये अन्य सर्व व्यवहार कहे हैं—ऐसा जानना। इस प्रकार निश्चयसम्यक्त्व और व्यवहारसम्यक्त्वसे सम्यक्त्वके दो भेद होते हैं।

तथा अन्य निमित्तादि अपेक्षा आज्ञासम्यक्त्वादि सम्यक्त्वके दस भेद किये हैं, वह आत्मानुशासनमें कहा है:—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यांभवमव परमावादिगाढं च ॥ ११ ॥

अर्थः—जिनआज्ञासे तत्त्वश्रद्धान हुआ हो सो आज्ञासम्यक्त्व है। यहाँ इतना जानना —"मुझको जिनआज्ञा प्रमाण है," इतना ही श्रद्धान सम्यक्त्व नहीं है। आज्ञा मानना तो कारणभूत है। इसीसे यहाँ आज्ञासे उत्पन्न कहा है। इसलिये पहले जिन-

आज्ञा माननेसे पश्चात् जो तत्त्वश्रद्धान हुआ सो आज्ञासम्यक्त्व है। इसी प्रकार निर्ग्रंथ-मार्गके अवलोकनसे तत्त्वश्रद्धान हो सो [1]मार्गसम्यक्त्व है......

इस प्रकार आठ भेद तो कारण अपेक्षा किये। तथा श्रुतकेवलीके जो तत्त्व-श्रद्धान है उसे अवगाढ़सम्यक्त्व कहते हैं। केवलज्ञानीके जो तत्त्वश्रद्धान है उसको परमावगाढ़सम्यक्त्व कहते हैं।—ऐसे दो भेद ज्ञानके सहकारीपनेकी अपेक्षा किये। इस प्रकार सम्यक्त्वके दस भेद किये। वहाँ सर्वत्र सम्यक्त्वका स्वरूप तत्त्वार्थश्रद्धान ही जानना।

तथा सम्यक्त्वके तीन भेद किये हैं:—१-औपशमिक, २-क्षायोपशमिक, ३-क्षायिक। सो यह तीन भेद दर्शनमोहकी अपेक्षा किये हैं। वहाँ औपशमिक सम्यक्त्वके दो भेद हैं—प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशमसम्यक्त्व। वहाँ मिथ्यादृष्टि गुण-स्थानमें करण द्वारा दर्शनमोहका उपशम करके जो सम्यक्त्व उत्पन्न हो, उसे प्रथमोप-शम सम्यक्त्व कहते हैं। वहाँ इतना विशेष है—अनादि मिथ्यादृष्टिके तो एक मिथ्या-त्वप्रकृतिकाही उपशम होता है, क्योंकि इसके मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीयकी सत्ता है नहीं। जब जीव उपशमसम्यक्त्वको प्राप्त हो, वहाँ उस सम्यक्त्वके कालमें मिथ्यात्वके परमाणुओंको मिश्रमोहनीयरूप व सम्यक्त्वमोहनीयरूप परिणमित करता है तब तीन प्रकृतियोंकी सत्ता होती है; इसलिये अनादि मिथ्यादृष्टिके एक मिथ्यात्व-

---

१-मार्ग सम्यक्त्वके बाद यहाँ पंडितजीकी स्वहस्त लिखित प्रतिमें छह सम्यक्त्वका वर्णन करनेके लिये ३ पंक्तियोंका स्थान छोड़ा गया है और फिर वे लिखे नहीं गये। यह वर्णन अन्य ग्रन्थोंके अनुसार दिया जाता है:—

[तथा उत्कृष्ट पुरुष तीर्थङ्करादिक उनके पुराणोंके उपदेशसे उत्पन्न जो सम्यग्ज्ञान उससे उत्पन्न आगम समुद्रमें प्रवीण पुरुषोंके उपदेशादिसे हुई जो उपदेशदृष्टि सो उपदेशसम्यक्त्व है। मुनिके आचरणके विधानको प्रतिपादन करनेवाला जो आचारसूत्र, उसे सुनकर जो श्रद्धान करना हो उसे भले प्रकार सूत्रदृष्टि कही है, यह सूत्रसम्यक्त्व है। तथा बीज जो गणितज्ञानको कारण उनके द्वारा दर्शनमोहके अनुपम उपशमके बलसे, दुष्कर है जाननेकी गति जिसकी ऐसा पदार्थोंका समूह, उसकी हुई है उपलब्धि अर्थात् श्रद्धानरूप परिणति जिसके, ऐसा जो करणानुयोगका ज्ञानी भव्य, उसके बीजदृष्टि होती है, यह बीजसम्यक्त्व जानना। तथा पदार्थोंको संक्षेपपनेसे जानकर जो श्रद्धान हुआ सो भली संक्षेपदृष्टि है, यह संक्षेपसम्यक्त्व जानना। द्वादशांगवाणीको सुनकर की गई जो रुचि-श्रद्धान उसे हे भव्य, तू विस्तारदृष्टि जान, यह विस्तारसम्यक्त्व है। तथा जैनशास्त्रके वचनके सिवा किसी अर्थके निमित्तसे हुई सो अर्थदृष्टि है, यह अर्थसम्यक्त्व जानना।]

प्रकृतिकी सत्ता है, उसीका उपशम होता है। तथा सादिमिथ्यादृष्टिके किसीके तीन प्रकृतियोंकी सत्ता है, किसीके एकहीकी सत्ता है। जिसके सम्यक्त्वकालमें तीनकी सत्ता हुई थी वह सत्ता पायी जाये, उसके तीनकी सत्ता है और जिसके मिश्र मोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीयकी उद्वेलना हो गई हो, उनके परमाणु मिथ्यात्वरूप परिणमित होगये हों, उसके एक मिथ्यात्वकी सत्ता है; इसलिये सादि मिथ्यादृष्टिके तीन प्रकृतियोंका व एक प्रकृतिका उपशम होता है।

उपशम क्या ? सो कहते हैं:—

अनिवृत्तिकरणमें किये अन्तरकरणविधानसे जो सम्यक्त्वके कालमें उदय आने योग्य निषेक थे, उनका तो अभाव किया, उनके परमाणु अन्यकालमें उदय आने योग्य निषेकरूप किये। तथा अनिवृत्तिकरणमें ही किये उपशमविधानसे जो उसकालके पश्चात् उदय आने योग्य निषेक थे वे उदीरणारूप होकर इसकालमें उदय न आसकें ऐसे किये। इस प्रकार जहाँ सत्ता तो पायी जाये और उदय न पाया जाये—उसका नाम उपशम है। यह मिथ्यात्वसे हुआ प्रथमोपशमसम्यक्त्व है, सो चतुर्थादि सप्तम गुणस्थानपर्यन्त पाया जाता है। तथा उपशमश्रेणीके सन्मुख होने पर सप्तमगुणस्थानमें क्षयोपशमसम्यक्त्वसे जो उपशम सम्यक्त्व हो, उसका नाम द्वितीयोपशमसम्यक्त्व है। यहाँ करण द्वारा तीन ही प्रकृतियोंका उपशम होता है, क्योंकि इसके तीनहीकी सत्ता पायी जाती है। यहाँ भी अन्तरकरण विधानसे व उपशम विधानसे उनके उदयका अभाव करता है वही उपशम है। सो यह द्वितीयोपशमसम्यक्त्व सप्तमादि ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत होता है। गिरते हुए किसीके छट्ठे, पाँचवें और चौथे भी रहता है—ऐसा जानना। इस प्रकार उपशमसम्यक्त्व दो प्रकारका है। सो यह सम्यक्त्व वर्तमानकालमें क्षायिकवत् निर्मल है; इसके प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता पायी जाती है, इसलिये अन्तर्मुहूर्त काल मात्र यह सम्यक्त्व रहता है। पश्चात् दर्शनमोहका उदय आता है—ऐसा जानना। इस प्रकार उपशमसम्यक्त्वका स्वरूप कहा।

तथा जहाँ दर्शनमोहकी तीन प्रकृतियोंमें सम्यक्त्वमोहनीयका उदय हो, अन्य दो का उदय न हो, वहाँ क्षयोपशमसम्यक्त्व होता है। उपशमसम्यक्त्वका काल पूर्ण होने पर यह सम्यक्त्व होता है व सादिमिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्वगुणस्थानसे व मिश्र-गुणस्थानसे भी इसकी प्राप्ति होती है।

क्षयोपशम क्या ? सो कहते हैं:—

दर्शनमोहकी तीन प्रकृतियोंमें जो मिथ्यात्वका अनुभाग है, उसके अनन्तवें

भाग मिश्रमोहनीयका है; उसके अनन्तवें भाग सम्यक्त्वमोहनीयका है। इनमें सम्यक्त्व-मोहनीय प्रकृति देशघाती है; इसका उदय होनेपर भी सम्यक्त्वका घात नहीं होता। किंचित् मलिनता करे, मूलघात न कर सके, उसीका नाम देशघाति है। सो जहाँ मिथ्यात्व व मिश्रमिथ्यात्वके वर्तमान कालमें उदय आने योग्य निषेकोंका उदय हुए विना ही निर्जरा होती है वह तो क्षय जानना, और इन्हींके आगामीकालमें उदय आने योग्य निषेकोंकी सत्ता पायी जाये वही उपशम है, और सम्यक्त्वमोहनीयका उदय पाया जाता है, ऐसी दशा जहाँ हो सो क्षयोपशम है; इसलिये समलतत्त्वार्थश्रद्धान हो वह क्षयोपशमसम्यक्त्व है। यहाँ जो मल लगता है, उसका तारतम्य स्वरूप तो केवली जानते हैं; उदाहरण बतलानेके अर्थ चलमलिन अगाढ़पना कहा है। वहाँ व्यवहारमात्र देवादिककी प्रतीति तो हो, परन्तु अरहन्तदेवादिमें—यह मेरा है, यह अन्यका है, इत्यादि भाव सो चलपना है। शंकादि मल लगे सो मलिनपना है। यह शान्तिनाथ शांतिकर्त्ता हैं इत्यादि भाव सो अगाढ़पना है। ऐसे उदाहरण व्यवहारमात्र बतलाये, परन्तु नियमरूप नहीं हैं। क्षयोपशमसम्यक्त्वमें जो नियमरूप कोई मल लगता है सो केवली जानते हैं। इतना जानना कि—इसके तत्त्वार्थश्रद्धानमें किसी प्रकारसे समल-पना होता है, इसलिये यह सम्यक्त्व निर्मल नहीं है। इस क्षयोपशम सम्यक्त्वका एक ही प्रकार है, इसमें कुछ भेद नहीं हैं। इतना विशेष है कि—क्षायिकसम्यक्त्वके सन्मुख होने पर अन्तर्मुहूर्त्तकालमात्र जहाँ मिथ्यात्वकी प्रकृतिका क्षय करता है, वहाँ दो ही प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है। पश्चात् मिश्रमोहनीयका भी क्षय करता है वहाँ सम्यक्त्व-मोहनीयकी ही सत्ता रहती है। पश्चात् सम्यक्त्वमोहनीयकी काण्डकघातादि क्रिया नहीं करता, वहाँ कृतकृत्य वेदकसम्यग्दृष्टि नाम पाता है—ऐसा जानना। तथा इस क्षयोपशमसम्यक्त्वहीका नाम वेदक सम्यक्त्व है। जहाँ मिथ्यात्व-मिश्रमोहनीयकी मुख्यतासे कहा जाये वहाँ क्षयोपशम नाम पाता है। सम्यक्त्वमोहनीयकी मुख्यतासे कहा जाये, वहाँ वेदक नाम पाता है। सो कथनमात्र दो नाम हैं, स्वरूपमें भेद नहीं है। तथा यह क्षयोपशमसम्यक्त्व चतुर्थादि सप्तमगुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है। इस प्रकार क्षायोपशमसम्यक्त्वका स्वरूप कहा।

तथा तीनों प्रकृतियोंके सर्वथा सर्व निषेकोंका नाश होनेपर अत्यन्त निर्मल तत्त्वार्थश्रद्धान हो सो क्षायिकसम्यक्त्व है। सो चतुर्थादि चार गुणस्थानोंमें कहीं क्षयोपशम सम्यग्दृष्टिको इसकी प्राप्ति होती है। कैसे होती है? सो कहते हैं:—प्रथम तीन करण द्वारा वहाँ मिथ्यात्वके परमाणुओंको मिश्रमोहनीय व सम्यक्त्वमोहनीय-

रूप परिणमित करे व निर्जरा करे,—इस प्रकार मिथ्यात्वकी सत्ता नाश करे। तथा मिश्रमोहनीयके परमाणुओंको सम्यक्त्वमोहनीयरूप परिणमित करे व निर्जरा करे,—इस प्रकार मिश्रमोहनीयका नाश करे। तथा सम्यक्त्व मोहनीयके निषेक उदयमें आकर खिरें, उसकी बहुत स्थिति आदि हो तो उसे स्थितिकाण्डकादि द्वारा घटाये। जहाँ अन्तर्मुहूर्त स्थिति रहे तब कृतकृत्य वेदकसम्यग्दृष्टि हो। तथा अनुक्रमसे इन निषेकोंका नाश करके क्षायिकसम्यग्दृष्टि होता है। सो यह प्रतिपक्षी कर्मके अभावसे निर्मल है व मिथ्यात्वरूप रंजनाके अभावसे वीतराग है; इसका नाश नहीं होता। जबसे उत्पन्न हो तबसे सिद्धअवस्था पर्यन्त इसका सद्भाव है। इस प्रकार क्षायिकसम्यक्त्वका स्वरूप कहा। ऐसे तीन भेद सम्यक्त्वके हैं।

तथा अनन्तानुबन्धी कषायकी सम्यक्त्व होने पर दो अवस्थाएँ होती हैं। या तो अप्रशस्त उपशम होता है, या विसंयोजन होता है। वहाँ जो करण द्वारा उपशम-विधानसे उपशम हो, उसका नाम प्रशस्त उपशम है। उदयका अभाव उसका नाम अप्रशस्त उपशम है। सो अनन्तानुबन्धीका प्रशस्त उपशम तो होता ही नहीं, अन्य मोहकी प्रकृतियोंका होता है। तथा इसका अप्रशस्त उपशम होता है। तथा जो तीन करण द्वारा अनन्तानुबंधीके परमाणुओंको अन्य चारित्रमोहकी प्रकृतिरूप परिणमित करके उनकी सत्ता नाश करें, उसका नाम विसंयोजन है। सो इनमें प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें तो अनन्तानुबंधीका अप्रशस्त उपशम ही है। तथा द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति पहले अनन्तानुबंधीका विसंयोजन होनेपर ही होती है,—ऐसा नियम कोई आचार्य लिखते हैं, कोई नियम नहीं लिखते। तथा क्षयोपशम सम्यक्त्वमें किसी जीवके अप्रशस्त उपशम होता है व किसीके विसंयोजन होता है। तथा क्षायिकसम्यक्त्व है सो पहले अनन्तानुबंधीका विसंयोजन होनेपर ही होता है ऐसा जानना। यहाँ यह विशेष है कि—उपशम तथा क्षयोपशम सम्यक्त्वीके अनन्तानुबंधीके विसंयोजनसे सत्ताका नाश हुआ था, वह फिर मिथ्यात्वमें आये तो अनन्तानुबंधीका बंध करे, वहाँ फिर उसकी सत्ताका सद्भाव होता है। और क्षायिकसम्यग्दृष्टि मिथ्यात्वमें आता नहीं है, इसलिये उसके अनन्तानुबंधीकी सत्ता कदाचित् नहीं होती।

यहाँ प्रश्न है कि—अनन्तानुबंधी तो चारित्रमोहकी प्रकृति है, सो चारित्रका घात करे, इससे सम्यक्त्वका घात किस प्रकार सम्भव है?

समाधान:—अनन्तानुबंधीके उदयसे क्रोधादिरूप परिणाम होते हैं, कुछ अतत्त्वश्रद्धान नहीं होता; इसलिये अनन्तानुबंधी चारित्रहीका घात करती है, सम्यक्त्वका

घात नहीं करती। तो परमार्थसे है तो ऐसा ही, परन्तु अनन्तानुबंधीके उदयसे जैसे क्रोधादिक होते हैं वैसे क्रोधादिक सम्यक्त्व होनेपर नहीं होते—ऐसा निमित्त-नैमित्तिकपना पाया जाता है। जैसे—त्रसपनेकी घातक तो स्थावर प्रकृति ही है, परन्तु त्रसपना होनेपर एकेन्द्रिय जाति प्रकृतिका भी उदय नहीं होता, इसलिये उपचारसे एकेन्द्रिय प्रकृतिको भी त्रसपनेका घातकपना कहा जाये तो दोष नहीं है। इसी प्रकार सम्यक्त्वका घातक तो दर्शनमोह है, परन्तु सम्यक्त्व होनेपर अनन्तानुबंधी कषायोंका भी उदय नहीं होता, इसलिये उपचारसे अनन्तानुबंधीके भी सम्यक्त्वका घातकपना कहा जाये तो दोष नहीं है।

यहाँ फिर प्रश्न है कि:—अनन्तानुबंधी भी चारित्रहीका घात करता है, तो इसके जानेपर कुछ चारित्र हुआ कहो। असंयत गुणस्थानमें असंयम किसलिये कहते हो?

समाधान:—अनन्तानुबंधी आदि भेद हैं वे तीव्रमन्द कषायकी अपेक्षा नहीं हैं; क्योंकि मिथ्यादृष्टिके तीव्र कषाय होनेपर व मंदकषाय होनेपर अनन्तानुबंधी आदि चारोंका उदय युगपत् होता है। वहाँ चारोंके उत्कृष्ट स्पर्द्धक समान कहे हैं। इतना विशेष है कि—अनन्तानुबंधीके साथ जैसा तीव्र उदय अप्रत्याख्यानादिकका हो, वैसा उसके जानेपर नहीं होता। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानके साथ जैसा प्रत्याख्यान संज्वलनका उदय हो, वैसा उसके जानेपर नहीं होता। तथा जैसा प्रत्याख्यानके साथ संज्वलनका उदय हो, वैसा केवल संज्वलनका उदय नहीं होता। इसलिये अनन्तानुबंधीके जानेपर कुछ कषायोंकी मन्दता तो होती है, परन्तु ऐसी मन्दता नहीं होती जिससे कोई चारित्र नाम प्राप्त करे। क्योंकि कषायोंके असंख्यात लोकप्रमाण स्थान हैं; उनमें सर्वत्र पूर्वस्थानसे उत्तरस्थानमें मन्दता पायी जाती है; परन्तु व्यवहारसे उन स्थानोंमें तीन मर्यादाएँ कीं। आदिके बहुत स्थान तो असंयमरूप कहे, फिर कितने ही देशसंयमरूप कहे, फिर कितने ही सकलसंयमरूप कहे। उनमें प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त जो कषायके स्थान होते हैं वे सर्व असंयमहीके होते हैं। इसलिये कषायोंकी मन्दता होनेपर भी चारित्र नाम नहीं पाते हैं। यद्यपि परमार्थसे कषायका घटना चारित्रका अंश है, तथापि व्यवहारसे जहाँ ऐसा कषायोंका घटना हो, जिससे श्रावकधर्म या मुनिधर्मका अंगीकार हो, वहीं चारित्र नाम पाता है। सो असंयतमें ऐसे कषाय घटती नहीं हैं, इसलिये यहाँ असंयम कहा है। कषायोंका अधिक-हीनपना होनेपर भी, जिस प्रकार प्रमत्तादि गुणस्थानोंमें सर्वत्र सकल संयम ही नाम पाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वादि

असंयत पर्यन्त गुणस्थानोंमें असंयम नाम पाता है। सर्वत्र असंयमकी समानता नहीं जानना।

यहाँ फिर प्रश्न है कि—अनन्तानुबंधी सम्यक्त्वका घात नहीं करता है तो इसका उदय होनेपर सम्यक्त्वसे भ्रष्ट होकर सासादन गुणस्थानको कैसे प्राप्त करता है?

समाधान:—जैसे किसी मनुष्यके मनुष्यपर्याय नाशका कारण तीव्र रोग प्रगट हुआ हो, उसको मनुष्यपर्याय का छोड़नेवाला कहते हैं। तथा मनुष्यपना दूर होनेपर देवादि पर्याय हो, वह तो रोग अवस्थामें नहीं हुई। यहाँ मनुष्यहीका आयु है। उसी प्रकार सम्यक्त्वीके सम्यक्त्वके नाशका कारण अनन्तानुबंधीका उदय प्रगट हुआ, उसे सम्यक्त्वका विरोधक सासादन कहा। तथा सम्यक्त्वका अभाव होनेपर मिथ्यात्व होता है वह तो सासादनमें नहीं हुआ। यहाँ उपशम सम्क्त्वहीका काल है—ऐसा जानना। इस प्रकार अनंतानुबंधी चतुष्टयकी सम्यक्त्व होनेपर अवस्था होती नहीं, इसलिये सात प्रकृतियोंके उपशमादिकसे भी सम्यक्त्वकी प्राप्ति कही जाती है।

फिर प्रश्न:—सम्यक्त्वमार्गणाके छह भेद किये हैं, सो किस प्रकार हैं?

समाधान:—सम्यक्त्वके तो भेद तीन ही हैं। तथा सम्यक्त्वके अभावरूप मिथ्यात्व है। दोनोंका मिश्रभाव सो मिश्र है। सम्यक्त्वका घातक भाव सो सासादन है। इस प्रकार सम्यक्त्वमार्गणासे जीवका विचार करने पर छह भेद कहे हैं। यहाँ कोई कहे कि सम्यत्क्वसे भ्रष्ट होकर मिथ्यात्वमें आया हो उसे मिथ्यात्वसम्यक्त्व कहा जाये। परन्तु यह असत्य है; क्योंकि अभव्यके भी उसका सद्भाव पाया जाता है। तथा मिथ्यात्व सम्यक्त्व कहना ही अशुद्ध है। जैसे संयममार्गणामें असंयम कहा, भव्यमार्गणा में अभव्य कहा, उसी प्रकार सम्यक्त्वमार्गणामें मिथ्यात्व कहा है। मिथ्यात्वको सम्यक्त्वका भेद नहीं जानना। सम्यक्त्व अपेक्षा विचार करनेपर कितने ही जीवोंके सम्यक्त्वका अभाव भासित हो, वहाँ मिथ्यात्व पाया जाता है,—ऐसा अर्थ प्रगट करनेके अर्थ सम्यक्त्व मार्गणामें मिथ्यात्व कहा है। इसी प्रकार सासादन, मिश्र भी सम्यक्त्वके भेद नहीं हैं। सम्यक्त्वके भेद तीन ही हैं ऐसा जानना। यहाँ कर्मके उपशमादिकसे उपशमादि सम्यक्त्व कहे, सो कर्मके उपशमादिक इसके करनेसे नहीं होते। यह तो तत्त्वश्रद्धान करनेका उद्यम करे, उसके निमित्तसे स्वयमेव कर्मके उपशमादिक होते हैं, तब इसके तत्त्वश्रद्धानकी प्राप्ति होती है—ऐसा जानना। ऐसे सम्यक्त्वके भेद जानना। इस प्रकार सम्यग्दर्शनका स्वरूप कहा।

सम्यग्दर्शनके आठ अंग

तथा सम्यग्दर्शनके आठ अंग कहे हैं:—निःशंकितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, अमूढ़दृष्टित्व, उपबृंहण, स्थितिकरण, प्रभावना और वात्सल्य। वहाँ भयका अभाव अथवा तत्त्वोंमें संशयका अभाव सो निःशंकितत्व है। तथा परद्रव्यादिमें रागरूप वांछाका अभाव सो निःकांक्षितत्व है। तथा परद्रव्यादिमें द्वेषरूप ग्लानिका अभाव सो निर्विचिकित्सत्व है। तथा तत्त्वोंमें व देवादिकमें अन्यथा प्रतीतिरूप मोहका अभाव सो अमूढ़दृष्टित्व है। तथा आत्मधर्मका व जिनधर्मका बढ़ाना उसका नाम उपबृंहण है; इसी अंगका नाम उपगूहन भी कहा जाता है। वहाँ धर्मात्मा जीवोंके दोष ढँकना—ऐसा उसका अर्थ जानना। तथा अपने स्वभावमें व जिनधर्ममें अपनेको व परको स्थापित करना, सो स्थितिकरण है। तथा अपने स्वरूपकी व जिनधर्मकी महिमा प्रगट करना, सो प्रभावना है। तथा स्वरूपमें व जिनधर्ममें व धर्मात्मा जीवोंमें अति प्रीतिभाव, सो वात्सल्य है।—ऐसे यह आठ अंग जानना। जैसे मनुष्य शरीरके हस्तपादादिक अंग हैं, उसी प्रकार यह सम्यक्त्वके अंग हैं।

यहाँ प्रश्न है कि—कितने ही सम्यक्त्वी जीवोंके भी भय, इच्छा, ग्लानि आदि पाये जाते हैं, और कितने ही मिथ्यादृष्टियोंके नहीं पाये जाते, इसलिये निःशंकितादिक अंग सम्यक्त्वके कैसे कहते हो?

समाधान:—जैसे मनुष्य शरीरके हस्त-पादादिक अंग कहे जाते हैं; वहाँ कोई मनुष्य ऐसा भी हो जिसके हस्त-पादादिमें कोई अंग न हो। वहाँ उसके मनुष्य शरीर तो कहा जाता है, परन्तु उन अंगों बिना वह शोभायमान सकल कार्यकारी नहीं होता, उसी प्रकार सम्यक्त्वके निःशंकितादि अंग कहे जाते हैं, वहाँ कोई सम्यक्त्वी ऐसा भी हो, जिसके निःशंकितत्वादिमें कोई अंग न हो; वहाँ उसके सम्यक्त्व तो कहा जाता है, परन्तु उन अंगोंके बिना वह निर्मल सकल कार्यकारी नहीं होता। तथा जिस प्रकार बन्दरके भी हस्तपादादि अंग होते हैं, परन्तु जैसे मनुष्यके होते हैं, वैसे नहीं होते। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियोंके भी व्यवहाररूप निःशंकितादिक अंग होते हैं, परन्तु जैसे निश्चयकी सापेक्षता सहित सम्यक्त्वीके होते हैं वैसे नहीं होते। तथा सम्यक्त्वमें पच्चीस मल कहे हैं—आठ शंकादिक, आठ मद, तीन मूढ़ता, षट् अनायतन, सो यह सम्यक्त्वीके नहीं होते। कदाचित् किसीको कोई मल लगे, परन्तु सम्यक्त्वका सर्वथा नाश नहीं होता, वहाँ सम्यक्त्व मलिन ही होता है—ऐसा जानना। बहु...........

★

पं० टोडरमल जी के सुपुत्र श्री पं० गुमानीराम जी सा० द्वारा रचित

"समाधि–मरण स्वरूप"

[आचार्य कल्प श्री पं० टोडरमलजी के सहपाठी और धर्म प्रभावना में उत्साह प्रेरक ब्र० राजमलजी कृत "ज्ञानानन्द निर्भर निजरस श्रावकाचार" नामक ग्रन्थ में से यह अधिकार बहुत सुन्दर जानकर आत्मधर्म अंक २५३–५४ में दिया था उसी में से कुछ का अंश यहाँ दिया जाता है।]

हे भव्य ! तू सुन ! अब समाधिमरण का लक्षण वर्णन किया जाता है। समाधि नाम निःकषायका[1] है, शान्त परिणामों का है, भेदविज्ञान सहित, कषाय रहित शान्त परिणामों से मरण होना समाधिमरण है। संक्षिप्त रूप से समाधिमरण का यही वर्णन है विशेष रूपसे कथन आगे किया जा रहा है।

सम्यक्ज्ञानी पुरुष का यह सहज स्वभाव ही है कि वह समाधिमरण ही की इच्छा करता है, उसकी हमेशा यही भावना रहती है, अन्तमें मरण समय निकट आने पर वह इस प्रकार सावधान होता है जिसप्रकार वह सोया हुआ सिंह सावधान होता है जिसको कोई पुरुष ललकारे कि हे सिंह ! तुम्हारे पर वैरियों की फौज आक्रमण कर रही है, तुम पुरुषार्थ करो और गुफा से बाहर निकलो। जब तक वैरियों का समूह दूर है तब तक तुम तैयार हो जाओ और वैरियों की फौज को जीत लो। महान् पुरुषों की यही रीति है कि वे शत्रु के जागृत होने से पहले तैयार होते हैं।

उस पुरुष के ऐसे वचन सुनकर शार्दूल तत्क्षण ही उठा और उसने ऐसी गर्जना की कि मानों आषाढ़ मास में इन्द्र ने ही गर्जना की हो !

मृत्यु को निकट जानकर सम्यक्ज्ञानी पुरुष सिंह की तरह सावधान होता है और कायरपने को दूर ही से छोड़ देता है।

सम्यग्दृष्टि कैसा है ?

उसके हृदय में आत्मा का स्वरूप दैदीप्यमान प्रकट रूप से प्रतिभासता है। वह ज्ञान ज्योति को लिये आनन्दरस से परिपूर्ण है। वह अपने को साक्षात् पुरुषाकार अमूर्तिक, चैतन्यधातु का पिंड, अनंत अक्षय गुणों से युक्त चैतन्यदेव ही जानता है। उसके अतिशय से ही वह परद्रव्य के प्रति रंचमात्र भी रागी नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि रागी क्यों नहीं होता ?

वह अपने निजस्वरूप को ज्ञाता, दृष्टा, परद्रव्यों से भिन्न, शाश्वत और अविनाशी जानता है और पर द्रव्य को तथा रागादिक को क्षणभंगुर, अशाश्वत, अपने स्वभाव से भलीभांति भिन्न जानता है। इसलिये सम्यग्ज्ञानी कैसे डरे ? × × × ....

---

१. क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं।

पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी द्वारा रचित

रहस्यपूर्ण चिट्ठी

तथा

कविवर श्री पं० बनारसीदासजी द्वारा रचित

परमार्थ वचनिका

एवं

निमित्त-उपादान चिट्ठी

भाषा परिवर्त्तनकर्त्ता:—

मगनलाल जैन

पंडित प्रवर टोडरमलजी की
रहस्यपूर्ण चिट्ठी

❀ श्री ❀

सिद्ध श्री मुलताननगर महा शुभस्थानमें साधर्मी भाई अनेक उपमा योग्य अध्यात्मरस रोचक भाई श्री खानचन्दजी, गंगाधरजी, श्रीपालजी, सिद्धारथदासजी, अन्य सर्व साधर्मी योग्य लिखी टोडरमलके श्री प्रमुख विनय शब्द अवधारण करना। यहाँ यथासम्भव आनन्द है, तुम्हारे चिदानन्दघनके अनुभवसे सहजानन्दकी वृद्धि चाहिये।

अपरंच तुम्हारा एक पत्र भाईजी श्री रामसिंहजी भुवानीदासजी पर आया था। उसके समाचार जहानावादसे मुझको अन्य साधर्मियोंने लिखे थे। सो भाईजी, ऐसे प्रश्न तुम सरीखे ही लिखें। इस वर्तमानकालमें अध्यात्मरसके रसिक बहुत थोड़े हैं। धन्य हैं जो स्वात्मानुभवकी बात भी करते हैं। वही कहा है—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥

—पद्मनन्दि पंचविंशतिका (एकत्वाशीतिः २३)

अर्थः—जिस जीवने प्रसन्न चित्तसे इस चेतनस्वरूप आत्माकी बात भी सुनी है, वह निश्चयसे भव्य है। अल्पकालमें मोक्षका पात्र है।

सो भाईजी, तुमने प्रश्न लिखे उनके उत्तर अपनी बुद्धि अनुसार कुछ लिखते हैं सो जानना और अध्यात्म आगमकी चर्चा गर्भित पत्र तो शीघ्र शीघ्र दिया करें, मिलाप तो कभी होगा तब होगा। और निरन्तर स्वरूपानुभवनका अभ्यास रखोगेजी। श्रीरस्तु।

अब, स्वानुभव दशामें प्रत्यक्ष-परोक्षादिक प्रश्नोंके उत्तर स्व बुद्धि अनुसार लिखते हैं।

वहाँ प्रथमही स्वानुभवका स्वरूप जाननेके निमित्त लिखते हैं:—

जीव पदार्थ अनादिसे मिथ्यादृष्टि है। वहाँ स्व-परके यथार्थरूपसे विपरीत श्रद्धानका नाम मिथ्यात्व है। तथा जिसकाल किसी जीवके दर्शनमोहके उपशम-क्षय-

क्षयोपशमसे स्व-परके यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थश्रद्धान हो तब जीव सम्यक्त्वी होता है; इसलिये स्व-परके श्रद्धानमें शुद्धात्म श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है। तथा यदि स्व-परका श्रद्धान नहीं है और जिनमतमें कहे जो देव, गुरु, धर्म उन्हींको मानता है वा सप्त तत्त्वोंको मानता है, अन्यमतमें कहे देवादि व तत्त्वादिको नहीं मानता है, तो इसप्रकार केवल व्यवहारसम्यक्त्वसे सम्यक्त्वी नाम नहीं पाता; इसलिये स्व-परभेद-विज्ञानसहित जो तत्त्वार्थश्रद्धान हो उसीको सम्यक्त्व जानना।

तथा ऐसा सम्यक्त्वी होनेपर जो ज्ञान पंचेन्द्रिय व छट्ठे मनके द्वारा क्षयोपशम-रूप मिथ्यात्वदशामें कुमति, कुश्रुतिरूप हो रहा था वही ज्ञान अब मति–श्रुतरूप सम्यग्ज्ञान हुआ। सम्यक्त्वी जितना कुछ जाने वह जानना सर्व सम्यग्ज्ञान रूप है।

यदि कदाचित् घट-पटादिक पदार्थोंको अयथार्थ भी जाने तो वह आवरण जनित औदयिक अज्ञानभाव है। जो क्षयोपशमरूप प्रगट ज्ञान है वह तो सर्व सम्यग्-ज्ञान ही है, क्योंकि जाननेमें विपरीतरूप पदार्थोंको नहीं साधता। सो यह सम्यग्ज्ञान केवलज्ञानका अंश है; जैसे थोड़ा-सा मेघपटल विलय होनेपर कुछ प्रकाश प्रगट होता है वह सर्व प्रकाशका अंश है।

जो ज्ञान मति-श्रुतरूप हो प्रवर्तता है वही ज्ञान बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञानरूप होता है; सम्यग्ज्ञानकी अपेक्षा तो जाति एक है। तथा इस सम्यक्त्वीके परिणाम सविकल्प तथा निर्विकल्परूप होकर दो प्रकार प्रवर्त्तते हैं। वहाँ जो परिणाम विषय–कषायादि-रूप व पूजा, दान, शास्त्राभ्यासादिकरूप प्रवर्त्तता है उसे सविकल्परूप जानना।

यहाँ प्रश्नः—शुभाशुभरूप परिणमित होते हुए सम्यक्त्वका अस्तित्व कैसे पाया जाय?

समाधानः—जैसे कोई गुमाश्ता सेठके कार्यमें प्रवर्त्तता है, उस कार्यको अपना भी कहता है, हर्ष-विषादको भी प्राप्त होता है; उस कार्यमें प्रवर्त्तते हुए अपनी और सेठकी जुदाईका विचार नहीं करता, परन्तु अंतरंग श्रद्धान ऐसा है कि यह मेरा कार्य नहीं है। ऐसा कार्य कर्त्ता गुमाश्ता साहूकार है। यदि वह सेठके धनको चुराकर अपना माने तो गुमाश्ता चोर होय। उसीप्रकार कर्मोदयजनित शुभाशुभरूप कार्यको करता हुआ तद्रूप परिणमित हो, तथापि अंतरंगमें ऐसा श्रद्धान है कि यह कार्य मेरा नहीं है। यदि शरीराश्रित व्रत-संयमको भी अपना माने तो मिथ्यादृष्टि होय। सो ऐसे सविकल्प परिणाम होते हैं।

अब सविकल्पहीके द्वारा निर्विकल्प परिणाम होनेका विधान कहते हैं:—

वही सम्यक्त्वी कदाचित् स्वरूप ध्यान करनेको उद्यमी होता है, वहाँ प्रथम भेदविज्ञान स्वपरका करे; नोकर्म—द्रव्यकर्म—भावकर्मरहित केवल चैतन्य-चमत्कार-मात्र अपना स्वरूप जाने; पश्चात् परका भी विचार छूट जाय, केवल स्वात्मविचार ही रहता है; वहाँ अनेक प्रकार निजस्वरूपमें अहंबुद्धि धरता है। चिदानन्द हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ, इत्यादिक विचार होनेपर सहज ही आनन्द तरंग उठती है, रोमांच हो आता है, तत्पश्चात् ऐसा विचार तो छूट जाय, केवल चिन्मात्रस्वरूप भासने लगे; वहाँ सर्व परिणाम उस रूपमें एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं; दर्शन—ज्ञानादिकका व नय-प्रमाणादिकका भी विचार विलय हो जाता है।

चैतन्यस्वरूप जो सविकल्पसे निश्चय किया था, उसहीमें व्याप्य-व्यापकरूप होकर इसप्रकार प्रवर्त्तता है जहाँ ध्याता-ध्येयपना दूर हो गया। सो ऐसी दशाका नाम निर्विकल्प अनुभव है। बड़े नयचक्र ग्रन्थमें ऐसा ही कहा है—

तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जह्मा॥ २६६॥

अर्थ:—तत्त्वके अवलोकन (अन्वेषण) का जो काल उसमें समय अर्थात् शुद्धात्माको युक्ति अर्थात् नय-प्रमाण द्वारा पहले जाने। पश्चात् आराधन समय जो अनुभवकाल उसमें नय-प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव है। जैसे—रत्नको खरीदनेमें अनेक विकल्प करते हैं, जब प्रत्यक्ष उसे पहिनते हैं तब विकल्प नहीं है—पहिननेका सुख ही है। इसप्रकार सविकल्पके द्वारा निर्विकल्प अनुभव होता है।

तथा जो ज्ञान पाँच इन्द्रियाँ व छठवें मनके द्वारा प्रवर्तता था, वह ज्ञान सब ओरसे सिमटकर इस निर्विकल्प अनुभवमें केवल स्वरूपसन्मुख हुआ। क्योंकि वह ज्ञान क्षयोपशमरूप है इसलिये एक कालमें एक ज्ञेयहीको जानता है, वह ज्ञान स्वरूप जाननेको प्रवर्तित हुआ तब अन्यका जानना सहज ही रह गया। वहाँ ऐसी दशा हुई कि बाह्य अनेक शब्दादिक विकार हों तो भी स्वरूप ध्यानीको कुछ खबर नहीं.—इसप्रकार मतिज्ञानभी स्वरूपसन्मुख हुआ। तथा नयादिकके विचार मिटने पर श्रुतज्ञान भी स्वरूपसन्मुख हुआ। ऐसा वर्णन समयसारकी टीका आत्मख्यातिमें है तथा आत्मा अवलोकनादिमें है। इसीलिये निर्विकल्प अनुभवको अतीन्द्रिय कहते हैं, क्योंकि इन्द्रियों-

का धर्म तो यह है कि स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्दको जानें, वह यहाँ नहीं है; और मनका धर्म यह है कि अनेक विकल्प करे, वह भी यहाँ नहीं है; इसलिये यद्यपि जो ज्ञान इन्द्रिय-मनमें प्रवर्तता था वही ज्ञान अब अनुभवमें प्रवर्तता है तथापि इस ज्ञानको अतीन्द्रिय कहते हैं। तथा इस स्वानुभवको मन द्वारा हुआ भी कहते हैं क्योंकि इस अनुभव में मतिज्ञान-श्रुतज्ञान ही हैं, अन्य कोई ज्ञान नहीं है।

मति–श्रुतज्ञान इन्द्रिय–मनके अवलम्बन बिना नहीं होता, सो यहाँ इन्द्रियका तो अभाव ही है क्योंकि इन्द्रियका विषय मूर्तिक पदार्थ ही है। तथा यहाँ मनज्ञान है क्योंकि मनका विषय अमूर्तिक पदार्थ भी है, इसलिये यहाँ मन-सम्बन्धी परिणाम स्वरूपमें एकाग्र होकर अन्य चिन्ताका निरोध करते हैं, इसलिये इसे मन द्वारा कहते हैं। "एकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यानम्" ऐसा ध्यानका भी लक्षण ऐसे अनुभव दशामें सम्भव है। तथा [समयसार] नाटकके कवित्तमें कहा है—

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव याकौ नाम ॥

इसप्रकार मन बिना जुदे ही परिणाम स्वरूपमें प्रवर्तित नहीं हुए इसलिये स्वानुभवको मनजनित भी कहते हैं; अतः अतीन्द्रिय कहनेमें और मनजनित कहनेमें कुछ विरोध नहीं है, विवक्षाभेद है।

तथा तुमने लिखा कि—"आतमा अतीन्द्रिय है, इसलिये अतीन्द्रिय द्वारा ही ग्रहण किया जाता है;" सो (भाईजी) मन अमूर्तिकका भी ग्रहण करता है क्योंकि मति-श्रुतज्ञानका विषय सर्वद्रव्य कहे हैं। उक्तं च तत्त्वार्थ सूत्रे—

"मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।" (१–२६)

तथा तुमने प्रत्यक्ष–परोक्षका प्रश्न लिखा सो भाईजी, प्रत्यक्ष–परोक्षके तो सम्यक्त्वके भेद हैं नहीं। चौथे गुणस्थानमें सिद्धसमान क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है, इसलिये सम्यक्त्व तो केवल यथार्थ श्रद्धानरूपही है। वह (जीव) शुभाशुभकार्य करता भी रहता है। इसलिये तुमने जो लिखा था कि—"निश्चयसम्यक्त्व प्रत्यक्ष है और व्यवहार सम्यक्त्व परोक्ष है," सो ऐसा नहीं है। सम्यक्त्वके तो तीन भेद हैं वहाँ उपशम-सम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व तो निर्मल है, क्योंकि वे मिथ्यात्वके उदयसे रहित हैं और क्षयोपशमसम्यक्त्व समल है क्योंकि सम्यक्त्व मोहनीयके उदयसे सहित है। परन्तु इस सम्यक्त्वमें प्रत्यक्ष–परोक्षके कोई भेद तो नहीं हैं।

क्षायिक सम्यक्त्वीके शुभाशुभरूप प्रवर्तते हुए व स्वानुभवरूप प्रवर्तते हुए सम्यक्त्वगुण तो समान ही है, इसलिये सम्यक्त्वके तो प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद नहीं मानना। तथा प्रमाणके प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद हैं, सो प्रमाण सम्यग्ज्ञान है, इसलिये मतिज्ञान–श्रुतज्ञान तो परोक्ष प्रमाण हैं, अवधि-मनःपर्यय-केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। "आद्ये परोक्षं प्रत्यक्षमन्यत्" (तत्त्वार्थसूत्र अ० १, सूत्र ११–१२) ऐसा सूत्रका वचन है तथा तर्कशास्त्रमें प्रत्यक्ष–परोक्षका ऐसा लक्षण कहा है—

"स्पष्टप्रतिभासात्मकं प्रत्यक्षमस्पष्टं परोक्षं।"

जो ज्ञान अपने विषयको निर्मलतारूप स्पष्टतया भलीभाँति जाने सो प्रत्यक्ष और जो स्पष्ट भलीभाँति न जाने सो परोक्ष। वहाँ मतिज्ञान–श्रुतज्ञानके विषय तो बहुत हैं, परन्तु एक भी ज्ञेयको सम्पूर्ण नहीं जान सकता इसलिये परोक्ष कहे और अवधि–मनः पर्ययज्ञानके विषय थोड़े हैं तथापि अपने विषयको स्पष्ट भलीभाँति जानता है इसलिये एकदेश प्रत्यक्ष है और केवलज्ञान सर्व ज्ञेयको आप स्पष्ट जानता है इसलिये सर्व प्रत्यक्ष है।

तथा प्रत्यक्षके दो भेद हैं:—एक परमार्थ प्रत्यक्ष, दूसरा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। वहाँ अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान तो स्पष्ट प्रतिभासरूप हैं ही, इसलिये पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं। तथा नेत्रादिकसे वर्णादिकको जानते हैं वहाँ व्यवहारसे ऐसा कहते हैं— 'इसने वर्णादिक प्रत्यक्ष जाने', एकदेश निर्मलता भी पाई जाती है इसलिये इनको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं; परन्तु यदि एक वस्तुमें अनेक मिश्र वर्ण हैं वे नेत्र द्वारा भलीभाँति नहीं ग्रहण किये जाते हैं, इसलिये इसको परमार्थ–प्रत्यक्ष नहीं कहा जाता है।

तथा परोक्ष प्रमाणके पांच भेद हैं:—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, और आगम।

वहाँ जो पूर्व कालमें जो वस्तु जानी थी उसे याद करके जानना उसे स्मृति कहते हैं।

दृष्टान्त द्वारा वस्तुका निश्चय किया जाये उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

हेतुके विचार युक्त जो ज्ञान उसे तर्क कहते हैं।

हेतुसे साध्य वस्तुका जो ज्ञान उसे अनुमान कहते हैं।

आगमसे जो ज्ञान हो उसे आगम कहते हैं।

ऐसे प्रत्यक्ष–परोक्ष प्रमाणके भेद कहे हैं। वहाँ इस स्वानुभवदशामें जो आत्माको जाना जाता है सो श्रुतज्ञान द्वारा जाना जाता है। श्रुतज्ञान है वह मतिज्ञानपूर्वक ही है, वे मतिज्ञान–श्रुतज्ञान परोक्ष कहे हैं, इसलिये यहाँ आत्माका जानना प्रत्यक्ष नहीं है। तथा अवधि–मनःपर्ययका विषयरूपी पदार्थ ही है और केवलज्ञान छद्मस्थके है नहीं, इसलिये अनुभवमें अवधि–मनःपर्यय–केवल द्वारा आत्माका जानना नहीं है। तथा यहाँ आत्माको स्पष्ट भलीभाँति नहीं जानता है, इसलिये पारमार्थिक प्रत्यक्षपना तो सम्भव नहीं है। तथा जैसे नेत्रादिकसे वर्णादिक जानते हैं वैसे एकदेश निर्मलता सहित भी आत्माके असंख्यात प्रदेशादिक नहीं जानते हैं, इसलिये सांव्यवहारिक प्रत्यक्षपना भी संभव नहीं है।

यहाँ पर तो आगम–अनुमानादिक परोक्ष ज्ञानसे आत्माका अनुभव होता है। जैनागममें जैसा आत्माका स्वरूप कहा है उसे वैसा जानकर उसमें परिणामोंको मग्न करता है इसलिये आगम परोक्ष प्रमाण कहते हैं। अथवा "मैं आत्मा ही हूँ, क्योंकि मुझमें ज्ञान है; जहाँ–जहाँ ज्ञान है वहाँ–वहाँ आत्मा है जैसे सिद्धादिक हैं; तथा जहाँ आत्मा नहीं है वहाँ ज्ञान भी नहीं है जैसे मृतक कलेवरादिक है।"—इसप्रकार अनुमान द्वारा वस्तुका निश्चय करके उसमें परिणाम मग्न करता है, इसलिये अनुमान परोक्ष प्रमाण कहा जाता है। अथवा आगम–अनुमानादिक द्वारा जो वस्तु जाननेमें आयी उसीको याद रखकर उसमें परिणाम मग्न करता है इसलिये स्मृति कही जाती है;—इत्यादिक प्रकारसे स्वानुभवमें परोक्ष प्रमाण द्वारा ही आत्माका जानना होता है। वहाँ पहले जानना होता है, पश्चात् जो स्वरूप जाना उसीमें परिणाम मग्न होते हैं, परिणाम मग्न होने पर कुछ विशेष जानपना होता नहीं है।

यहाँ फिर प्रश्नः—यदि सविकल्प—निर्विकल्पमें जाननेका विशेष नहीं है तो अधिक आनन्द कैसे होता है ?

उसका समाधानः—सविकल्प दशामें ज्ञान अनेक ज्ञेयोंको जाननेरूप प्रवर्तता था; निर्विकल्पदशामें केवल आत्माका ही जानना है। एक तो यह विशेषता है। दूसरी विशेषता यह है कि जो परिणाम नाना विकल्पोंमें परिणमित होता था वह केवल स्वरूपहीसे तादात्म्यरूप होकर प्रवृत्त हुआ, दूसरी यह विशेषता हुई। ऐसी विशेषताएँ

होनेपर कोई वचनातीत ऐसा अपूर्व आनन्द होता है जो कि विषय सेवनमें उसकी जाति का अंश भी नहीं है, इसलिये उस आनन्दको अतीन्द्रिय कहते हैं।

यहाँ फिर प्रश्न:—अनुभवमें भी आत्मा परोक्ष ही है, तो ग्रन्थोंमें अनुभवको प्रत्यक्ष कैसे कहते हैं? ऊपरकी गाथामें ही कहा है "पच्चखो अणुहवो जम्हा" सो कैसे है?

उसका समाधान:—अनुभवमें आत्मा तो परोक्ष ही है, कुछ आत्माके प्रदेश आकार तो भासित होते नहीं हैं; परन्तु स्वरूपमें परिणाम मग्न होनेसे जो स्वानुभव हुआ वह स्वानुभवप्रत्यक्ष है। स्वानुभवका स्वाद कुछ आगम–अनुमानादिक परोक्ष प्रमाण द्वारा नहीं जानता है, आप ही अनुभवके रसस्वादको वेदता है। जैसे कोई अंध पुरुष मिश्रीको आस्वादता है; वहाँ मिश्रीके आकारादि तो परोक्ष हैं, जो जिह्वासे स्वाद लिया है वह स्वाद प्रत्यक्ष है—वैसे स्वानुभवमें आत्मा परोक्ष है, जो परिणामसे स्वाद आया वह स्वाद प्रत्यक्ष है;—ऐसा जानना।

अथवा जो प्रत्यक्षकी ही भाँति हो उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं। जैसे लोकमें कहते हैं कि—"हमने स्वप्नमें अथवा ध्यानमें अमुक पुरुषको प्रत्यक्ष देखा;" वहाँ कुछ प्रत्यक्ष देखा नहीं है परन्तु प्रत्यक्षकी ही भाँति प्रत्यक्षवत् यथार्थ देखा इसलिये उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। उसीप्रकार अनुभवमें आत्मा प्रत्यक्षकी भाँति यथार्थ प्रतिभासित होता है, इसलिये इस न्यायसे आत्माका भी प्रत्यक्ष जानना होता है—ऐसा कहें तो दोष नहीं है। कथन तो अनेकप्रकारसे है; वह सर्व आगम–अध्यात्म शास्त्रोंसे जैसे विरोध न हो वैसे विवक्षाभेदसे कथन जानना।

यहाँ प्रश्न:—ऐसा अनुभव कौन गुणस्थानमें होता है?

उसका समाधान:—चौथेहीसे होता है, परन्तु चौथेमें तो बहुत कालके अन्त-रालसे होता है और ऊपरके गुणस्थानोंमें शीघ्र–शीघ्र होता है।

फिर यहाँ प्रश्न:—अनुभव तो निर्विकल्प है, वहाँ ऊपरके और नीचेके गुणस्थानों में भेद क्या?

उसका समाधान:—परिणामोंकी मग्नतामें विशेष है। जैसे दो पुरुष नाम लेते हैं और दोनोंहीके परिणाम नाममें हैं; वहाँ एकको तो मग्नता विशेष है और एक को थोड़ी है—उसीप्रकार जानना।

फिर प्रश्न:—यदि निर्विकल्प अनुभवमें कोई विकल्प नहीं है तो शुक्लध्यानका प्रथम भेद पृथक्त्ववितर्कवीचार कहा, वहाँ 'पृथक्त्ववितर्क'—नाना प्रकारके श्रुतका 'वीचार'—अर्थ-व्यंजन-योगसंक्रमण—ऐसा क्यों कहा ?

समाधान:—कथन दो प्रकार है—एक स्थूलरूप है एक सूक्ष्मरूप है। जैसे स्थूलतासे तो छठवें ही गुणस्थानमें सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत कहा और सूक्ष्मतासे नववें गुणस्थान तक मैथुन संज्ञा कही, उसीप्रकार यहाँ अनुभवमें निर्विकल्पता स्थूलरूप कहते हैं। तथा सूक्ष्मतासे पृथक्त्ववितर्क वीचारादिक भेद व कषायादिक दसवें गुणस्थान तक कहे हैं। वहाँ अपने जाननेमें व अन्यके जाननेमें आये ऐसे भावका कथन स्थूल जानना तथा जो आप भी न जाने और केवली भगवान ही जानें—ऐसे भावका कथन सूक्ष्म जानना। चरणानुयोगादिकमें स्थूल कथनकी मुख्यता है और करणानुयोगमें सूक्ष्म कथनकी मुख्यता है;—ऐसा भेद अन्यत्र भी जानना। इसप्रकार निर्विकल्प अनुभवका स्वरूप जानना।

तथा भाईजी, तुमने तीन दृष्टान्त लिखे व दृष्टान्तमें प्रश्न लिखा, सो दृष्टान्त सर्वांग मिलता नहीं है। दृष्टान्त है वह एक प्रयोजनको बतलाता है, सो यहाँ द्वितीयाका विधु (चन्द्रमा), जलबिन्दु, अग्निकणिका—यह तो एकदेश हैं, और पूर्णमासीका चन्द्र, महासागर तथा अग्निकुण्ड–यह सर्वदेश हैं। उसीप्रकार चौथे गुणस्थानमें आत्माके ज्ञानादिगुण एकदेश प्रगट हुए हैं, तेरहवें गुणस्थानमें आत्माके ज्ञानादिक गुण सर्वथा प्रगट होते है; और जैसे दृष्टान्तोंकी एक जाति है वैसे ही जितने गुण अव्रत-सम्यग्दृष्टि के प्रगट हुए हैं उनकी और तेरहवें गुणस्थानमें जो गुण प्रगट होते हैं उनकी एक जाति है।

वहाँ तुमने प्रश्न लिखा कि एक जाति है तो जिसप्रकार केवली सर्व ज्ञेयोंको प्रत्यक्ष जानते हैं उसी प्रकार चौथे गुणस्थानवाला भी आत्माको प्रत्यक्ष जानता होगा ?

उत्तर:—भाईजी, प्रत्यक्षताकी अपेक्षा एक जाति नहीं है, सम्यग्ज्ञानकी अपेक्षा एक जाति है। चौथे गुणस्थानवालेको मति–श्रुतरूप सम्यग्ज्ञान है और तेरहवें गुणस्थान वालेको केवलरूप सम्यग्ज्ञान है। तथा एक देश सर्वदेशका अन्तर तो इतना ही है कि मति-श्रुतज्ञानवाला अमूर्तिक वस्तुको अप्रत्यक्ष और मूर्तिक वस्तुको भी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष, किंचित्, अनुक्रमसे जानता है तथा सर्वथा सर्व वस्तुको केवलज्ञान युगपत् जानता है; वह परोक्ष जानता है यह प्रत्यक्ष जानता है इतना ही विशेष है। और सर्वप्रकार एक ही

जाति कहें तो जिसप्रकार केवली युगपत् प्रत्यक्ष अप्रयोजनरूप ज्ञेयको निर्विकल्परूप जानते हैं उसीप्रकार यह भी जाने—ऐसा तो है नहीं; इसलिये प्रत्यक्ष-परोक्षका विशेष जानना।

उक्तं च अष्टसहस्री मध्ये—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥

(अष्टसहस्री, दशमः परिच्छेदः १०५)

अर्थः—स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान और केवलज्ञान—यह दोनों सर्व तत्त्वोंका प्रकाशन करनेवाले हैं। विशेष इतना ही है कि—केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, श्रुतज्ञान परोक्ष है। परन्तु वस्तु है सो और नहीं है।

तथा तुमने निश्चय सम्यक्त्वका स्वरूप और व्यवहार सम्यक्त्वका स्वरूप लिखा है सो सत्य है, परन्तु इतना जानना कि सम्यक्त्वीके व्यवहार सम्यक्त्वमें वा अन्यकालमें अन्तरङ्ग निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है, सदैव गमनरूप रहता है।

तथा तुमने लिखा—कोई साधर्मी कहता है कि—"आत्माको प्रत्यक्ष जाने तो कर्मवर्गणाको प्रत्यक्ष क्यों न जाने ?

सो कहते हैं कि—आत्माको तो प्रत्यक्ष केवली ही जानते हैं, कर्मवर्गणाको अवधिज्ञानी भी जानते हैं।

तथा तुमने लिखा—द्वितीयाके चन्द्रमाकी भाँति आत्माके प्रदेश थोड़ेसे खुले कहो ?

उत्तरः—यह दृष्टान्त प्रदेशोंकी अपेक्षा नहीं है, यह दृष्टांत गुणकी अपेक्षा है। जो सम्यक्त्व सम्बन्धी और अनुभव सम्बन्धी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षादिकके प्रश्न तुमने लिखे थे, उनका उत्तर अपनी बुद्धि अनुसार लिखा है; तुम भी जिनवाणीसे तथा अपनी परिणति से मिलान कर लेना। अर भाईजी, विशेष कहां तक लिखें, जो बात जानते हैं वह लिखनेमें नहीं आती। मिलने पर कुछ कहा भी जाय, परन्तु मिलना कर्माधीन है, इसलिये भला यह है कि चैतन्यस्वरूपके अनुभवका उद्यमी रहना। वर्तमानकालमें अध्यात्मतत्त्व तो आत्मख्याति—समयसारग्रंथको अमृतचन्द्र आचार्यकृत संस्कृतटीका—में है और आगमकी चर्चा गोम्मटसार में है, तथा और भी अन्यग्रन्थोंमें है। जो जानते हैं वह सब लिखनेमें आवे नहीं. इसलिये तुम भी अध्यात्म तथा आगम-ग्रन्थोंका अभ्यास रखना और स्वरूपानन्दमें मग्न रहना। और तुमने कोई विशेष ग्रन्थ जाने हों सो मुझको लिख भेजना। साधर्मियोंको तो परस्पर चर्चा ही चाहिये। और मेरी तो इतनी बुद्धि है नहीं, परन्तु तुम सरीखे भाइयोंसे परस्पर विचार है सो बड़ी वार्ता है। जबतक मिलना नहीं हो तबतक पत्र तो अवश्य ही लिखा करोगे।

मिती फागुन वदी ५, सं० १८११

*

कविवर पं० बनारसीदासजी रचित

परमार्थवचनिका

एक जीवद्रव्य, उसके अनंतगुण, अनंत पर्यायें, एक-एक गुणके असंख्यात-प्रदेश, एक-एक प्रदेशमें अनन्त कर्मवर्गणाएँ, एक-एक कर्मवर्गणामें अनंत-अनंत पुद्गलपरमाणु, एक-एक पुद्गलपरमाणु अनंत गुण अनंत पर्यायसहित विराजमान। यह एक संसारावस्थित जीवपिण्डकी अवस्था। इसीप्रकार अनंत जीवद्रव्य सपिण्डरूप जानना। एक जीवद्रव्य अनंत-अनंत पुद्गलद्रव्यसे संयोगित (संयुक्त) मानना। उसका विवरण—

अन्य अन्यरूप जीवद्रव्यकी परिणति, अन्य अन्यरूप पुद्गलद्रव्यकी परिणति। उसका विवरण—

एक जीवद्रव्य जिसप्रकारकी अवस्था सहित नाना आकाररूप परिणमित होता है वह प्रकार अन्य जीवसे नहीं मिलता; उसका और प्रकार है। इसीप्रकार अनंतानंतस्वरूप जीवद्रव्य अनंतानंतस्वरूप अवस्थासहित वर्त रहे हैं। किसी जीवद्रव्यके परिणाम किसी अन्य जीवद्रव्यसे नहीं मिलते। इसीप्रकार एक पुद्गलपरमाणु एकसमयमें जिसप्रकारकी अवस्था धारण करता है, वह अवस्था अन्य पुद्गलपरमाणु द्रव्यसे नहीं मिलती। इसलिये पुद्गल (परमाणु) द्रव्यकी भी अन्य-अन्यता जानना।

अब, जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य एकक्षेत्रावगाही अनादिकालके हैं, उनमें विशेष इतना कि जीवद्रव्य एक, पुद्गलपरमाणुद्रव्य अनंतानंत, चलाचलरूप, आगमनगमनरूप, अनंताकार परिणमनरूप, बंधमुक्ति शक्तिसहित वर्तते हैं।

अब, जीवद्रव्यकी अनंती अवस्थाएँ, उनमें तीन अवस्थाएँ मुख्य स्थापित कीं—एक अशुद्ध अवस्था, एक शुद्धाशुद्धरूप मिश्र अवस्था, एक शुद्ध अवस्था—यह तीन अवस्थाएँ संसारी जीवद्रव्यकी। संसारातीत सिद्ध अनवस्थितरूप कहे जाते हैं।

अब तीनों अवस्थाओंका विचार—एक अशुद्ध निश्चयात्मक द्रव्य, एक शुद्ध निश्चयात्मक द्रव्य, एक मिश्रनिश्चयात्मक द्रव्य। अशुद्ध निश्चयद्रव्यको सहकारी अशुद्ध व्यवहार, मिश्रद्रव्यको सहकारी मिश्रव्यवहार, शुद्ध द्रव्यको सहकारी शुद्ध व्यवहार।

अब निश्चय-व्यवहारका विवरण लिखते हैं:—

निश्चय तो अभेदरूप द्रव्य, व्यवहार द्रव्यके यथास्थित भाव। परन्तु विशेप इतना कि—जितनेकाल संसारावस्था उतनेकाल व्यवहार कहा जाता है, सिद्ध व्यवहारातीत कहे जाते हैं, क्योंकि संसार व्यवहार एकरूप वतलाया है। संसारी सो व्यवहारी, व्यवहारी सो संसारी।

अब तीनों अवस्थाओंका विवरण लिखते हैं:—

जितने काल मिथ्यात्व अवस्था, उतने काल अशुद्ध निश्चयात्मक द्रव्य अशुद्धव्यवहारी। सम्यग्दृष्टि होते ही चतुर्थ गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थानक पर्यंत मिश्रनिश्चयात्मक द्रव्य मिश्रव्यवहारी। केवलज्ञानी शुद्धनिश्चयात्मक शुद्धव्यवहारी।

अब निश्चय तो द्रव्यका स्वरूप, व्यवहार संसारावस्थित भाव, उसका विवरण कहते हैं:—

मिथ्यादृष्टि जीव अपना स्वरूप नहीं जानता इसलिये परस्वरूपमें मग्न होकर कार्य मानता है; वह कार्य करता हुआ अशुद्ध व्यवहारी कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूपको परोक्ष प्रमाण द्वारा अनुभवता है; परसत्ता-परस्वरूपसे अपना कार्य न मानता हुआ योगद्वारसे अपने स्वरूपके ध्यान-विचाररूप क्रिया करता है, वह कार्य करते हुए मिश्रव्यवहारी कहा जाता है। केवलज्ञानी यथाख्यातचारित्रके वलसे शुद्धात्मस्वरूपका रमणशील है इसलिये शुद्धव्यवहारी कहा जाता है। योगारूढ अवस्था विद्यमान है इसलिये व्यवहारी नाम कहते हैं। शुद्धव्यवहारकी सरहद तेरहवें गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान पर्यंत जानना। असिद्धत्वपरिणमनत्वात् व्यवहारः।

अब तीनों व्यवहारका स्वरूप कहते हैं:—

अशुद्ध व्यवहार शुभाशुभाचाररूप, शुद्धाशुद्धव्यवहार शुभोपयोगमिश्रित स्वरूपाचरणरूप, शुद्धव्यवहार शुद्धस्वरूपाचरणरूप। परन्तु विशेप इनका इतना कि कोई कहे कि—शुद्धस्वरूपाचरणात्म तो सिद्धमें भी विद्यमान है, वहाँ भी व्यवहार संज्ञा कहना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि संसारीअवस्थापर्यन्त व्यवहार कहा जाता है। संसारावस्थाके मिटने पर व्यवहार भी मिटा कहा जाता है। यहाँ यह स्थापना की है। इसलिये सिद्धको व्यवहारातीत कहे जाते हैं। इति व्यवहार विचार समाप्त।

अब आगम अध्यात्मका स्वरूप कहते हैं:—

आगम—वस्तुका जो स्वभाव उसे आगम कहते हैं। आत्माका जो अधिकार

उसे अध्यात्म कहते हैं। आगम तथा अध्यात्मस्वरूप भाव आत्मद्रव्यके जानने। वे दोनों भाव संसार अवस्थामें त्रिकालवर्ती मानने। उसका विवरण—आगमरूप कर्मपद्धति, अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति। उसका विवरण–कर्मपद्धति पौद्गलिकद्रव्यरूप अथवा भावरूप; द्रव्यरूप पुद्गलपरिणाम, भावरूप पुद्गलाकार आत्माकी अशुद्धपरिणतिरूप परिणाम;—उन दोनों परिणामोंको आगमरूप स्थापित किया। अब शुद्धचेतनापद्धति शुद्धात्मपरिणाम; वह भी द्रव्यरूप अथवा भावरूप। द्रव्यरूप तो जीवत्वपरिणाम, भावरूप ज्ञान–दर्शन–सुख–वीर्य आदि अनन्तगुणपरिणाम; वे दोनों परिणाम अध्यात्मरूप जानना। आगम अध्यात्म दोनों पद्धतियोंमें अनन्तता माननी।

अनन्तता कही उसका विचार—

अनन्तताका स्वरूप दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं। जैसे वटवृक्षका एक बीज हाथमें लेकर उसका विचार दीर्घदृष्टिसे करें तो उस वटके बीजमें एक वटका वृक्ष है; वह वृक्ष जैसा कुछ भाविकालमें होनहार है वैसे विस्तारसहित विद्यमान उसमें वास्तवरूप मौजूद है, अनेक शाखा–प्रशाखा, पत्र, पुष्प; फल संयुक्त है। फल–फलमें अनेक बीज होते हैं। इसप्रकारकी अवस्था एक वटके बीज सम्बन्धी विचारें। और भी सूक्ष्मदृष्टि दें तो जो-जो बीज उस वटवृक्षमें हैं वे-वे अंतर्गर्भित वटवृक्ष संयुक्त होते हैं। इसी भांति एक वटमें अनेक-अनेक बीज, एक-एक बीजमें एक-एक वट, उसका विचार करें तो भाविनय-प्रमाणसे न वटवृक्षोंकी मर्यादा पाई जाती है, न बीजोंकी मर्यादा पाई जाती है। इसी प्रकार अनन्तताका स्वरूप जानना। उस अनन्तताके स्वरूपको केवलज्ञानी पुरुष भी अनन्त ही देखते-जानते-कहते हैं; अनन्तका दूसरा अन्त है ही नहीं जो ज्ञानमें भासित हो। इसलिये अनन्तता अनन्तरूप ही प्रतिभासित होती है। इसप्रकार आगम अध्यात्मकी अनन्तता जानना। उसमें विशेष इतना कि अध्यात्मका स्वरूप अनन्त, आगमका स्वरूप अनन्तानन्तरूप, यथापना-प्रमाणसे अध्यात्म एक द्रव्याश्रित, आगम अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्याश्रित। इन दोनोंका स्वरूप सर्वथा प्रकार तो केवलज्ञानगोचर है, अंशमात्र मति-श्रुतज्ञान ग्राह्य है, इसलिये सर्वथाप्रकार आगमी अध्यात्मी तो केवली, अंशमात्र मतिश्रुतज्ञानी, देशमात्र ज्ञाता अवधिज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी;—यह तीनों यथावस्थित ज्ञानप्रमाण न्यूनाधिकरूप जानना। मिथ्यादृष्टि जीव न आगमी, न अध्यात्मी है। क्यों? इसलिये कि कथनमात्र तो ग्रन्थपाठके बलसे आगम–अध्यात्मका स्वरूप उपदेशमात्र कहता है, परन्तु आगमअध्यात्मका स्वरूप सम्यक्प्रकारसे नहीं जानता; इसलिये मूढ़ जीव न आगमी, न अध्यात्मी, निर्वेदकत्वात्।

अब मूढ तथा ज्ञानी जीवका विशेषपना और भी सुनो—

ज्ञाता तो मोक्षमार्ग साधना जानता है, मूढ मोक्षमार्गको साधना नहीं जानता; क्यों ?—इसलिये, सुनो—मूढ जीव आगमपद्धतिको व्यवहार कहता है, अध्यात्मपद्धति-को निश्चय कहता है इसलिये आगम-अंगको एकान्तपने साधकर मोक्षमार्ग दिखलाता है, अध्यात्म-अंगको व्यवहारसे नहीं जानता,—यह मूढदृष्टिका स्वभाव है; उसे इसी-प्रकार सूझता है। क्यों ? इसलिये कि—आगम-अंग बाह्यक्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है, उसका स्वरूप साधना सुगम। वह बाह्य क्रिया करता हुआ मूढ जीव अपनेको मोक्षका अधिकारी मानता है; अन्तर्गर्भित जो अध्यात्मरूप क्रिया वह अन्तर्दृष्टिग्राह्य है, वह क्रिया मूढ जीव नहीं जानता। अन्तर्दृष्टिके अभावसे अन्तर्क्रिया दृष्टिगोचर नहीं होती, इस-लिये मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग साधनेमें असमर्थ है।

अब सम्यग्दृष्टिका विचार सुनो—

सम्यग्दृष्टि कौन है सो सुनो—संशय, विमोह, विभ्रम—ये तीन भाव जिसमें नहीं सो सम्यग्दृष्टि। संशय, विमोह, विभ्रम क्या है ? उसका स्वरूप दृष्टान्त द्वारा दिख-लाते हैं सो सुनो—जैसे चार पुरुष किसी एक स्थानमें खड़े थे। उन चारोंके पास आकर किसी और पुरुषने एक सीपका टुकड़ा दिखाया और प्रत्येक प्रत्येकसे प्रश्न किया कि यह क्या है ?—सीप है या चाँदी है ? प्रथम ही एक संशयवान पुरुष बोला—कुछ सुध(-समझ) नहीं पड़ती कि यह सीप है या चाँदी है ? मेरी दृष्टिमें इसका निरधार नहीं होता। दूसरा विमोहवान पुरुष बोला—मुझे यह कुछ समझ नहीं है कि तुम सीप किससे कहते हो, चाँदी किससे कहते हो ? मेरी दृष्टिमें कुछ नहीं आता, इसलिये हम नहीं जानते कि तू क्या कहता है। अथवा चुप हो रहता है बोलता नहीं गहलरूपसे। तीसरा विभ्रमवाला पुरुष भी बोला कि—यह तो प्रत्यक्षप्रमाण चाँदी है, इसे सीप कौन कहेगा ? मेरी दृष्टिमें तो चाँदी सूझती है, इसलिये सर्वथा प्रकार यह चाँदी है;—इसप्रकार तीनों पुरुषोंने तो उस सीपका स्वरूप जाना नहीं; इसलिये तीनों मिथ्यावादी हैं। अब चौथा पुरुष बोला कि यह तो प्रत्यक्षप्रमाण सीपका टुकड़ा है, इसमें क्या धोखा ? सीप सीप सीप, निरधार सीप, इसको जो कोई और वस्तु कहे वह प्रत्यक्षप्रमाण भ्रामक अथवा अंध। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको स्व-पर स्वरूपमें न संशय, न विमोह, न विभ्रम, यथार्थ दृष्टि है; इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव अंतर्दृष्टिसे मोक्षपद्धतिको साधना जानता है। बाह्यभाव बाह्यनिमित्तरूप मानता है, वह निमित्त नानारूप है, एकरूप

नहीं है । अंतर्दृष्टिके प्रमाणमें मोक्षमार्ग साधे और सम्यग्ज्ञान स्वरूपाचरणकी कणिका जागनेपर मोक्षमार्ग सच्चा । मोक्षमार्गको साधना यह व्यवहार, शुद्धद्रव्य अक्रियारूप सो निश्चय । इसप्रकार निश्चय-व्यवहारका स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानता है, मूढ जीव न जानता है, न मानता है । मूढ जीव बंधपद्धतिको साधकर मोक्ष कहता है, वह बात ज्ञाता नहीं मानते । क्यों ? इसलिये कि बंधके साधनेसे बंध सधता है, मोक्ष नहीं सधता । ज्ञाता जब कदाचित् बंधपद्धतिका विचार करता है तब जानता है कि इस पद्धतिसे मेरा द्रव्य अनादिका बन्धरूप चला आया है; अब इस पद्धतिसे मोह तोड़कर प्रवर्त; इस पद्धतिका राग पूर्वकी भाँति हे नर ! किसलिये करते हो ? क्षणमात्र भी बन्धपद्धतिमें मग्न नहीं होता वह ज्ञाता अपने स्वरूपको विचारता है, अनुभव करता है, ध्याता है, गाता है, श्रवण करता है, नवधाभक्ति, तप, क्रिया, अपने शुद्धस्वरूपके सन्मुख होकर करता है । यह ज्ञाताका आचार, इसीका नाम मिश्रव्यवहार ।

अब हेय–ज्ञेय–उपादेयरूप ज्ञाताकी चाल उसका विचार लिखते हैं:—

हेय—त्यागरूप तो अपने द्रव्यकी अशुद्धता, ज्ञेय—विचाररूप अन्य षट्द्रव्योंका स्वरूप, उपादेय—आचरणरूप अपने द्रव्यकी शुद्धता; उसका विवरण—गुणस्थान प्रमाण हेय–ज्ञेय–उपादेयरूप शक्ति ज्ञाताकी होती है । ज्यों ज्यों ज्ञाताकी हेय–ज्ञेय–उपादेयरूप शक्ति वर्धमान हो त्यों त्यों गुणस्थानकी बढ़वारी कही है । गुणस्थानप्रमाण ज्ञान, गुणस्थान प्रमाण क्रिया । उसमें विशेष इतना कि एक गुणस्थानवर्ती अनेकजीव हों तो अनेकरूपका ज्ञान कहा जाता है, अनेकरूपकी क्रिया कही जाती है । भिन्न-भिन्न सत्ताके प्रमाणसे एकता नहीं मिलती । एक-एक जीवद्रव्यमें अन्य-अन्यरूप औदयिक भाव होते हैं, उन औदयिक भावानुसार ज्ञानकी अन्य-अन्यता जानना । परन्तु विशेष इतना कि किसी जातिका ज्ञान ऐसा नहीं होता कि परसत्तावलंबनशीली होकर मोक्ष-मार्ग साक्षात् कहे । क्यों ? अवस्थाप्रमाण परसत्तावलंबक है । (परन्तु) परसत्तावलंबी ज्ञानको परमार्थता नहीं कहता । जो ज्ञान हो वह स्वसत्तावलंबनशील होता है, उसका नाम ज्ञान । उस ज्ञानको सहकारभूत निमित्तरूप नानाप्रकारके औदयिकभाव होते हैं, उन औदयिकभावोंका ज्ञाता, तमाशगीर है, न कर्त्ता है, न भोक्ता है, न अवलम्बी है, इसलिये कोई ऐसा कहे कि इसप्रकारके औदयिकभाव सर्वथा हो तो फलाना गुणस्थान कहा जाय तो झूठ है । उन्होंने द्रव्यका स्वरूप सर्वथा प्रकार नहीं जाना है । क्यों ?—इसलिये कि और गुणस्थानोंकी कौन बात चलावे ? केवलीके भी औदयिकभावोंकी

नानाप्रकारता जानना। केवलीके भी औदयिकभाव एक-से नहीं होते। किसी केवलीको दण्डकपाटरूप क्रियाका उदय होता है, किसी केवलीको नहीं होता। जब केवलीमें भी उदयकी नानाप्रकारता है तब और गुणस्थानकी कौन बात चलाये? इसलिये औदयिक भावोंके भरोसे ज्ञान नहीं है, ज्ञान स्वशक्तिप्रमाण है। स्व-पर प्रकाशक ज्ञानकी शक्ति, ज्ञायकप्रमाण ज्ञान, स्वरूपाचरणरूप चारित्र यथानुभव प्रमाण—यह ज्ञाताका सामर्थ्यपना है। इन बातोंका विवरण कहाँ तक लिखें, कहाँ तक कहें? वचनातीत, इन्द्रियातीत, ज्ञानातीत है, इसलिये यह विचार बहुत क्या लिखें? जो ज्ञाता होगा वह थोड़ा ही लिखा बहुत करके समझेगा, जो अज्ञानी होगा वह यह चिट्ठी सुनेगा सही परन्तु समझेगा नहीं। यह वचनिका ज्यों की त्यों सुमतिप्रमाण केवलीवचनानुसारी है। जो इसे सुनेगा, समझेगा, श्रद्धेगा उसे कल्याणकारी है—भाग्यप्रमाण।

इति परमार्थवचनिका।
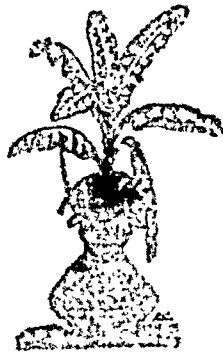
कविवर पं० बनारसीदासजी लिखित

उपादान-निमित्तकी चिट्ठी

प्रथम ही कोई पूछता है कि निमित्त क्या, उपादान क्या ? उसका विवरण—निमित्त तो संयोगरूप कारण, उपादान वस्तुकी सहजशक्ति। उसका विवरण—एक द्रव्यार्थिक निमित्त-उपादान, एक पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान। उसका विवरण—द्रव्यार्थिक निमित्त-उपादान गुणभेदकल्पना, पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान परयोगकल्पना। उसकी चौभंगी। प्रथम ही गुणभेदकल्पनाकी चौभंगीका विस्तार कहता हूँ। सो किसप्रकार ? इसप्रकार, सुनो—जीवद्रव्य, उसके अनंतगुण, सब गुण असहाय स्वाधीन सदाकाल। उनमें दो गुण प्रधान-मुख्य स्थापित किये; उसपर चौभंगीका विचार—

एक तो जीवका ज्ञानगुण, दूसरा जीवका चारित्र गुण। ये दोनों गुण शुद्धरूप भाव जानने, अशुद्धरूप भी जानने, यथायोग्य स्थानक मानने। उसका विवरण—इन दोनोंकी गति न्यारी-न्यारी, शक्ति न्यारी-न्यारी, जाति न्यारी-न्यारी, सत्ता न्यारी-न्यारी। उसका विवरण—ज्ञानगुणकी तो ज्ञान-अज्ञानरूप गति, स्व-पर प्रकाशक शक्ति, ज्ञानरूप तथा मिथ्यात्वरूप जाति, द्रव्यप्रमाण सत्ता; परन्तु एक विशेष इतना कि—ज्ञानरूप जातिका नाश नहीं है, मिथ्यात्वरूप जातिका नाश सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होने पर;—यह तो ज्ञानगुणका निर्णय हुआ। अब चारित्रगुणका विवरण कहते हैं—संक्लेश विशुद्धरूप गति, थिरता-अस्थिरता शक्ति, मंद-तीव्ररूप जाति, द्रव्यप्रमाण सत्ता; परन्तु एक विशेष कि मन्दताकी स्थिति चौदहवें गुणस्थान पर्यंत है, तीव्रताकी स्थिति पाँचवें गुणस्थान पर्यंत है। यह तो दोनोंका गुणभेद न्यारा-न्यारा किया। अब इनकी व्यवस्था—न ज्ञान चारित्रके आधीन है, न चारित्र ज्ञानके आधीन है; दोनों असहायरूप हैं। यह तो मर्यादाबंध है।

अब, चौभंगी का विचार—ज्ञान गुण निमित्त, चारित्रगुण उपादानरूप—उसका विवरण—

एक तो अशुद्ध निमित्त, अशुद्ध उपादान दूसरा अशुद्ध निमित्त, शुद्ध उपादान; तीसरा शुद्ध निमित्त, अशुद्ध उपादान; चौथा शुद्ध निमित्त, शुद्ध उपादान। उसका विवरण—सूक्ष्मदृष्टि देकर एक समयकी अवस्था द्रव्यकी लेना, समुच्चयरूप मिथ्यात्व-

सम्यक्त्वकी वात नहीं चलाना। किसी समय जीवकी अवस्था इस प्रकार होती है कि जानरूप ज्ञान, विशुद्ध चारित्र; किसी समय अजानरूप ज्ञान, विशुद्ध चारित्र; किसी समय जानरूप ज्ञान, संक्लेशरूप चारित्र; किसी समय अजानरूप ज्ञान, संक्लेश चारित्र। जिस समय अजानरूप गति ज्ञानकी, संक्लेशरूप गति चारित्रकी, उस समय निमित्त-उपादान दोनों अशुद्ध। किसी समय अजानरूप ज्ञान, विशुद्धरूप चारित्र, उस समय अशुद्ध निमित्त, शुद्ध उपादान। किसी समय जानरूप ज्ञान, संक्लेशरूप चारित्र, उस समय शुद्ध निमित्त, अशुद्ध उपादान। किसी समय जानरूप ज्ञान, विशुद्धरूप चारित्र, उस समय शुद्ध निमित्त, शुद्ध उपादान।—इस प्रकार जीवकी अन्य-अन्य दशा सदाकाल अनादिरूप है। उसका विवरण—जानरूप ज्ञानकी शुद्धता कही जाय, विशुद्धरूप चारित्रकी शुद्धता कही जाय। अज्ञानरूप ज्ञानकी अशुद्धता कही जाय, संक्लेशरूप चारित्रकी अशुद्धता कही जाय। अव उसका विचार सुनो—

मिथ्यात्व अवस्थामें किसी समय जीवका ज्ञानगुण जानरूप होता है तव क्या जानता है ? ऐसा जानता है कि-लक्ष्मी, पुत्र, कलत्र इत्यादि मुझसे न्यारे हैं, प्रत्यक्षप्रमाण; मैं मरूँगा, ये यहाँ ही रहेंगे—ऐसा जानता है। अथवा ये जायेंगे, मैं रहूँगा, किसी काल इनसे मेरा एक दिन वियोग है ऐसा जानपना मिथ्यादृष्टिको होता है सो तो शुद्धता कही जाय, परन्तु सम्यक्-शुद्धता नहीं, गर्भित शुद्धता; जव वस्तुका स्वरूप जाने तव सम्यक्शुद्धता; वह ग्रन्थिभेदके विना नहीं होती; परन्तु गर्भित शुद्धता सो भी अकाम-निर्जरा है। उसी जीवको किसी समय ज्ञानगुण अजानरूप है गहलरूप, उससे केवल बंध है। इसी प्रकार मिथ्यात्व-अवस्थामें किसी समय चारित्रगुण विशुद्धरूप है, इसलिये चारित्रावरण कर्म मन्द है, उस मन्दतासे निर्जरा है। किसी समय चारित्रगुण संक्लेश-रूप है, इसलिये केवल तीव्रबंध है। इस प्रकार मिथ्या-अवस्थामें जिस समय जानरूप ज्ञान है और विशुद्धतारूप चारित्र है उस समय निर्जरा है। जिस समय अजानरूप ज्ञान है, संक्लेशरूप चारित्र है, उस समय बंध है। उसमें विशेष इतना कि अल्प निर्जरा वहुत बंध, इसलिये मिथ्यात्व-अवस्थामें केवल बंध कहा; अल्पकी अपेक्षा। जैसे किसी पुरुषको नफा थोड़ा टोटा वहुत, उस पुरुषको टोटावाला ही कहा जाय। परन्तु बंध-निर्जराके विना जीव किसी अवस्थामें नहीं है। दृष्टान्त यह कि—विशुद्धतामें निर्जरा न होती तो एकेन्द्रिय जीव निगोद अवस्थासे व्यवहारराशिमें किसके वल आता वहाँ तो ज्ञानगुण अजानरूप गहलरूप है—अवुद्धरूप है, इसलिये ज्ञानगुणका तो वल

नहीं है। विशुद्धरूप चारित्रके बलसे जीव व्यवहार राशिमें चलता है, जीवद्रव्यमें कषायकी मन्दता होती है उससे निर्जरा होती है। उसी मन्दताके प्रमाणमें शुद्धता जानना। अब और भी विस्तार सुनोः—

जानपना ज्ञानका और विशुद्धता चारित्रकी दोनों मोक्षमार्गानुसारी हैं, इसलिये दोनोंमें विशुद्धता मानना; परन्तु विशेष इतना कि गर्भित शुद्धता प्रगट शुद्धता नहीं है। इन दोनों गुणोंकी गर्भित शुद्धता जबतक ग्रन्थिभेद न हो तबतक मोक्षमार्ग नहीं साधती; परन्तु ऊर्ध्वताको करे, अवश्य करे ही। इन दोनों गुणोंकी गर्भित शुद्धता जब ग्रन्थिभेद होता है तब इन दोनोंकी शिखा फूटती है, तब दोनों गुण धाराप्रवाहरूपसे मोक्षमार्गको चलते हैं; ज्ञानगुणकी शुद्धतासे ज्ञानगुण निर्मल होता है, चारित्रगुणकी शुद्धतासे चारित्रगुण निर्मल होता है। वह केवलज्ञानका अंकुर, वह यथाख्यातचारित्र-का अंकुर।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि—तुमने कहा कि—ज्ञानका जानपना और चारित्रकी विशुद्धता—दोनोंसे निर्जरा है; वहाँ ज्ञानका जानपनासे निर्जरा, यह हमने माना; चारित्रकी विशुद्धतासे निर्जरा कैसे? यह हम नहीं समझे। उसका समाधानः—

सुन भैया! विशुद्धता स्थिरतारूप परिणामसे कहते हैं; वह स्थिरता यथाख्यात-का अंश है; इसलिये विशुद्धतामें शुद्धता आयी। वह प्रश्नकार बोला—तुमने विशुद्धतासे निर्जरा कही हम कहते हैं कि विशुद्धतासे निर्जरा नहीं है, शुभबंध है। उसका समा-धानः—सुन भैया! यह तो तू सच्चा; विशुद्धतासे शुभबन्ध, संक्लेशतासे अशुभबन्ध, यह तो हमने भी माना, परन्तु और भेद इसमें है सो सुन—अशुभपद्धति अधोगतिका परि-णमन है, शुभपद्धति ऊर्ध्वगतिका परिणमन है; इसलिये अधोरूप संसार और ऊर्ध्वरूप मोक्षस्थान पकड़ (स्वीकार कर), शुद्धता उसमें आयी मान, मान, इसमें धोखा नहीं है; विशुद्धता सदाकाल मोक्षका मार्ग है, परन्तु ग्रन्थिभेद बिना शुद्धताका जोर नहीं चलता है न? जैसे—कोई पुरुष नदीमें डुबकी मारे, फिर जब उछले तब दैवयोगसे उस पुरुषके ऊपर नौका आ जाये तो यद्यपि वह तैराक पुरुष है तथापि किस भाँति निकले? उसका जोर नहीं चलता; बहुत कलबल करे परन्तु कुछ वश नहीं चलता; उसीप्रकार विशुद्धताकी भी ऊर्ध्वता जाननी। इसलिये गर्भितशुद्धता कही है। वह गर्भितशुद्धता ग्रन्थिभेद होनेपर मोक्षमार्गको चली; अपने स्वभावसे वर्द्धमानरूप हुई तब पूर्ण यथाख्यात प्रगट कहा गया। विशुद्धता कि जो ऊर्ध्वता वही उसकी शुद्धता।

और सुन, जहाँ मोक्षमार्ग साधा वहाँ कहा कि—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" और ऐसा भी कहा कि—"ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः"। उसका विचार—चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थानपर्यंत मोक्षमार्ग कहा; उसका विवरण—सम्यक्रूप ज्ञानधारा, विशुद्धरूप चारित्रधारा—दोनों धाराएँ मोक्षमार्गको चलीं, वहाँ ज्ञानसे ज्ञानकी शुद्धता, क्रियासे क्रियाकी शुद्धता है। यदि विशुद्धतामें शुद्धता है तो यथाख्यातरूप होती है। यदि विशुद्धतामें वह नहीं होती तो केवलीमें ज्ञानगुण शुद्ध होता, क्रिया अशुद्ध रहती; परन्तु ऐसा तो नहीं है। उसमें शुद्धता थी उससे विशुद्धता हुई है। यहाँ कोई कहे कि—ज्ञानकी शुद्धतासे क्रिया शुद्ध हुई सो ऐसा नहीं है। कोई गुण किसी गुणके सहारे नहीं है, सब असहायरूप हैं। और भी सुन—यदि क्रियापद्धति सर्वथा अशुद्ध होती तो अशुद्धताकी इतनी शक्ति नहीं है कि मोक्षमार्गको चले, इसलिये विशुद्धतामें यथाख्यातका अंश है, इसलिये वह अंश क्रम-क्रमसे पूर्ण हुआ। हे भाई प्रश्नवाले, तूने विशुद्धतामें शुद्धता मानी या नहीं? यदि तूने वह मानी, तो कुछ और कहनेका काम नहीं है; यदि तूने नहीं मानी तो तेरा द्रव्य इसीप्रकार परिणत हुआ है हम क्या करें? यदि मानी तो शाबाश! यह द्रव्यार्थिककी चौभंगी पूर्ण हुई।

निमित्त–उपादान शुद्धाशुद्धरूप विचारः—

अब पर्यायार्थिककी चौभंगी सुनो—(१) एक तो वक्ता अज्ञानी, श्रोता भी अज्ञानी; वहाँ तो निमित्त भी अशुद्ध, उपादान भी अशुद्ध। (२) दूसरा, वक्ता अज्ञानी, श्रोता ज्ञानी; वहाँ निमित्त अशुद्ध और उपादान शुद्ध। (३) तीसरा, वक्ता ज्ञानी, श्रोता अज्ञानी; वहाँ निमित्त शुद्ध, उपादान अशुद्ध। (४) चौथा, वक्ता ज्ञानी श्रोता भी ज्ञानी; वहाँ तो निमित्त भी शुद्ध, उपादान भी शुद्ध। यह पर्यायार्थिककी चौभंगी सिद्ध की।

इति निमित्त–उपादान शुद्धाशुद्धरूप विचार वचनिका।

पद्यानुक्रम (अवतरण-सूची)

श्री मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ का शुल्क कम करनेमें सहायता देनेवाले महाशयोंकी सूची

१०००) श्री शिवनारायण ढ़ाढ़रीया, कलकत्ता
१०००) " सुमेरमलजी " "
१०००) " रतनलालजी " "
८००) " श्रीगोपालजी " "
४००) सौ० श्री राधादेवी " "
४००) सौ० श्री जानकीदेवी " "
४००) सौ० श्री परमेश्वरीदेवी ढ़ाढ़रीया, कलकत्ता
२०१) श्री नेमीचन्दजी अजमेरा, इन्दौर
६५०) " तखतमलजी हुलासमलजी, लाडनूं
२०१) " लादुलालजी पहाड़िया, मदनगंज
१०१) " नेमीचन्दजी सौभाग्यमलजी पाटनी के माताजी की ओर से, आगरा
१०१) " हुकमचन्दजी सुमेरमलजी, अशोकनगर
१०१) " दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, इन्दौर
१०४) " दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, राघौगढ़
१५१) " जवाहरलालजी गुलाबचन्दजी, विदिशा
१५१) " अमोलखचन्दजी 'बन्धु' अशोकनगर
१०१) " उज्जैन के बहिनों के द्वारा ह० श्री लालचन्दजी सेठी की धर्मपत्नी
१०१) " हीरालालजी काला C/o गोरेलाल जैन कु० भावनगर
१०१) " ईश्वरचन्दजी सर्राफ, सनावद
१०१) " भगवानदास शोभालाल, सागर (म० प्र०)
१०१) " भगवानदास सोभालाल, सागर (म० प्र०)
१०१) " गट्टूलालजी जैन, गुना
१०१) " संतोषकुमारजी जैन, एत्मादपुर
२०७) " सौ० एल० जैन, कानपुर
१०१) " रतीलाल हरगोविंददास मोदी, सोनगढ़
२५०) " भोपाल दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, भोपाल
२००) " झूमरमलजी पांड्या के माताजी केसरबाई, लाडनूं
१०१) " जवाहरलालजी मुन्नालालजी, विदिशा
१०१) " करणमलभाई जवेरलाल महेता, इन्दौर
१२६०) " फुटकर रकमें (सौ रुपये से नीचे की रकमें)

९६८८)

मोक्षमार्ग प्रकाशक का शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
११	१२	केवला	केवली
४४	४	एक	×
५५	६	इत्यादि	इत्यादिसे
५६	२०	प्रकाश	प्रमाण
६७	११	बहुन	बहुत
१२६	११	अव्यक्त	अव्यक्तव्य
१२६	१७	अग	अंग
१५६	१६	पदेश	उपदेश
१६०	१४	औरोंको	तो औरोंको
२८६	१३	कथनके	×
३०५	१	रोजनामचेमें	रोजनामे में
३४०	११	नही,	है,

रहस्यपूर्ण चिट्ठी-शुद्धिपत्र

६	६	विपयरूपी	विपय रूपी